हिंदी-नवरत्न

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(माधुरी-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का इकतीसवाँ पुष्प

हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

लेखक

गणेशविहारी मिश्र

श्यामविहारी मिश्र एम्० ए०

शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

द्वितीय संस्करण

(संशोधित और परिवर्द्धित)

रेशमी जिल्द ५)] सं० १९८१ वि० [सादी जिल्द ४॥)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ
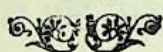
मुद्रक
श्रीकेसरीदास सेठ
नवलकिशोर-प्रेस
लखनऊ

सूची

संपादक का वक्तव्य

ग्रंथकार

साहित्य-सेवा शिक्षित मनुष्य-मात्र का एक आवश्यक कर्तव्य और प्रशंसनीय व्यसन है। उसमें भी निस्स्वार्थ भाव से लोकोपयोगी और राष्ट्र में जातीयता के भाव भरनेवाले साहित्य की रचना करना मानो अपने को अमर बना देना है। प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी अथवा राष्ट्र-भाषा-भूषण महाकवि भूषण का पद, इस दृष्टि से, कोरे शृंगार-रचना-रसिक अन्यान्य प्रौढ़ कवियों से कहीं ऊँचा है। लोकमान्य तिलक, माननीय गोखले अथवा महात्माजी की लेखनी से निकले हुए ग्रंथों या लेखों और चंद्रकांता-संतति या भूतनाथ की जीवनी में महान् अंतर है, यद्यपि साहित्य में समावेश दोनों प्रकार की रचनाओं का हो सकता है। जो सुशिक्षित सज्जन नौकरी करके, या अन्य अनेक प्रकार के अपने आवश्यक कामों को करते हुए भी, समय बचाकर, देशवासियों के उपकार के लिये, अपनी मातृ-भाषा की समृद्धि-वृद्धि के लिये, उपयोगी लेख लिखते अथवा पठनीय पुस्तकों का प्रणयन करते हैं, उनका नाम जातीयता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाता है; सर्व-साधारण में वे श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

हमारे हिंदी-साहित्य-जगत् में यद्यपि ऐसे लेखक अभी यथेष्ट संख्या में नहीं हैं, पर उनका अत्यंताभाव भी नहीं है। इस प्रकार के जो कतिपय लेखक राष्ट्र-भाषा के शरीर को समय-समय पर बहुमूल्य रचना-रत्नों के आभूषणों से अलंकृत किया करते हैं, उनमें मिश्रबंधुओं का नाम सादर लिया जा सकता है। ये तीनों बंधु

जैसे सत्कुलोद्भव, सुशिक्षित और सज्जन हैं, वैसे ही बिना किसी स्वार्थ के मातृ-भाषा की सेवा करनेवाले भी। आप लोगों को गद्य और पद्य, दोनों में रचना करने का व्यसन है। समय-समय पर, हिंदी के पत्रों और पत्रिकाओं में, आप लोगों ने जो ऐतिहासिक और आर्थिक निबंध लिखे हैं, या समालोचनाएँ की हैं, वे महत्त्व-पूर्ण हैं। आप लोगों का यह क्रम अभी तक जारी है। आप लोगों के समकालीन कई लेखकों की लेखनी ने जहाँ संन्यास ग्रहण कर चुप्पी साध ली है, वहाँ आपकी लेखनी दूने उत्साह के साथ अपने कर्तव्य का पालन करने को उद्यत रहती है। हमारे इस कथन का प्रमाण माधुरी में समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले आपके सुचिंतित, सुलिखित, गवेषणा-पूर्ण निबंध हैं। आप लोगों ने केवल लेख लिखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली; समय-समय पर बहुमूल्य और विस्तृत कई उपयोगी ग्रंथ भी लिखकर अपनी अध्ययनशीलता, गवेषणाप्रियता और देश-प्रेम का परिचय दिया है। उनमें 'हिंदी-नवरत्न' और 'मिश्रबंधु-विनोद', ये दोनों ग्रंथ बड़े महत्त्व के हैं। इनके अलावा पुस्तकाकार प्रकाशित 'व्यय'-नामक आप लोगों का विशाल-काय निबंध भी आर्थिक दृष्टि से कम महत्त्व नहीं रखता।

अँगरेज़ी आदि अन्य भाषाओं के साहित्य में आप ऐसी अनेक पुस्तकें देखेंगे, जिनमें समस्त प्राचीन कवियों अथवा लेखकों के संबंध में विस्तृत रूप से ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। कौन कवि किस समय, किस देश में, किस कुल में उत्पन्न हुआ; उसने कौन-कौन ग्रंथ लिखे; उसकी प्रकृति और रचनाओं में क्या विशेषताएँ थीं— कौन गुण थे, कौन दोष थे; इन बातों का विस्तार के साथ विशद विवेचन उन भाषाओं के लेखकों ने किया है। इसके सिवा अन्य भाषाओं के कवियों और लेखकों की संपूर्ण ग्रंथावलियों के भी सुंदर

संस्करण निकले हैं, और निकलते जाते हैं। ग्रंथावलियों में पाठांतर, कठिन शब्दों और स्थलों के अर्थ, शंका-समाधान, निष्पक्ष आलोचना आदि का समावेश भी रहता है। तुलनात्मक आलोचनाएँ भी निकली हैं। ऐसी पुस्तकों की भी कमी नहीं है, जिनमें यह दिखाया गया है कि अमुक कवि या लेखक के विषय में अमुक-अमुक धुरंधर विद्वान् की क्या राय है। तात्पर्य यह कि अन्य भाषाओं में—ख़ासकर अँगरेज़ी में—प्राचीन कवियों और लेखकों के संबंध में सभी ज्ञातव्य विषयों से पूर्ण ग्रंथ खोज के साथ लिखे गए और प्रकाशित हुए हैं। किंतु हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी का यह विभाग बहुत ही हीन है। हमारे यहाँ ऐसे ग्रंथ प्रायः लिखे ही नहीं गए। लिखे कौन ? इस प्रकार के ग्रंथ लिखने के लिये काफ़ी समय और धन के साथ ही यथेष्ट परिश्रम करने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए। हमारे प्राचीन कवियों और लेखकों में से अधिकांश अपने बारे में मौन हैं। इतने बड़े महाकवि कालिदास और भारवि आदि के कुल और समय का ठीक पता नहीं है ! हिंदी के सूर्य तुलसी, सूर, देव, विहारी, भूषण, मतिराम आदि के विषय में भी बहुत-सी बातें अज्ञात हैं। इस गड़बड़ का एक कारण तो हमने ऊपर लिखा है कि वे अपने ग्रंथों में अपने बारे में, अपने समय के बारे में, अधिकतर कुछ लिखते ही न थे। दूसरा कारण यह भी है कि उस समय छापेख़ाने तो थे नहीं ; बहुत हुआ, तो लेखक या कवि ने अपने लिये एक प्रति ग्रंथ की लिख ली। रेल आदि यात्रा के सहज साधन न होने के कारण ऐसे ही किसी भारी कवि का, जो राज-दरबारों में घूमता था, नाम दूर तक प्रसिद्ध हो पाता था ; नहीं तो आस-पास दस-बीस-पचास कोस तक—बहुत हुआ, तो ज़िले या प्रांत-भर में—वह प्रसिद्ध होता था । कवि के लड़के अगर अपढ़ हुए—जैसा कि प्रायः देखा जाता है—तो कवि की

अपनी 'प्रति' भी नष्ट हो गई। बस, उसके शरीर के साथ उसके ग्रंथ का भी अंत हो गया। कौन जाने, इस तरह कितने बहुमूल्य ग्रंथ और कवियों के परिचय नष्ट हो गए हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ऐसी हस्त-लिखित प्रतियों की खोज का उपयोगी कार्य कई वर्ष से करा रही है, और उसे बहुत-से ग्रंथ मिले भी हैं। उन ग्रंथों से कई कवियों के समय, कुल आदि के विषय में कुछ नई बातें भी मालूम हुई हैं। सभा का यह कार्य प्रशंसनीय है।

ऐसी स्थिति में मिश्र-बंधुओं ने हिंदी-नवरत्न की रचना करके, नव प्रसिद्ध प्राचीन महाकवियों का इतिहास लिखकर, उनकी रचनाओं को उद्धृत करके, रचनाओं के गुण-दोष का विवेचन करके हिंदी का और हिंदी-भाषा-भाषियों का कितना बड़ा उपकार किया है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन महाकवियों की रचनाएँ पढ़कर काव्य-प्रेमी सज्जनों को इनके संबंध में विशेष बातें जानने का कौतूहल होना स्वाभाविक था। उस कौतूहल को शांत करने का उपाय करके मिश्र-बंधुओं ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है, इसमें संदेह नहीं।

ग्रंथ

आप लोगों का लिखा हिंदी-साहित्य का इतिहास 'मिश्रबंधु-विनोद' साहित्य की एक स्थायी संपत्ति है। यह 'हिंदी-नवरत्न' भी अमूल्य रत्न है। स्थायी साहित्य में उसी रचना का शुमार किया जा सकता है, जिसका महत्व और उपयोगिता केवल सामयिक न हो, बल्कि सदैव एक-सी बनी रहे। यह बात आप लोगों के 'नवरत्न' और 'विनोद', दोनों में पाई जाती है। हिंदी-नवरत्न एक दर्पण है, जिसमें हम अपने प्राचीन महाकवियों

की योग्यता और इतिहास का पूरा प्रतिबिंब देख पाते हैं। 'मिश्र-बंधु-विनोद' का महत्त्व इसलिये अधिक है कि आगे जो लेखक इस विषय पर विशेष विस्तार से लिखना चाहेंगे, उनके लिये यह ग्रंथ पथ-प्रदर्शक का काम करेगा [हम बड़े हर्ष के साथ यहाँ पर यह सूचना देते हैं कि हिंदी-नवरत्न की तरह मिश्रबंधु-विनोद का दूसरा सर्वांग-सुंदर संस्करण भी हमारे यहाँ से शीघ्र प्रकाशित होगा]।

द्वितीय संस्करण की विशेषताएँ

हिंदी-नवरत्न का प्रथम संस्करण निकलने पर उसकी अनुकूल और प्रतिकूल, सभी तरह की आलोचनाएँ प्रायः सभी प्रसिद्ध विद्वानों ने की थीं। मतभेद होना कुछ अस्वाभाविक नहीं। उससे किसी रचना की उपयोगिता नहीं कम होती। लेखकों ने इस संस्करण में उन आलोचनाओं पर विचार करके आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किए हैं। जिन आपत्तियों को उन्होंने अग्राह्य समझा, उन पर ध्यान नहीं दिया। इसका विवरण पाठकों को लेखकों की लिखी द्वितीय संस्करण की भूमिका में पढ़ने को मिलेगा। इस संस्करण में कवियों के विषय में इधर ज्ञात हुई बहुत-सी नई बातों का समावेश भी किया गया है। जिस-जिस विषय में लेखकों का मत बदल गया है, वहाँ निस्संकोच परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिया गया है। भाषा में भी सर्वप्रिय सुधार कर दिए गए हैं। कवियों की कविताओं के उद्धृत उदाहरणों की मात्रा दूनी-तिगनी कर दी गई है, जिससे पुस्तक का कलेवर दूने के लगभग हो गया है। काग़ज़, छपाई-सफ़ाई में भी पहले की अपेक्षा उन्नति की गई है। इस बार पुस्तक की जिल्द भी, अधिक व्यय का ख़याल न करके, बहुत बढ़िया बन-

चाई गई है। प्रूफ़ पढ़ने में भी बड़ी सावधानी रक्खी गई है, जो कि गंगा-पुस्तकमाला की एक सर्वजन-विदित लोकप्रिय विशेषता है। गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा कबीरदास के प्रामाणिक रंगीन चित्र भी प्राप्त करके दिए गए हैं। मतलब यह कि नवरत्न का यह संस्करण सर्वांग-सुंदर और सर्वप्रिय बनाने में कोई कसर नहीं रक्खी गई, और मूल्य भी यथा-संभव कम ही रक्खा गया है। आशा है, हिंदी-भाषा-भाषी जनता में इस संस्करण का अच्छा आदर और प्रचार होगा। इस संस्करण में कबीरदास को भी रत्न-कवि के लक्षणों से युक्त समझ-कर स्थान दिया गया है। किंतु 'रत्न' नव ही रखने के लिये, 'नवरत्न' नाम की सार्थकता बनाए रखने के लिये, मतिराम और भूषण को 'त्रिपाठी-बंधु'-शीर्षक में एकत्र स्थान दिया गया है। कबीर को क्यों स्थान दिया गया, इसका विस्तृत विवरण लेखकों की भूमिका में देखिए। इस प्रकार, इस बार, यह पुस्तक एक नई ही पुस्तक बन गई है। अतएव जिन लोगों ने इसका प्रथम संस्करण ख़रीद लिया है, उन्हें भी द्वितीय संस्करण अवश्य लेना चाहिए। यदि हिंदी-नवरत्न के इस संस्करण का यथेष्ट आदर हुआ, यदि हिंदी-प्रेमी जनता ने हमारे इस परिश्रम, व्यय और उद्योग की क़दर की, तो हम शीघ्र ही मिश्रबंधु-लिखित हिंदी-साहित्य के इतिहास 'मिश्रबंधु-विनोद' का द्वितीय संस्करण इससे भी सुंदर निकालने की चेष्टा करेंगे। तथास्तु।

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय,
आषाढ़-सुदी पंचमी, सं० १९८१   दुलारेलाल भार्गव
संपादक

पं० गणेशविहारी मिश्र — ऑनरेब्ल पं० श्यामविहारी मिश्र

पं० शुकदेवविहारी मिश्र

द्वितीय संस्करण की भूमिका

हिंदी-नवरत्न का पहला संस्करण सं० १९६७ में प्रकाशित हुआ था। प्रयाग की हिंदी-ग्रंथ-प्रसारक मंडली को हमने प्रथम संस्करण के प्रकाशन का अधिकार दिया था। उक्त कार्यालय ने इसे बड़े उत्साह के साथ, बड़ी सज-धज से, निकाला। उसके उद्योगी मंत्री बाबू माणिक्यचंद्र जैन बी० ए०, एल्-एल्० बी० खंडवे (मध्य-प्रदेश) में वकालत करते थे। आप बड़े ही उत्साही नवयुवक थे। आपकी अकाल-मृत्यु से हमको तथा उक्त मंडली के सभासदों को बड़ा दुःख हुआ। इसी दुःखद घटना के कारण उक्त मंडली द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का प्रबंध न कर सकी, और उसने दुःख के साथ हमें इसे किसी अन्य प्रकाशक के द्वारा प्रकाशित कराने की सलाह दी। गंगा-पुस्तकमाला के उत्साही संचालक और संपादक पं० दुलारेलालजी भार्गव ने इस ग्रंथ को अपनी माला में प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की। इसीलिये इस संस्करण के प्रकाशन का अधिकार हमने आप ही को दिया है। आपके द्वारा आजकल हिंदी-ग्रंथ तथा माधुरी-पत्रिका के प्रकाशन एवं संपादन का काम बहुत अच्छा हो रहा है। आशा है, आपके द्वारा इस कार्य में उत्तरोत्तर उन्नति होगी।

जब हिंदी-नवरत्न प्रथम बार, सं० १९६७ में, प्रकाशित हुआ, तब, इसकी लेखन-शैली एवं रूप-रंग के कारण, हिंदी-संसार ने इस पर कुछ विशेष ध्यान देने की कृपा की। अँगरेज़ी के मासिक पत्र मॉडर्न रिव्यू में एक महाशय ने इसे 'समालोचना में नवीन युग का

प्रवर्तक' (epoch marking) ग्रंथ तक कहने की कृपा की। कई अन्य प्रसिद्ध हिंदी-लेखकों और पत्रों ने भी इसकी अच्छी प्रशंसा की। गवर्नमेंट ने इसे आई० सी० एस्०-संबंधी हिंदी की ऑनर-परीक्षा में पाठ्य-ग्रंथ नियत किया। इन कृपाओं के लिये हम सरकार तथा कृपालु पंडितों और पत्र-पत्रिकाओं के अत्यंत कृतज्ञ हैं। किंतु जहाँ इस ग्रंथ को पसंद करनेवालों की संख्या अच्छी रही, वहाँ कुछ पंडितों ने इस पर तीव्र आलोचनाएँ भी लिखने की आवश्यकता समझी।

सबसे पहले पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने, प्रसिद्ध सरस्वती-पत्रिका में, लगभग ४२ कॉलमों में, इस पर एक भारी आलोचनात्मक लेख लिखा। उसमें आपने ग्रंथकारों में विचार-स्वातंत्र्य मानने तथा ग्रंथ को उपादेय बतलाने के साथ ही अनेक दोष भी दिखलाए; जिनमें भाषा-संबंधी दोषों की ही प्रधानता थी। आपने यह भी लिखा कि देव, मतिराम, भूषण और चंद बरदाई, ये कवि नवरत्न में रखने योग्य नहीं हैं। हमने भी इस लेख का विस्तृत उत्तर दिया; जो मर्यादा (पत्रिका) में निकला। पंडित इंद्र-नारायण द्विवेदीजी ने तुलसीचरित्र-नामक किसी ग्रंथ के आधार पर लिखा कि गोस्वामीजी के जीवन-चरित्र की जो घटनाएँ नव-रत्न में दी गई हैं, उनसे उनके वास्तविक जीवन में बड़ा अंतर है। इसके संबंध में अपना वक्तव्य हमने, इस द्वितीय संस्करण में, ग्रंथ ही में, सम्मिलित कर दिया है। इन मुख्य आलोचकों के अतिरिक्त कई अन्य महाशयों ने भी हिंदी-नवरत्न के विषय में अपने विचार लिखे। एक महाशय ने यहाँ तक लिखा कि गोस्वामीजी ने लक्ष्मण को शत्रुघ्न का छोटा भाई माना है। इसके आपने कई साधारण कारण बतलाए; किंतु गोस्वामीजी-कृत "लखि रिस-भरयो लखन-लघु-भ्राता" इस छंदांश को बिलकुल ही भुला

दिया। उन सब आलोचकों की आलोचनाओं का उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

इधर श्रीशारदा (पत्रिका) में लाला भगवानदीन ने यह मत बड़े हठ और क्रोध के साथ प्रकट किया है कि देव कवि, जिनको हिंदी-नवरत्न में तीसरा स्थान दिया गया है, विहारी की तुलना में, जिन्हें चौथा स्थान मिला है, कुछ भी नहीं हैं। विहारी से तुलना कैसी, वह श्रेष्ठ कवि ही नहीं हैं *। आपका कहना है कि केशवदास को तीसरा पद मिलना चाहिए, और विहारी को चौथा। और, देव को तो नवरत्न में स्थान ही न मिलना चाहिए। आपने इस मत के समर्थन में यह कहा है कि देव की भाषा अच्छी नहीं है, उनके भाव भी अच्छे नहीं हैं, और उन्होंने विहारी के बहुत-से भाव चुराए हैं। भाव लेने के जो आपने उदाहरण दिए हैं, उनमें से 'स्थाली-पुलाक'-न्याय से हम एक यहाँ लिखते हैं। विहारी ने यह दोहा लिखा है—

"बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय;
सौहँ करै, भौहँन हँसै, देन कहै, नटि जाय।"

देव ने कहीं जगत्प्रसिद्ध चीरहरण-लीला के कुछ छंद कहे हैं। इस पर आपका विचार है कि देव के वे छंद उपर्युक्त विहारी-कृत मुरली-चोरी के भाव से ही लिए गए हैं। आपकी समझ में देव को चीरहरण की कथा ही नहीं ज्ञात थी; और यदि विहारी मुरली-चोरी का हाल न कहते, तो देव को चीरहरण-लीला क्योंकर सूझती? यह तो कहते नहीं कि श्रीभागवत की प्रसिद्ध चीरहरण-लीला से ही विहारी को खुद मुरली-चोरी का भाव सूझा होगा, उलटे यह कहने को प्रस्तुत हैं कि देव ने जो चीरहरण-लीला का

---

* अब शायद लालाजी की राय बदल गई है। कारण, कानपुर के सम्मेलन में उन्होंने स्वीकार किया था कि देवजी का श्रेष्ठ कवि होना उन्हें मंजूर है।—संपादक

वर्णन किया है, उसका भाव मुरली-चोरी से लिया है। हमारी समझ में, यदि, अधिक न कहकर, लालाजी हम लोगों को केवल इतना पढ़ा देते कि विहारी ने स्त्रियों का वर्णन किया है, और देव ने भी उसी विषय पर रचना की है, तो, आपके तर्कानुसार, देव की सारी रचनाएँ चोरी का माल साबित हो जातीं, और आपको अधिक कष्ट करने की भी आवश्यकता न होती। इसी प्रकार की अनेक अनर्गल बातें कहकर, और बेचारे देव का अनेकानेक दुर्वचनों से सत्कार कर, शायद आपको पूर्ण रूप से संतोष हो गया कि आपने देव की हीनता सर्वथा सिद्ध कर दी। अंत में आपने हमको अपनी यह इच्छा जताई है कि आपके अखंडनीय तर्कों पर रीझकर हम भी नवरत्न की द्वितीयावृत्ति में देव का उचित स्थान स्वीकार कर लें, और विहारी को उनसे ऊँचा स्थान देकर उनका उचित सम्मान करें। इस विषय में हमारा निवेदन इतना ही है कि आपकी तर्कावली अभी कुछ अपूर्ण रह गई है। यदि देव के विषय में दो-चार 'कबीरें' भी आप रचकर कह देते, और उनकी मा-बहनों को भी दस-बीस गालियाँ सुना देते, तो आपकी तर्कावली पूर्ण हो जाती, और हमारे मन में भी लेश-मात्र संदेह न रह जाता। इतनी-सी कसर रह जाने के कारण हम आपका मत पूर्णतया स्वीकार करने में अभी असमर्थ हैं। आशा है, इस भूमिका को पढ़कर उतनी कसर भी आप न रक्खेंगे।

कई आलोचकों ने यह इच्छा प्रकट की कि नवरत्न में यदि कुछ बिंब-प्रतिबिंब-भाव होते, तो अच्छा होता। इस प्रकार के भाव दिखलाने के ऊपर हमें विशेष श्रद्धा नहीं है, और न ऐसा करने में हमें समालोचना की विशेष महत्ता प्रतीत होती है। चिरंजीवि कृष्णविहारी मिश्र ने अपनी 'देव और विहारी' पुस्तक में ऐसी आलोचना भी की है। हर्ष का विषय है कि चित्रमय जगत, श्रीशारदा, प्रभा आदि पत्र-पत्रिकाओं तथा 'भानु', 'रत्नाकर', पं०

श्रीधर पाठक आदि काव्य-मर्मज्ञों ने उस पुस्तक की प्रशंसा की है। उक्त ग्रंथ भी एक प्रकार से हिंदी-नवरत्न का ही अंग है। जिन्हें देव और विहारी के विषय में कुछ विशेष जानना हो, वे वह पुस्तक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय से मँगाकर देखने की कृपा करें।

हिंदी के प्रसिद्ध मर्मज्ञ रेवरेंड ग्रीव्ज़ महाशय ने 'हिंदी-नवरत्न' तथा 'मिश्रबंधु-विनोद' पर विशेष ध्यान दिया है। आपका विचार है कि हमने विहारी की उचित से अधिक प्रशंसा की है। इधर शर्माजी, लालाजी आदि महाशयों का विचार है कि हमने विहारी की निंदा करने ही को उनका विवरण इस तरह नवरत्न में लिखा है। हमारी समझ में हमने किसी की अनुचित प्रशंसा अथवा निंदा नहीं की।

देव के विषय में, पंडित-समाज में, कुछ मत-भेद-सा देख पड़ता है। जब हमने हिंदी-नवरत्न लिखा था, तब हमें यह ज्ञात न था कि इन महाकवि के विषय में कुछ वर्तमान हिंदी-लेखकों को इतना भ्रम है, या कम-से-कम हममें और उनमें इतना मत-भेद है। हाल में यह हाल हमें मालूम हुआ है। इसलिये हमारा विचार है कि देव के छंदों का एक अच्छा संग्रह प्रकाशित करें, जिससे इस महाकवि के गुणों को पाठकगण कुछ सुगमता से जान सकें।

द्वितीय संस्करण तैयार करते समय पं० दुलारेलालजी भार्गव ने हमसे कहा कि नवरत्न में कबीर को भी स्थान मिलना चाहिए था। यह विचार हमारे हृदय में भी उठ रहा था। अस्तु। उनकी सलाह हमें भी पसंद आई, और हमने उनके संबंध में भी एक समालोचना लिखकर नवरत्न में मिला दी। मगर पहले के किसी कवि का नाम निकाल डालना अच्छा नहीं जान पड़ा। इसीलिये किसी का नाम निकाला नहीं गया। हमारे कुछ मित्रों और समालोचकों ने यह विचार प्रकट

किया था कि यदि हिंदी-नवरत्न में कवियों की रचनाओं के उदाहरण कुछ विशेष रहते, तो और भी अच्छा होता । यह विचार हमको भी पसंद आया । इसीलिये इस बार प्रत्येक कवि की रचना के उदाहरण बढ़ा दिए गए हैं । पहले, स्थान की कमी या पुस्तक बढ़ जाने के विचार से, ऐसा नहीं किया गया था ।

भाषा और शब्दों के रूप-संबंधी विचारों में वर्तमान कुछ लेखकों के साथ हमारा मत-भेद है । हमारा विचार है कि भाषा को जटिल नियमों से जकड़ने और उसके रूपों में विशेष कड़ाई करने से उसकी स्वाभाविक उन्नति रुक जाती है । यदि दस वर्ष तक व्याकरण पढ़े विना कोई मनुष्य अपनी मातृभाषा में भी शुद्ध लिख-पढ़ नहीं सकता, तो हमें ऐसी भाषा को ही बदलना पड़ेगा । कारण, ऐसी दशा में वह मातृभाषा न होकर पंडित-भाषा ही कहलावेगी । हम तो मातृ-भाषा में लेख आदि लिखते हैं, न कि पंडितों की भाषा में । 'प्रशंस-नीय'-शब्द शुद्ध है, और 'सराहनीय' अशुद्ध । सराहना संस्कृत नहीं, देशज शब्द है । फिर भी प्रशंसनीय के तुक पर सराहनीय-शब्द ठीक बैठता है । सब लोग उसका प्रयोग भी करते हैं । उसे यदि कोई पंडित अशुद्ध समझे, तो समझा करे । लेखक लोग भाषा में इस प्रयोग को ठीक मानते हैं । 'नागरीप्रचारिणी-सभा' स्त्रीलिंग है । वह किसी ग्रंथ की प्रकाशिका हो सकती है, प्रकाशक नहीं । फिर भी सभा अपनेको ग्रंथों का प्रकाशक लिखती है, न कि प्रकाशिका । 'ग्रंथ-प्रसारक मंडली' नाम अशुद्ध है । शुद्ध नाम 'ग्रंथ-प्रसारिणी मंडली' है । किंतु मंडली अपनेको प्रसारिणी न कहकर प्रसारक कहती थी । 'मधुर भाषा' सब लिखते हैं, किंतु होना चाहिए 'मधुरा भाषा' । पर ऐसा सुनने में अच्छा नहीं लगता । 'चित्ताकर्षिणी बातें' ठीक है, न कि 'चित्ताकर्षक बातें' । किंतु हिंदी में अच्छा यही रूप लगता है । हमने एक शास्त्री महाशय से पूछा कि क्या 'चित्ताकर्षिणी बातें'

लिखा करें? उन्होंने भी कहा—यह तो भाषा है, न कि संस्कृत। आप प्रचलित शब्द लिखिए : संस्कृत के नियमों में आप क्यों पड़ते हैं? प्राचीन कविगण 'नायका' लिखते आए हैं; किंतु आजकल लोग नायिका न लिखने से अल्पज्ञता का दोष लगाने को तैयार हो जाते हैं। केकय-देश की होने के कारण भरत की माता कैकेयी थीं; किंतु उनके नाम के केकई, कैकेई, कैकयी आदि सभी रूप प्रचलित हैं। कागभुशुंडी का शुद्ध रूप काकभुशुंड है; किंतु स्वयं गोस्वामीजी कहते हैं—"गयो गरुड़, जहँ बसै भुशुंडी।" भाषा में "कागा सब तन खाइयो, नैन दीजियो वारि।" कहते हैं। शूर्पणखा-शब्द शुद्ध है; किंतु भाषा में सूपनखा कहते हैं। यदि ये सब शब्द आपको शुद्ध संस्कृत-रूप ही में पसंद हैं, तो बस, सीधा-सीधा 'गच्छति', 'करोति' ही लिखा कीजिए। 'जाता है', 'करता है' आदि लिखने की क्या ज़रूरत है? ऐसा ही झगड़ा विभक्ति-प्रत्यय का समझ पड़ता है। चाहे सटाकर लिखिए, चाहे हटाकर। हमें किसी परिपाटी का कुछ पक्षपात नहीं है। प्रार्थना केवल इतनी ही है कि संस्कृतज्ञ महाशय हिंदी पर अपनी क्रूर दृष्टि डालकर इस बेचारी का गला न घोटें!

इतना सब होने पर भी कुछ लोगों ने हमारे भाषा-संबंधी विचारों का घोर विरोध किया है। हमने वक्र आलोचकों की कटूक्तियों की कुछ भी पर्वा नहीं की; किंतु हमारे प्रिय मित्र पंडित देवीप्रसाद शुक्ल ने स्वयं कहा कि यदि आप जन-समुदाय की बोली के अनुसार ही शब्द लिखना चाहते हैं, तो 'मतलब' न लिखकर 'मतबल' लिखिए। एक प्रिय मित्र के ऐसे कथन का प्रभाव हमारे ऊपर भी बहुत कुछ पड़ा। इसलिये जहाँ तक हो सका, अपने सिद्धांतों को स्थिर रखते हुए, हमने शब्दों के वे रूप लिखे हैं, जो पंडितों की दृष्टि में भी अधिक न खटकें। इससे हमारा यह

प्रयोजन नहीं है कि मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में लिखे हुए अपने विचारों से, हम कुछ भी हटते हैं। इसलिये इस ग्रंथ में अनावश्यक विवाद के मार्गों को छोड़कर केवल आवश्यक सिद्धांतों का अनुसरण किया गया है। सिद्धांतों में भेद कुछ भी नहीं पड़ा है।

अँगरेज़ी या वर्तमान विचारों से कवियों की जाँच में दो मुख्य प्रश्न उठते हैं—कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका क्या संदेश है? इन प्रश्नों का प्रयोग हिंदी-नवरत्न के कवियों पर करने से वे कैसे उतरते हैं, सो यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास का संदेश शुद्ध भक्ति का है, और उन्होंने उसे बहुत ही अच्छा कहा है। महाकवि सूर का भी यही संदेश है, और उन्होंने भी उसे बहुत अच्छा कहा है। किंतु भक्ति को शृंगार से अधिक मिलाने के कारण आपका संदेश हर जगह साधारण पाठक को याद नहीं रहता। महात्मा कबीरदास ने भी सखी-भाव की भक्ति की है; किंतु उन्होंने हर जगह जीवात्मा-परमात्मा का संबंध बहुत दृढ़ रक्खा और शृंगार का वर्णन कम किया है। इसी से उनके सखी-संप्रदायवाले वर्णनों में साहित्यानंद अपर्याप्त है। इधर सूरदास ने जीवात्मा-परमात्मा के भाव को गौण रक्खा है, और शृंगार का प्रधान। इससे उनकी रचना में साहित्यानंद तो अच्छा है, किंतु उनका संदेश गौण पड़ गया है। हमारी समझ में सखी-संप्रदाय की भक्ति का वर्णन संदेश और साहित्य, दोनों को कठिनता से दृढ़ रख सकेगा। यदि संदेश सबल रहेगा, तो साहित्य गौण होकर फीका पड़ जायगा, और यदि साहित्य सबल रक्खा जाय, तो संदेश डूब जायगा। हम यह नहीं कहते कि संदेश सबल रखने पर सखी-भाव से सरस काव्य नहीं बन

सकता; किंतु सूर और कबीर की रचना में कुछ ऐसा हो अवश्य गया है। तुलसी ने दास-भाव की भक्ति को कथा से मिलाकर संदेश और साहित्य, दोनों को बहुत दृढ़ रक्खा है।

देव और विहारी श्रृंगारी कवि थे। इनका कोई मुख्य संदेश नहीं है; किंतु इन्होंने कथन बड़े ही अनमोल किए हैं। इन्होंने कहा बहुत ही अच्छा, किंतु इनके संदेश बिलकुल गौण हैं। देव मुख्यतया साहित्याचार्य थे। इन्होंने जो कुछ रचना की है, वह प्रधानतया काव्यांगों के उदाहरणार्थ हुई है। इनका कोई धार्मिक संदेश नहीं है; किंतु आचार्यता का संदेश होने से वह भाषा की उन्नति का संदेश माना जा सकता है। विहारी का यह भी संदेश नहीं है; क्योंकि वह आचार्य न थे। गौण रूप से इन दोनों कवि-रत्नों का भी भक्ति का संदेश कहा जाता है, और उसका कुछ आभास मिलता भी है। हमारा स्वभाव सदा से आम को आम और इमली को इमली कहने का रहा है। किसी स्थान पर खींच-तान से कोई भाव स्थापित करना हम मिथ्या-वाद समझते हैं। जो २४ घंटे में १ घंटा भी भक्ति न करे, तो वह भक्त कैसे कहा जा सकता है? भक्ति-हीन श्रृंगारी वर्णनों में केवल राधा-कृष्ण का नाम जोड़ देने से हम उसे भक्ति-पूर्ण कविता नहीं कह सकते। भक्ति के लिये भाव में भी तत्संबंधी विचारों का आना आवश्यक है, जैसा कि तुलसी और कबीर की रचना में प्रत्यक्ष देख पड़ता है। अतएव देव और विहारी की रचनाओं में हम भक्ति का संदेश नहीं पाते। यदि कुछ हो भी, तो, गौणातिगौण रूप में होने से, वह नहीं के बराबर है। साहित्योन्नति का संदेश देव और विहारी, दोनों की रचना में माना जा सकता है।

भूषण ने जातीयता का संदेश दिया है, और उसे कहा भी अच्छा है। आपकी जातीयता में भारतीयता का भाव कम आता है,

हिंदूपन का विशेष। फिर भी यह कहना पड़ता है कि उस समय हिंदूपन का ही संदेश एक प्रकार से भारतीयता का संदेश था; क्योंकि मुसलमान बहुत करके विदेशी थे। केशवदास के कथन अच्छे हैं, और उनकी रचना में भक्ति का संदेश माना गया है। किंतु हमारी समझ में वह पुष्ट नहीं होता। रामचंद्रिका में भक्ति गौण रूप से है। उसमें कथा-प्रसंग तथा वर्णनोत्कर्ष की मुख्यता है, न कि भक्ति की। विज्ञान-गीता में परमोच्च विचार कम हैं। उस-में चलतू अथवा काम-काजू धर्म कहा गया है। रसिकप्रिया शृंगार-प्रधान ग्रंथ है, और कविप्रिया आचार्यता-पूर्ण। इनके शेष ग्रंथ साधारण हैं। कुल मिलाकर केशवदास का आचार्यता एवं साहित्योन्नति का संदेश कहा जा सकता है, और कोई नहीं। कबीरदास का संदेश ऐक्य का है। उनके मतानुसार ईश्वर एक, धर्म एक, मनुष्य-प्रतिष्ठा एक, सत्य एक और सभी संसार एक है। सभी बातों में उनका अद्वैत-विचार है। हिंदू-धर्म और मुसलमानी धर्म को वह एक मानते, सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा को समान समझते, और सभी प्रकार से दाक्षिण्य-पूर्ण उपदेश देते हैं। उनका संदेश परमोच्च है; किंतु कथन उत्कृष्ट होने पर भी वैसे नहीं हैं। विचारों की अपेक्षा उनकी भाषा कुछ लची हुई है। मतिराम का संदेश साहित्योन्नति है, और उनकी भाषा बहुत ललित है। चंद बरदाई ने कथा अच्छी कही है, और उनके वर्णन भी अच्छे हैं। भारतेंदु का संदेश जातीयता है, और वह परम सफलता-पूर्वक व्यक्त हुआ है।

अंत में आशा है, इस बार इस संस्करण को और भी अच्छा बनाने में जो कुछ परिश्रम किया गया है, उसके कारण यह ग्रंथ अधिक रुचिकर और विवाद-हीन हो गया होगा।

लखनऊ
सं० १९८१　　　　"मिश्रबंधु"

प्रथम संस्करण की भूमिका *

बहुत दिनों से हमारा यह विचार था कि हिंदी-साहित्य का एक अच्छा इतिहास रचा जाय, और उसमें प्रसिद्ध तथा अच्छे कवियों की रचनाओं पर कुछ विस्तार के साथ समालोचना लिखी जाय। हमारे यहाँ हिंदी में समालोचना-विभाग की कैसी हीन दशा है, यह सब हिंदी-रसिकों को विदित है। अँगरेज़ी में यदि अकेले शेक्सपियर के समालोचकों के लेखों का परिमाण जोड़ा जाय, तो वह स्वयं इस कवि की रचनाओं से पंद्रहगुना निकलेगा। इसी प्रकार अन्य साधारण कवियों तक की रचनाओं के मर्म प्रकट करने और उनके गुण-दोष परखने में अँगरेज़ी के समालोचकों ने कुछ उठा नहीं रक्खा। और, प्रायः सभी कवियों की रचनाओं के पढ़ने में साधारण पाठक एवं विद्यार्थी तक इन समालोचना-ग्रंथों से उनके गुण-दोष भली भाँति समझने में समर्थ होते हैं। इस तरह समालोचना-ग्रंथों द्वारा कवियों की रचनाओं के जौहर चमकते हैं, और उत्कृष्ट एवं शिथिल रचनाओं के भेद समझने में साधारण मनुष्य भी कृतकार्य होते हैं। इसी प्रकार संसार में श्रेष्ठ रचनाओं का मान बढ़ता और निकृष्ट ग्रंथों का प्रचार कम होता है। संसार में किसी भी विषय को अच्छी तरह समझनेवालों की संख्या बहुत कम होती है, और पाठक-वृंद में फ़ी-सैकड़े ९९ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो समयाभाव एवं अन्य कारणों से उस विषय के पूर्ण ज्ञाता नहीं

---

* इसमें नई खोजों के फल-स्वरूप थोड़े-से संशोधन भी कर दिए गए हैं।

हैं। बहुत लोगों की रुचि इतनी उन्नत नहीं होती कि वे सब प्रकार की रचनाओं के यथार्थ रहस्य को समझ सकें। जो लोग इस विषय में अधिक समय लगा सकते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे ग्रंथों के ठीक-ठीक गुण-दोष बताकर ऐसे मनुष्यों की रुचियों की भी उचित उन्नति करें। इस प्रकार समालोचना केवल किसी एक कवि का हाल ही नहीं बताती, वरन् साधारण पाठक-समाज में औचित्य को भी बढ़ाती है।

फिर, प्रत्येक पाठक की रुचि भिन्न हुआ करती है। परंतु वह अपनी रुचि के अनुरूप सब ग्रंथ खोजने में सदैव समर्थ नहीं होती। समालोचना से हरएक ग्रंथ का असली स्वरूप साधारण पाठक के सम्मुख, विना उस ग्रंथ के पढ़े ही, उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार समालोचना से उचित, उपयोगी पुस्तकों के चुनाव में भी लोगों को बड़ी सहायता मिलती है। एक प्रकार से सत्य समालोचना मान्य ग्रंथ को जीवन और बल देती है। ऐसे ग्रंथों की संख्या बढ़ाने में भी समालोचना परम पटु या समर्थ है; क्योंकि जब उसके द्वारा निकृष्ट ग्रंथों का मान न होने पावेगा, तब श्रेष्ठ ग्रंथ आप ही अधिक बनेंगे। भविष्य के लेखकों और कवियों के लिये समालोचना गुरु का काम करती है; क्योंकि उन्हें वह यह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य-समाज में आदर पा सकती है। यदि कपूर और कपास श्वेत वर्ण होने के कारण ही एक मूल्य के आँके जाने लगें, तो संसार में उपयोगी पदार्थों का बहुत शीघ्र अभाव हो जाय।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की उन्नति के लिये समालोचना-विभाग का पूर्ण होना परमावश्यक है, और जितना ही जिस समाज में समालोचना का ज़ोर होगा, उतने ही उपयोगी, उत्कृष्ट ग्रंथ उस समाज में बनेंगे। अँगरेज़ी की भारी उन्नति का

एक बहुत बड़ा कारण समालोचनाओं का बाहुल्य है। आज हम देख रहे हैं कि हिंदी में साधारण-से-साधारण ग्रंथ तो प्रकाशित होकर धड़ल्ले से बिकते हैं, पर उत्कृष्ट ग्रंथ बहुधा जहाँ-के-तहाँ पड़े रहते हैं। उनका नाम तक कोई नहीं जानता। इसका कारण समालोचना का अभाव ही है। यदि हमारे यहाँ समालोचना का ज़ोर होता, तो लाल-कृत छत्रप्रकाश-सा ग्रंथ-रत्न दो सौ वर्ष तक छिपा न पड़ा रहता, और नागरीप्रचारिणी-सभा को बहुत ढूँढ़-खोज के पीछे सूदन-कृत सुजान-चरित्र न छापना पड़ता। कुछ समय पहले जब हमने महाकवि सेनापति की समालोचना सरस्वती में प्रकाशित की थी, तब एक प्रतिष्ठित पत्र के संपादक ने लिखा था कि आश्चर्य का विषय है कि "सेनापति का हम लोग नाम भी नहीं जानते, और फिर भी वह ऐसे सुकवि थे!" यदि हिंदी में समालोचना की परिपाटी कुछ भी स्थिर होती, तो उन संपादक महोदय को यह आश्चर्य न होता।

यही सब सोच-विचारकर हम समझते हैं कि इन एक सहस्र वर्ष के कवियों की रचनाओं को जीवन-दान करने के लिये प्रत्येक लेखक का कर्तव्य है कि वह पक्षपात-रहित मान्य समालोचनाओं द्वारा हिंदी का भांडार भरे। लेकिन समालोचना का लिखना भी कोई साधारण काम नहीं है। वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है, जो ग्रंथों को भली भाँति समझ सके, और उनके विषयों की अच्छी जानकारी तथा सहृदयता रखता हो। इस योग्यता और सहृदयता के अतिरिक्त समालोचक को मूल-ग्रंथ का भली भाँति अध्ययन तथा मनन करने में यथेष्ट समय भी देना पड़ेगा। अतः प्रकट है कि अच्छे विद्वान् के सिवा कोई साधारण मनुष्य समालोचक नहीं हो सकता। इस बात पर ध्यान देने से हमें इस काम में हाथ लगाने का साहस नहीं होता था। पर अच्छे विद्वानों का इस ओर विशेष झुकाव न

देखकर, उनका ध्यान आकृष्ट करने के विचार से ही, हमने इस कार्य में हाथ लगाया है। कारण, यदि हमारी शिथिल समालोचनाओं द्वारा इस ओर विद्वानों का ध्यान गया, और इस विभाग की उन्नति हो सकी, तो हमारा अभिप्राय सिद्ध हो जायगा।

हिंदी-गद्य में जो लेख हमने सबसे प्रथम लिखा, वह 'हम्मीर-हठ' की समालोचना है। वह सन् १९०० की सरस्वती में छपी है। हमने उसके पहले गद्य में, चिट्ठियों आदि के सिवा, केवल लव-कुश-चरित्र की भूमिका लिखी थी। पर वह कोई स्वतंत्र लेख नहीं, एक प्रकार का वक्तव्य-मात्र है। हमारा दूसरा लेख पंडित श्रीधर पाठक की कविता की समालोचना है। इस लेख पर बहुत दिनों तक समाचारपत्रों में वाद-विवाद होता रहा था। इसी वाद-विवाद में हमने लिखा था कि हमारा विचार हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने का है। यह विचार सन् १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित एक लेख में भी हमने प्रकट किया था। तब से हम लोग बराबर, अन्य लेखों के साथ-साथ, समय-समय पर, समालोचनाएँ भी लिखते रहे। पर साहित्य का इतिहास लिखने का कभी अवकाश नहीं मिला, और न इस ओर फिर विशेष ध्यान ही गया। हम धीरे-धीरे लेख लिखते और ग्रंथ पढ़ते रहे, जिससे हम लोगों का विचार गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं पर समालोचनात्मक लेख लिखने का हुआ। इसी बीच में, सन् १९०४ के लगभग, हम लोगों ने, क़रीब तीन मास परिश्रम करके, गोस्वामी-जी की कविता की समालोचना के नोट लिखे; परंतु फिर भी अन्य रामायणों को भली भाँति देखे और मुक़ाबला किए विना समालोचना को यथोचित बना सकने का साहस न पड़ा, और इस प्रकार अधिक पठन-पाठन के लिये वे नोट, जैसे-के-तैसे, प्रायः तीन साल तक रक्खे रहे। सन् १९०७ में, समालोचना लिखने में अति

विलंब देखकर, हम लोगों ने फिर परिश्रम किया। बस, हरदोई में तीनों भाइयों ने एकत्र होकर तीन दिन में ही गोस्वामीजी की कविता पर एक समालोचना लिख डाली। फिर भी उसको, ललित बनाने के विचार से, हम लोगों ने प्रकाशित नहीं कराया। वह तीन वर्ष तक इसी प्रकार रक्खी रही; पर अवकाशाभाव से कुछ भी ललित न बनाई जा सकी।

उधर, सन् १९०९ के लगभग, हम लोगों ने भूषण की कविता पर एक समालोचना लिखकर जयपुर के समालोचक-पत्र में छपवाई। उस समय काशी की नागरीप्रचारिणी-सभा अपनी ग्रंथ-माला में भूषण के ग्रंथ निकालना चाहती थी। हमारी समालोचना देखकर उसने भूषण की रचना के संपादन का भार हम लोगों ही को सौंपा। इस काम में हमें डेढ़ साल तक इतना परिश्रम करना पड़ा, जितना कि हमने आज तक सिवा हिंदी-साहित्य के इतिहास के और किसी भी हिंदी-पुस्तक पर नहीं किया, चाहे वह स्वयं हमारी बनाई हो, चाहे किसी दूसरे की। भूषण कवि के विषय में हिंदी के पठित-समाज का यह मत है कि वह वीर-रस की कविता अच्छी करने पर भी केवल एक साधारण कवि-मात्र थे। समालोचकवाले भूषण-संबंधी लेख में हमने भी यही विचार प्रकट किया था। उस समय हमारा भी यही मत था। फिर भूषण-ग्रंथावली के संपादन में हमने भूषण के ग्रंथों की विविध प्रतियाँ एकत्र कीं, और यथासंभव शुद्ध और पूर्ण कविता छापने का प्रयत्न किया। इसका फल यह हुआ कि हमारे प्रकाशित शिवराज-भूषण-ग्रंथ में अन्य प्रतियों से प्रायः ड्योढ़े छंद हैं। इस प्रयत्न में हमें भूषण-कृत छंद बहुत बार पढ़ने पड़े, और तब हमें भूषण की कविता का महत्त्व जान पड़ा।

पहले हम मतिराम को भूषण से बहुत अच्छा कवि समझते

थे; पर पीछे से इस विचार में शंका होने लगी। उस समय हमने भूषण और मतिराम के एक-एक छंद का मुक़ाबिला किया। तब जान पड़ा कि मतिराम के प्रायः १० या १२ कवित्त तो ऐसे रुचिर हैं कि उनका सामना भूषण का कोई कवित्त नहीं कर सकता, और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित्त ठहर नहीं सकते। पर मतिराम के शेष पद्य भूषण के अनेक पद्यों के सामने ठहर नहीं सके। इस प्रकार मतिराम और भूषण की तुलना करके हमने भूषण को श्रेष्ठ पाया। इसी प्रकार भूषण को केशवदास से मिलाया, तो भी भूषण ही की कविता में विशेष चमत्कार देख पड़ा। प्रथम तो हमें इस बात पर आश्चर्य-सा हुआ; क्योंकि हम पहले केशवदास को भूषण से बहुत अच्छा समझते थे; पर ज्यों-ज्यों अधिक मिलाते गए, त्यों-त्यों हमारी दृष्टि में भूषण का ही चमत्कार बढ़ता गया। तब हमने भूषण को विहारीलाल से मिलाया; पर उन कविरत्न के सम्मुख भूषण के पद्य ठहर न सके। यह तुलना केवल पद्य पढ़कर ही नहीं की गई, वरन् प्रत्येक पद्य को नंबर देकर, मनोहर पद्यों की संख्या और फ़ी-सैकड़े उनका औसत लगाकर, सब बातों पर कई दिन तक ध्यान-पूर्वक विचार करने के उपरांत की गई थी।

इसी बीच में काशी की नागरीप्रचारिणी-सभा ने हमसे प्रायः २००पृष्ठों में हिंदी-साहित्य का एक इतिहास लिखने के लिये कहा। उस समय हम कालिदास-कृत रघुवंश का पद्यानुवाद कर रहे थे। वह ढाई सर्गों तक हो भी चुका था। हमने उसी जगह उसे छोड़ दिया, और इतिहासवाले काम के लिये समालोचनाओं का लिखा जाना आवश्यक समझकर यही काम हाथ में ले लिया। फिर सन् १९०७ ईसवी में हमने बहुत-से कवियों पर समालोचनाएँ लिखीं। यह काम करते-करते धीरे-धीरे इसमें बुद्धि फैलने लगी,

अर्थात् सब प्रकार के कवियों की उत्तमता अथवा निकृष्टता समझ पड़ने लगी। धीरे-धीरे यह विचार उठा कि पाँच परमोत्कृष्ट कवियों को लेकर, संस्कृत-कवि-पंचक की भाँति, भाषा-कवि-पंचक नाम का एक ग्रंथ हम भी लिखें। उसमें सूर, तुलसी, देव, बिहारी, और केशवदास के नाम रखने का विचार हुआ। फिर भूषण की कविता का चमत्कार जब ध्यान में आया, तब उनको छोड़ देना अनुचित जान पड़ने लगा, और भाषा-कवि-षट्क लिखने का विचार उठा। पीछे से सेनापति की कविता में ऐसा अनूठापन देख पड़ा, और वह ऐसी अच्छी समझ पड़ी कि उनका भी नाम मिलाकर कवि-सप्तक बनाने का संकल्प हुआ। अनंतर भारतेंदु तथा चंद की रचनाएँ भी उत्कृष्ट तथा परम मनोहर देख पड़ीं। इस प्रकार हिंदी-नवरत्न का नाम ध्यान में आया, और इसी नाम से प्रस्तुत ग्रंथ बनाने का दृढ़ संकल्प हुआ। पीछे से जायसी की कविता बहुत बढ़िया समझ पड़ी, और सेनापति के स्थान पर उनका नाम रखने का विचार हुआ; किंतु अंत को जायसी की कविता कई बार ध्यान से पढ़ने पर उसका चमत्कार कुछ फीका जँचा, और जायसी का स्थान तोष कवि की श्रेणी में समझ पड़ा। यह श्रेणी पद्माकर की श्रेणी के नीचे है। सबसे पहले मतिराम की श्रेणी थी, फिर दास की, और तब पद्माकर की। तोष की श्रेणी के नीचे साधारण श्रेणी है, उसके बाद हीन श्रेणी। धीरे-धीरे यह समझ पड़ा कि सेनापति की कविता परम अनूठी एवं विशद होने पर भी मतिराम की रचना की समता नहीं कर सकती। इस विचार से मतिराम की श्रेणी को सेनापति की श्रेणी बना दिया, और मतिराम को सेनापति के बदले नवरत्न में स्थान दे दिया। इस प्रकार नवरत्न में नव कवियों की स्थिति हुई *।

* हाल में महात्मा कबीरदास भी नवरत्न में गण्य समझ पड़े हैं।

कविताओं की तुलना करने की प्रकृति के अनुसार अन्य कवियों के विषय में भी यही किया गया, तो नवरत्न में बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी, और लघुत्रयी नाम के तीन विभाग निश्चित हुए। बृहत्त्रयी में तुलसी, सूर, और देव को स्थान मिला, मध्यत्रयी में विहारी, भूषण, और केशवदास को तथा लघुत्रयी में मतिराम, चंद, और हरिश्चंद्र को। मध्यत्रयी तथा लघुत्रयी में तो जिस प्रकार नाम पूर्वापर-क्रम से ऊपर लिखे हैं, उसी प्रकार वे कवि उत्तमता में भी एक दूसरे के आगे-पीछे निश्चित रूप से समझ पड़ते हैं; पर बृहत्त्रयी में यह बात नहीं है। बहुत कुछ विचार करने पर भी उन तीनों कवियों में कोई भी न्यूनाधिक नहीं समझ पड़ा। पहले तो इस विषय में हम तीनों लेखकों में भी मत-भेद था। कोई किसी को बड़ा समझता था, कोई किसी को। पर पीछे हमारा मत-भेद कुछ दूर-सा हो गया, और अब हम तीनों लेखकों का मत है कि ये कवि विशेष-विशेष गुणों में एक दूसरे से बढ़े हुए हैं; परंतु कुल मिलाकर तीनों बराबर हैं। तुलसी और सूर के महात्मा होने के कारण उनके नाम देव से प्रथम लिखे हैं। तुलसीदास की रचना पर हम लोगों ने विशेष श्रम किया है, और उनके विषय में लेख भी बड़ा लिखा है। इन कारणों से तुलसीदास का नाम सूरदास के भी प्रथम लिखा गया है*। कई बार हम लोगों ने सोचा कि काल-क्रम से नवरत्न के कवियों के नाम आगे-पीछे लिखे जायँ; पर इस बात पर हमारा निश्चय नहीं जमा। हम जब इन महाशयों को इनके किसी ख़ास समय में उत्पन्न होने के कारण नवरत्न में नहीं रखते, वरन् इनकी उत्तमता ही इनके इस मान का कारण है, तब उसी गौरव

* अब हम लोगों का विचार है कि साहित्य-प्रौढ़ता में तुलसी, सूर और देव इसी क्रम से मान्य हैं।

के अनुसार पूर्वापर-क्रम न रखकर काल-क्रम का सहारा लेना हमें युक्ति-संगत नहीं समझ पड़ा।

पहले यह ग्रंथ इंडियन-प्रेस के स्वामी छापनेवाले थे, और हमने भी इसे उन्हें देने का विचार किया था। हमारा विचार अपने किसी ग्रंथ को छपाकर उससे लाभ उठाने का नहीं है। इसी कारण हम विना कुछ पुरस्कार लिए अपने ग्रंथ छापने को उचित और उत्साही प्रकाशकों को दे दिया करते हैं। किंतु इसे छापने के लिये प्रयाग की ग्रंथ-प्रकाशक-मंडली का उत्साह हमने विशेष देखा, इसलिये हमने यह ग्रंथ मंडली को ही दिया। मंडली के मंत्री ने नवरत्नवाले कवियों के चित्र प्रकाशित करने का भी विचार प्रकट किया। इसमें यह कठिनाई पड़ी कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का तो फ़ोटो मिल सकता था, पर शेष आठ कवियों के असली चित्र मिलना असंभव था। अब तक वे हस्त-गत नहीं हो सके हैं (हाल में गोस्वामी तुलसीदास का भी असली चित्र मिल गया है)। यह देखकर हमने जो कवि जिस समय में जहाँ रहता था, जैसी उसकी दशा थी तथा जैसा वह अपनी कविता से समझ पड़ा, यह सब ध्यान में रखकर प्रत्येक कवि का एक-एक भाव-चित्र बनाया, अर्थात् वह वर्णन लिखा, जिसके अनुरूप चित्र का होना हम चाहते थे। उन वर्णनों के सहारे मंडली के मंत्री ने, यथेष्ट धन व्यय कर, उत्साह-पूर्वक, जबलपुर के चित्रकार पंडित गणेशराम मिश्र से शेष आठ कवियों के चित्र बनवाए, जो इस पुस्तक में छापे गए हैं। पाठकगण उन्हें देख-कर और कवियों पर समालोचनाएँ पढ़कर यदि कुछ भी संतुष्ट हुए, तो हमारा, चित्रकार का, तथा मंडली का श्रम सफल हो जायगा।

हमने हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने ही के लिये नवरत्न के कवियों पर समालोचनाएँ लिखी थीं; पर समालोचनाओं का आकार कुछ बढ़ता हुआ देख पड़ा, और यह समझ पड़ा कि इतिहास में

एक-एक कवि पर सौ-सौ पृष्ठों की समालोचना लिखने को स्थान मिलना दुर्लभ है। सभा ने पूरा इतिहास दो-तीन सौ पृष्ठों का बनवाना चाहा था; पर केवल नवरत्न के कवियों की समालोचनाओं का आकार ही प्रायः चार सौ पृष्ठों का हो गया। इस वृद्धि के विचार से भी हमने नवरत्न की पुस्तक को अलग कर देना उचित समझा। यह हमें अवश्य कह देना चाहिए कि सभा ने भारी इतिहास के बनने में अश्रद्धा कभी नहीं प्रकट की थी; पर हमीं ने उपर्युक्त विचारों से यह पुस्तक पृथक् कर दी। इसके अलग कर देने पर भी इतिहास का आकार ऐसा बढ़ता गया कि अब भी उसमें १००० पृष्ठ * होने की आशा है। इतिहास भी समाप्तप्राय हो गया है। उसमें केवल वर्तमान कवियों का हाल लिखना बाक़ी है।

ग्रंथ-प्रकाशक-मंडली का विचार था कि वह इस ग्रंथ को इतिहास का प्रथम भाग समझे। उसकी ओर से इस प्रकार का विज्ञापन भी दे दिया गया; पर यह विचार हमको उचित नहीं समझ पड़ा। इतिहास में तो कवियों का वर्णन काल-क्रम से ही हो सकता है, परंतु नवरत्न में काल-क्रम का पूर्ण अभाव है। यदि नवरत्न के नव कवियों का वर्णन हम काल-क्रम से कर दें, तो भी यह इतिहास का प्रथम भाग नहीं हो सकता। कारण, इसमें चंद बरदाई से लेकर हरिश्चंद्र तक वर्तमान हैं, जो इतिहास के किसी भी मिले हुए काल में नहीं हुए। भारतेंदु का वर्णन वर्तमान कवियों में, चंद का आदिम कवियों में, सूर, तुलसी और केशव का अकबर के काल में, भूषण, मतिराम तथा बिहारी का शिवाजी और छत्रसाल के समय में, और देवजी का औरंगज़ेब के पीछे हो सकता है। अतः प्रकट है कि यह नवरत्न उस इतिहास का प्रथम, द्वितिय

* वास्तव में इतिहास प्रायः १६०० पृष्ठों का हुआ।

या अंतिम, कोई भी भाग नहीं हो सकता। इसे इतिहास से पृथक्, परंतु उससे मिलता-जुलता हुआ ग्रंथ समझना चाहिए।

इस ग्रंथ का इतिहास से बहुत घनिष्ठ संबंध है, अतः उचित समझ पड़ता है कि इस स्थान पर केवल दिग्दर्शन की तरह इतिहास का थोड़ा-सा सारांश लिख दिया जाय। बंगाल और दक्षिण को छोड़कर प्रायः समस्त भारतवर्ष की मातृभाषा हिंदी है, इसके कवि सभी जगह हुए हैं, तथा सभी स्थानों पर इसका मान रहा है। कवि की पदवी भी इतनी ऊँची है कि मनुष्य महाराजाधिराज होने पर भी कवि होने से अपना गौरव समझता है। जापान के महाराज मत्सुहितो मिकाडो भी राज-काज से समय निकालकर नित्य कुछ कविता करते हैं। महाराजों की कवि बनने की लालसा से हिंदी-साहित्य का बहुत बड़ा उपकार हुआ, और हो रहा है। कविता करनेवाले कुछ तो ऐसे होते हैं, जो उसे शौक़िया, बचे हुए समय में, करते हैं, पर अपना प्रधान कार्य मुख्य रूप से किया करते हैं। ऐसे लोग संसार के सभ्य देशों में बहुत होते हैं; पर बहुत कुछ उत्साह रहने पर भी इन लोगों से बहुत कार्य नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार के मनुष्य वे होते हैं, जो व्यापार की भाँति कविता ही करते हैं, और यही उनका प्रधान कार्य है। ऐसे मनुष्यों के लिये कविता ही सब कुछ है, और वे लोग बहुत अधिक काम कर सकते हैं। पर उनकी जीविका के दो ही उपाय हो सकते हैं, अर्थात् या तो वे अपने ग्रंथों की बिक्री से गुज़र करें, या किसी राजा-महाराजा का आश्रय लें। जब तक भारत में प्रेस न था, तब तक ग्रंथों की बिक्री से जीविका का चलना सर्वथा असंभव था। आज प्रेस के होने पर भी जीविका इस प्रकार नहीं चल सकती; क्योंकि भारत में इतने शिथिल मनुष्य नहीं हैं कि किसी उत्कृष्ट ग्रंथ की भी इतनी प्रतियाँ बिक जायँ, जिससे कवि का गुज़र

उसी के लाभ से हो सके *। इँगलैंड में विद्या का प्रचार बहुत दिनों से यथेष्ट है ; पर वहाँ भी ऐसा समय थोड़े ही दिन से आया है कि कविगण ग्रंथों की बिक्री का ही भरोसा कर सकें। भारत में अभी ऐसा समय निकट नहीं नज़र आता। ऐसी दशा में, धनिकों के आश्रित होकर रचना करने के सिवा, निर्धन कवियों के लिये कोई और उपाय न पहले ही था, और न अब है। परंतु हर्ष की बात है कि भारत में पहले ही से धनी लोग बहुत अधिक कविता-प्रेमी रहे हैं। 'जाने सोई माने' के अनुसार अगुणज्ञ धनिक कविता की क़दर या सत्कार नहीं कर सकते थे। गुणी लोगों के आश्रय से ही हिंदी का कलेवर पुष्ट हुआ है। गुणी धनिकों में भी जो लोग स्वयं कविता करते थे, उनकी लक्ष्मी कवियों के लिये कामधेनु हो जाती थी। साहित्य का इतिहास, कवियों का हाल और चक्र देखने से विदित होगा कि महाराजा छत्रसाल और महाराजा भगवंतराय खींची के यहाँ इतने कवियों को आश्रय मिलता था, जिसका वार-पार नहीं। ये दोनों क्षत्रिय राजा कवियों के कल्पवृक्ष थे। इनके अतिरिक्त बांधव-नरेश एवं काशी-नरेश के यहाँ भी कई पुश्तों तक बहुत-से कवियों को आश्रय मिलता रहा है, और अब भी मिलता है। महाराजा मानसिंह अयोध्या-नरेश ने भी कवियों का अच्छा मान किया था। चित्तौर के महाराणा कुंभकर्ण कवियों के बड़े सहायक थे ; पर उनके आश्रित कवियों का अब पता नहीं लगता। आश्रय-दाताओं के विषय में इतना लिखकर अब हम साहित्य के इतिहास का सूक्ष्म रूप से कुछ वर्णन करते हैं।

---

* अब कुछ लेखकों का गुज़र इस प्रकार हिंदी-पुस्तकें लिखकर भी होने लगा है।

हिंदी की जननी संस्कृत है या प्राकृत, इस विषय में कुछ मत-भेद बाक़ी है ; पर अब पंडितों के बहु-मत का झुकाव इस ओर समझ पड़ता है कि प्राकृत ही बदलते-बदलते हिंदी हो गई है। इस परिवर्तन का समय स्थिर करना कठिन है ; क्योंकि ऐसा अदल-बदल किसी एक समय में नहीं होता, बल्कि धीरे-धीरे शताब्दियों तक होता रहता है। यह कहना बहुत कठिन है कि किस स्थान से व्रज-भाषा समाप्त होती है, और पूर्वी बोली शुरू होती है, अथवा पूर्वी बोली समाप्त होती और वंग-भाषा चलती है। इन समाप्तियों और प्रचारों का कोई एक स्थान नहीं है, वरन् धीरे-धीरे ग्राम-प्रतिग्राम एक भाषा मंद पड़ती जाती है, और दूसरी का अंश कुछ-कुछ बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि बहुत दूर चलकर एक पूर्ण रूप से मिट जाती है, और दूसरी का पूरा ज़ोर हो जाता है। समयानुसार भाषाओं के परिवर्तन और उत्थान-पतन की ठीक यही दशा है। स्थूल रूप से हिंदी का उत्पत्ति-काल संवत् ८०० के लगभग है। कहते हैं, संवत् ७७० में भोजराज के पूर्व-पुरुष राजा मान के यहाँ पुष्य अथवा पुंड नाम का एक वंदीजन था, जिसने दोहों में अलंकारों का वर्णन किया। चित्तौर के रावल खुमान ने संवत् ८९० तक, २४ वर्ष, राज्य किया था। इनके नाम पर खुमान-रासा नाम का एक ग्रंथ बना था। इन दोनों ग्रंथों के उदाहरण तक इस समय हस्त-गत नहीं हो सके। इसके पीछे भुवाल कवि ने सं० १००० में, भाषा-छंदों में, भगवद्गीता ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ सं० १९७६ की खोज में मिला था। चंद कवि ने संवत् १२२५ से १२४९ तक कविता की। यही दूसरा कवि है, जिसकी कविता मिलती है। चंद के सम-कालीन जगनिक वंदीजन ने आल्हा बनाया ; पर लिखित न होने के कारण जगनिक की भाषा का भी अब आल्हा में पता नहीं है। केदार, बरवै सीता, और बारदरवेशा

नाम के कवियों का भी उल्लेख इसी समय के आस-पास ग्रंथों में है; पर इनकी भी कविता अब नहीं मिलती। सं० १२४७ में मोहनलाल द्विज ने पत्तलि-ग्रंथ रचा। यह हाल हीं में मिला है। गद्य का सबसे पुराना जो उदाहरण अब उपलब्ध है, वह भी चंद के समय का है; पर उसकी भाषा चंद की भाषा से भी जटिलतर है। उदाहरणार्थ उसका कुछ अंश यहाँ लिखा जाता है—

"श्रीश्री दलीनं महनं राजानं धीराजनं हदुस्थानं राजधानं संभरी नरेस पुरब दली तखत श्रीश्री महानं राजं धीराजनं श्री प्रथीराजी शुसथानं आचारज रुषी केस धनंत्रितं अप्रन तम को बाइ श्री प्रथु कवरन की साथ हत लेवे चीत्रकोट को दीया तुमारा हक चहुवान के रज में साबीत हे तुमारी औलाद का सपुत कपुत होगा जो चहान की पोल आवेगा जीनं को भाई सीतारे समंजेगा तुमारा कारन नहीं गटेगा तुम जंमषात्र से बाई के आ तुम रीजो हुवे श्री मुख दुबे पंचोली हडमं राअ के संमत ११४३ वषे आसाड सुद १३"

अर्थ

श्रीश्री पूर्वी हिंदुस्तान के संभरी-नरेश महाराजाधिराज की राजधानी दिल्ली से श्रीश्रीमहाराजाधिराज पृथ्वीराज की ओर से आचार्य हृषीकेश वैद्यराज को दिया गया। हमने तुमको बाई श्री पृथाकुँअरि (पृथ्वीराज की बहन) के साथ दहेज में चित्तौर को दिया। तुम्हारा हक़ चहुवान के राज्य में साबित है। तुम्हारी औलाद का सपूत कपूत होगा, जो चहुवान की पौर पर आवेगा, वह भाई की भाँति माना जायगा। तुम्हारा मान नहीं घटेगा, तुम जमाख़ातिर से बाई के यहाँ रहो। पंचोली हनुमानराय द्वारा आज्ञा दी गई। संवत् ११४३ वर्षे आषाढ़ सुदी १३। (यहाँ अनंद संवत् दिया है; जिसमें ९० जोड़ देने से उचित संवत् मिल सकता है।)

ऐसे आज्ञा-पत्रों के अतिरिक्त इस समय के गद्य का कुछ भी पता नहीं लगता। पद्य में भी इस समय सिवा चंद बरदाई तथा कुछ ही अन्य कवियों के और किसी की रचना हस्त-गत नहीं होती, यद्यपि चंद की कविता देखने से विदित होता है कि इस देश में इस समय कविता की अच्छी चर्चा थी, और राजदरबारों में राजकवि प्रायः रहा करते थे। काल की कराल गति से हम लोगों को भुवाल कवि के अतिरिक्त सबसे प्रथम जिस हिंदी-कवि की रचना उपलब्ध होती है, वह चंद ही है, यद्यपि रासो देखने से विदित होता है कि हिंदी-कविता उस समय प्रारंभिक दशा में न थी, बरन् अच्छी उन्नति कर चुकी थी। चंद बरदाई के पीछे सबसे प्रथम उसका पुत्र जल्हन हुआ, जिसने रासो के शेष भाग को समाप्त किया, और चंद के मरने के पीछे ग्रंथ को सुरक्षित रक्खा। जल्हन तथा मोहन-लाल के पीछे, संवत् १३५४ में, नरपति नाल्ह कवि ने बीसलदेव-रासो बनाया। इसका काव्य भुवाल की रचना से कुछ ज़ोरदार है, पर उत्तम नहीं कहा जा सकता। बीसलदेव पृथ्वीराज के एक पूर्व-पुरुष और अजमेर के राजा थे। संवत् १३५७ के लगभग शार्ङ्ग-धर नाम के एक कवि ने रणथंभौर के हम्मीरदेव के यहाँ शार्ङ्गधर-पद्धति, हम्मीरकाव्य और हम्मीररासो नाम के तीन ग्रंथ बनाए यह पहला कवि है, जिसकी भाषा वर्तमान रचनाओं से मिलती है, और श्रेष्ठ भी है। यथा—

"सिंह-गमन, सुपुरुष-बचन, कदलि फरै इक बार;
तिरिया-तेल, हमीर-हठ, चढ़ै न दूजी बार।"

उर्दू और फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो का देहांत संवत् १३८२ में हुआ। इनकी कविता उर्दू से मिलती हुई हिंदी में होती थी। वह मनोहर भी है। प्रसिद्ध ग्रंथ खालिकबारी इन्हीं का बनाया हुआ है। प्रसिद्ध महात्मा गोरखनाथ का कविता-काल संवत् १४०७

के लगभग है । इन्होंने कितने ही संस्कृत के पूज्य ग्रंथ बनाए, और भाषा के तो बहुत-से ग्रंथ इन महात्मा ने भक्ति-पक्ष में रचे। इनकी कविता-शैली पुराने ढर्रे से बहुत मिलती है। इनकी रचना में छंदोभंग भी देख पड़ते हैं। जान पड़ता है, यह बात लेखकों की असावधानी से आ गई है; नहीं तो संस्कृत का इतना बड़ा पंडित भद्दे छंदोभंग कैसे कर सकता था? गोरखनाथ ही ऐसे प्रथम कवि हैं, जिनका एक गद्य-ग्रंथ भी मौजूद है। वह व्रज-भाषा में है। उसकी रचना बड़ी ज़ोरदार और मनोहर है। चित्तौर के प्रसिद्ध महाराणा कुंभकर्ण का राज्य-काल १४१९ से १४६९ तक है। इन्होंने हिंदी-कविता रची, और कवियों का मान भी बहुत किया; पर इनकी रचना अथवा इनके सम्मानित कवियों के नाम अब अप्राप्य हैं।

संवत् १४४३ में नारायणदेव ने हरिचंदपुराण-कथा नाम का ग्रंथ बनाया। प्रसिद्ध महात्मा महर्षि रामानंद का समय संवत् १४५७ है। इन्होंने कुछ कविता भी की थी। इनके शिष्य भवानंद और सेन नाई भी इसी समय हुए हैं। ये लोग भी कुछ-कुछ कविता करते थे। रामानंद के प्रसिद्ध शिष्य महात्मा कबीरदास का समय संवत् १४७५ के लगभग है। इन्होंने भी हिंदी के बहुत-से ग्रंथ बनाए हैं। इनकी भाषा वर्तमान हिंदी से बहुत कुछ मिल जाती है। वह साहित्य की दृष्टि से भी परम प्रशंसनीय है। इन्होंने उलटवाँसी आदि के पदों में साधारण शब्दों से बहुत गूढ़ अर्थ, बड़े ज़ोरदार छंदों में, निकाले हैं। न-जाने किस कारण से इनके पुत्र कमाल इनके बिलकुल प्रतिकूल सिद्धांतों के अनुयायी थे। वह भी कविता करते थे। भगोदास, श्रुतगोपाल और धरमदास कबीर के शिष्य थे। ये लोग भी इसी समय के लगभग रचना करते थे। इसी समय बिहार में विद्यापति ठाकुर-नामक एक बड़े ही सत्कवि हो गए हैं। इन्होंने विशेष रूप से संस्कृत की रचना की; पर इनकी

हिंदी की रचना बहुत ही लोक-प्रिय और ज़ोरदार है । बिहार के कवि जयदेव और उमापति ने भी इसी समय छंद रचे ।

बाबा नानक का जन्म संवत् १५२६ में हुआ, और १५९६ में यह महात्मा पंचत्व को प्राप्त हुए । यह महाराज सिख-मत के संस्थापक थे । इन्होंने ग्रंथ-साहब के अतिरिक्त अष्टांगयोग-नामक एक और भी ग्रंथ बनाया । महात्मा चरणदास ने १५३७ में ज्ञान-स्वरोदय आदि कई ग्रंथ रचे ; पर यह संवत् संदिग्ध है । सेन कवि ने संवत् १५६० में रचना की । इनकी कविता वर्तमान हिंदी से बिलकुल मिलती है । अतः हमारी हिंदी चंद कवि के समय से उन्नति करते-करते सूरदास के समय के प्रथम ही, प्रायः ३०० वर्षों में, वर्तमान हिंदी से बिलकुल मिल गई । सेन कवि के साथ-ही-साथ कुतबन शेख़ ने मृगावती नाम की एक मनोहर प्रेम-कहानी कही । इसकी रचना-शैली जायसी की-सी है, यद्यपि यह उसकी समता नहीं कर सकती । इधर संवत् १५३५ में महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का जन्म हो चुका था । इन्होंने उत्तर-भारत में अलौकिक भक्ति का स्रोत बहाया । उधर बंगाल में महात्मा चैतन्य ने भक्ति की अखंड धारा बहाई । इस प्रकार समस्त उत्तर-भारत में इस समय भक्ति का समुद्र-सा लहराने लगा । कविता के लिये तल्लीनता एक बहुत ही आवश्यक गुण है । यह तल्लीनता हमारे कवियों को भक्ति से प्राप्त हो गई । अब संभव था कि यह तल्लीनता कविता की ओर झुक पड़ती, या तपस्या की ओर झुककर ज्ञान-विज्ञान को जाग्रत् करती, अथवा कोरी तपस्या ही की ओर लगती । तल्लीनता एक भारी बल है । यह जिस ओर लग जाती, उसी ओर कुछ करके दिखला देती । हिंदी के सौभाग्य-वश महाप्रभु वल्लभाचार्य ने यह तल्लीनता कविता की ओर लगा दी, और स्वयं भी कविता की । उनके पुत्र महाप्रभु बिट्ठलस्वामी ने भी ऐसा ही किया । फिर

क्या था, तल्लीनता ने भक्ति के सहारे पूर्ण विकास पाकर हिंदी-साहित्य का भांडार भर दिया।

संवत् १५४० के लगभग महात्मा सूरदास का जन्म हुआ। उन्होंने प्रायः १५६० से रचना का आरंभ किया। उधर वल्लभ और बिट्ठलजी के अन्य शिष्यों ने भी पदों की रचना में पूरा ज़ोर लगाया। इस प्रकार सैकड़ों कवियों ने इस समय उत्कृष्ट पद बनाए। यह देख बिट्ठलनाथजी ने चार पिता के और चार अपने शिष्यों को सत्कवि समझकर छाँट लिया, और उस चुनी हुई कवि-समिति का नाम 'अष्टछाप' रक्खा। अष्टछाप में सूरदास, कृष्णदास, परमानंद-दास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नंददास और गोविंद-दास के नाम थे। इस अष्टछाप में सूरदासजी तो अनुपम कवि थे ही, पर नंददास भी अच्छे कवि थे। इनकी गणना पद्माकर की श्रेणी में हुई है। नंददासजी किसी गोस्वामी तुलसीदास के भाई थे। नंददास के अतिरिक्त, अष्टछाप में, कृष्णदास और परमानंद-दास भी सुकवि थे। इनकी गणना तोष कवि की श्रेणी में है। इसी समय महात्मा हरिदास, नरसैयाँ आदि ने भी मनोहर कविता की है। सौर-काल में चित्तौर की महारानी मीराबाई ने कृष्ण-संबंधी परमोत्कृष्ट कविता की, और कई ग्रंथ रचे। इस स्त्री-रत्न के चरित्र से सब छोटे-बड़े अभिज्ञ हैं। कवि-शिरोमणि कृपाराम ने, १५९८ में, हिततरंगिणी-नामक एक अलंकारों का बड़ा ही विशद दोहा-ग्रंथ रचा। इस ग्रंथ के दोहे मनोहर हैं। संवत् १५७५ से १६०० तक में मलिक मोहम्मद जायसी ने पद्मावत-नामक एक सुंदर प्रेम-ग्रंथ, पूर्वी भाषा में, बनाया। इनका अखरावट-ग्रंथ भी अच्छा है। इस प्रकार की प्रेम-कथाएँ, जिनका अवतारों आदि से कोई सरो-कार नहीं, हिंदी में पहले-पहल मुसलमान-कवियों ही ने लिखीं। इनमें, इस काल में, कुतबन और जायसी का नाम आता है।

आगे चलकर नूर महम्मद ने भी इंद्रावती-नामक एक ऐसा ही ग्रंथ रचा। हिंदू-कवियों ने ऐसे जितने ग्रंथ उस समय रचे, उनमें धार्मिक विचार से देवतों, अवतारों, पौराणिक कथाओं आदि का सूत्र नहीं छोड़ा। कुतबन, जायसी, कृपाराम आदि को छोड़कर १५६० से प्राय: १६३० तक पदों के निर्माण का काल रहा, और कृष्णानंद ही में हमारे कविगण मग्न रहे। इसे हम सौर-काल कह सकते हैं। इसमें अच्छी कविता बहुत बनी।

संवत् १६३० के पीछे १६८० तक तुलसीदास का कविता-काल समझना चाहिए। इस समय में पद बनानेवालों का वैसा प्राधान्य नहीं रहा, और रामचरित-मानस के साथ-ही-साथ विविध विषयों के वर्णन की परिपाटी पड़ने लगी। कृष्ण की सच्ची भक्ति भी सौर-काल के पीछे उतनी अधिकता से नहीं रही। अभक्त लोगों ने तुलसी-काल से ही कुछ-कुछ सिर उठाया, और भक्ति-विचार को छोड़कर शृंगार-सौंदर्य के विचार से कृष्णचंद्र को नायक बनाकर नायिकाओं की चेष्टाओं में ध्यान लगाना शुरू किया। महाकवि केशवदास ने इसी समय में रसिकप्रिया ग्रंथ बनाया, जिसमें उन्होंने सब रसों के उदाहरण शृंगार-रस में ही दिए।

तुलसी-काल में एक तुलसीदास का होना ही कवियों के एक दल के बराबर है। इस एक ही कवि ने ऐसी कविता की, जैसी कि चार भिन्न-भिन्न प्रकार के परमोत्कृष्ट कवि करते। इनके विषय में यहाँ कुछ अधिक लिखना अनावश्यक है, क्योंकि इनका बृहत् वर्णन ग्रंथ में मिलेगा। महाकवि केशवदास ने ही रीति-ग्रंथों की प्रणाली डाली। सौर-काल में निपटनिरंजन और नरोत्तमदास भी अच्छे कवि हुए, और स्वयं सूरदास के पीछे गोस्वामी हितहरिवंश की कविता बहुत ही टकसाली होती थी। यह महाशय संस्कृत के

कवि और एक 'मत' के संस्थापक थे। भाषा में इन्होंने केवल ८४ पद बनाए; पर उन्हीं में क़लम तोड़ दी है।

तुलसी-काल में केशवदास के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र भी श्रेष्ठ कवि हो गए हैं। इन्होंने केवल एक नख-शिख बनाया है; पर उसी से यह आचार्य गिने जाते हैं। इनकी रचना बड़ी गंभीर है। रहीम, नाभादास, रसखानि और मुबारक भी इस काल में अच्छे कवि हो गए हैं। अकबर बादशाह भी इसी काल में हुए हैं। यह स्वयं कविता करते थे। इनके यहाँ कवियों का मान भी अच्छा होता था। बीरबल, गंग, टोडरमल, मानसिंह आदि सब अकबर ही के यहाँ कविता करते थे। इनमें से कई श्लाघ्य कवि थे। आईन-अकबरी में लिखा है कि संवत् १६५४ के लगभग सूरदास अकबर के यहाँ गवैयों में थे। यह सूरदास प्रसिद्ध सूरदास नहीं समझ पड़ते; क्योंकि एक तो सूरदास की जीवनियों में उनका अकबर के यहाँ रहना नहीं वर्णित है, दूसरे सूरदास का १६२० के पीछे जीना अनुमान-सिद्ध नहीं है। तुलसी-काल में ही महात्मा बिट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्ता नाम के दो प्रसिद्ध गद्य-ग्रंथ लिखे। महात्मा गोरखनाथ के पीछे हिंदी में ये ही दो उत्कृष्ट गद्य-ग्रंथ मिलते हैं। जैन-कवि बनारसीदास तुलसी-काल ही में हुए। घासीराम भी इसी समय के एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। महात्मा तुलसीदास के रामचरित-मानस का प्रभाव भाषा-साहित्य पर बहुत अधिक पड़ा, और दोहे-चौपाइयों में कथा-प्रासंगिक काव्य करने की प्रणाली-सी पड़ गई। इसी समय से रामायण लिखने का हमारे यहाँ ऐसा शौक़ बढ़ा कि सैकड़ों कवियों ने राम-यश गाया। केशवदास का भी प्रभाव कवि-समाज पर बहुत पड़ा।

गोस्वामीजी के पीछे, थोड़े ही दिनों में, पाँच बहुत बड़े कवि

हुए—सेनापति, विहारी, भूषण, मतिराम और लाल। सेनापति ने अनूठापन सबसे अच्छा दिखलाया। इनका ग्रंथ संवत् १७०६ में बना। विहारी ने १७१६ में सतसई समाप्त की। भूषण ने १७३० में शिवराज-भूषण बनाया। यही समय मतिराम की भी कविता का है। लाल कवि ने छत्रप्रकाश-नामक, छत्रसाल की जीवनी का, एक बहुत ही मनोहर ग्रंथ, केवल दोहे-चौपाइयों में, बनाया। इनकी रचना बड़ी ही ज़ोरदार और प्रशंसनीय है। इस ग्रंथ में छत्रसाल का, प्रायः संवत् १७६२ तक का, हाल बड़ी ही कुशलता-पूर्वक वर्णित है। देवजी का जन्म उसी संवत् (१७३०) में हुआ, जिसमें कि शिवराज-भूषण समाप्त हुआ। मानो ईश्वर ने ऐसे पूज्य ग्रंथ के पुरस्कार में ही ऐसा बढ़िया कवि संसार को दिया। देव का कविता-काल प्रायः १७६० संवत् तक है। इस भूषण और देववाले काल में अच्छे कवियों की संख्या बहुत बढ़ी, और वीर-काव्य का भी अच्छा निर्माण हुआ। जैसे कि सूरदास के समय में भक्ति का समुद्र उमड़ पड़ा था, वैसे ही इस काल में शौर्य की ध्वजा ऊँची हुई। चिर-विमर्दित हिंदू-राज्य का उत्थान और चिर-विजयी मुसलमान-बल का पतन इसी काल में हुआ। ऐसे अमूल्य समय में वीर-काव्य का बाहुल्य स्वाभाविक ही था, और हुआ भी; पर इसी के साथ शृंगार-काव्य ने अधिक बल प्राप्त किया, और इसका भी सिक्का जम गया। शृंगार की ऐसी लोक-प्रियता बढ़ी कि सेनापति-जैसे ऋषि-कवि ने भी शृंगार-काव्य करने में कोई दोष न माना।

इस समय जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह ने दोहों में भाषाभूषण नाम का एक परमोत्कृष्ट अलंकार-ग्रंथ बनाया, जो अब भी जिज्ञासुओं के काम आता है। महाराजा छत्रसाल ने इसी समय कवियों का परम प्रशंसनीय सम्मान किया। इनके यहाँ

जाने-आनेवालों में भूषण, नेवाज, हरिकेश और लाल परम प्रशंसित कवि थे। नेवाज ने संयोग-शृंगार बहुत ही अच्छा कहा। शेष तीन महाकवियों ने बड़ी ही ज़ोरदार रचना की। इनके अतिरिक्त सैकड़ों कवि छत्रसाल के यहाँ जाते और मान पाते थे। इस समय भाषा की अन्य उन्नतियों के साथ आचार्यों की भी अच्छी वृद्धि हुई। देव, भूषण, मतिराम, चिंतामणि, श्रीपति, कवींद्र, सूरति मिश्र, रसलीन, कुलपति आदि सब आचार्य थे। सबकी रचना परम मनोहर होती थी। गोकुलनाथ के पीछे सूरति मिश्र ने भी गद्य में प्रशंसनीय रचना की। अतः इस समय तक गोरखनाथ, गोकुलनाथ और सूरति मिश्र ही गद्य के मुख्य लेखक थे। इनके अतिरिक्त देव आदि ने भी एकआध स्थान पर गद्य का उदाहरण देते हुए वचनिकाएँ लिखी हैं; पर उनसे वे लोग गद्य-लेखक नहीं कहे जा सकते। कालिदास, घनश्याम शुक्ल, आलम, शेख, गंजन आदि प्रसिद्ध और परमोत्कृष्ट कवि इसी समय में हो गए हैं।

कविता की उन्नति इस समय अवश्य बहुत अधिक हुई, पर उसमें भक्ति-हीन शृंगार की मात्रा भी बहुत बढ़ गई। सूर एवं तुलसी के काल में अनुप्रास का उतना अधिक मान न था; पर इस काल में पद-मैत्री का हिंदी-कविता पर प्रगाढ़ अधिकार हो गया। इस प्रकार भाषा श्रुति-मधुर और सुंदर हो गई। पर बहुत-से कवियों ने शब्दाडंबर के फेर में पड़कर भाव का उतना ध्यान रखना छोड़ दिया। इसी समय सेनापति ने षट् ऋतु पर पृथक् ग्रंथ रचकर इस विषय पर पृथक् ग्रंथ बनाने की नींव डाली। देव कवि ने उसे और भी बढ़ाकर अष्टयाम-नामक ग्रंथ रचा, जिसमें एक दिन के भी प्रति पहर और प्रति घड़ी का वर्णन किया। कई अन्य वैष्णव-कवियों ने भी अष्टयाम रचे।

रस-भेद, भाव-भेद आदि पर ग्रंथ बनने की प्रथा ने इस समय बहुत ज़ोर पकड़ा, और रीति-ग्रंथों का प्रचार बढ़ा। व्रज-भाषा ने इस काल में चरम उन्नति कर ली; क्योंकि इसके पीछे व्रज-भाषा के ऐसे कवि नहीं हुए। सौर-काल के प्रथम हिंदी का प्रचार तो बहुत दिनों से था, पर न तो चंद को छोड़कर उसमें कोई बहुत अच्छा कवि हुआ, और न गणना में कवियों की संख्या ही बहुत हुई। बहुत दिन बीत जाने के कारण कविताएँ लुप्त हो जाने से भी गणना में कमी हुई है, पर वह कमी है अवश्य। प्रायः शिथिल कवियों की ही कविता लुप्त होती है। सौर-काल तथा तुलसी के समय में कवियों की संख्या एवं उत्तमता, दोनों में एकाएक बहुत बड़ी और संतोष-जनक वृद्धि हुई। इस काल में जो ग्रंथ बने, उनमें से बहुत-से हिंदी क्या, पृथ्वी की किसी भी भाषा का शृंगार कहे जा सकते हैं।

इस समय के पीछे, सेनापति, भूषण और देव के समय में, हिंदुओं की सभी बातों में अच्छी उन्नति हुई। यहाँ तक कि महाराष्ट्रों ने चिर-संस्थापित मुसलमान-राज्य को विध्वस्त कर एक विशाल साम्राज्य बना ही लिया, यद्यपि काल की कुटिल चाल से वह भी चिर-स्थायी न रह सका। इसी समय बुँदेलखंड, बघेलखंड, राजपूताना, पंजाब आदि प्रायः सभी स्थानों में जातीयता जग उठी। इस जागृति की झलक कविता में भी भली भाँति देख पड़ती है। इन सब उन्नतियों के साथ-साथ कविता ने भी अभूतपूर्व उन्नति की। यह उन्नति कवियों की संख्या और उत्तमता, दोनों बातों में बहुत ही संतोष-प्रद हुई। इस समय भारत में वीर पुरुष थे, और वे स्वभावतः वीर-कविता का अच्छा मान भी करते थे। इस कारण इस समय भाषा में वीर-कविता का अच्छा समावेश हुआ। पर पीछे से कायरता की वृद्धि के कारण वे वीर-ग्रंथ जहाँ-

के-तहाँ पड़े रहे, और उनका अच्छा प्रचार न हो सका। इसका फल यह हुआ कि उनमें से बहुत-से लुप्त हो गए, और अब उनका पता तक नहीं लगता। हिंदी-प्रेमी अब धीरे-धीरे खोज-खोजकर वे ग्रंथ प्रकाशित करते जाते हैं। यही कारण है कि विविध विषयों के ग्रंथ होते हुए भी हिंदी में शृंगार-रस की प्रधानता समझ पड़ती है।

यद्यपि देव कवि के पीछे प्रायः पचास वर्ष तक हिंदुओं के बल और जातीयता की पूर्ण उन्नति रही, पर न-जाने किस कारण दुर्भाग्य-वश हिंदी ने उस महत्त्व का एक भी कवि न उत्पन्न किया, जैसे कि देव, तुलसी और सूर के समय में अनेक हो गए थे। कवियों की संख्या में देव के पीछे और भी विशेष उन्नति हुई; सत्कवि भी बहुत हुए; पर बहुत ही अच्छे कवियों का एक प्रकार से अभाव ही रहा। देव के पीछे हिंदी में भिखारीदास तथा पद्माकर का समय आता है। देवजी के कुछ ही पीछे दास, रघुनाथ और दूलह, ये तीन बड़े प्रधान आचार्य और सुकवि हुए। दूलह अलंकार के आचार्य थे, और दास दशांग कविता के। रघुनाथ ने अलंकार और नायिका-भेद, दोनों बहुत स्पष्ट कहे हैं। सूदन कवि ने इसी समय सुजानचरित्र-नामक एक बड़ा मनोहर युद्ध-ग्रंथ रचा, और गोकुल-नाथ, गोपीनाथ तथा मणिदेव ने भाषा-भारत रचकर हिंदी का अपार उपकार किया। इन तीनों कवियों ने अन्य ग्रंथ भी अच्छे बनाए, विशेष कर गोकुलनाथ ने। इनका समय संवत् १८८४ के लगभग है। रघुनाथ और दास का समय संवत् १८०० के इधर-उधर है। दूलह का समय भी १८०२ के लगभग पड़ता है। सूदन का कविता-काल १८११ के इर्द-गिर्द पड़ेगा। पद्माकर कवि ने १८८३ से ग्रंथ-रचना की। इन्होंने सात-आठ ग्रंथों में केवल जगद्विनोद ही शृंगार का ग्रंथ बनाया। पर काल की गति

से इनका यही ग्रंथ अधिक लोक-प्रिय हुआ । अमेठी के राजा गुरुदत्तसिंह ने भी इसी समय दोहों में परमोत्कृष्ट कविता की । सोमनाथ, ठाकुर, शंभुनाथ मिश्र, बैरीसाल, मनीराम मिश्र, बोधा, सीतल, रामचंद्र पंडित, मनियार, थान, बेनी, लल्लूलाल, दत्त, सदल मिश्र, बेनी प्रबीन, रामसहाय, प्रतापसाहि आदि बहुत-से निपुण कवि इस समय में हुए हैं। इस समय की अवधि संवत् १७९१ से १८८९ तक है ।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त सोमनाथ, बैरीसाल, मनीराम मिश्र और प्रतापसाहि भी इस समय अच्छे आचार्य हो गए हैं। ठाकुर और बोधा इस काल के प्रेमी कवि हैं। सीतल ने इसी समय पहले-पहल खड़ी बोली में बहुत प्रशंसनीय कविता की । यह महाकवि खड़ी बोली के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं । इसी समय में लल्लूलाल और सदल मिश्र ने वर्तमान साधु-भाषा के गद्य की नींव डाली। इनका समय संवत् १८६० था । इनके प्रथम गोरखनाथ, गोकुलनाथ और सूरति मिश्र आदि ने भी गद्य में ग्रंथ रचे थे ; पर उनमें बहुतों का गद्य ब्रज-भाषा में ही लिखा गया था। इस समय के उपर्युक्त दोनों कवियों ने खड़ी बोली के गद्य की नींव डाली, जिसका प्रयोग आजकल गद्य में सर्वत्र किया जाता है। इनके प्रथम भी कुछ लोगों ने खड़ी बोली में गद्य-रचना की थी ; पर उसका प्रचार नहीं हुआ। गणना में इस समय अन्य सभी समयों की अपेक्षा प्रशंसनीय कवि अधिक हुए ; पर न-जाने क्यों इस काल का कोई भी कवि नवरत्न के कवियों की योग्यता को न पहुँचा ।

लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के पीछे राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद अच्छे गद्य-लेखक हुए । प्रथम ने अधिकतर अनुवादों की रचना की, और द्वितीय ने पाठशालाओं के

लिये पाठ्य पुस्तकें ही विशेष बनाईं । इनके पीछे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र वर्तमान गद्य-प्रणाली के सुधारक और सुदृढ़ संस्थापक हुए । इन्होंने हिंदी का बड़ा उपकार किया । इनके प्रोत्साहन और परिश्रम से सैकड़ों मनुष्य हिंदी के सुलेखक बन गए, और काशी में हिंदी की जड़ बहुत ही पुष्ट होकर जम गई । हिंदी में इस समय बहुत-से ऐसे लेखक वर्तमान हैं, जिनका गद्य स्वयं भारतेंदु के गद्य से टक्कर ही नहीं लेता, बल्कि कहीं-कहीं आगे भी निकल जाता है। इस स्थान पर हम वर्तमान गद्य-लेखकों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते ।

पद्माकर के पीछे देवकाष्ठजिह्वा, नवीन, पजनेस, सेवक, सरदार, कुमार, मणि भट्ट, द्विजदेव, भौन, गदाधरभट्ट, औध, लछिराम, सहजराम, लेखराज, ललित और प्रतापनारायण मिश्र, ये सुकवि हुए । फिर भी यह अवश्य कहना पड़ता है कि यदि हरिश्चंद्र को निकाल डालें, तो रघुनाथ और पद्माकर के समय में जैसे सत्कवि हुए हैं, वैसे क्या उनकी चतुर्थांश योग्यता के भी कवि वर्तमान युग में नहीं हैं । इससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि अब कविता की अवनति हो रही है। कारण, रघुनाथ और पद्माकर के समय में, नवरत्नों को निकाल डालने पर, सभी कालों के कवियों से अधिक और श्लाघ्य कवि हुए हैं । आजकल भी बहुत-से सुकवि विद्यमान हैं; फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि वर्तमान समय गद्य का है, और कम-से-कम थोड़े दिनों तक अब पद्य के परम प्रशंसनीय कवि का होना दुर्लभ है । अब ऐसा समय आ गया है कि प्राचीन प्रथा की पद्य-रचना भी धीरे-धीरे उठती जाती है ; लोग भक्ति एवं प्रेम को छोड़कर पाश्चात्य प्रकार के विषयों पर पद्य-रचना अधिक पसंद करते जाते हैं । यह बात उचित भी है । हिंदी के भूत-काल के कवियों ने प्रधानतः धर्म और शृंगार पर ही ध्यान

रक्खा, और इन विषयों पर मान्य ग्रंथ भी बहुत बन चुके हैं। अब इन्हीं विषयों पर रचना करके एक तो भूत-काल के महाकवियों के सम्मुख यश प्राप्त करना बहुत कठिन है, दूसरे उसी चर्वित-चर्वण से कोई लाभ नहीं देख पड़ता। फिर वह समयानुकूल भी नहीं है। इन कारणों से, पाश्चात्य प्रणाली से लाभ उठाकर, भाषा में सामयिक कविता करके उसकी अधिकाधिक उन्नति करना ही उचित है। यशःप्राप्ति के लिये यही बुद्धिमत्ता की बात भी है।

सूर और तुलसी के समय तक भाषा में अनुप्रास का आदर तो था, पर उस पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। विहारीलाल तथा सेनापति ने इस पर विशेष ध्यान दिया। उधर मतिराम ने सरल, साधु भाषा लिखकर भी जमक आदि का विशेष मान नहीं किया। सो इस काल में अनुप्रास-पूर्ण कविता के विषय में कुछ गड़बड़-सी थी। इसी समय में महाकवि देव का जन्म हुआ, जिन्होंने पद-मैत्री से परम प्रगाढ़ मैत्री रक्खी, और उसका परमोत्कृष्ट प्रयोग किया। इसी समय से इसका संबंध भाषा-साहित्य से बहुत घनिष्ठ हो गया। पद्माकर ने तो इसे दोनों हाथों से अपनाया। पद-मैत्री से इतना लाभ तो अवश्य है कि संसार में किसी भाषा की रचना हिंदी-कविता के समान सुष्ठु और श्रुति-मधुर न होगी। श्रुति-कटु वर्णों का जितना बराव इस भाषा में है, उतना किसी अन्य भाषा में न होगा। पद-मैत्री में इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि उसके लालच में भाव न बिगड़ने पावे, और अनुचित शब्दों का प्रयोग न हो। यदि ये दूषण बचाकर कोई पद-मैत्री लावे, तो वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

बहुत दिनों से कुछ कवियों का विचार तुकांत-हीन छंद लिखने का है। आल्हा-छंद तुकांत-हीन होने पर भी ललित है। फिर भी

अभी बहुतों को तुकांत-हीन छंदों में कोई ग्रंथ बनाने का साहस नहीं हुआ है। जिस दिन कुछ श्लाघ्य तुकांत-हीन ग्रंथ बन जायँगे, उसी दिन ऐसे छंद भी चल जायँगे।

इसी स्थान पर साहित्य का यह संक्षिप्त इतिहास समाप्त होता है। इसके पढ़ने से यह प्रकट होगा कि नवरत्न के कविगण कैसे-कैसे समयों में हुए, और उनका प्रभाव साहित्य पर कैसा-कैसा पड़ा। अब हम अधिक कुछ न कहकर यह क्षुद्र ग्रंथ पाठकों की सेवा में अर्पित करते हैं। आशा है, पाठकवृंद इसे पसंद करके हमारा श्रम सफल करेंगे। समालोचनाएँ अभी बहुत छोटी हैं। चाहिए तो यह कि विद्वान् पाठक एक-एक कवि की बृहत् समालोचनाएँ लिखकर उनके द्वारा हिंदी के भांडार को भरें। यह ग्रंथ इस ओर ध्यान आकर्षित करने को ही लिखा गया है। सहृदय पाठकों को यह न समझना चाहिए कि हम लोगों ने इन समालोचनाओं को नम्रता दिखलाने के लिये छोटी एवं असंतोष-दायक कहा है। ये वास्तव में ऐसी ही हैं। विद्वानों के पूर्ण प्रयास विना सर्वांग-पूर्ण और भारी आकार की समालोचनाएँ नहीं लिखी जा सकतीं। अकेले गोस्वामीजी आदि कवियों पर ही सैकड़ों पृष्ठों की आलोचना होनी चाहिए।

लखनऊ
सं० १९६७

गणेशविहारी मिश्र
श्यामविहारी मिश्र
शुकदेवविहारी मिश्र

नवरत्न के कवियों का समय

नंबर	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर*	कितने वर्ष कौन कवि औरों के समकालीन रहा
१	चंदबरदाई	११८३	१२५०	६७	ब्रह्मभट्ट	×	× × × ×
२	कबीरदास	१४५५	१५७५	१२०	जुलाहा	२७२	नं०२व३=३५
३	सूरदास	१५४०	१६२०	८०	सारस्वत ब्राह्मण	८५	नं०२व३=३५,नं०३व४=३१, नं०३व५=८
४	तुलसीदास	१५८६	१६८०	६१	सरयूपारीण ब्राह्मण	४६	नं०३व४=३१,नं०४व५=६२, नं०४व६=२०,नं०४व७(क)=१०,नं०४व७(ख)=६
५	केशवदास	१६१२	१६७४	६२	सनाढ्य ब्राह्मण	२३	नं०५व४=६२,नं०५व३=८, नं०५व६=१४,नं०५व७(क)=४
६	विहारीलाल	१६६०	१७२०	६०	माथुर ब्राह्मण	४८	नं०६व४=२०,नं०६व५=१४, नं०६व७(क)=५०, नं०६व७(ख)=४६

* अर्थात् वह कवि अपने पूर्ववर्ती कवि के जन्म से कितने वर्ष पीछे उत्पन्न हुआ।

नवरत्न के कवियों का समय

नंबर	नाम	जन्म-संवत्	मृत्यु-संवत्	अवस्था	जाति	कालांतर	कितने वर्ष कौन कवि औरों के समकालीन रहा
७	(क) भूषण	१६७०	१७७२	१०२	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	१०	नं०७(क)व४=१०,नं०७(क) व५=४,नं०७(क)व६=२०, नं०७(क)व७(ख)=१८,नं०७ (क) व ८=४२
	(ख)मतिराम	१६७४	१७७३	९९	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	४	नं०७(ख)व४=६,नं०७(ख) व६=४६,नं०७(ख)व७(क) =१८,नं०७(ख)व ८=४३
८	देवदत्त	१७३०	१८०२	७२	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	५६	नं०८व७(क)=४२,नं०८व७ (ख)=४३
९	हरिश्चंद्र	१९०७	१९४१	३४	अग्रवाल वैश्य	१७७	× × × ×
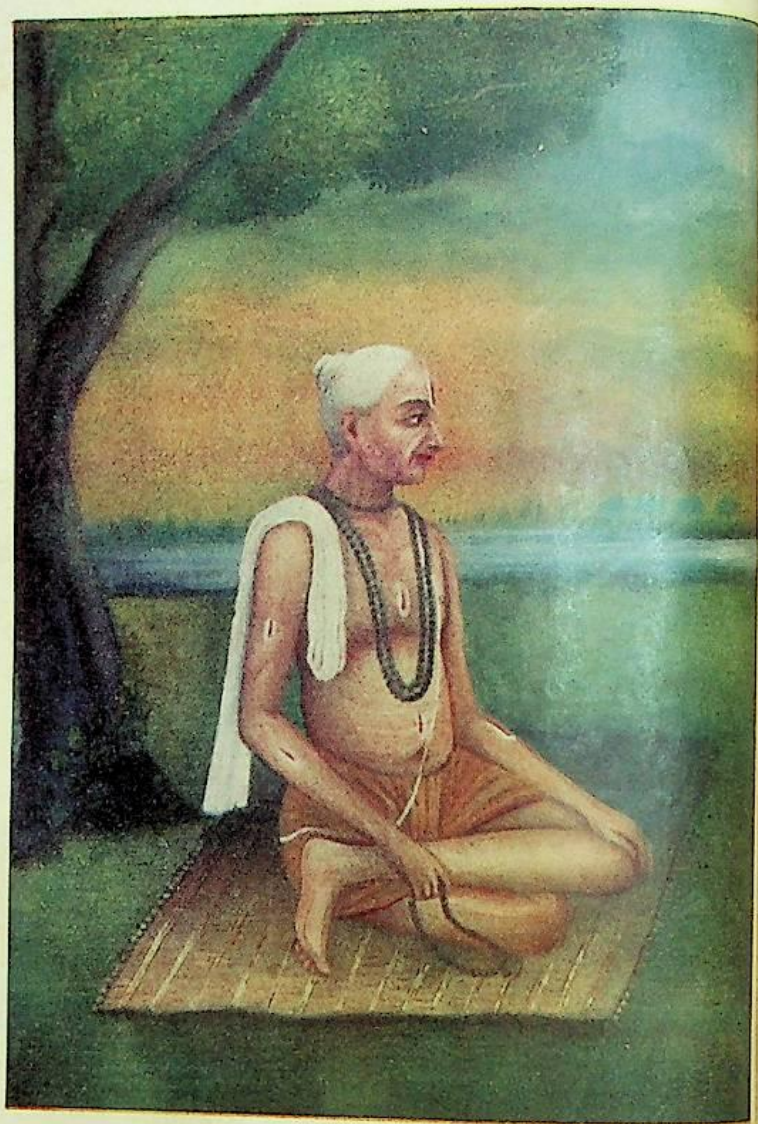
गोस्वामी तुलसीदासजी

प्रतिभा-प्रतिमूरति, भगत, कबिता-कामिनि-कंत ;
राम-नाम को जप करत, तुलसी पूरन संत ।

कविता करिके तुलसी न लसे
कविता लसी पा तुलसी की कला।

हिंदी-नवरत्न

अर्थात्

हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवि

(१)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी
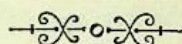
"आनंदकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः ।
कविता मंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता * ॥ १ ॥"

"एक लहैं तप-पुंजन के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ॥ २ ॥"

"कलि कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो ॥ ३ ॥"

"कविता-करता तीनि हैं तुलसी, केसव, सूर ;
कबिता-खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर ॥ ४ ॥"

"तुलसी, गंग, दुवौ भए सुकबिन के सरदार ॥ ५ ॥"

"राम-चरित जे सुनत अघाहीं ; रस बिसेष पावा तिन नाहीं ॥६॥"

---

* जंगम तुलसी-तरु लसै, आनँदकानन-खेत ;
जाकी कविता-मंजरी, राम-भँवर रस लेत ।

ऐसा कौन हिंदी-अक्षरों का ज्ञान एवं 'हिंदी, हिंदू, हिंद' से कुछ भी संबंध रखनेवाला हत-भाग्य पुरुष होगा, जो महात्मा श्रीतुलसीदासजी महाराज के नाम, यश एवं पीयूष-वर्षिणी कविता से थोड़ा-बहुत भी परिचित न हो ? आज हम इन्हीं महर्षि के पवित्र चरित्र से अपनी जड़ लेखनी को पुनीत करने बैठे हैं। हिंदी के अनेकानेक सुलेखकों ने, समय-समय पर, इन महात्मा के विषय की गवेषणा में जितना श्रम किया है, उतना शायद ही हिंदी अथवा संस्कृत के किसी भी कवि के संबंध में किया गया हो। हमारी समझ में तो वेद-भगवान् और श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़कर और किसी भी हिंदू-ग्रंथ पर इतना समय लोगों ने न व्यय किया होगा, जितना गोस्वामीजी की रामायण पर किया है।

खोज से दृढ़ अनुमान किया गया है कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर, तहसील और परगना मऊ, ज़िला बाँदा में, संवत् १५८[illegible] में, हुआ था। गोस्वामीजी का जन्म-काल प्रसिद्ध रामायण-रसिक रामगुलाम द्विवेदी के कथन पर निर्धारित किया गया है, और उसे बड़े-बड़े लेखकों ने ठीक माना है। राजापुर एक अच्छा क़स्बा है। वह यमुनाजी के किनारे, करवी रेलवे-स्टेशन (जी० आई० पी०) से ३९ मील पर, बसा है। यहाँ तुलसीदास की कुटी अब तक वर्तमान है। वह गोस्वामीजी के शिष्य गणपतिजी के उत्तराधिकारी व्रजलाल चौधरी के आधिपत्य में है, और वहाँ अँगरेज़ों ने महात्माजी के स्मारक-स्वरूप संगमरमर की एक तख़्ती लगा दी है। राजापुर में डाकघर भी है, और करवी से वहाँ तक एक अच्छी कच्ची सड़क गई है। बाबू शिवनंदनसहाय का विचार है कि तारी-नामक स्थान वास्तव में गोस्वामीजी का जन्म-स्थान है ; पर अभी तक लोग राजापुर ही को ठीक मानते हैं।

इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का हुलसी

था। इनका असल नाम 'रामबोला' था; परंतु वैरागी होने पर तुलसीदास हुआ। इनका जन्म अभुक्त 'मूल'-नक्षत्र में हुआ था। जान पड़ता है, इनके माता-पिता इनकी बाल्यावस्था में ही स्वर्ग-वासी हो गए थे, और ये दाने-दाने को 'बिललाते' फिरते थे। देखिए—

"बारे ते ललात. बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।"
(कवितावली)

कुछ लोग समझते हैं, इनके माता-पिता ने इन्हें छोड़ दिया था। यदि माता-पिता ने इन्हें सचमुच छोड़ ही दिया होगा, तो भी कबीर साहब की भाँति कहीं फेंक न दिया होगा, वरन् किसी को सौंप दिया होगा। फेंके जाने से इनके कुल आदि का पता न लगता। अपनी कविता में इन्होंने जगह-जगह अपना माता-पिता द्वारा 'तजा' जाना लिखा है; पर इससे उनके शीघ्र ही 'स्वर्ग-वासी' होने का भी तात्पर्य हो सकता है। विनयपत्रिका में एक स्थान पर आपने यह भी लिखा है कि माता-पिता ने आपको बिना संस्कार किए ही छोड़ दिया था। इससे छोड़े जाने का विचार भी दृढ़ होता है। कहते हैं, इनका विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था। उससे इनके तारक-नामक एक पुत्र भी हुआ; पर वह बचपन में ही स्वर्ग-वासी हुआ। यह भी सुना जाता है कि गोस्वामीजी अपनी स्त्री पर बड़ा ही प्रेम रखते थे। यह उसके नैहर जाने पर एक बार वहीं जा पहुँचे। इस पर स्त्री ने कहा, यदि आप इतना प्रेम परमेश्वर से करते, तो न-जाने क्या फल होता! तब तो तुलसीदास की आँखें खुल गईं। वह घर छोड़ चल दिए, तथा वैरागी हो गए। इस कथा का उल्लेख प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में किया है। कहा जाता है, साधु होने पर एक बार अपनी स्त्री से इनका दैवात् साक्षात्कार हो गया था; पर इस अवसर पर जो दोनों

में दोहों द्वारा बात-चीत का होना कहा गया है, वह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता। संभवतः उस बात-चीत का सारांश पीछे से दोहों में लिखा गया होगा।

गोस्वामीजी घर से निकल श्रीस्वामी रामानंदजी महाराज के शिष्य-संप्रदायवाले महात्मा नरहरिदासजी के पास गए, और उनके मंत्र-शिष्य हो गए। इस समय इनकी अवस्था प्रायः २५ वर्ष की होगी; क्योंकि निर्धन होने के कारण इनका शीघ्र विवाह होना अनुमान-सिद्ध नहीं। इनके एक ही लड़का तब तक हुआ था। इन्होंने रामायण में लिखा है—

"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सु सूकर-खेत;
समुझि नहीं तस बालपन, तब अति रह्यों अचेत।
तदपि कही गुरु बारहिबारा;
समुझि परी कछु मति-अनुसारा।"

इससे अनुमान होता है कि उस समय इनकी अवस्था केवल दस-बारह वर्ष की होगी। कहीं-कहीं उस समय गोस्वामीजी की अवस्था पाँच ही वर्ष की मानी गई है। जान पड़ता है, वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व गोस्वामीजी नरहरिदासजी से विद्या भी पढ़ते थे, और उसी समय आपने उनसे कथा भी सुनी थी। पीछे से वैरागी होने पर गोस्वामीजी ने उन्हीं को अपना दीक्षा-गुरु भी कर लिया। ऐसा न मानने से प्रियादास का विवाह-संबंधी कथन अप्रामाणिक मानना पड़ेगा। पर वह अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। कारण, उसके प्रतिकूल कोई माननीय प्रमाण नहीं है। दूसरे, गोस्वामीजी का विवाह होने की कथा बहुत ही प्रचलित है। तीसरे, प्रियादास के गुरु नाभादास गोस्वामीजी के मित्र और मिलनेवाले थे, तथा उन्हीं की आज्ञा से प्रियादास ने उनके भक्तमाल की वह टीका की, जिसमें गोस्वामीजी के विवाह का हाल वर्णन किया

गया है । अतः विना किसी सुदृढ़ प्रमाण के यह नहीं कहा जा सकता कि प्रियादासजी का कथन मानने योग्य नहीं है। गोस्वामीजी ने लिखा है—

"पूछयो ज्यों हीं, कह्यों, मैं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरो जू,
मेरे कोऊ कहूँ नाहीं, चरन गहत हौं ;
लोग कहैं पोच, सो न सोच, न सँकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं ।"

इस कथन के आधार पर कुछ लोग विचार करते हैं कि इनका विवाह नहीं हुआ था। हमारी समझ में इनका यह कहना कि मेरे कोई भी नहीं है, कुछ आश्चर्य की बात नहीं । कारण, इनकी स्त्री इनके चित्त में अपनी ओर से विरक्ति उत्पन्न कराकर एक प्रकार से इनसे संबंध छोड़ ही चुकी थी, और अन्य कोई संबंधी इनके था नहीं। इनके इस कथन से कि मैं ब्याह नहीं चाहता हूँ, इनका विवाह होने के प्रतिकूल कोई भी अनुमान नहीं हो सकता।

गृह-त्याग के पीछे गोस्वामीजी प्रायः तीर्थ-स्थानों में घूमते रहे। यह महाशय मथुरा, वृंदावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, चित्रकूट, जगन्नाथ-पुरी, शूकर-क्षेत्र (सोरों) आदि स्थानों में जाया-आया करते थे, और अयोध्या में अधिकतर रहते थे। पर इनका मुख्य वास-स्थान काशी थी। वहाँ बहुत-से स्थानों में अब तक इनके स्मारक वर्तमान हैं। उनमें निम्न-लिखित चार प्रसिद्ध हैं—

(१) असी पर गोस्वामीजी का घाट । यहाँ इनके स्थापित हनुमान्‌जी और इनकी गुफा है। यहीं यह विशेषकर रहते थे, और इसी स्थान पर इनका शरीर-पात भी हुआ।

(२) गोपाल-मंदिर । यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग़ में इनकी एक कोठरी है ; जिसमें इनकी बैठक थी। यह स्थान बिंदुमाधवजी के समीप है।

(३) प्रह्लाद-घाट ।

(४) संकटमोचन हनुमान् । इन्हीं महाशय की स्थापित की हुई यह मूर्ति, नगवे के समीप, असी के नाले पर, अब तक वर्तमान है । संभवतः इसी हनुमन्मूर्ति की प्रशंसा में 'संकटमोचन' बना था ।

गोस्वामीजी पहले हनुमान्-फाटक पर रहते थे । फिर मुसलमानों के उपद्रव के कारण गोपाल-मंदिर में आए, और वहाँ वल्लभ-संप्रदायवाले गुसाइँयों से विरोध हो जाने के कारण असी-घाट पर रहने लगे । असी पर गोस्वामीजी ने अपनी रामायण के अनुसार राम-लीला आरंभ कर दी थी ; जो वहाँ अब तक होती है । यह लीला काशी की सब लीलाओं से पुरानी है । गोस्वामीजी कृष्ण-लीला भी कराते थे, और इनके घाट पर कार्त्तिक-कृष्णा ४ को अब तक कालिय-दमन-लीला होती है ।

बनारस के खत्री टोड़रमल (प्रसिद्ध मंत्री टोड़रमल नहीं), ख़ानख़ाना, महाराजा मानसिंह, मधुसूदन सरस्वती और नाभादासजी से इनकी मित्रता थी । अष्ट-छाप के प्रसिद्ध कवि नंददास किसी अन्य तुलसीदास के भाई थे, इनके नहीं । टोड़रमल के कुटुंबियों में कुछ झगड़ा हुआ था, जिसमें गोस्वामीजी पंच नियत हुए थे । इसका फ़ैसलनामा, स्वयं इनके हाथ का लिखा, महाराजा बनारस के यहाँ अब तक सुरक्षित है । एक बार एक ब्राह्मण को हत्या लगी थी, और वह बहुत दीनता-पूर्वक राम-राम करता हुआ सबसे अपनी हत्या-निवृत्ति की प्रार्थना करता फिरता था । इनको उसके मुँह से राम-नाम सुनकर इतना प्रेम उत्पन्न हुआ कि इन्होंने उसे अपने साथ भोजन कराया ; जिससे उसकी हत्या छूट गई, और वह पवित्र माना जाने लगा । गोस्वामीजी से एक बार मलूकदास भी मिले थे । अवध-देश के मुक्तामणिदास की कविता को इन महाशय ने बहुत पसंद किया था । वह छंद बाबू शिवनंदनसहाय ने अपने ग्रंथ

'गोस्वामी तुलसीदास' के पृष्ठ १०१ पर लिखा है। यह महाशय एक बार लखनऊ भी आए और यहाँ से चलकर कुछ दिन मलिहाबाद में रहे थे। कहते हैं, वहीं एक भाट को इन्होंने अपने हाथ से एक रामायण लिख दी थी; जो वहाँ के महंत जनार्दनदास के पास अब तक विद्यमान है। इस पुस्तक को एक बार लगभग आधघंटे तक हमने भी देखा; परंतु हमको इसके गोस्वामीजी के हाथ की लिखी होने में संदेह है। इनका लिखा अयोध्या-कांड (रामायण) अब तक राजापुर में, कुटी में, विद्यमान है। उसके अक्षरों का फ़ोटो हमने देखा है। उन अक्षरों से मलिहाबादवाली पुस्तक के अक्षर नहीं मिलते, और केवल आध ही घंटे तक ढूँढ़ने पर हमें उसमें गंगा की उत्पत्ति की कथावाला क्षेपक भी मिला। पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने अपने 'भक्त-विलास' में गोस्वामीजी का जो वर्णन किया है, उसमें यह लिखा है कि गोस्वामीजी की सूरदासजी से भेंट हुई थी। गोस्वामीजी को अंत में कुछ दिन वात-रोग से पीड़ित रहना पड़ा; जिससे यह बहुत दुःखित हुए। इसी क्लेश में इन्होंने 'हनुमान्-बाहुक' की रचना की। उसमें ४४ छंद हैं। उसे देखने से ज्ञात होता है, गोस्वामीजी को कई मास तक बाई से बहुत ही क्लेश रहा होगा। दोहावली में भी इस पीड़ा का वर्णन, तीन दोहों में, है। यह पीड़ा इनके दक्षिण बाहु-मूल में थी। इसका वर्णन इन्होंने इस तरह किया है—

"बात तरु-मूल बाहु-शूल कपि कछु बेली,
उपजी सकेलि कपि खेल ही उखारिए।"

"आलस, अनख, परिहास की सिखावन है,
एते दिन रही पीर तुलसी के बाहु की।"

"आपने ही पाप ते, त्रिताप ते कि शाप ते,
बढ़ी है बाहु-बेदन, न नेकु सहि जाति है;

ओषधि अनेक, जंत्र, मंत्र, टोटकादि किए,
बादि भए, देवता मनाए अधिकाति है।
करतार, भरतार, हरतार कर्म काल,
को है जग-जाल, जो न मानत इताति है;
चेरो तेरो तुलसी, तू मेरो कह्यो राम-दूत,
ढील तेरी बार मोहिं पीर ते पिराति है।"
"अभिभूत बेदन बिषम होत भूतनाथ,
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं;
मारिए, तौ अनायास कासी-बास खास फल,
ज्याइए, तौ कृपा करि निरुज-सरीर हौं।"
"तुलसी-तनु सर, सुख जलज, भुज-रुज गज बरजोर;
दलत दयानिधि देखिए, कपि-केसरी-किसोर।"

जान पड़ता है, इसके पीछे इनकी पीड़ा कुछ शांत हो गई थी; क्योंकि यह लिखते हैं—

"खाए हुते तुलसी कुरोग राँड़ राकसिनि,
केसरी-किसोर राखे बीर बरियाई है।"

परंतु फिर भी उससे इनके रोग की पूर्ण निवृत्ति नहीं हुई। कारण, इसके पश्चात् नव छंदों में फिर भी रोग से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है। इन महाशय का अंतिम दोहा यह है—

"राम-नाम-जस बरनिकै, भयो चहत अब मोन;
तुलसी के मुख दीजिए, अबहीं तुलसी-सोन।"

इनकी मृत्यु के विषय में निम्न-लिखित दोहा प्रसिद्ध है—

"संवत सोरह सै असी, असी-गंग के तीर;
सावन-सुकुला सत्तिमी, तुलसी तज्यो सरीर।"

गोस्वामीजी के कुल के विषय में पंडितों में मत-भेद है। किसी ने इन्हें कान्यकुब्ज-ब्राह्मण और किसी ने सरयूपारीण माना है।

राजा प्रतापसिंह ने 'भक्तकल्पद्रुम' में इनको कान्यकुब्ज-ब्राह्मण लिखा है; पर शिवसिंहसरोज में, बेनीमाधवदास-लिखित जीवन-चरित्र के आधार पर, इन्हें सरयूपारीण-ब्राह्मण माना गया है। रामायण के प्रसिद्ध टीकाकार और प्रेमी पंडित रामगुलाम द्विवेदी ने भी इन्हें सरवरिया ही माना है, और उन्हीं के आधार पर डॉक्टर ग्रियर्सन ने भी इनको सरवरिया लिखा है। इनको सरयूपारीण मानने में दो आपत्तियाँ हैं। एक यह कि पूरा बाँदा-ज़िला और राजापुर के इर्द-गिर्द का स्थान कान्यकुब्ज-द्विवेदियों की बस्ती है, न कि सरवरिया-ब्राह्मणों की। सो, यदि गोस्वामीजी द्विवेदी थे, तो इनका कान्यकुब्ज होना विशेष माननीय है। दूसरे, इनका विवाह पाठकों के यहाँ हुआ था। पाठकों का कुल सरवरिया-ब्राह्मणों में बहुत ऊँचा है, और द्विवेदियों का उनसे नीचा। अतः पाठकों की कन्या द्विवेदियों के यहाँ नहीं ब्याही जा सकती। कोई भी उच्च वंशवाला मनुष्य अपनी कन्या नीच कुल में नहीं ब्याहता। किंतु कनौजियों में पाठकों का घराना द्विवेदियों से नीचा है। अतः पाठकों की लड़कियाँ द्विवेदियों के यहाँ ब्याह जाना उचित है। राजापुर में हमने इस विषय की जाँच की, तो वहाँ गोस्वामीजी सरवरिया ही समझे जाते हैं। अतः बहु-मत का झुकाव इसी ओर मानना पड़ता है। सरवरिया भी कान्यकुब्ज-ब्राह्मणों की ही एक शाखा हैं। इससे इन्हें कान्यकुब्ज कहनेवालों के कथन भी विरोधी नहीं होते।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त, गोस्वामीजी के माहात्म्य के विषय में बहुत-सी अन्य साधारण एवं आश्चर्यमयी घटनाएँ तथा अन्य प्रकार की बातें इंडियन-प्रेस में छपी हुई रामायण के गोसाईंजीवाले-जीवन-चरित्र में उसके विद्वान् संपादकों ने लिखी हैं; जो उन पर विश्वास करनेवालों या गोस्वामीजी का विस्तृत जीवन-वृत्तांत

जानने की इच्छा रखनेवालों के पढ़ने योग्य हैं। हमें उपर्युक्त लेख से यह गोस्वामीजी का जीवन-चरित्र लिखने में सहायता मिली है।

गोस्वामीजी ने अपने विषय में बहुत कम बातें लिखी हैं। अतः इनकी जीवनी लिखने में बाह्य प्रमाणों की विशेष आवश्यकता है। उनमें से निम्न-लिखित प्रधान हैं—

(१) बेनीमाधवदास-कृत गोसाईं-चरित्र। इसका नाम शिवसिंहसरोज में लिखा है। शिवसिंह लिखते हैं, उन्होंने उसको देखा है, और इसमें बड़े विस्तार के साथ जीवन-चरित्र वर्णित है। यह ग्रंथ हमको शिवसिंह के पुस्तकालय में नहीं मिला, और न अब इसका कहीं पता लगता है।

(२) नाभादास-कृत भक्तमाल। यह संवत् १६४२ से १६८० तक किसी समय बना। इसमें गोस्वामीजी के विषय में केवल एक छप्पै दी हुई है; परंतु उनके शिष्य प्रियादास ने, संवत् १७६९ में, जो भक्तमाल की टीका बनाई है, उसमें ११ कवित्तों द्वारा गोस्वामीजी के वृत्तांत का वर्णन किया है।

(३) इन्हीं के आधार पर राजा प्रतापसिंह ने भक्तकल्पद्रुम और महाराजा रघुराजसिंह ने रामरसिकावली में भी गोस्वामीजी का चरित्र वर्णन किया है, और पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने भक्तविलास में भी इन महाशय का कुछ चरित्र लिखा है।

(४) डॉक्टर ग्रियर्सन ने भी उपर्युक्त प्रमाणों को जाँचकर और गोस्वामीजी के विषय की कहावतें एकत्र कर उनका चरित्र लिखा है।

(५) पंडित रामगुलाम द्विवेदी और पंडित बंदन पाठक ने भी गोस्वामीजी के ग्रंथों पर बहुत ही सराहनीय श्रम किया है। जीवन-चरित्र के अतिरिक्त इन महात्माओं ने गोस्वामीजी के ग्रंथों पर

टीकाएँ भी की हैं। इस विषय में छक्कनलाल का श्रम भी सराहनीय है।

(६) वर्तमान काल में भी रामचरणदास, ज्वालाप्रसाद मिश्र, बैजनाथ कुर्मी और सुखदेवलाल कायस्थ ने इनके ग्रंथों पर भारी तथा श्रेष्ठ टीकाएँ लिखी हैं।

(७) सबसे पहले खड्गविलास-प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन-सिंह ने एक भव्य भूमिका-सहित रामायण की परम शुद्ध प्रति प्रकाशित की। फिर इंडियन-प्रेस, प्रयाग के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने बड़े श्रम और व्यय से रामायण की एक अतीव शुद्ध सचित्र प्रति, संवत् १९५९ में, प्रकाशित की। इसमें बहुत-सी प्राचीन प्रतियों से मिलाकर शुद्ध पाठ लिखा गया है। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, बाबू राधाकृष्णदास, बाबू श्यामसुंदरदास, बाबू कार्त्तिकप्रसाद और बाबू अमीरसिंह ने इसका संपादन किया है। इसमें ९३ पृष्ठों की बढ़िया भूमिका दी गई है। संपादकों ने इसमें रामायण के कठिन शब्दों की टिप्पणी दी है, और जो कथाएँ रामायण में उदाहरण-स्वरूप लिखी गई हैं, उनका भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है। रामायण की ये दोनों प्रतियाँ परम प्रशंसनीय हैं।

इनके अतिरिक्त गोस्वामीजी ने भी प्रसंग-वश कहीं-कहीं कुछ बातें अपने विषय में लिख दी हैं। उनसे यह भी विदित होता है कि किसी समय लोग गोस्वामीजी से बहुत चिढ़ते थे, और इन्हें बुरा समझते थे। यह बात इनके छः ग्रंथों में कई जगह झलकती है; परंतु यहाँ केवल एक छंद दिया जाता है—

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ ;
काहू कि बेटी से बेटा न ब्याहब, काहू कि जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सु कहै कछु ओऊ ;
माँगिकै खैबो, मसीद को सोयबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ।"

इसमें गोसाईंजी स्पष्ट कहते हैं कि उनको चाहे कोई कुछ भी कहे, उनको किसी की बेटी से अपना बेटा नहीं ब्याहना है कि उससे उसकी जाति बिगड़े। वह चाहे मसजिद ही में क्यों न सोवें, किसी को क्या! उनको किसी से लेना एक, न देना दो। पीछे से यह भी लिखा है कि उनका मान लोग ऋषियों के समान करने लगे थे। कवितावली में आपने प्रचंड महामारी का भी वर्णन किया है। इसी से कुछ लोगों का विचार है कि गोस्वामी-जी की बाहु-पीड़ा भी महामारी का चिह्न है, और इनका शरीर-पात इसी रोग में हुआ। पर इन्होंने महामारीवालों की रोग-पीड़ा का जैसा वर्णन किया है, वैसा अपना नहीं किया। फिर इनकी बाहु-पीड़ा कई मास या कई साल तक रही थी; जैसा कि महामारी में नहीं होता।

जब हिंदी-नवरत्न का प्रथम संस्करण निकला था, तब विद्वद्वर पंडित इंद्रनारायण द्विवेदी ने उसके विषय में, मर्यादा पत्रिका में, एक लेख लिखा था। उसमें आपने लिखा था कि गोस्वामीजी के शिष्य रघुवरदास ने १,३३,९६२ छंदों में गोस्वामीजी की एक भारी जीवनी लिखी थी; जिसका नाम तुलसी-चरित्र है। उसमें लिखा है कि गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम सरवरिया-ब्राह्मण, गाना के मिश्र, थे। वह राजापुर में आ बसे। उनके पुत्र शंकर मिश्र के दश पुत्र हुए; जिनमें एक रुद्रनाथ थे। इन्हीं रुद्रनाथ के चार पुत्र और दो कन्याएँ हुईं; जिनके नाम थे—गणपति, महेश, तुलाराम, मंगल, वाणी, विद्या। तुलाराम ही प्रसिद्ध कवि तुलसीदास हुए। पुरोहित ने इनका नाम पहले तुलसीराम रक्खा; जो संत होने पर तुलसीदास हो गया। आपके तीन विवाह हुए; जिनमें तीसरी स्त्री का नाम बुद्धिमती था। वह लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री थी। उसी के उपदेश से गोस्वामीजी गृह-त्यागी हुए। गोस्वामी-

जी का जन्म-काल इस ग्रंथ में सं० १५५४ लिखा है। मृत्यु का संवत् १६८० है ही। सो, मरते समय आपकी अवस्था १२७ वर्ष की होती है, और रामायण का आरंभ करने के समय ७७ वर्ष की। कहा गया है, आपने रामायण की कथा पहली बार पाँच वर्ष की अवस्था में और फिर दूसरी बार चालीस वर्ष की अवस्था में संतों से सुनी। इस ग्रंथ में भी जन्म-स्थान राजापुर माना गया है। यह बहुत भारी ग्रंथ कहा जाता है, अतएव इसका प्रमाण मानना ठीक ही था। किंतु एक तो यह अप्राप्य-सा जान पड़ता है। दूसरे, अब तक छपा नहीं है कि इसकी मौलिकता की जाँच हो सकती। तीसरे, इसके कई कथन स्वयं गोस्वामीजी के कथनों के प्रतिकूल होते हैं। गोस्वामीजी ने अपना पहला नाम रामबोला लिखा है, न कि तुलाराम। यह अपनी बाल्यावस्था बड़ी ही निर्धन तथा संकट की अवस्था में बीती बताते हैं; किंतु तुलसी-चरित्र कहता है कि इनके पिता ने इन (गोस्वामीजी) के विवाह में ६०००) का दायज पाया था। गोस्वामीजी अपनेको पिता द्वारा तजा गया लिखकर कहते हैं कि मेरे कहीं कोई नहीं है; किंतु तुलसी-चरित्र तीन विवाह कराकर पिता को भारी दायज दिलाता है, तथा पितामह एवं पिता के परिवार में बहुत-से स्वजनों का होना लिखता है। इससे जब तक यह ग्रंथ अधिक न जाँचा जा सके, तब तक अग्राह्य है। इसमें चार खंड हैं—अवध, काशी, नर्मदा और मथुरा। इसकी रचना रामायण की भाँति अच्छे दोहे-चौपाइयों में है। दुःख है कि ऐसा भारी ग्रंथ अभी तक अप्रसिद्ध है।

ये महाशय स्मार्त-वैष्णव माने गए हैं। इन्होंने रामायण में लिखा है, संवत् १६३१ के—

"नवमी, भौम बार, मधु-मासा ;
अवध-पुरी यह चरित प्रकासा।"

इस मंगलवार को उदय-काल में राम-नवमी न थी। मध्याह्न-व्यापिनी होने के कारण स्मार्त-वैष्णवों के मतानुसार ही उस दिन नवमी माननीय थी। शेष वैष्णवों के मत से राम-नवमी बुध को थी। स्मार्त-वैष्णव किसी मत का विरोध न करके भक्ति की प्रधानता रखते हैं। स्मार्त-मतवाले बहुधा शैव होते हैं। स्मार्त-मत की यह भी विशेषता है कि वे सब देवतों को बिलकुल समान मानते हैं। आपने शिव की महत्ता गाई है; जो उस काल के वैष्णव नहीं करते थे। इसी से विरोधाभाव के कारण किसी-किसी ने आपको स्मार्त कहा है। वास्तव में आपने राम-परता का प्राधान्य रक्खा ही है, अतः पूर्णतया स्मार्त न मानकर हम इन्हें भागवत-मत का मान सकते हैं। भागवतों का भी विरोध किसी से नहीं होता, यद्यपि किसी की मुख्यता वे मान सकते हैं। आपकी भक्ति दास-भाव की थी।

गोस्वामी तुलसीदास की मुख्य महत्ताएँ दो हैं। आप परमोत्कृष्ट कवि तथा धर्मोपदेशक थे। जिस समय आपका प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारतीय धार्मिक विश्वासों की दशा कुछ अवांछनीय थी। मुसलमानों ने एकेश्वर-वाद पर पूर्ण श्रद्धा प्रकट करके भारतीय धार्मिक विचारों में कुछ नवीनता-सी उपस्थित की थी। प्राचीन काल में हमारे यहाँ एकेश्वर-वाद पूर्ण रूप से दृढ़ था; किंतु पीछे से ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विचारों ने इसमें कुछ गड़बड़ कर दी थी। यह त्रिमूर्ति-संबंधी विचार वास्तव में एकेश्वर-वाद के अणु-मात्र प्रतिकूल नहीं है। वही ईश्वर उत्पादक होकर ब्रह्मा, पालक होकर विष्णु और विनाशक होकर रुद्र है। वास्तव में ये तीन व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि एक ही ईश्वर के तीन भाव हैं। पंडित लोग अब भी इस बात को मानते हैं, तथा सदैव मानते रहे हैं; किंतु साधारण जनता चिरकाल से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को तीन पृथक्-पृथक् देवता मानती आई है। पुराणों में भी ये देवता भाव-

मात्र न माने जाकर तीन पृथक्-पृथक् व्यक्ति हो गए। यहाँ तक कि इनमें परस्पर युद्धादि भी होने लगे। इन्हीं बातों से राह भूलकर जनता इन्हें तीन देवता मानने लगी, और आदि-शक्ति को भी पृथक् देवी समझ बैठी। फल यह हुआ कि शैव, वैष्णव और शाक्त, एक दूसरे को बुरा कहने लगे। यहाँ तक कि बिना एक दूसरे के मतों को गाली तक दिए बहुत-से शैवों, शाक्तों एवं वैष्णवों का चित्त ही प्रसन्न नहीं होता था। उधर हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक विचारों में भी अच्छा-ख़ासा झगड़ा उपस्थित था। इस प्रकार हिंदू-मुसलमानों का एक धार्मिक विभ्राट् था, और हिंदुओं में शैवों, शाक्तों तथा वैष्णवों का दूसरा। इसे मिटाने को पहले महात्मा कबीरदास का प्रादुर्भाव हुआ; जिन्होंने एकेश्वर-वाद का सच्चा उपदेश दिया, और हिंदू-मुसलमानों की एकता दिखलाई। आपने सगुणोपासना को भी हेय ठहराकर निर्गुणोपासना का उपदेश दिया।

शुद्ध निर्गुणोपासना का प्रयोजन स्थूल रूप से इस भाँति है कि परमेश्वर शक्ति-स्वरूप है। उसके नियम दयामय हैं, किंतु नियमातिरिक्त दया वह नहीं कर सकता, या नहीं करता। यदि एक गेहूँ बोइए और उसे युक्ति से पालिए, तो समय पर ईश्वरीय नियम आपको उसके बदले पचास गेहूँ देगा; किंतु यदि उचित उपाय न कीजिए, तो वह एक गेहूँ भी सूख जायगा। अतएव ईश्वरीय नियम दयामय है, किंतु उस दया से लाभ उठाने के लिये यत्न की भी आवश्यकता है, और कोरी प्रार्थना से काम नहीं चलता। बीमारी से बचने के लिये बुद्धि से काम लेकर उचित दवा करनी होगी, और केवल उपासना से रोग-शांति न होगी। इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

ये विचार तार्किक रीति से शुद्ध होने पर भी मनुष्य की मानसिक निर्बलता के कारण उसे पसंद कम आते हैं। इनको पसंद

करनेवाले थोड़े ही से पंडित निकलेंगे । साधारण जनता इनसे लाभ उठाने में नितांत असमर्थ रहेगी ; क्योंकि उसे केवल तार्किक शुद्धता की ही नहीं, बल्कि प्रेम करनेवाले और गज-ग्राह की-सी पुकार सुननेवाले ईश्वर की भी आवश्यकता पड़ती है । यद्यपि महात्मा कबीरदास ने पूरे तौर से निर्गुण ब्रह्म का कथन न करके प्रेम-भाजन तथा पुकार सुननेवाले ईश्वर का उपदेश दिया, तथापि उनके ईश्वर में निर्गुणता का अंश विशेष था, और सगुणोपासना का थोड़ा या कुछ भी नहीं । सुतराम्, उनका उपदेश जनता के लिये इतना ऊँचा था कि वह उन्हें प्रायः अलभ्य था । इसी प्रकार हिंदू-मुसलमानों के मतों को एक मानने को भी जनता तैयार न थी । अतएव परमोच्च एवं परमोपयोगी होने पर भी महात्मा कबीरदास की शिक्षा जनता के लिये वैसी लाभ-दायक नहीं हुई । संसार को एक ऐसे उपदेशक की आवश्यकता थी, जो अधिक लोक-मान्य उपदेशों का प्रचार करे।

महात्मा तुलसीदास कबीर साहब से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पीछे हुए। आपने हिंदू-मुसलमानों के मतों में ऐक्य उत्पन्न करने का विचार छोड़कर केवल हिंदुओं की सब शाखाओं के एकीकरण का प्रयत्न किया । हिंदुओं में एकेश्वर-वाद की जो कमी हो गई थी, उसे इन महात्मा ने पूरा किया । आपने सब देवतों पर रामचंद्र का परत्व सिखलाया, और अद्वैत-वाद को पूर्णतया दृढ़ करके ईश्वरीय महत्ता को भली भाँति स्थापित किया । आपने राम को "विधि हरि विष्णु नचावनहारे" बतलाया, और साधारण इंद्रादि देवतों को ऋषियों, मुनियों तक से कम कहकर उनकी अनीश्वरता प्रकट की (देवतों के विषय का वर्णन देखिए) । फिर भी शैव, शाक्त, वैष्णव आदि मतों को निंद्य न कहकर आपने शक्ति, शिव, विष्णु आदि का उचित मान स्थिर रक्खा । इस प्रकार हिंदुओं के ईश्वरत्रय-वाद को ध्वस्त करते हुए भी आपने त्रिमूर्ति की निंदा नहीं की; और शैवों

वैष्णवों आदि की एक दूसरे को गाली देनेवाली प्रकृति को यह सिखलाकर दूर किया कि जो भक्त इनमें से एक को बुरा कहकर अपने को दूसरे का दास मानता है, वह वास्तव में भक्त न होकर पापी है, और नरक में पड़ता है। निर्गुणोपासना को मानते हुए भी आपने सगुण ईश्वर तथा अवतार भी माने। इस प्रकार गोस्वामी-जी ने हिंदुओं के मत-वादों का वैमनस्य दूर करके उनमें ऐक्य स्थापित किया। जैसे गौतम बुद्ध, नानक आदि महात्माओं ने जनता तक उपदेश पहुँचाने के विचार से देश-भाषाओं ही में शिक्षा दी, उसी प्रकार हमारे गोस्वामीजी ने सर्व-साधारण के समझने योग्य सरल हिंदी में उपदेश दिए। महात्मा सूरदास आदि कवियों ने भी अच्छी भक्ति दिखलाई थी; किंतु कठिन भाषा और शृंगार-पूर्ण वर्णन होने के कारण उनके उपदेशों ने वैसा लाभ नहीं पहुँचाया। इधर गोस्वामीजी ने भगवान् रामचंद्र का वर्णन बहुत सजीव तथा मर्यादा-पूर्ण किया; जिससे आपके उपदेशों का प्रभाव बहुत भारी पड़ा, और सरल भाषा के भी कवि होने से आप उत्तर-भारत के सबसे बड़े उपदेशक और चरित्र-संशोधक हुए।

गोस्वामीजी के नाम से निम्न-लिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

(१) रामचरित-मानस (रामायण दोहे-चौपाई में)	(९) कड़खा-रामायण
	(१०) रोला-रामायण
(२) कवितावली-रामायण	(११) झूलना-रामायण
(३) गीतावली-रामायण	(१२) रामाज्ञा
(४) छंदावली-रामायण	(१३) रामलला-नहछू
(५) बरवै-रामायण	(१४) जानकी-मंगल
(६) पदावली-रामायण	(१५) पार्वती-मंगल
(७) कुंडलिया-रामायण	(१६) कृष्ण-गीतावली
(८) छप्पै-रामायण	(१७) हनुमान्-बाहुक

(१८) संकट-मोचन
(१९) हनुमान्-चालीसा
(२०) राम-शलाका
(२१) राम-सतसई
(२२) वैराग्य-संदीपिनी
(२३) विनय-पत्रिका
(२४) कलि-धर्माधर्म-निरूपण
(२५) दोहावली

रामचरित-मानस में पीछे के कवियों ने स्थान-स्थान पर नई कथाएँ लगा दी हैं; जिनको अब क्षेपक कहते हैं। ये कविगण ऐसे परोपकारी थे कि इन्होंने अपना नाम तक नहीं लिखा, और केवल यही इच्छा की कि इनकी कविता गोस्वामीजी के साहित्य में मिल जाय। कुछ क्षेपककारों ने रामायण में किसी कथा की कमी समझकर वह त्रुटि पूरी करने को अपनी ओर से उतनी कथा मिलाकर लगा दी। और, कुछ महाशयों ने यह दिखलाने को कि वे भी गोस्वामीजी के समान काव्य कर सकते हैं, बहसा-बहसी में नई कथा बनाकर रामायण में चिपका दी होगी। केवल बाल और लंका-कांडों पर क्षेपककारों ने विशेष अनुग्रह किया है। अयोध्या-कांड में प्रायः किसी को क्षेपक लगाने का साहस नहीं हुआ। क्षेपकों में राम-सेना-वर्णन तथा महिरावण-वध सर्वोत्कृष्ट हैं। गंगोत्पत्ति एवं सुलोचना के सती होने का वर्णन भी अच्छा है। ये क्षेपक गोस्वामीजी की रामायण में ऐसे लग गए हैं कि प्रायः राम-लीलाओं में भी खेले जाते हैं। फिर भी कहना ही पड़ता है कि ये मूल-कथा के बीच में वैसे ही अखर जाते हैं, जैसे हलवा खाने में कंकड़ का टुकड़ा जान पड़े। उपर्युक्त दोनों प्रतियों में क्षेपक न होने के कारण भी हम उन्हें श्रेष्ठ समझते हैं। गोस्वामीजी ने अपनी रामायण कबड़िए का गल्ला तो बनाया ही नहीं है कि उसमें जो रख दो, वही खप जाय। उन्होंने पूरा ग्रंथ बनाने में उसके अंग-प्रत्यंगों को अपने ग्रंथ की गुरुता के अनुसार यथायोग्य छोटा या बड़ा बनाया है। अतः जिस किसी स्थान पर कोई अंग बढ़ या घट जायगा,

उसी जगह ग्रंथ का रूप बिगड़ जायगा। लोग यह समझ बैठे कि जब किसी कथा का वाल्मीकिजी अथवा व्यासजी ने उल्लेख किया, तो गोस्वामीजी ने उसे न लिखने में ग़लती की। कम-से-कम उसे उस स्थान पर लिख देने में कोई दोष नहीं। पर जिस आकार और प्रकार का ग्रंथ वे महात्मा बनाते थे, उसमें वे कथाएँ लिखी जा सकती थीं, गोस्वामीजी की रचना में नहीं स्थान पा सकतीं। कुछ क्षेपकों का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

बाल-कांड

(१) रावण-दुर्दशा तीन पृष्ठों की है। इसमें जहाँ गोस्वामीजी ने रावण की विजयों का वर्णन किया है, वहाँ क्षेपककार ने उसमें त्रुटि समझकर कई युद्धों में उसकी पूरी दुर्दशा करा डाली है। यहाँ तक कि एक वृद्धा ने रावण का पैर पकड़कर "गई दूरि धरि-धरि झकझोरा; डारेसि सिंधु-मध्य अति जोरा।" गोस्वामी-जी का यह प्रयोजन था कि रावण का महत्त्व और उसकी ज़बरदस्ती दिखाकर रामावतार का कारण प्रस्तुत करते; पर इस कवि ने उसकी पूर्ण प्रतिकूलता करके अपनी समझदारी तथा कवित्व-शक्ति दिखा दी। यदि रावण ऐसा निर्बल था, तो उसके लिये रामावतार की क्या आवश्यकता थी? इसकी कविता बुरी नहीं है।

(२) गंगावतरण आठ पृष्ठ का है। बुरा नहीं है। गोस्वामीजी राम को जल्दी से जनकपुर पहुँचानेवाले थे, इसी से अहल्या-कथा आदि को छोड़ते गए हैं। पर इस कवि ने उस जल्दी पर ध्यान न देकर बीच में यह राग अलाप दिया।

लंका-कांड

(३) राम-सेना का वर्णन चार पृष्ठ का है। यह उत्कृष्ट भाषा में लिखा गया है। इसमें पूरी कविता है। इसमें अच्छा ज़ोर देख पड़ता है, और कविता की बहुत-सी बातें वर्तमान हैं। इस महाकवि

ने क्या ही अच्छी-अच्छी उपमाएँ दी हैं। वाल्मीकीय रामायण पर बहुत कुछ अवलंबित होने पर भी इस क्षेपक में कोई विशेष दोष नहीं है। केवल इसका रावण से कहा जाना-भर अयोग्य है। यदि यह रामायण में मिला दिया जाय, तो उसकी शोभा बढ़ा दे। गोस्वामीजी ने सेना-वर्णन कहीं नहीं किया। अतः इसके बढ़ा देने से प्रायः कोई भी दोष नहीं आता। उदाहरण—

"यह जो आवत अचल समाना,
चौदह ताड़ ऊँच परमाना,
रक्त कमलदलसम सब देहा,
जनु बिकस्यो संध्या कर मेहा,
हनै मेदिनी पूँछ भवाँई,
लंका सौंह चितव जनु खाई,
हृदय-गगन यहि कै प्रभु भानू,
पंच पदुम कपि-निकर पयानू,
करै बज्र बासव कर भंगा,
उदयाचल कहँ लेइ उछंगा,
पावँ धरा धरि चापै, पन्नग होय अकाज;
सैन अग्रसर देखहु, यह अंगद युवराज।"

(४) सुलोचना सती बारह पृष्ठ का है। भाषा अच्छी है। परंतु रावण इतना अपमान कभी न सहता कि उसकी पुत्र-वधू राम से मेघनाद का सिर माँगने जाती, इसलिये खटकता है। कथा की द्रुत गति को यह क्षेपक रोकता है। गोस्वामीजी ने केवल मेघनाद और कुंभकर्ण का स्वल्प युद्ध लिखकर रावण के युद्ध का विस्तार-पूर्वक सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया है। अतएव मेघनाद की स्त्री को स्वयं मेघनाद से अधिक स्थान नहीं मिल सकता।

(५) महिरावण-वध आठ पृष्ठ का है। कुछ-कुछ रुचिर भाषा

में लिखा गया है। कवि ने तुलसीदास की रचना-शैली का अनुकरण करने में सफलता भी पाई है। पर हनुमान् के लंगूर-कोट का पता न तुलसीदास की रामायण में है, और न वाल्मीकीय में। फिर जब महिरावण राम और लक्ष्मण को लाते समय लंगूर को कूदकर निकल जा सकता था, तो कोट के अंदर जाने में उसको विभीषण का वेष बनाने की क्या आवश्यकता थी ? इसका कारण नहीं जान पड़ता कि राम और लक्ष्मण इतने शक्ति-हीन क्यों हो गए थे कि उनसे हाथ-पावँ भी नहीं डुलाए जाते थे, और विना हनुमान् की सहायता के उनका उद्धार ही असंभव था। गोस्वामीजी प्रतिदिन युद्ध की भीषणता को बढ़ाते गए हैं। यहाँ तक कि रावण-वध का वर्णन अति घोर सर्वोच्च कक्षा की ओर है। महिरावण-युद्ध के शिथिल होने से इसका क्रम-भंग हो जाता है। इन बातों को छोड़कर यह वर्णन मनोहर है।

(६) नरांतक का वध। ३५ पृष्ठ का है। इससे भी उपर्युक्त युद्ध का क्रम बिगड़ता है। यह कथा मनोहर है, पर इसको इस रामायण में स्थान मिलना अनुचित है।

गोस्वामीजी के उपर्युक्त पचीस ग्रंथों में बहुत-से दूसरे लोगों के बनाए हुए हैं। उन्होंने भी, क्षेपककारों की भाँति, अपने ग्रंथ का प्रचार होने के लिये या गोस्वामीजी के समान कवित्व-शक्ति का परिचय देने ही के अर्थ तुलसीदास के नाम से उनकी रचना की है। ठाकुर शिवसिंह ने लिखा है कि गोस्वामीजी ने सब मिलाकर ४६ कांड रामायणें बनाई हैं, और यही बात जन-समुदाय में भी प्रसिद्ध है। पर उपर्युक्त सूची में ११ रामायणों के नाम दिए गए हैं, और उनके सब कांड ७७ हो जाते हैं। अतः इनमें से चार अवश्य अन्य लोगों की रचना हैं। हमें कुछ अन्य रामायणों के भी क्षेपक होने का पूरा संदेह है। यदि केवल चार ही को कल्पित मानें, तो कड़खा,

कुंडलिया, छप्पै, और बरवै-रामायण को कल्पित मानना चाहिए; क्योंकि इनमें गोस्वामीजी के काव्य के प्रायः कोई भी गुण नहीं पाए जाते, और रचना भी बड़ी शिथिल है। कड़खा-रामायण का तो थोड़े ही दिनों से नाम सुन पड़ा है। गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में प्रसंग-वश बहुत बार राम-कथा संक्षेप में वर्णन की है। इन संक्षिप्त वर्णनों से विदित हो जाता है कि वह किस विषय को कितना ज़रूरी समझते थे। उन्होंने इतने बड़े मानस में भी लव-कुश-चरित्र या सीता-त्याग का वर्णन कहीं भी नहीं किया, और भरत तथा अन्य लोगों की भक्ति के वर्णन को प्रधानता दी है। इस दृष्टि से देखने पर उनकी बहुत-सी रामायणें कल्पित जान पड़ेंगी। गोस्वामि-कृत दोहावली में रामायण की कथा का वर्णन नहीं है। उसमें भक्ति, नीति इत्यादि के स्फुट दोहे कहे गए हैं। यदि इनका कोई ग्रंथ दोहावली-रामायण कहा जा सकता है, तो वह रामाज्ञा है; क्योंकि उसके दोहों में क्रम-बद्ध रामायण कही गई है। परंतु यह काव्य अत्यंत शिथिल है। इसमें परशुराम के आगमन की कथा बरात के लौटते समय कही गई है; यह तुलसीदास के रामायण में वर्णित मत के विरुद्ध है। इस ग्रंथ को भी हम कल्पित ही समझते, परंतु मिरज़ापुर-निवासी मुंशी छक्कनलाल को खुद गोस्वामीजी के हाथों की (सं० १६५५ ज्येष्ठ-सुदी दशमी रविवार की) लिखी हुई रामाज्ञा की एक प्रति मिली थी, जिसका गोस्वामि-कृत होना असंदिग्ध-सा हो गया है। फिर भी रामाज्ञा के विषय में कुछ संदेह बाक़ी है। कारण, कुछ लोगों के कथनानुसार छक्कन-लाल को रामाज्ञा नहीं, रामशलाका मिली थी। जो हो, रामायणों में मानस के अतिरिक्त हम केवल कवितावली और गीतावली को गोस्वामीजी-कृत समझते हैं।

'रामलला-नहछू' में यद्यपि जनकपुर का वर्णन है, तथापि उसमें

नाइन, भाटिन इत्यादि के यौवन का ऐसा श्रृंगार-पूर्ण वर्णन है कि वह गोस्वामीजी की रचना नहीं हो सकती। फिर इसमें परिहास की मात्रा बहुत बढ़ी हुई है। लक्ष्मण के विषय में यहाँ तक लिख डाला गया है कि वह दशरथ के पुत्र ही नहीं हैं। इसके कल्पित होने में कोई संदेह ही नहीं हो सकता।

'पार्वती-मंगल' में १० पृष्ठ एवं १६४ छंद हैं। इसकी रचना सं० १६४३ की कही जाती है। इसमें कालिदास के वर्णनानुसार पार्वतीजी की तपस्या के पीछे उनकी प्रेम-परीक्षा के लिये स्वयं महादेवजी वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर गए हैं, और जिस तरह की बात-चीत 'कुमारसंभव' में हैं, उसी तरह की बातें की हैं। इसमें महादेवजी की बरात एवं विवाह के समय का हास्य-योग्य वर्णन रामायण का-जैसा नहीं है। यह ऐसी रचना है, जिसे शिव-भक्त भी बना सकता था। यही कथा मानस में देखने और इन दोनों को मिलाने से जान पड़ता है, ये दोनों कथाएँ एक ही व्यक्ति की रचना नहीं हो सकतीं। हम इस ग्रंथ को भी कल्पित समझते हैं। इसकी कविता न तो शिथिल है, न श्रेष्ठ।

'वैराग्य-संदीपिनी' में ४ पृष्ठ और ६२ दोहे हैं। इसकी कविता साधारण है। इसमें कवि ने ज्ञान को भक्ति का भूषण मानकर कहा है कि अंतिम सुख शांति में मिलता है, न कि भक्ति में। यह मत यथार्थ होने पर भी तुलसीदासजी के कुछ प्रतिकूल है। इस कारण यह रचना उनकी नहीं समझ पड़ती।

'बरवै-रामायण' में ४ पृष्ठ और ६९ छंद हैं। सीता का श्रृंगार-रस-मय वर्णन विशेष रूप से किया गया है ; पर उसके पीछे, तुलसीदास की आदत के माफ़िक, जगत्-जननी इत्यादि विशेषणों से उसका दोष शांत नहीं किया गया। अयोध्या-कांड में भरत का और उत्तर-कांड में भक्ति का वर्णन नहीं है। अतः यह भी रचना उनकी नहीं जान पड़ती।

अब हम मानस के अतिरिक्त गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों पर सूक्ष्म रूप से अपना मत प्रकट करते हैं।

कवितावली

कवितावली में ५४ पृष्ठ और ३१८ छंद हैं। इसमें सवैया, झूलना और घनाक्षरी के सिवा और छंद नहीं लिखे गए। उत्तर-कांड समस्त ग्रंथ का अर्धांश है। शेष अर्धांश में बाक़ी छहों कांड आ गए हैं। यह ग्रंथ वास्तव में परमोत्कृष्ट है। इसमें अनेक सवैये एवं दंडक बड़े ही सुपाठ्य बन पड़े हैं। कई एक सवैयों का माधुर्य तो कुछ कहते ही नहीं बनता। इसके बहुत-से पद्य ख़ूब ज़ोरदार हैं। प्राकृतिक वर्णनों की भी इसमें कमी नहीं है। जगह-जगह हास्य की झलक भी अच्छी आ गई है। इसकी भाषा व्रजभाषा-मिश्रित है। लंका-कांड तक इसमें हनुमान् की प्रधानता है; पर उत्तर-कांड में श्रीरामचंद्रजी की ही भक्ति सर्वोपरि कर दी गई है। बाल-कांड में भी श्रीरामचंद्र ही की मुख्यता है। इसके कुछ कवित्तों में अपना नाम देने में कवि ने दो अक्षर बढ़ा दिए हैं; जिस-से उन पदों में छंदोभंग की झलक आ जाती है। इस ग्रंथ में गोस्वामीजी ने अपने विषय की बहुत-सी बातें लिखी हैं; जिनसे उनका हाल लिखने में अच्छी सहायता मिलती है।

कुछ लोगों का मत है कि हनुमान्-बाहुक इसी ग्रंथ का अंग है। इन दोनों ग्रंथों की कविता अवश्य ही मिलती-जुलती है; पर इनके विषयों में बड़ा अंतर है, और ये एक ही ग्रंथ नहीं हो सकते। कवि-तावली में श्रीरामचंद्र की बाल-लीला, लंका-दहन, हनुमान् का युद्ध और काशी में महामारी की बीमारी के बड़े ही विशद वर्णन हुए हैं। उत्तर-कांड में, कोई २० पृष्ठों में, रामचंद्र की स्तुति है। उसमें कहीं भी रामायण में उल्लिखित सिद्धांतों और अनुमतियों से विरोध नहीं पाया जाता, और बार-बार वैसी ही बातों का प्रतिपादन हुआ है।

हमको पहले संदेह होता था कि शायद यह ग्रंथ गोस्वामीजी का नहीं, बल्कि किसी अन्य 'तुलसी' नाम के कवि का है; क्योंकि—

(१) इसमें गोस्वामीजी की भाषा से पार्थक्य है ।

(२) सुंदर और लंका-कांड में हनुमान् का उत्कर्ष राम से भी अधिक बढ़ा दिया गया है । यहाँ तक कि कवि ने राक्षसों से राम-लक्ष्मण के युद्ध को केवल तीन-चार छंदों में भुगता दिया और हनुमान् के संग्राम का बड़े ही विस्तार एवं समारोह के साथ वर्णन किया है ।

(३) इसकी रचना कविता-प्रणालीवाले लेखकों से अधिक मिलती है, और गोस्वामीजी-जैसे कथा-प्रणालीवाले कवियों की रीति से बिलकुल पृथक् है ।

(४) इसमें भरतजी की महिमा बहुत कम कही गई है । पर गोस्वामीजी भरतजी के बड़े ही भक्त थे ।

मगर ध्यान देकर सब बातों पर विचार करने से हमारा उपर्युक्त संदेह जाता रहा, और हमें निश्चय हो गया कि यह ग्रंथ वास्तव में गोस्वामी-जी का ही बनाया हुआ है । इसके कारण भी नीचे दिए जाते हैं—

(१) सबसे बड़ी बात तो यह है कि विनय-पत्रिका से, जो निस्संदेह इन्हीं की रचना है, इस ग्रंथ की कई बातें पूर्ण रूप से मिल जाती हैं। इसमें इन्होंने लड़कपन में अपना अत्यंत निर्धन होना लिखा है। यह बात कवितावली में भी पाई जाती है । दूसरे, इन दोनों ग्रंथों में इन्होंने स्पष्ट रूप से अपना नाम 'रामबोला' लिखा है ; जिससे संदेह बहुत कुछ दूर हो जाता है । तीसरे, इन दोनों ही ग्रंथों में कवि ने लिखा है कि उसका ऋषि के समय मान होता था । अतः यदि कवितावली किसी अन्य कवि की रची हुई मानी जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि (क) इस ग्रंथ का रचयिता भी लड़कपन में वैसा ही धन-हीन था, जैसे गोस्वामीजी । (ख) उसका नाम

भी पहले गोस्वामीजी की भाँति ही 'रामबोला' था, (ग) उसका भी गोस्वामीजी के समान ऋषि-सदृश सम्मान अंत को हो लगा था, और (घ) वह भी इन्हीं की भाँति काशी में रहता था। हम पूछते हैं, क्या ये सब बातें संभव हो सकती हैं? हमें किसी दूसरे तुलसीदास का हाल अब तक नहीं ज्ञात है, जिसके विषय में ये सब बातें ठीक बैठ जायँ। निस्संदेह विनय-पत्रिका और कवितावली एक ही कवि की रचनाएँ हैं, और वह कवि गोस्वामीजी के सिवा और कोई न था। विनय-पत्रिका को कोई मनुष्य तुलसी-कृत मानने में नहीं हिचकता। उसके विषय में हम आगे चलकर अपने विचार लिखेंगे।

भाषा के पार्थक्य के विषय में हमें यही ज्ञात होता है कि सवैये और दंडक प्रायः व्रज-भाषा में ही लिखे जाते हैं। फिर तुलसी-दास-जैसे प्रवीण कवि के लिये दूसरे प्रकार की भाषा में भी उत्कृष्ट कविता कर सकना कोई बड़ी बात नहीं थी।

(२) हनुमान् के प्रकांड उत्कर्ष के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि 'राम ते अधिक राम कर दासा' के सिद्धांतानुसार यह भी कोई वैसी बात नहीं है। फिर हनुमान्‌जी को श्रीरामचंद्र का दास तो गोस्वामीजी बराबर कहते ही गए हैं।

(३) इसके विषय में १ नंबर के अंत में ऊपर जो हम लिख आए हैं, वही इस कविता और कथा-प्रणालीवाली बात पर भी ठीक उतरता है।

(४) इसमें सब बातें सांगोपांग नहीं लिखी गईं, और इसी से शायद भरत के विषय की अधिक बातें नहीं आईं।

यदि कहा जाय कि किसी कवि ने जान-बूझकर बेईमानी से तुलसीदास के नाम से ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसी ही बातें लिख दी हैं, जिनसे यह ग्रंथ उन्हीं महानुभाव का माना जाय, तो इसका

उत्तर यह है कि एक तो ऐसा सोचने के लिये कोई भी प्रमाण नहीं है, दूसरे हनुमान्-बाहुक की कविता इससे इतनी मिलती-जुलती है कि इन दोनों ग्रंथों को कोई भी भिन्न-भिन्न कवियों की रचना नहीं कह सकता। तीसरे हनुमान्-बाहुक के रचयिता की कविताएँ और प्रार्थनाएँ इतनी सच्ची तबीयत से कही गई हैं कि उसे कोई कदापि जालिया और धोखेबाज़ नहीं कह सकता। चौथे बाहु के दर्द का हाल गोस्वामीजी ने हनुमान्-बाहुक एवं दोहावली में बार-बार बड़े ही करुणोत्पादक शब्दों में कहा है, और वही बात कवितावली के भी दो छंदों में वर्णित है। इसे देखकर कोई भी नहीं कह सकता कि यह विषय बेईमानी से वर्णित है। अतः कवितावली अवश्य गोस्वामीजी-कृत है।

पंडितों ने इसका रचना-काल संवत् १६६६ से १६७१ के बीच में स्थिर किया है। उनका यह भी मत है—और हम भी ऐसा ही मानते हैं—कि यह पुस्तक कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि इसमें तुलसी-कृत रामायण-विषयक छंदों का एक जगह संग्रह-मात्र कर दिया गया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसमें ठीक क्रम और प्रबंध से कथा नहीं वर्णित है। यथा—रामचंद्र का जन्म, कैकेयी का वरदान, शूर्पणखा का वृत्तांत, सीता-हरण, सुग्रीव-मैत्री, बालि-वध, मेघनाद-वध और राम-राजगद्दी का इसमें कुछ भी हाल नहीं है। ग्रंथ बहुत ही रोचक, गंभीर, महत्त्व-पूर्ण तथा पूज्य है। उदाहरण—

"पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजन, मंजु बनी मनि-माल हिए;
नव नील कलेवर, पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिए।
अरविंद-सो आनन रूप-मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए;
मन में न बसो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए ?"

"संकर-सहर सर, नारि, नर बारिचर
बिकल सकल, महामारी माया भई है;

उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात,
भभरि भगात, जल-थल मीचु-मई है।
देवन दयाल महिपालन कृपाल चित
बारानसी बाढ़त अनीति नित नई है;
पाहि रघुराज, पाहि कपिराज, राम-दूत,
राम हू की बिगरी तु ही सुधारि लई है।२"

गोस्वामीजी ने काशी में महामारी के समय रुद्र-बीसी एवं मीन के शनैश्चर का होना लिखा है। यथा—

"बीसी बिस्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसी,
बूझिए न ऐसी गति संकर-सहर की।"
"एक तो कराल कलिकाल, सूल-मूल ता मैं
कोढ़ में की खाज-सी सनीचरी है मीन की।"

उस समय रुद्र-बीसी सं० १६६५ से १६८५ तक रही थी, और मीन का शनैश्चर ढाई साल (सं० १६६९, १६७०-७१ में) रहा था। शनैश्चर हर राशि में ढाई साल रहता है। सूर्य हर राशि में एक ही मास रहकर बारहों राशियों को प्रतिवर्ष समाप्त कर देता है; किंतु शनैश्चर, हर राशि को ढाई साल में पार करके, बारहों राशियाँ तीस साल में पार करता है। हमारे यहाँ सालों के साठ नाम हैं, जो एक-एक वर्ष रहा करते हैं, और हर साठवें साल फिर उसी नाम से वर्ष-गणना होती है। इस प्रकार साठ-साठ वर्ष की समय-संख्या है। प्रत्येक साठ वर्ष में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के नाम की एक-एक बीसी होती है। उपर्युक्त कथन से जान पड़ता है कि काशी में सं० १६६९ से १६७१ तक महामारी हुई थी।

हनुमान्-बाहुक

हनुमान्-बाहुक में छप्पै, घनाक्षरी और सवैया-छंदों में रचना की गई है। इसमें ७ पृष्ठ, ४४ छंद और विशेष रूप से हनुमान्जी

की स्तुति है। इसके नक़ली न होने के प्रमाण कवितावली में दिए गए हैं। यह एक बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें प्रत्येक स्थान पर कवि की सच्ची और आप-बीती घटनाएँ लिखी हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। गोस्वामीजी ऐसे धर्मात्मा थे कि अपनी बाहु-पीड़ा का कारण नहीं समझ सकते थे। इसमें इन्होंने लिखा है कि मैंने पातक नहीं किए तो फिर यह पीड़ा क्यों पाता हूँ? वह औषधादि से स्तुति को श्रेष्ठतर समझते थे। परंतु ऐसे प्रगाढ़ भक्त को भी दो-एक जगह साधारण देवतों पर अश्रद्धा-सी होती जान पड़ती है। इस ग्रंथ के उदाहरण गोस्वामीजी की जीवनी में मिलेंगे। भाषा आदि में यह कवितावली से मिलता है; परंतु कविता-प्रौढ़ता में उससे कुछ विशेष है।

संकट-मोचन

संकट-मोचन में केवल ८ घनाक्षरियों द्वारा हनुमान्‌जी की साधारणतः अच्छी स्तुति की गई है। इसमें महिरावण का भी हाल दिया हुआ है। यह एक छोटा-सा बढ़िया स्तोत्र है, और जान पड़ता है कि हनुमान्-बाहुक से पहले बना है। कारण, इसमें यह माँगा गया है कि मेरे जो कुछ संकट हों, उन्हें हनुमान्‌जी दूर करें। बाहु-पीड़ा उठने के पहले यह बना था, ऐसा अनुमान होता है। इसके किसी छंद में गोस्वामीजी का नाम नहीं आया। केवल अंत में यह दोहा दिया है—

"यह अष्टक हनुमान को विरचित तुलसीदास;
गंगादास जु प्रेम सों पढ़े, होय दुख नास।"

गंगादास ने या तो किसी समय इसका संपादन किया होगा, या स्वयं बनाकर गोस्वामीजी का नाम रख दिया होगा। इस बारे में निश्चय कुछ नहीं होता। परंतु अंतिम अनुमान पुष्टतर जान पड़ता है।

हनुमान्-चालीसा

हनुमान्-चालीसा में दो-दो पदों की एक-एक चौपाई गिनने से चालीस चौपाइयाँ होती हैं। इसमें हनुमान्जी की अच्छी स्तुति है, और प्रायः नित्य-प्रति बहुत लोग इसे स्तोत्र की भाँति पढ़ते हैं। रामशलाका में मानस की कुछ चौपाइयाँ ही शकुन विचारने को हैं। यह कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है।

गीतावली-रामायण

गीतावली-रामायण ११२ पृष्ठ और ३३० पदों की एक बहुत ही अपूर्व रामायण है। इसकी रचना क्रम-बद्ध की गई है। हिंडोले तथा होली इत्यादि का वर्णन इसमें अच्छा किया गया है। विशेषता यह है कि भाषा की आधुनिक प्रणाली की भाँति इन महाकवि ने किसी स्थान पर शृंगार-वर्णन में भी कोई अश्लील या अनुचित उक्ति नहीं कही है। इसकी कथा रामायण की भाँति है। भेद केवल इतना ही है कि गुह ने अयोध्या को एक पत्र भेजा था कि रामचंद्रजी विराध को मारकर नर्मदा और विंध्याचल के बीच में बसे हैं, और उत्तर-कांड में रामचंद्रजी की दिनचर्या, जानकी-त्याग और लव-कुश-जन्म का भी वर्णन किया गया है। पर उनके युद्ध को इन्होंने नहीं लिखा। किष्किंधा-कांड में बालि-मरण या सुग्रीव के राज-तिलक का वर्णन कवि ने नहीं किया; उन्हें केवल राजा की तरह माना है। सुंदर-कांड में हनुमान्जी के समक्ष सीता और रावण की बात-चीत नहीं कराई गई है। इसके वर्णन बड़े ही अच्छे और ज़ोरदार हैं। भाषा बड़ी ही मधुर, गंभीर और प्रशंसनीय है। इसमें युद्ध का वर्णन कम किया गया है। दो पद्य उदाहरणार्थ दिए जाते हैं—

"जब रघुबीर पयानो कीन्हो;
छुभित सिंधु, डगमगत महीधर, सजि सारँग कर लीन्हो।

सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि ;
जटा-पटल ते चली सुरसरी, सकत न संभु सँभारि ।
भए बिकल दिगपाल सकल, भय-भरे भुवन दसचारि ;
खरभर लंक, ससंक दसानन, गर्भ स्रवहिं अरि-नारि ।
पवन पंगु, पावक, पतंग, ससि दुरि गए, थके बिमान ;
गए पूरि सर धूरि, भूरि भय अग, थल, जलधि समान ।
चली चमू, चहुँ ओर सोर, कछु बनै न बरनत भीर ;
किलकिलात, कसमसत, कुलाहल होत नीरनिधि-तीर ।"

"जब रघुपति सँग सीय चली ।
बिकल बियोग लोग, पुर-तिय कह अति अनियाव अली ।
कोउ कह, मनिगन तजत काँच लगि, करत न भूप भली ;
कोउ कह दुख-कुबेलि कैकेयी दुख-बिष-फलनि फली ।
एक कह, बन-जोग जानकी ? बिधि बड़ बिषम बली ;
तुलसी कुलिसहु की कठोरता तेहि दिन दलकि दली ।

गीतावली की रचना बहुत अच्छी है । इसमें लालित्य और माधुर्य भरा हुआ है ।

छंदावली-रामायण

छंदावली-रामायण १७ पृष्ठों का एक छोटा-सा ग्रंथ है । इसमें विविध छंदों में कथा कही गई है । इसकी कविता साधारण है । हमने इसकी कोई मुद्रित प्रति नहीं देखी । इसकी एक हस्त-लिखित प्रति हमारे पुस्तकालय में है ।

उदाहरण—

"सुभ सगुन अवध जनाय तेहि छिन होत मुद-मंगल महा ;
सीतल सुगंध सुमंद मारुत, अमल जल सरजू बहा ।
सुभ अंग फरकत, भरत के हिय हुलसि सुभ आनँद लहा ;
तेहि काल श्रीहनुमान प्रभु को आय संदेसो कहा ।"

पदावली-रामायण

पदावली-रामायण पचास पृष्ठों का एक वृहत् ग्रंथ है, और इसकी रचना विशेषकर पदों में की गई है। राम-जन्म इसमें कुछ विस्तार से कहा गया है, और कुछ अच्छा भी है। पर कुल मिलाकर यह ग्रंथ शिथिल है। इसकी कोई मुद्रित प्रति हमारे देखने में नहीं आई। हाँ, एक हस्त-लिखित प्रति हमारे पुस्तकालय में है।

उदाहरण—

"भरतजू, कपि ते उरिन हम नाहीं।
सौ जोजन मरजाद सिंधु की, कूदि गयो छिन माहीं ;
बन विध्वंसि, जारि गढ़, खल हति, सिय सुधि दिय हम काहीं।
लाय सजीवन लखन जिआए, जे मम दाहिन बाहीं ;
तुलसिदास बलि बल हनुमत की श्रीमुख जाहि सिहाहीं।

जानकी-मंगल

इसमें १३ पृष्ठ एवं २१६ छंद हैं। परशुराम का संवाद इसमें बरात लौटते समय कराया गया है। मानस तथा इसकी रचना में इतना ही अंतर है। इसमें जानकीजी के विवाह का वर्णन बढ़िया रीति और छंदों में किया गया है। इसकी रचना प्रशंसनीय और गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों से मिलती हुई है। उदाहरण देखिए—

मंगल-बिटप, मंजुल बिपुल दधि, दूब अच्छत, रोचना।
भरि थार आरति सजहिं सब सारंग-सावक-लोचना।
देत पाँवड़े अरघ चली लै सादर।
उमगि चलेउ आनंद भवन, भुँइ, बादर।

यद्यपि पार्वती-मंगल की रचना भी इससे मिलती है, तथापि हम उसे कल्पित समझते हैं। मानस में गोस्वामीजी ने ये दोनों विवाह कहे हैं ; परंतु पार्वती-विवाह की दुरवस्था और जानकी-विवाह की उत्तमता तथा लोकप्रियता दिखाकर अपने मुख्य उपास्य

देव रामचंद्र की प्रच्छन्न रूप से महिमा तथा प्रभाव प्रदर्शित किया है। यदि गोस्वामीजी ने पार्वती-मंगल भी बनाया होता, तो वही बात यहाँ भी होती। जानकी-मंगल की रचना ऐसी अच्छी नहीं है कि कोई दूसरा कवि वैसी न कर सके। अतः इन दोनों की रचनाओं की समता हमारे इस मत में बाधक नहीं समझ पड़ती।

कृष्ण-गीतावली

इसमें १४ पृष्ठ एवं ६१ पद हैं, जिनमें श्रीकृष्णचंद्र की बहुत-सी लीलाओं का वर्णन किया गया है। इसकी रचना ख़ास ब्रज-भाषा में की गई है। इसमें दो छंदों में बाल-लीला, फिर कई पदों द्वारा उराहना, ऊखल-बंधन (जिसमें लकुटिया का वर्णन खूब है), गोवर्धन-धारण (बहुत ही मनोहर), कृष्ण-रूप-वर्णन (इसमें खंडिता के वर्णन में भी घृणित शृंगारी रचना नहीं की गई है), कृष्णजी का मथुरा-गमन और गोपी-विरह-वर्णन (उत्कृष्ट वर्णन किया गया है), उद्धव-संवाद (३६ पदों में विस्तार-पूर्वक और बड़ा ही मनोहर एवं हृदयग्राही वर्णन है) और दो पदों द्वारा द्रौपदी-चीर-हरण कहा गया है।

गोस्वामीजी ने यह ग्रंथ ठेठ ब्रज-भाषा में लिखा है, और वर्णन-शैली भी कृष्ण-गुण-गान करनेवालों ही के समान है। फिर भी उन्होंने दिखला दिया है कि सुकवि शृंगार-विषय के वर्णन को भी अनुचित प्रेम-वर्णन से अलग रखकर बढ़िया ढंग से कह सकता है। यह ग्रंथ बड़ा ही सुंदर है, और गोस्वामीजी की सब विषयों का उत्तम रीति से वर्णन करने की शक्ति को पूर्ण रूप से प्रमाणित करता है। इस छोटे-से ग्रंथ में अच्छे वर्णनों और रुचिर छंदों की संख्या बहुत अधिक है। इसमें प्रेम-वर्णन भी बहुत अच्छे ढंग से किया गया है। इन्होंने साधारण नायक-नायिकाओं के घृणित प्रेम को छोड़कर ऊँचे दर्जे के प्रेम का वर्णन किया है।

उदाहरण—

"वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं ;
जोग जुगुति अरु मुकुति बिविध विधि वा मुरली पर वारौं।
नहिं तुम ब्रज बसि नंदलाल को बाल-बिनोद निहारो ;
नाहिंन रास-रसिक-रस चाख्यो ताते डेल सो मारो।"

"ब्रज पर घन घमंड करि आए।
अति अपमान बिचारि आपनो कोपि सुरेस पठाए।
दमकति दुसँह दसौं दिसि दामिनि, भो तम सघन गँभीर ;
गरजत घोर बारिधर धावत, प्रेरित प्रबल समीर।
बार-बार पबिपात, उपल घन बरखत बूँद बिसाल ;
सीत सभीत पुकारत आरत गोसुत गोपी ग्वाल।"

सतसई या राम-सतसई

इसमें ७४० दोहे हैं। अधिकतर दोहों में राम-भक्ति अथवा भक्ति करने के उपदेश का वर्णन है। इसमें सात सर्ग हैं, और यह श्रीवेंकटेश्वर-छापेख़ाने में छपी है। इसकी कविता अधिकतर बढ़िया नहीं है, परंतु कुछ दोहे अच्छे भी हैं। कुछ पंडितों का विचार है कि इन सात सर्गों में क्रमशः प्रेमाभक्ति, पराभक्ति, उपासना, आत्मज्ञान, कर्म-सिद्धांत, ज्ञान-सिद्धांत तथा राजनीति का दार्शनिक मतानुसार उपदेश है।

उदाहरण—

"का भाषा, का संसकृत, बिभव चाहिए साँच ;
काम तौ आवै कामरी, का लै करै कमाँच।
तुलसी मीठे बचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर ;
बसीकरन इक मंत्र है, परिहरु बचन कठोर।
है अधीन जाँचत नहीं, सीस नवाय न लेइ ;
ऐसे मानी माँगनहिं, को बारिद बिन देइ ?

तुलसी सब छल छाँड़ि कै, कीजै राम-सनेह ;
अंतर पति सों है कहा, जिन देखी सब देह !
राम काम-तरु परिहरत, सेवत कलि-तरु ठूँठ ;
स्वारथ परमारथ चहत, सकल मनोरथ झूँठ।"

दोहावली

इसमें ५७३ दोहे हैं, परंतु उनमें से अधिकतर रामचरित-मानस एवं अन्य तुलसी-कृत ग्रंथों के हैं। कितने ही सतसई के भी हैं। विशेषकर यह ग्रंथ एक संग्रह-मात्र है, और इसके दोहों का संग्रह गोस्वामीजी ही के ग्रंथों से हुआ है। संभव है, इसमें कुछ दोहे नवीन भी हों। कहते हैं, यह संग्रह टोडरमल के अनुरोध से गोस्वामीजी ने किया था। यह टोडरमल महाराजा नहीं समझ पड़ते, बल्कि गोस्वामीजी के मित्र टोडरमल होंगे। इस ग्रंथ की रचना प्रशंसनीय है, और रामचरित-मानस के जो दोहे इसमें हैं, वे अधिकतर अच्छे हैं। इसमें भी सतसई की भाँति भक्ति का ही वर्णन हुआ है। भक्ति-पक्ष के प्रतिपादन में ऐसे-ऐसे छंद इन महात्मा ने लिखे हैं, और उसे पुष्ट करने में ऐसे-ऐसे प्रमाण दिए हैं कि कुछ कहते नहीं बनता।

उदाहरण—

"मुख मीठे, मानस मलिन, कोकिल, मोर, चकोर ;
सुजस-धवल चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर।
तुलसी जो पै राम सों, नाहिंन सहज सनेह ;
मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह।
राम-नाम मनि-दीप धरु, जीह देहरी द्वार ;
तुलसी भीतर बाहिरहु, जो चाहसि उजियार।
तुलसी तनु सर, सुख जलज, भुज-रुज गज बरजोर ;
दलत दयानिधि देखिए, कपि-केसरी-किशोर।
भुज तरु-कोटर, रोग अहि, बरबस कियो प्रवेस ;

बिहँगराज-बाहन तुरत काढ़िय, मिटै कलेस ।
बाहु बिटप, सुख बिहँग-थल, लगी कुपीर कुआगि ;
राम-कृपा जल सींचिए, बेगि दीन हित लागि ।"

विनय-पत्रिका

इसमें ६६ पृष्ठ और २८० पद हैं । कवि ने गणेशजी की वंदना से इसका आरंभ किया है, और फिर शिव, देवी, गंगा, यमुना, काशी, हनुमान्, अन्नपूर्णा इत्यादि की स्तुति में बहुत-से उत्कृष्ट, मनोहर तथा गंभीर पद लिखे हैं । बिंदुमाधवजी का नख-शिख तथा काशीजी व कामधेनु के रूपक पढ़ने ही योग्य हैं । इसके पश्चात् आनंद-कंद श्रीरामचंद्र की स्तुति के पद कहे गए हैं । स्तुतियों में बहुधा बड़े-बड़े विशेषणों से काम लिया गया है । इस ग्रंथ में रूपकों का बाहुल्य है । जप, भक्ति तथा नाम-माहात्म्य का इसमें विशेष वर्णन है, और अंत में सब प्रकार से नाम पर भरोसा रक्खा गया है । गोस्वामीजी ने अपने कुकर्मों पर भी बड़ा ज़ोर दिया है, और अपने उद्धार के लिये इतनी विनती और किसी ग्रंथ में नहीं की है ।

इसमें गोस्वामीजी ने अपने विषय में भी इधर-उधर कुछ बातें लिखी हैं । अपना ब्राह्मण होना और लड़कपन से माता-पिता का वियोग वर्णित है । आपने इसमें अपना पहला नाम और शिष्य होने के समय का भी हाल लिखा है । गोस्वामीजी ने इस ग्रंथ को एक प्रकार से अरज़ी की भाँति लिखा है, और अंत में कहा है कि लक्ष्मणजी ने रामचंद्रजी से इसको मंजूर करा दिया । इसमें गोस्वामीजी ने व्रज-भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है ; परंतु संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्राधान्य है । कई स्थानों पर संस्कृत की संधियाँ आ गई हैं, और मिलित वर्णों का भी प्रयोग हुआ है । फिर भी भाषा में माधुर्य का अभाव नहीं है । विनय में बढ़िया पदों का बाहुल्य अवश्य है, परंतु फिर भी यह सब

स्थानों पर रोचक नहीं है। प्रायः एक ही प्रकार के भाव बार-बार आ जाने से एकदम पढ़ने से इसमें वैसा मनोविनोद नहीं होता। फिर भी यह गोस्वामीजी के उत्तम ग्रंथों में से एक है। इसमें गोस्वामीजी की आत्मीयता प्रायः सब स्थानों पर वर्तमान है।

उदाहरण—

"सेइय सहित सनेह देह धरि कामधेनु कलि कासी;
समनि सोक, संताप, पाप, रुज, सकल सुमंगल-रासी।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुर-बासी;
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिव-लिंग अमित अबिनासी।"

"अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल-मग, बिलसत बढ़त मोह-माया-मलु;
भूमि बिलोकि रामपद-अंकित, बन बिलोकि रघुबर-बिहार-थलु।
शैल-शृंग भव-भंग-हेतु लखु, दलन कपट, पाखंड, दंभ-दलु;
न करु बिलंब, बिचारु चारु मति, बरष पाछिले सम अगिले पलु।"

विद्वानों ने विनय-पत्रिका के विषय को इन सात भागों में विभक्त किया है—दीनता, मानमर्षण, भय-दर्शन, भर्त्सन, आश्वासन, मनोराज्य और विचार।

विनय-पत्रिका में प्रायः सभी देवतों की स्तुति की गई है, और इसके भाव सच्चे तथा मनोहर हैं। बहुत-से पंडितों का मत है कि यह गोस्वामीजी के ग्रंथों में श्रेष्ठ है। हम भी इस ग्रंथ को प्रशंसनीय समझते हैं। विनय-संबंधी ऐसा अद्‌भुत और भाव-पूर्ण ग्रंथ हमने अब तक किसी भी भाषा में नहीं देखा। वेद भगवान् के पीछे सर्वोत्कृष्ट विनय-ग्रंथ यही जँचता है।

कलि-धर्माधर्म-निरूपण

इसमें १० पृष्ठों द्वारा दोहे-चौपाइयों में कलि-धर्म कहा गया है। इसकी रचना और भाषा रामायण से बहुत मिलती-जुलती है। यह

एक मनोहर और प्रशंसनीय ग्रंथ है। इसके तुलसी-कृत होने में कोई संदेह नहीं है। शिष्य-परंपरा में रामगुलाम द्विवेदी और पं० शेषदत्त स्वयं गोस्वामीजी से संबंध रखते थे। कोदोराम शेषदत्तात्मज के शिष्य थे। इन महाशयों ने गोस्वामीजी के ग्रंथों पर विचार किया है, तथा भक्तमाल, हरिभक्ति-प्रकाशिका एवं भक्त-कल्पद्रुम में भी ऐसा ही हुआ है। बाबू शिवनंदनसहाय ने इन तथा अन्य आधारों पर विचार करके गोस्वामीजी के असली ग्रंथों का निर्णय किया है। उनके निर्णय हमारे इस विषय के उपर्युक्त विचारों से प्रायः पूरे-पूरे मिल जाते हैं। खोज में गोस्वामीजी-कृत ज्ञानकोपरिकरण, मंगल-रामायण, गीता-भाष्य, राम-मुक्तावली, ज्ञानदीपिका, अंकावली, ध्रुव-प्रश्नावली, बानी, सूर्य-पुराण, नामगीता-स्वयंवर और कृष्ण-चरित्र, ये ग्रंथ और मिले हैं; पर हमने उन्हें देखा नहीं। तुलसी त्रिशतजयंती (श्रावण शुक्ल ७ संवत् १९८०) के अवसर पर काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने गोस्वामीजी के १२ ग्रंथों को प्रकाशित किया है।

रामचरित-मानस (तुलसी-कृत रामायण)

"राम-कथा कलि कामद गाई; सुजन सजीवन-मूरि सुहाई।
सोइ बसुधा-तल सुधा-तरंगिनि; भय-भंजनि भ्रम-भेक-भुअंगिनि।
बुध-बिसराम, सकल जन-रंजनि; राम-कथा कलि-कलुष-बिभंजनि।
असुर-सेन-सम नरक-निकंदिनि; साधु बिबुध-कुल हित गिरिनंदिनि।
संत-समाज-पयोधि रमा-सी; बिश्व-भार-धर अचल छमा-सी।
राम-कथा सुंदर करतारी; संसय बिहँग उड़ावनहारी।
राम-चरित चिंतामनि चारू; संत-सुमति-तिय सुभग सिंगारू।
राम-चरित जे सुनत अघाहीं; रस बिसेख पावा तिन नाहीं।"

इस संसार-साहित्य के मुकुट की रचना का श्रीगणेश संवत् १६३१ विक्रमीय, राम-नवमी, भौमवार को हुआ था। गोस्वामीजी ने इसके आदि में संस्कृत के छः श्लोकों द्वारा वाणी, विनायक, भवानी,

शंकर, गुरु, कवीश्वर, कपीश्वर, सीता और मायाधीश, राम-नामधारी ईश्वर हरि (रामाख्यमीशं हरिम्) की वंदना की है, और फिर सप्तम श्लोक में अपने ग्रंथ के आधार और रचना का कारण लिखा है। यह महाशय वाल्मीकीय रामायण में कथित, नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत तथा अन्यत्र की बातों को अपना आधार मानते हैं, और अपने अंतःकरण की प्रसन्नता के अर्थ राम-कथा कहते हैं। हिंदी में गोस्वामीजी ने पाँच सोरठों द्वारा गणेश, परमेश्वर (राम), विष्णु, शिव और गुरु नरहरिदास की वंदना की है। फिर २८ पृष्ठों तक ये वंदनाएँ ही लिखते चले गए हैं। यही रामायणांतर्गत बाल-कांड की जगद्विख्यात वंदना है। इसमें कवि ने क्रम से गुरु, संत-समाज, सत्संगति, खलगण और जीव-मात्र की स्तुति करके रामायण और कविता का कुछ हाल कहा है। इन्होंने स्वयं अपनी प्रचंड निंदा करके औरों से अपनी निंदा न करने का अनुरोध किया है। फिर व्यास आदि पुराने तथा कलि के कविगण, नारद, सुरसरिता, महेश, भवानी, वाल्मीकिजी इत्यादि एवं प्रायः सभी देवता, दैत्य आदि की स्तुति की है। उसमें स्थान-स्थान पर दुर्जनों और कुपात्रों की, व्यंग्य द्वारा, खूब ही निंदा की है। उस-के बाद यह लिख दिया है—

"सियाराम-मय सब जग जानी, करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी।"

गोस्वामीजी ने राम, नाम, कथा आदि का भी अच्छा माहात्म्य कहा है। अंत में रामायण का एक बहुत बड़ा रूपक—मान-सरोवर के रूप में—बाँधा गया है, और उसमें रामचरित-मानस की मानस से प्रायः सभी बातों में समता दिखाई गई है।

गोस्वामीजी ने अपनी कथा, पुराणों की भाँति, अन्य महाशयों के वार्तालाप के रूप में कही है। ऐसा करने से तुकांत रखने और छंदों के ख़ाली भागों के भरने का सुबीता रहता है। यह रामायण

याज्ञवल्क्य और भरद्वाज, शिव और पार्वती तथा काकभुशुंड और गरुड़ के संवाद-रूप में है। कुछ पंडितों ने शिव-पार्वती-संवाद को ज्ञान-घाट, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद को कर्मकांड-घाट, काकभुशुंड-गरुड़-संवाद को उपासना-घाट तथा गोस्वामीजी और मन के संवाद को दैन्य-घाट माना है। ये संवाद मिलाने को गोस्वामीजी ने सती-मोह, दक्ष-यज्ञ और पार्वती-विवाह के वर्णन कुछ विस्तार के साथ किए हैं। अंतिम वर्णन में मदन-दहन भी आ जाता है।

बाबू सुखदेवलाल ने दोहा, चौपाई, छंद आदि के विषय में रामायण-महामाला दिखाने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया है, और यह दिखलाया है कि प्रत्येक स्थान पर आठ-आठ चौपाइयों के पीछे दोहे और इसी प्रकार गणनानुसार अन्य छंद हैं। यह मत २१वें तथा २२वें पृष्ठ की चौपाइयाँ देखने एवं अन्य कितने ही स्थानों पर इस गणना के टूटने से खंडित हो जाता है। उन्होंने अपना मत पुष्ट करने को जहाँ कहीं चौपाइयाँ अधिक हो गई हैं, वहाँ उन्हें छोड़ दिया है, और जहाँ कम हो गई हैं, वहाँ दोहों में हेर-फेर कर दिया है। उनका मत समर्थनीय नहीं है। यद्यपि पिंगल-मतानुसार चार पद मिलकर चौपाई बनती है, तथापि इस प्रबंध में हमने औरों का अनुसरण करके दो ही पदों की चौपाई मानी है। इसी प्रकार, यद्यपि दोहा, सोरठा और चौपाई भी छंद ही हैं, परंतु गोस्वामीजी ने इनसे भिन्न छंदों को ही छंद करके लिखा है। अतः हम भी इस प्रबंध में ऐसा ही करते हैं। पृष्ठों की संख्या जहाँ लिखी हो, वहाँ इंडियन-प्रेस में छपी हुई रामायण की बड़ी साँची के पृष्ठ समझने चाहिए। ६८ पृष्ठों तक गोस्वामीजी ने एक प्रकार से रामायण की भूमिका लिखी है। उसके बाल-कांड का अंश होने पर भी हम वास्तविक बाल-कांड का प्रारंभ ६८वें पृष्ठ से समझते हैं, जहाँ से राम-जन्म के कारणों का वर्णन शुरू हुआ है।

गोस्वामीजी ने अपने ग्रंथ का नाम रामचरित-मानस रक्खा और उसके विभागों को सोपान लिखा है ; परंतु लोगों में रामायण और कांड के नाम से उनका अधिक प्रचार हुआ । अतः इस लेख में जहाँ मानस अथवा रामायण नाम आए हों या आवें, वहाँ इसी ग्रंथ से प्रयोजन समझना चाहिए । मानस के कांडों का वर्णन करने के प्रथम हम गोस्वामीजी के विषय में दो-चार बातें लिखना चाहते हैं ।

गोस्वामीजी राजा को ईश्वर का अंश समझते थे—

"साधु, सुजान, सुसील नृपाला ; ईस-अंसभव, परम कृपाला ।"

यद्यपि गोस्वामीजी कथा की रचना 'स्वांतःसुखाय' करते थे, फिर भी उनकी राय थी कि जिस कविता का आदर बुधजन न करें, वह वृथा है—

"जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं, सो श्रम वादि बाल-कवि करहीं ।"

गोस्वामीजी ने पुरानी कथाओं की प्रतिकूल घटनाओं और पौराणिक अन्य विरोधों का इस प्रकार समर्थन किया है कि हर कल्प में प्रभु का अवतार होता है, और वह विविध प्रकार की लीलाएँ करते हैं । इसलिये विरोधों को कल्प-भेद के कारण यथार्थ मानना चाहिए ।

इन्होंने ऐसा निरभिमान-भाव या नम्रता दिखाई कि कोरे काग़ज़ पर लिख दिया कि मुझको भाव-भेदादि नहीं ज्ञात हैं ।

गोस्वामीजी सरयू-नदी को मानस-नंदिनी कहते हैं । जान पड़ता है, इन्होंने सरयू के उद्गम-स्थान को देखा था । सरयूजी पहले कौड़ियाली नाम धारण कर मानस से निकलती हैं ।

निर्जीव पदार्थों की सजीवता की चरम सीमा उस स्थान पर पहुँच गई है, जहाँ हिमाचल ने सब वन, सागर, नदी और तालाबों को न्योता भेजा, और वे सब काम-रूप, सुंदर शरीर रखकर वहाँ जा पहुँचे ।

गोस्वामीजी 'रोदति बदति' बहुत लिखते हैं—

रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहँ गई ।

विवाह के अवसर की गालियाँ केशवदास ने अच्छी लिखी हैं। गोस्वामीजी अपनी कथाओं के सुनने का फल प्रायः कह देते हैं, और कथाएँ कहकर प्रायः उनका प्रभाव श्रोताओं के प्रति वर्णन करते हैं। यथा—

"संभु-चरित सुनि सहज सुहावा ; भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ।
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी ; नैन नीर, रोमावलि ठाढ़ी ।
प्रेम-बिबस मुख आव न बानी ; दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी ।"

जब भुशुंडी ने कथा समाप्त की, तब गरुड़ की भी यही दशा हुई—

"सादर खगपति पंख फुलाए ।"

अवतार का कारण इन्होंने यह कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है, ब्राह्मणों आदि को दुःख होता है, तभी ईश्वर अवतार लेते हैं । यही गीता का भी मत है ।

अन्य कवियों की भाँति यह भी नाम कहने में मुख्य नाम न कहकर उनका कभी-कभी अर्थ-मात्र कह देते हैं । यथा— हिरण्यकशिपु के स्थान पर कनककशिपु, हिरण्याक्ष के स्थान पर हाटकलोचन । यदि कोई महाशय भूमिका को "कुका" अथवा "सागरांबराका" कहें, तो पता लगना कठिन हो जाय ; परंतु नामों के विषय में यह रीति, भाषा और संस्कृत, दोनों में प्रचलित है ।

क्षत्रियों और राजों को यह कुटिल तथा अविश्वास-पात्र समझते थे—

"बैरी, पुनि छत्री, पुनि राजा ; छल-बल कीन्ह चहै निज काजा ।"

इन्होंने ब्राह्मणों को मांसाहारी कहा है, और यह भी लिखा है कि वे क्षत्रियों का परोसा खाते थे—

"बिबिध मृगन कर आमिष राँधा ;"
"परसन लाग जबै महिपाला ;"

गोस्वामीजी इतने बड़े भक्त थे कि श्रेष्ठ मनुष्यों की कौन कहे, राक्षसों तक को रामचंद्रजी के सम्मुख लाकर दर्शन के आनंद में मग्न कर देते थे। मारीच, विभीषण और कुंभकर्ण की राम स भेट करने के समय की दशा देखिए।

गोस्वामीजी प्रायः सगुन-असगुन का ध्यान सदा रखते थे। इसमें केवल राम-सीता का वनवास होने के प्रथम सगुन दिखाने में, देखने-भर को, विरोध देख पड़ता है; परंतु यह उनकी वन-यात्रा मांगलिक समझते थे, अतः सगुन दिखाना अनुचित न था।

"संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल ;
बूड़े सकल समाज, चढ़े जु प्रथमहि मोह-बस।"

इस सोरठे के विषय में कुछ लोग यह कहते हैं कि जब गोस्वामीजी "बूड़े सकल समाज" यह लिख गए, तो उनकी लेखनी रुक गई—वह आगे कुछ न लिख सके ; क्योंकि सब समाज में तो जनक, विश्वामित्र और स्वयं राम भी थे। इस पर महावीरजी ने 'चढ़े जु प्रथमहि मोह-बस' बनाकर सोरठा ठीक कर दिया। परंतु यह बात बिलकुल उपहासास्पद है : क्योंकि यह पद लिखने के लिये गोस्वामीजी पहले ही से चार चौपाइयों में 'डूबनेवालों का समाज' बना चुके थे, जो 'सबकर संसय अरु अज्ञानू' से 'चहत पार नहिं कोउ कनहारा' तक लिखा है। तब उनकी लेखनी क्यों रुकती, और 'चढ़े जु प्रथमहि मोह-बस' लिखने के लिये हनुमानजी को क्यों कष्ट उठाना पड़ता?

गोस्वामीजी ने रावण और बाण को धनुष-यज्ञ में इस कारण नहीं उपस्थित किया कि उन्हें परशुराम द्वारा सब राजों को भय-विह्वल बनाना इष्ट था, और उन्होंने संभवतः रावण और बाण की ऐसी दुर्दशा कराना उचित नहीं समझा होगा।

गोस्वामीजी की चौपाइयाँ प्रायः दीर्घांत होती हैं, इसी कारण हज़ारों स्थानों पर इनको ह्रस्वांत शब्द दीर्घांत करने पड़े हैं।

बाल-कांड

गोस्वामीजी ने रामावतार होने के कुछ कारण दिए हैं, जिनको हमने बाल-कांड का आदिम भाग माना है। यथा—सबसे प्रथम 'जय और विजय का शाप; द्वितीय, जलंधर-युद्ध-संबंधी उसकी स्त्री का शाप; तृतीय, नारद-मोह और उनका विष्णु को शाप; चतुर्थ, स्वायंभुव मनु और शतरूपा रानी का तप करना; पंचम, राजा भानुप्रताप को विप्र-शाप होना। इसमें नारद-मोह, मनु-तपस्या और भानुप्रताप की कथाएँ बहुत ही ललित रीति से कही गई हैं। गोस्वामीजी ने लिखा है कि उपर्युक्त भानुप्रताप, उसका भाई अरिमर्दन, और उसका सचिव धर्मरुचि, क्रम से रावण, कुंभकर्ण और विभीषण हुए। रावण और उसके कुटुंबियों के प्रभाव एवं दिग्विजय इत्यादि का वर्णन गोस्वामीजी ने बहुत ही ज़ोरदार और प्रशंसनीय किया है। आपने उसको यहाँ तक कहा है कि-

"ब्रह्म-सृष्टि जहँ लगि तनु-धारी, दसमुख-बसवर्ती नर नारी।"

तत्पश्चात् निशाचर लोग बहुत ही अनीति करने और ब्राह्मणों को सताने लगे। यहाँ तक कि—

"अतिसय देखि धरम कइ हानी, परम सभीत धरा अकुलानी।"

तब तो उसकी विनती सुन परब्रह्म परमेश्वर ने रामचंद्र के रूप में अवतार लेने की प्रतिज्ञा की।

इधर अयोध्याधिपति महाराज दशरथ का चौथा पन आ चुका था। तथापि अपने कोई पुत्र न देख उन्हें चिंता उत्पन्न हुई। अंत को वशिष्ठजी के परामर्श से उन्होंने शृंगी-ऋषि द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। इस यज्ञ का चरु रानियों को इस प्रकार बाँटा गया कि कौशल्या को आधा भाग और कैकेयी को चतुर्थांश दिया गया, शेष के दो भाग करके कौशल्या और कैकेयी द्वारा सुमित्रा को दिए गए। यथासमय रानियों के पुत्र उत्पन्न हुए। वाल्मीकिजी ने $\frac{1}{4}$

लक्ष्मण को तथा $\frac{1}{4}$ में भरत और शत्रुघ्न को रक्खा है ; परंतु गोस्वामीजी तो शूरता के मुक़ाबिले में भक्ति को प्रधान मानते थे, अतः उन्होंने भक्त-शिरोमणि भरतजी को प्रधान रक्खा।

गोस्वामीजी ने बाल-लीला का अच्छा वर्णन किया है ; पर यह कहना ही पड़ता है कि सूरदास का यह वर्णन इनसे अच्छा है। तुलसीदास ने श्रीरामचंद्र के यश का वर्णन किया है, और सूरदास ने श्रीकृष्णचंद्र के। गोस्वामीजी को ईश्वरत्व प्रदर्शित करने का बड़ा शौक़ था ; परंतु दुर्भाग्य-वश उनके नायक श्रीरामचंद्रजी ने स्वयं ईश्वरत्व का दावा बहुत ही कम किया है। उधर सूरदास को इसका वर्णन बहुत नहीं रुचता था ; पर श्रीकृष्णचंद्र का वह शौक़ बढ़ा-चढ़ा हुआ था—वह प्रायः अपना ईश्वरत्व दिखलाया ही करते थे। इस प्रकार नायक को कवि और कवि को नायक अच्छे मिल गए थे, और लेखा-ड्योढ़ा मिलाने से ईश्वरत्व की मात्रा किसी में कहीं अणु-मात्र भी कम नहीं पड़ने पाई है।

इसी समय विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को माँगने आए। पहले दशरथ ने उनके साथ राजकुमारों को भेजना अस्वीकार कर दिया। विश्वामित्र इससे अप्रसन्न नहीं हुए। वह तो क्रोध न करने की प्रतिज्ञा ही कर चुके थे। केशवदास का इस अवसर पर यह लिखना कि "जान्यौ विश्वामित्र के क्रोध बढ़्यो उर आय।" अनुचित है। ताड़का और सुबाहु को मारकर, विश्वामित्र का यज्ञ पूर्ण कर, और अहल्या को तारकर श्रीरामचंद्रजी सीता-स्वयंवर देखने को मिथिला-पुरी में जा पहुँचे। जनक-पुरी में कुछ रामचंद्र ही प्रधान न थे, तो भी गोस्वामीजी ने उन्हीं की प्रधानता सभी बातों में सभी जगह रक्खी है। यहाँ तक कि कथन तो जनक-पुरी का करने चले, पर वहाँ भी राम ही का वर्णन होता रहा। जनक-पुर कैसा था और उसके निवासी कैसे थे, इस वर्णन को

प्रधानता नहीं दी गई, बल्कि यह लिखा गया कि मिथिला-पु
के लोग रामचंद्र को यों देखते और उनके विषय में यों ब
करते थे—इत्यादि। बस, जहाँ देखिए, वहाँ राम-ही-राम हैं। क्या
विश्वामित्र और जनक का संवाद, क्या धनुष-यज्ञ का वर्ण
क्या राम की वन-यात्रा और ऋषियों के आश्रमों का वर्ण
सर्वत्र राम ही की बात प्रधान है। मुख्य विषय की मुख्य
बहुत कम है। राम जहाँ-जहाँ जाते थे, उन स्थानों का वर्ण
गोस्वामीजी को अन्य कवियों की भाँति अभीष्ट नहीं। वह हमा
समझ में तो सदैव सर्वत्र उन स्थानों और पदार्थों के सहारे रा
ही का वर्णन करेंगे। यदि कोई ग्रंथ पूर्ण रूप से "रामायण
कहाने के योग्य है, तो यही है, यही है, यही है, मानों "विरं
त्रिरेख खँचाई।"

"फुलवारी-वर्णन" गोस्वामीजी के ही मस्तिष्क से निकला है
इससे शृंगार-रस के वर्णन में भी इन महाराज की अनुपम कवित
शक्ति और प्रौढ़ता प्रकट होती है।

रामचंद्र जब से धनुष तोड़ने उठे और जब तक उन्होंने उ
तोड़ा, इस बीच में इन कविवर ने अपनी सारी कवित्व-श
ख़र्च कर दी है। अन्य कवियों ने सभा-भंग होने के पश्च
श्रीराम से धनुष तुड़वाया है, मगर गोस्वामीजी ने ऐसा कर
उचित नहीं समझा, और भरी सभा में ही राम का यश बढ़ा
ठीक माना। रामचंद्र का नखशिख भी इन महाकवि ने कई जग
लिखा है, जो प्रायः सभी जगह सुंदर बन पड़ा है। कई जग
तो इन वर्णनों की छटा अनिर्वचनीय है। रामचंद्र का यश ब
और अन्य राजों का झगड़ा मिटाने के विचार से ही गोस्वामी
ने परशुराम को भी भरी सभा में ही बुलाया और उनसे ब
कराने में रामचंद्र का गांभीर्य और गौरव भी ख़ूब ही निबा

है। हाँ, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद अवश्य ही अच्छा नहीं जान पड़ता। इस पर आगे लिखा जायगा। विवाह की रीतियाँ इन्होंने खूब ही सांगोपांग लिखी हैं।

बाल-कांड में १८६ पृष्ठ हैं। उनमें से ६८ पृष्ठों में भूमिका और शेष पृष्ठों में कथा वर्णित है। यों तो समस्त बाल-कांड की रचना परमोत्कृष्ट है, पर उसमें भी वंदना, मदन-दहन, नारद-मोह, प्रतापभानु का उपाख्यान, पृथ्वी तथा अहल्या की स्तुति, राम-जन्म के छंद, फुलवारी-वर्णन और धनुष-यज्ञ, ये स्थल बहुत ही सुंदर हैं। इस कांड के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

"बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा ; सुरुचि-सुवास, सरस अनुरागा।
अमिय-मूरि-मय चूरनु चारू ; समन सकल भव-रुज-परिवारू।
सुकृत-संभु-तन बिमल बिभूती ; मंजुल मंगल मोद-प्रसूती।
जन-मन मंजु मुकुर मल-हरनी ; किए तिलकु गुन-गन-बस-करनी।
गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन ; नयन-अमिय दृग-दोष-बिभंजन।
तेहि करि बिमल बिबेक-बिलोचन ; बरनउँ राम-चरित भव-मोचन।"

* * *

"जनम सिंधु, पुनि बंधु बिष, दिन मलीन, सकलंक ;
सिय-मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक ?
घटइ, बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई ; ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई।
कोक-सोक-प्रद पंकज-द्रोही ; अवगुन बहुत चंद्रमा, तोही।"

* * *

"नृप सब नखत करहिं उजियारी ; टारि न सकहिं चाप-तम भारी।
उयउ भानु बिनु स्रम तम नासा ; दुरे नखत, जग तेज प्रकासा।
रबि निज उदय ब्याज रघुराया ; प्रभु-प्रताप सब नृपन दिखाया।
तव भुज-बल-महिमा उदघाटी ; प्रकटी धनु-बिघटन-परिपाटी।"

* * *

"सुरन कही निज बिपति सब, सुनि मन कीन्ह बिचार ;
संभु-बिरोध न कुसल मोहिं, बिहँसि कह्यो अस मार।
तदपि करब मैं काज तुम्हारा ; श्रुति कह परम धरम उपकारा।
पर-हित लागि तजइ जो देही ; संतत संत प्रसंसहिं तेही।
अस कहि चलेउ सबहिं सिर नाई ; सुमन-धनुष कर सहित सहाई।
तब आपन प्रभाव बिसतारा ; निज बस कीन्ह सकल संसारा।"

अयोध्या-कांड

इस कांड की रचना अन्य कांडों से इतनी अच्छी है कि इसकी प्रशंसा करने के लिये कोष में शब्द नहीं मिलते। जिस प्रकार की कथा जितनी उत्तमता से इस ग्रंथ-रत्न के इस अंश में पाई जाती है, उसकी आधी भी अन्यत्र नहीं मिलती। अयोध्या-कांड की रचना केवल भाषा-साहित्य में ही नहीं, बल्कि संसार-भर के साहित्य में अपनी सानी नहीं रखती है। ऐसी मनमोहिनी कविता हमने किसी भाषा में नहीं देखी। इस कांड के पृष्ठ उलटते ही पाठक आनंद-सागर में निमग्न-सा हो जाता है। अलौकिक आनंद देनेवाली और सुंदर काव्य की इतनी बढ़िया और प्रचुर सामग्री किसी और ग्रंथ में नहीं मिलती। इसकी कथा यों है—
"विवाह के बाद रामचंद्र बहुत दिनों तक अवध में रहे। तदनंतर राजा दशरथ ने उन्हें युवराज बनाना चाहा। इस समय भरत अपनी ननिहाल में थे। राजा की तीसरी पटरानी कैकेयी ने, मंथरा की सलाह से, राजा से वर माँगकर भरत को युवराज और रामचंद्र को चौदह वर्ष के लिये वनवासी बना दिया। रामचंद्र के साथ लक्ष्मण और सीताजी भी चली गईं। इस स्थान पर कैकेयी-मंथरा-संवाद तथा कैकेयी-दशरथ-संवाद में कवित्व-शक्ति परा काष्ठा को पहुँचा दी गई है। राम-लक्ष्मण और राम-सीता की बातें

चीत भी वैसी ही है। कौशल्या के व्याख्यान से जान पड़ता है कि पुत्र-वधू का कैसा सम्मान होना चाहिए। रामचंद्र निषाद-पति गुह से मिलकर चित्रकूट चले गए। इधर उनके विरह में दशरथ ने शरीर त्याग दिया।

भरत के आने पर सबने उनसे राज्य ग्रहण करने का आग्रह किया। परंतु वह राज़ी नहीं हुए, और सपरिवार, सेना-सहित, सब पुरवासियों के साथ रामचंद्र को बुला लाने के लिये वन को गए। यहाँ पर भरत के व्याख्यान देखने ही योग्य हैं; उनका वर्णन नहीं हो सकता। मार्ग में उनके प्रेम के वर्णन में कवि ने अपनी समस्त कवित्व-शक्ति ख़र्च कर डाली है। भरत को ससैन्य आते देखकर गंगा के समीप केवट-राज को तथा चित्रकूट पर लक्ष्मण को उनके युद्धोन्मुख होने का संदेह हुआ। इन अवसरों पर गोस्वामीजी-कृत वीर-रस का वर्णन दर्शनीय है। इनके ग्रंथों से विदित होता है कि यह महाशय सब प्रकार के वर्णनों को बहुत ही सफलता के साथ कर सकते थे। राम और भरत के वार्तालाप में काव्य-प्रौढ़ता की परा काष्ठा हो गई है। ऐसे सर्वांग-सुंदर वार्तालाप कराने में कदाचित् किसी भाषा का कोई कवि समर्थ न हुआ होगा। अयोध्या-कांड के वार्तालापों की यह ख़ास बात है कि किसी ने कभी किसी दूसरे की बात नहीं मानी; परंतु इस ख़ूबी से बात-चीत हुई कि कोई किसी मनुष्य को अनुचित-भाषी अथवा बुरा भी नहीं कह सकता, वह चाहे जितना उत्कट समालोचक क्यों न हो। भरत रामचंद्र की पादुका लेकर चित्रकूट के सब स्थानों को देखते हुए अयोध्या को लौट आए। अयोध्या-कांड के पूर्वार्द्ध के नायक रामचंद्र और उत्तरार्द्ध के भरत हैं। कहते हैं, गोस्वामीजी ने पहले सीता-स्वयंवर और अयोध्या-कांड की कथा ही लिखी थी। इतना बन जाने पर उन्हें समग्र रामायण बनाने

की इच्छा हुई, और तब उन्होंने शेष ग्रंथ भी बनाया। इस बात की पुष्टि इस उत्तरार्द्ध में भरत के नायक हो जाने से होती है।

इस कांड में इन्होंने लिखा है कि गुरु रामचंद्र से अधिक है—

"तुमते अधिक गुरुहिं जिय जानी, सकल भाव सेवहिं सनमानी।"

बाल-कांड में इन्होंने गुरु को शंकर-रूप बताया है—

"वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।"

गोस्वामीजी ने सत्कर्मों की नामावली वाल्मीकि और रामचंद्र के वार्तालाप में गिनाई है। उससे जान पड़ता है कि यह किस काम को कितना अच्छा समझते थे। इस कांड में १२३ पृष्ठ हैं। इसके वर्णनों में किसी स्थान को श्रेष्ठ और किसी को साधारण कहना गोस्वामीजी के साथ घोर अन्याय करना है। इस कांड का एक अक्षर भी साधारण या विशेषता से खाली नहीं है। यह सब स्थानों पर एक-रस, परम मनोहर और अौवल दर्जे का है। गोस्वामीजी दर्शकों का भी परस्पर वार्तालाप बड़ा ही विशद करते थे। इसके उदाहरण जनकपुर के लोगों और राम तथा भरत की वन-यात्रा के मार्गस्थ जनों के कथनों में देख पड़ेंगे। इस कांड रत्न की पूरी प्रशंसा करना असंभव है। उदाहरण—

"मैं पुनि पुत्र-बधू प्रिय पाई, रूप-रासि, गुन-सील-सुहाई।
नयन-पुतरि करि प्रीति बढ़ाई, राखउँ प्रान जानकिहिं लाई।
कलप-बेलि जिमि बहु बिधि लाली, सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली।
फूलत-फलत भयउ बिधि बामा, जानि न जाइ काह परिनामा।
पलँग-पीठ, तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिवन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ, दीप-बाति नहिं टारन कहऊँ।
सोइ सिय चलन चहति बन साथा; आयसु काह होइ रघुनाथा!
चंद-किरिन-रस-रसिक चकोरी, रबि-रुख नैन सकइ किमि जोरी!

"मानस-सलिल-सुधा-प्रतिपाली , जिअइ कि लवन-पयोधि मराली ?"
"सुर-सर सुभग बनज-बनचारी, डाबर जोग कि हंसकुमारी ?"

* * *

"काननु कठिन, भयंकरु भारी ; घोर घाम, हिम, बारि, बयारी।
कुस, कंटक, मग कंकर नाना ; चलब पयादेहिं बिनु पद-त्राना।
कंदर, खोह, नदी, नद, नारे ; अगम, अगाध, न जाहिं निहारे।
भालु, बाघ, बृक, केहरि, नागा, करहिं नाद, सुनि धीरजु भागा।"
"डरपहिं धीर गहन सुधि आए ; मृगलोचनि, तुम्ह भीरु सुभाए।"
"नव-रसाल-बन-बिहरन-सीला , सोह कि कोकिल बिपिन करीला?"

* * *

"जे पुर गाँउँ बसहिं मग माहीं , तिनहिं नाग-सुर-नगर सिहाहीं।
केहि सुकृती, केहि घरी बसाए ; धन्य पुन्यमय, परम सुहाए।
जहँ-जहँ राम-चरन चलि जाहीं , तहँ समान अमरावति नाहीं।
परसि राम-पद-पदुम-परागा , मानति भूरि भूमि निज भागा।"

* * *

"सनमुख लोह भरत सन लेऊँ ; जिअत न सुर-सरि उतरन देऊँ।
समर-मरन, पुनि सुरसरि-तीरा, राम-काजु, छन-भंगु सरीरा।
भरत भाय नृप, मैं जन नीचू ; बड़े भाग अस पाइय मीचू।
स्वामि-काज करिहौं रन रारी ; जस धवलिहौं भुवन दस-चारी।"

* * *

"कुटिल कुबंधु कुअौसर ताकी , जानि राम बनबासु यकाकी।
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू , आए करन अकंटक राजू।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई , आए दल बटोरि दोउ भाई।
जो जिय होति न कपट कुचाली , केहि सोहाति रथ-बाजि-गजाली ?
उठि कर जोरि रजायसु माँगा ; मनहुँ बीर-रस सोवत जागा।
बाँधि जटा सिर, कसि कटि भाथा . साजि सरासन, सायक हाथा।

आजु राम-सेवक जसु लेऊँ ; भरतहिं समर सिखावन देऊँ।
राम-निरादर कर फल पाई, सोवहु समर-सेज दोउ भाई।
जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू, लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेइ भरतहिं सेन समेता, सानुज निदरि निपातउँ खेता।"

* * *

"तिमिर तरुन तरनिहि सकु गिलई, गगन मगन मकु मेघहि मिलई।
गोपद-जल बूड़हिं घटजोनी, सहज छमा बरु छाँड़इ छोनी।
मसक फूँक सकु मेरु उड़ाई, होइ न नृप-मद भरतहि भाई।
लखन तुम्हारि सपथ, पितु आना, सुचि, सुबंधु नहिं भरत समाना।"

* * *

"तुम तौ देउ सरल सिख सोई, जो आचरत मोर हित होई।
जद्यपि यह समुझत हौं नीके, तदपि होत परितोष न जी के।
बादि बसन बिनु भूषन-भारू, बादि बिरति बिनु बरम्ह-बिचारू।
सरुज सरीर बादि बहु भोगा, बिनु हरि-भगति जाइ जप, जोगा।
जाइ जीव बिनु देह सुहाई, बादि मोर सब बिनु रघुराई।
मोहि समान को पाप-निबासी, जेहि लगि राम-सीय बन-बासी?
कैकइ-सुवन जोगि जग जोई, चतुर बिरंचि रचा मोहिं सोई।
दसरथ-तनै, राम लघु भाई ; दीन्हि मोहिं बिधि बादि बड़ाई।
डरु न मोहिं जगु कहइ कि पोचू ; परलोकहु कर नाहिंन सोचू।
एकइ उर बस दुसह दवारी, मोहिं लगि भे सिय-राम दुखारी।"

"जे पुर गाँउँ" आदि जो चार चौपाई उद्धृत की गई हैं, उनमें जितना साहित्य का सार कूट-कूटकर भरा है, उतना शायद संसार-सागर की किसी भाषा के, किसी पद्य में, कहीं भी न पाया जायगा। जहाँ तक हम लोगों ने कविता देखी या सुनी है, इन पंक्तियों का-सा स्वाद क्या अँगरेज़ी, क्या फ़ारसी, क्या हिंदी, क्या उर्दू, क्या संस्कृत, किसी भी भाषा में कहीं नहीं पाया। इन चौपाइयों

के गुणों का समुचित वर्णन हमने मिश्रबंधु-विनोद की भूमिका में किया है। वह वर्णन वहीं देखा जाय। यहाँ दुहराया नहीं जाता।

अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर-कृत जूलियस-सीज़र नाम के नाटक में एंटोनी का एक व्याख्यान दिया हुआ है। उसके समान समस्त अँगरेज़ी-साहित्य में दूसरा व्याख्यान नहीं माना जाता। पर अयोध्या-कांड के अनेक व्याख्यानों के सामने उसका भी मान-मर्दन हो जाता है। कहाँ तक प्रशंसा करें, अयोध्या-कांड की-सी कोई दूसरी रचना देखने में आना नितांत असंभव प्रतीत होता है।

आरण्य-कांड

इसमें शूर्पणखा को कुरूप करने की, खर, दूषण और त्रिशिरा के मारे जाने की, और सीता-हरण की कथाएँ वर्णित हैं। इसमें ४२ पृष्ठ हैं। जान पड़ता है, बदचलन स्त्रियों की नाक काटने की रीति रामचंद्र ही की चलाई हुई है। इसमें खर-दूषण-युद्ध और सीता-हरण की कथाएँ अच्छी हैं। अंत में नारद और रामचंद्र के वार्तालाप में संतों के लक्षण कहे गए हैं। उदाहरण—

"तब चले बान कराल, फुंकरत जनु बहु ब्याल।
कोपे समर श्रीराम, चले बिसिख निसित निकाम।
अवलोकि खर तर तीर, मुरि चले निसिचर बीर।
भे क्रुद्ध तीनिउ भाय, जो भाजि रन ते जाय।
तेहि बधब हम निज पानि, फिरे मरन मन महँ ठानि।
आयुध अनेक प्रकार, सनमुख ते करहिं प्रहार।
चिक्करत लागत बान, धर परत कुधर समान।
नभ उड़त बहु भुज, मुंड; बिन मौलि धावत रुंड।"

* * *

"दसमुख गयउ जहाँ मारीचा; नाय माथ स्वारथ-रत, नीचा।
नवनि नीच कइ अति दुखदाई; जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई।"

किष्किंधा-कांड

इसमें हनुमान् द्वारा राम-सुग्रीव की मित्रता हुई, और राम ने वानर-राज बालि का वध करके सुग्रीव को किष्किंधा का राजा कर दिया। उधर सुग्रीव राज्य करने लगे, और इधर रामचंद्र वर्षा-भर प्रवर्षण-पर्वत पर रहे। इस स्थान पर वर्षा तथा शरद्-ऋतु का बड़ा ही अच्छा और शिक्षाप्रद वर्णन है। परंतु उसका अधिकांश वर्णन श्रीमद्-भागवत से लिया गया है। शरद्-ऋतु में सुग्रीव ने सीता के खोजने को कपिगण भेजे। इस कांड में केवल १८ पृष्ठ हैं, तथापि इसकी कविता परम प्रशंसनीय है। प्रायः लोग 'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी' का अर्थ एक महीना नहीं मानते, अतः हम बाल-कांड से एक प्रमाण दिए देते हैं—

"कौतुक देखि पतंग भुलाना ; एक मास तेहि जात न जाना।"
"मास दिवस का दिवस भा, मरम न जानै कोय।"

गोस्वामीजी इस बात पर प्रायः ज़ोर दिया करते हैं कि राम बड़े ही कृपालु हैं, और, फिर भी यदि लोग उन्हें न भजें, तो वे क्यों दुखारी न हों ? इसमें मित्रता के विषय में पूज्य विचार कहे गए हैं। पंडितों का सिद्धांत है कि इस कांड से गोस्वामीजी ने काशी-जी में रचना आरंभ की है ; क्योंकि इसकी वंदना में काशीजी की स्तुति पहले की गई है। इसके आगे के भी सब कांड काशी ही में बने, ऐसा ख़याल है। उदाहरण—

"जे न मीत-दुख होहिं दुखारी, तिनहिं बिलोकत पातक भारी।
निज दुख गिरि-सम रज करि जाना, मीत क दुख रज मेरु समाना।
जिनके असि मति सहज न आई, ते सठ हठि कत करत मिताई।
बिपति-काल कर सत गुन नेहा, स्रुति कह संत मीत-गुन एहा।

* * *

"घन घमंड नभ गरजत घोरा ; प्रिया-हीन डरपइ मन मोरा।
दामिनि दमकि रह न घन माहीं ; खल कइ प्रीति यथा थिर नाहीं।

बरषहिं जलद भूमि नियराए ; जथा नवहिं बुध विद्या पाए।
सिमिटि-सिमिटि जल भरइ तलावा ; जिमि सतगुन सज्जन पहँ आवा।
खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी ; करइ क्रोध जिमि धरमहिं दूरी।
ऊसर बरषइ तिनु नहिं जामा ; जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।"

* * *

"पंक न रेनु सोह असि धरनी ; नीति-निपुन नृप कइ जसि करनी।
जल-संकोच बिकल भइ मीना ; अबुध कुटुंबी जिमि धन-हीना।
सुखी मीन जहँ नीर अगाधा ; जिमि हरि-सरन न एकउ बाधा।
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा ; सुंदर खग रव नाना-रूपा।"

* * *

"राम काज लगि तव अवतारा ; सुनि कपि भयउ परबताकारा।
सिंह-नाद करि बारहिबारा ; लीलहि नाँघौं जलधि अपारा।"

सुंदर-कांड

इसमें हनुमान् समुद्र फाँदकर लंका को गए, और वहाँ सीता से मिलकर, अक्षयकुमार आदि को मारकर, मेघनाद द्वारा पकड़े गए। फिर लंका-दहन करके उन्होंने रामचंद्र से सब हाल कहा। वह सब सेना लेकर समुद्र के किनारे आए। यहीं विभीषण राम से मिले। गोस्वामीजी ख़ास हनुमान् के भक्त न थे, नहीं तो उनके समुद्र लाँघने पर यह लिखकर कि—

"उमा न कछु कपि की अधिकाई ; प्रभु प्रताप जो कालहि खाई।"

उनके समस्त यश पर पानी क्यों फेर देते ? इनका तो यह सिद्धांत था—

"पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते, मानिय सकल राम के नाते।"

सो जिसका राम से जितना अधिक संबंध होता है, उसको यह उतना ही अधिक माननीय मानते हैं।

गोस्वामीजी ने मंदोदरी के सम्मुख सीता से रावण की बात-

चीत कराई है। फिर भी सीता के प्रति रावण से यह कहला दिया कि "अगर तू एक बार मेरी ओर देख ले, तो मंदोदरी आदि रानियों को तेरी दासी बना दूँ।" ये बातें हमें अनुचित जान पड़ती हैं।

इस कांड में लंका-वर्णन श्रेष्ठ है। इसमें ३२ पृष्ठ हैं। उदाहरण—

"हैं सुत सब कपि तुमहि समाना ; जातुधान भट अति बलवाना।
मोरे हृदय परम संदेहा ; सुनि कपि प्रकट कीन्हि निज देहा।
कनकभूधराकार सरीरा ; समर-भयंकर, अतिबल बीरा।
सीता मन भरोस तब भयऊ ; पुनि लघु रूप पवन-सुत लयऊ।
सुनु माता, साखामृगहि, नहिं बल, बुद्धि बिसाल ;
प्रभु-प्रताप ते गरुड़ ही, खाय परम लघु ब्याल।"

* * *

"देह बिसाल परम हरुआई ; मंदिर ते मंदिर चढ़ि जाई।
जरइ नगर, भे लोग बिहाला ; लपट-झपट बहु कोटि कराला।"

लंका-कांड

इस कांड में सेतु-रचना, अंगद की बसीठी, मेघनाद, कुंभकर्ण और रावण के युद्ध तथा पतन, सीता के अग्नि-प्रवेश और विभीषण के सिंहासनारूढ़ होने के वर्णन हैं। इसकी वंदना उत्कृष्ट है, और एक स्थान पर रामचंद्र का ध्यान भी अच्छा लिखा गया है। चंद्रमा पर उक्तियाँ और उनमें आप-बीती के वर्णन भी अच्छे हैं। अंगद-पैज में राज-सभा के गांभीर्य का ध्यान नहीं रक्खा गया। गोस्वामीजी का युद्ध-वर्णन प्रति-दिन घोर से भी घोरतर होता गया है। अंत में रावण ने लक्ष्मण तक को पराजित कर दिया है। गोस्वामीजी ने उत्तरोत्तर युद्धोत्कर्ष बढ़ाने के विचार से मेघनाद के युद्ध में उतनी उद्दंडता नहीं दिखाई, जितनी कि रावण के रण में। वाल्मीकीय रामायण देखने से जान पड़ता है कि मेघनाद ने दो

बार राम-लक्ष्मण समेत सारी सेना को जीत लिया था, और जब सब प्रधान पुरुष अचेत हो गए, तब, उस दशा में, उनको मारना युद्ध-नियम के विरुद्ध समझकर वह विजयी हो लंका को चला गया। गोस्वामीजी ने नाग-पाश के वर्णन में केवल इतना ही कह दिया है कि "नागपास-बस भए खरारी।"; परंतु वाल्मीकिजी ने कहा है कि उसने सब पुरुष-प्रधानों के अंग-प्रत्यंग बाणों से इस तरह छेद डाले थे कि किसी में हिलने की भी शक्ति नहीं रही थी। किंतु वाल्मीकीय रामायण में युद्ध का दिनों-दिन वह उत्कर्ष नहीं दिखाया गया, जो गोस्वामीजी को अभीष्ट था। यही गुण ग्रीस के प्रसिद्ध कवि होमर में पाया जाता है; जिसके कारण योरप के साहित्य में उसकी बड़ी प्रशंसा है। गोस्वामीजी ने रावण द्वारा एक ही समय में क्रमशः रामचंद्र को मूर्च्छित और विभीषण, हनुमान् तथा वानर-सेना को पराजित करा दिया है। इसी प्रकार एक बार रामचंद्र के सिवा शेष सेना को पराजित और मूर्च्छित करा दिया है। इतना करने पर भी गोस्वामीजी ने लंका के किसी भी वीर को पूर्ण रूप से विजयी होकर कभी नहीं जाने दिया; या तो किसी से उसे हरा दिया, या दुर्दशा करा डाली। एक बार मेघनाद और दूसरी बार रावण ने जब राम-समेत समस्त सेना को पराजित किया, तब भी वे प्रसन्नता-पूर्वक लंका नहीं जाने पाए; बल्कि दोनों ही को जांबवान् के प्रहार से मूर्च्छित होना पड़ा। इसी भाँति जब कुंभकर्ण कपि-सेना को पराजित कर लंका जा रहा था, और अपने भाई के अपमान का बदला चुकाने को बालि के भाई को काँख में दाबे था, तब निर्बल सुग्रीव के द्वारा उसके नाक-कान कटवा लिए गए। गोस्वामीजी ने कुंभकर्ण और रावण के युद्ध बड़े ही भयंकर और प्रभाव डालनेवाले लिखे हैं। रावण का युद्ध भी बड़ी ही उत्तमता से कहा है।

यह महाशय राम-भक्त होने के कारण रावण तथा अन्य निशाचरों को दुष्ट, खल इत्यादि की उपाधियों से सदैव भूषित किया करते थे। इन महाकवि ने लंका और उत्तर-कांड में विविध व्यक्तियों द्वारा श्रीरामचंद्र की स्तुति या बहुत ही श्लाघा कराई है। प्रत्येक स्तुति में निराला ही आनंद प्राप्त होता है। समस्त रामायण में इस प्रकार की स्तुतियाँ पचास-साठ से कम न होंगी। इसी प्रकार रामचंद्र के शिखनख-वर्णनों का बाहुल्य है। इन दोनों विषयों की रचना में इन महाकवि ने अपनी अलौकिक कवित्व-शक्ति और पांडित्य का चमत्कार दिखलाया है।

लंका-कांड में बहुत लोगों ने कई स्थानों पर कई बार रावण को युद्ध न करने के वास्ते समझाया, और मंदोदरी ने तो अनेक बार ऐसा किया; परंतु क्या मारीच, क्या विभीषण, क्या माल्यवान्, क्या मंदोदरी और क्या कुंभकर्ण, सभी ने रामचंद्र को परमेश्वर मानकर उसे उपदेश दिया है। मंत्र-दाताओं में केवल प्रहस्त ने रामचंद्र की ईश्वरता नहीं दिखलाई। उसका उपदेश भी बहुत ही प्रभाव-पूर्ण और गंभीर है। उससे प्रहस्त के पांडित्य और नीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। यथा—

"प्रथम बसीठि पठाइय नीती; सीतहिं देइ करिय पुनि प्रीती।
नारि पाइ फिरि जाहिं जो, तौ न बढ़ाइय रारि;
नाहिं त सनमुख समर महँ, तात करिय हठि मारि।
यह मत जो प्रभु मानहु मोरा; उभय प्रकार सुजसु जग तोरा।"

केवल मेघनाद ने रावण को कभी शिक्षा नहीं दी। उसे गोस्वामीजी ने बड़ा ही पितृभक्त, आज्ञाकारी, कार्य-कुशल तथा शूर माना है। जब माल्यवान् के शांति-उपदेश से रावण क्रोधित हो रहा था, तब मेघनाद ने केवल इतना कहा कि—

"कौतुक प्रात देखियहु मोरा; करिहौं बहुत, कहत हौं थोरा।"

और, उसके इतने ही कथन पर रावण को पूर्ण विश्वास आ गया। रामचंद्र ने अयोध्या लौटते समय पहले प्रयाग और अयोध्या का दर्शन करके फिर त्रिवेणीजी में स्नान किया। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि विमान ऊँचा उठने के कारण प्रयाग से अयोध्या देख पड़ना असंभव नहीं। उदाहरण—

"इहाँ सुबेल-सैल रघुबीरा, उतरे सेन-सहित अति भीरा।
सैल-सृंग यक सुंदर देखी, अति उतंग, सम, सुभ्र बिसेखी।
तहँ तरु-किसलय, सुमन सुहाए, लछिमन रचि निज हाथ डसाए।
तापर रुचिर, मृदुल मृगछाला, तेहि आसन आसीन कृपाला।
प्रभु कृत सीस कपीस-उछंगा; बाम, दहिन दिसि चाप, निखंगा।
दुहुँ कर-कमल सुधारत बाना; कह लंकेस मंत्र लगि काना।
बड़भागी अंगद, हनुमाना, चरन-कमल चापत बिधि नाना।
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन; कटि निखंग, कर बान-सरासन।
यहि बिधि करुना-सींव, गुन-धाम राम आसीन;
ते नर धन्य, जु ध्यान यहि, रहत सदा लवलीन।"

* * *

"पूरब दिसि गिरि-गुहा-निबासी, परम-प्रताप-तेज-बल-रासी।
मत्त-नाग-तम-कुंभ बिदारी, ससि केसरी गगन-बनचारी।
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा, निसि-सुंदरी केर सिंगारा।
बिष-संजुत कर-निकर पसारी, जारत बिरहवंत नर नारी।"

* * *

"देखु बिभीषन, दच्छिन आसा, घन घमंड, दामिनी-प्रकासा।
मधुर-मधुर गरजइ घन घोरा; होइ बृष्टि जनु उपल कठोरा।
कहइ बिभीषन, सुनहु कृपाला, होइ न तड़ित, न बारिद-माला।
लंका-सिखर रुचिर आगारा; तहँ दसकंधर केर अखारा।
छत्र मेघ-डंबर सिर धारी, सोइ जनु जलद-घटा अतिकारी।

मंदोदरी-स्रवन　　　　ताटंका ; सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका।"

*　　　　*　　　　*

"जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला, बिधि के लिखे अंक निज माला।
नर के कर आपन बध बाँची, हँसेउँ जानि बिधि-गिरा असाँची।
सो मन समुझि त्रास नहिं मोरे ; लिखा बिरंचि जरठ मति-भोरे।"

*　　　　*　　　　*

"नभ चढ़ि बरखइ विपुल अँगारा ; महि ते प्रकट होहिं जल-धारा।
नाना भाँति पिसाच, पिसाची, मारु-काटु धुनि बोलहिं, नाची।
बरखि धूरि कीन्हेसि अँधियारा ; सूझ न आपन हाथ पसारा।"

*　　　　*　　　　*

"मेघनाद सुनि स्रवन अस, गढ़ पुनि छेंका आइ ;
उतरि दुर्ग ते बीरबर, सनमुख चलेउ बजाइ।
कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता, धन्वी, सकल लोक-बिख्याता !
कहँ नल, नील, दुबिद, सुग्रीवाँ, कहँ अंगद, हनुमत बल-सींवाँ !
कहाँ बिभीषनु भ्राता-द्रोही ; आजु सठहि हठि मारउँ ओही।
अस कहि कठिन बान संधाने, अतिसय क्रोध स्रवन लगि ताने।
सर-समूह सो छाँड़इ लागा ; जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा।
जहँ-तहँ परत देखियहि बानर ; सनमुख होइ न सके तेहि अवसर।
भागे भय-ब्याकुल कपि, रिच्छा ; बिसरी सबहिं जुद्ध की इच्छा।
सो कपि भालु न रन-महि देखा, कीन्हेसि जेहि न प्रान-अवसेखा।
मारेसि दस-दस बिसिख, सब, परे धरनि कपि बीर ;
सिंह-नाद गरजत भयउ, मेघनाद रन-धीर।"

*　　　　*　　　　*

"भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति, त्रोन सायक कसमसे ;
कोदंड-धुनि अति चंड सुनि, मनुजाद भय मारुत ग्रसे।
मंदोदरी उर-कंप कंपति, कमठ, भू, भूधर त्रसे ;

चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे ।"

इस कांड में ८० पृष्ठ हैं और इसकी कविता श्रेष्ठ है।

उत्तर-कांड

इसमें रामचंद्र का अयोध्या-गमन, रामाभिषेक, राम-राज्य, देवतों की की हुई राम-स्तुति, संत-महिमा, राम का अपनी प्रजा को उपदेश, काकभुशुंड के पूर्व-जन्म का वृत्तांत और मोह, ज्ञान-भक्ति-भेद और राम-कथा-माहात्म्य के वर्णन हैं। काकभुशुंड के पूर्व-जन्म में गुरु-माहात्म्य पर ज़ोर दिया गया है। कलि-वर्णन भी है। भुशुंडि-मोह में राम-बाल-लीला का अच्छा वर्णन हुआ है। ज्ञान-भक्ति-भेद में ज्ञान-दीपक के परम परिश्रम से जलाए जाने और परम सुगमता से बुझ जाने का कथन कुछ उपहासास्पद हो गया है। गोस्वामीजी ने भक्ति को प्रधान रक्खा है। इन्होंने निम्न-लिखित दोहे में नानक, कबीर, दादू आदि के पंथों की निंदा की है—

"कलि-मल ग्रसेउ धरम सब, गुपुत भए सदग्रंथ ;
दंभिन निज मत कलपि करि, प्रकट कीन्ह बहु पंथ ।"

जिस प्रकार गोस्वामीजी ने कलि-धर्म के विषय में भविष्यद्वाणी-सी कही है, उसी प्रकार भारतेंदुजी ने भी किया है। इन वर्णनों से इन कवि-रत्नों की पैनी दृष्टि तथा संसार-चक्र की गति परखने की शक्ति प्रकट होती है। कुछ महाशयों का मत है कि उत्तर-कांड रामायण के कांडों में सर्वोत्कृष्ट है। हमारे मत में, इस कांड में गोस्वामीजी ने अपने सिद्धांतों का पूरा वर्णन अवश्य किया है, परंतु काव्य की दृष्टि से हम इसे ऐसा नहीं मान सकते। इसमें विनती, कलि-धर्म, भुशुंडि-कथा और ज्ञान-दीपक के वर्णन अच्छे हैं। रामचंद्र के आने के समय भरत की उत्कंठा भी खूब दिखाई गई है।

काव्योत्कृष्टता की दृष्टि से हम सातों कांडों को इस तरह क्रम-बद्ध करेंगे—

अयोध्या, बाल, उत्तर, लंका, किष्किंधा, सुंदर, आरण्य।

रावण के विषय में इन महाकवि ने लिखा है—

"बीस पयोधि अगाध अपारा ; को अस बीर, जु पावै पारा।"

इसी प्रकार गोस्वामीजी के सातो कांडों के विषय में कहा जा सकता है कि—

"सात पयोधि अगाध अपारा ; को अस सुकबि, जु पावै पारा।"

उत्तर-कांड में ८२ पृष्ठ हैं। इसकी कविता सर्वथा प्रशंसनीय है। उदाहरण—

"जय सगुन-निरगुन-रूप राम अनूप भूप-सिरोमने ;
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज-बल हने।
अवतार नर संसार-भार विभंजि दारुन दुख दहे ;
जय प्रनतपाल, दयाल, प्रभु, संयुक्त सक्ति नमामहे।
जे चरन सिव-अज-पूज्य रज सुभ परसि मुनि-पतनी तरी ;
नख-निर्गता, सुर-बंदिता, त्रैलोक्य-पावनि सुरसरी।
ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंज-जुत, बन फिरत कंटक जिन सहे ;
पद-कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।"

* * *

"जो कछु झूँठ, मसखरी जाना, कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।
निराचार जो स्रुति-पथ-त्यागी, कलिजुग सोइ ज्ञानी, बैरागी।
जाके नख अरु जटा बिसाला, सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।
मारग सोइ, जाकहँ जोइ भावा ; पंडित सोइ, जोइ गाल बजावा।
नारि-बिबस नर सकल गोसाईं, नाचहिं नट, मरकट की नाईं।
गुन-मंदिर, सुंदर पति त्यागी, भजहिं नारि पर-पुरुष अभागी।
पर-तिय-लंपट, कपट-सयाने, लोभ-मोह-ममता-लपटाने।
नारि मुई, घर संपति नासी, मूड़ मुड़ाय भए संन्यासी।
बहु दाम सँवारहिं धाम जती ; बिषया हरि लीन्हि गई बिरती।

तपसी धनवंत, दरिद्र गृही ; कलि-कौतुक तात, न जात कही ।
धनवंत कुलीन मलीन अपी ; दुज-चिन्ह जनेउ, उघार तपी ।
कलि बारहिबार दुकाल परै ; बिन अन्न दुखी सब लोक मरै ।
अबला कच भूषन, भूरि छुधा ; धनहीन, दुखी, ममता बहुधा ।
सुख चाहहिं मूढ़, न धर्मरता ; मति थोरि, कठोरि, न कोमलता ।
नर पीड़ित रोग, न भोग कहीं ; अभिमान, विरोध अकारनहीं ।
लघु जीवन संवत पंचदसा ; कलपांत न नास, गुमान असा ।"

* * *

"जय राम रमा-रमनं समनम् ; भवताप-भयाकुल पाहि जनम् ।
मद, मोह, महा ममता रजनी ; तम-पुंज दिवाकर तेज अनी ।
बहु रोग बियोगनि लोग हए ; भवदंघ्रि-निरादर के फल ये ।
भव-सिंधु अगाध परे नर ते, पद-पंकज प्रेम न जे करते ।
अति दीन, मलीन, दुखी नितहीं, जिनके पद-पंकज प्रीति नहीं ।
अवलंब भवंत कथा जिनके, मन-नीति कदापि नहीं तिनके ।
नहिं राग, न रोष, न मान-मदा ; तिनके सम वैभव वा बिपदा ।
सम मान, निरादर, आदर ही ; सोइ संत सुखी बिचरंत मही ।"

* * *

"जोवन-जुर केहि नहिं बलकावा ; ममता केहि कर जस न नसावा ?
चिंता-साँपिनि काहि न खाया ; को अस, जाहि न व्यापी माया ?
कीट मनोरथ, दारु सरीरा ; जेहि न लाग घुन, को अस बीरा ?
यह सब माया कर परिवारा ; प्रबल अमित को बरनइ पारा ?
सो प्रभु-भ्रू-बिलास खगराजा, नाच नटी इव सहित समाजा ।
सोइ सरवज्ञ गुनी वर ज्ञाता, सोइ महि-मंडन पंडित दाता ।
धरम-परायन, सोइ कुल-जाता, राम-चरन जा कर मन राता ।
नीति-निपुन सोइ परम सयाना, श्रुति-सिद्धांत नीक सोइ जाना ।
सोइ कबि-कोबिद, सोइ रनधीरा, जोइ छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा ।

साधक, सिद्ध, विमुक्त, उदासी, कवि, कोविद, बिरक्त, संन्यासी।
जोगी, सुर अरु तापस, ज्ञानी, धरम-निरत, पंडित, बिज्ञानी।
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी; राम नमामि नमामि नमामी।"

वह न जाने कौन पवित्र घड़ी थी, जब महात्मा तुलसीदास ने रामचरित-मानस का निर्माण करने के लिये अपनी लेखनी संचालित की थी। हिंदुओं को ऐसा शुभ मुहूर्त (समय) बहुत बार नहीं मिला। इस ग्रंथ-रत्न की २२ कोटि हिंदुओं में जो महिमा है, उसका उल्लेख करना हमारी निर्बल लेखनी की शक्ति से बाहर है। आज यह पुस्तक संख्या में समस्त भूमंडल के सहस्रांश मानव-जाति का वेद, बाइबिल, ज़ेंदावस्ता, कुरान, या जो कुछ कहिए, हो रही है। इसका आधिपत्य हम लोगों पर जितना प्रबल है, उतना शायद बाइबिल का ईसाइयों पर भी न होगा। जिस समय यह कविकुल-चूड़ामणि लेखनी हाथ में ले अपनी पीयूष-वर्षिणी कविता द्वारा संसार को आप्यायित करने लगते होंगे, उस समय अवश्य ही स्वर्गीय कविवरों की आत्माएँ आनंद-सागर के तरंगों में हिलोरें लेने लगती होंगी! यह ग्रंथ-रत्न जितना सर्वप्रिय है, उतना अन्य कोई भी ग्रंथ नहीं हो सकता। केवल अक्षर-ज्ञान रखनेवालों से लेकर वेदांती तक समान रूप से इसका आदर करते हैं, और "निज पौरुष परमान ज्यों मसक उड़ाहिं अकास" के अनुसार इसकी प्रशंसा करते हैं। इसकी कविता में ऐसी कुछ मोहिनी शक्ति है, और इसमें भिन्न-भिन्न रुचिवाले मनुष्यों के लिये उपयोगी इतनी बातें मिलती हैं कि सभी श्रेणियों के मनुष्यों को इससे आनंद मिलता है।

दुर्भाग्य-वश हमारे यहाँ अभी पठन-पाठन की प्रथा पूर्ण रूप से प्रचलित नहीं होने पाई है। फिर अच्छे-से-अच्छे ग्रंथों को मुद्रण का सौभाग्य ही नहीं प्राप्त होता। यदि हुआ भी,

तो दो-तीन संस्करणों के आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। ऐसी दशा में भी इस ग्रंथ-रत्न के हज़ारों ही संस्करण हो गए और होते जाते हैं। अधिकांश संस्करणों में दस-दस हज़ार से कम प्रतियाँ नहीं होतीं। प्रेसवालों के वास्ते तो वास्तव में महात्मा तुलसीदास कल्पवृक्ष ही हो गए हैं। जब उनके पास कोई काम न हुआ, तब झट रामायण की दस-पाँच हज़ार प्रतियाँ छाप डालीं, और उससे लाभ उठाने लगे। रोचकता में भी यह ग्रंथ अद्वितीय है। ग्राउस साहब ने अँगरेज़ी-गद्य में और मुंशी द्वारकाप्रसाद उफ़ुक ने उर्दू-पद्य में इसका अनुवाद किया है। कोई भी सुकवि इतना बड़ा भक्त नहीं हुआ, और इसी कारण इतना भक्ति-भाव-पूर्ण काव्य करने में कोई भी नहीं समर्थ हुआ। हज़ारों मनुष्य नित्य इसकी पूजा और पाठ करते हैं। इसका आद्योपांत पाठ करने की प्रथा बहुत प्रचलित है। एक बार एक मुंशीजी से हमने कहा कि हम तो रामायण का सदैव इस क्रम से पाठ करते हैं कि श्रीगणेश से इतिश्री तक करके फिर प्रारंभ से ही लगा लगा दिया। इस पर मुंशीजी गद्गद होकर तुरंत ही बोल उठे—"जनाब, यह तो क़ायदा ही है। यह क्या कि आज यहाँ कल वहाँ, मेढक की तरह उछलता फिरे।"

अनेक स्थानों पर रामायण-समाज स्थापित हैं, और जगह-जगह बाजे के साथ इसका गान किया जाता है। पुराणों की भाँति इसका पाठ भी होता है; जिसे सुनने को सहस्रों नर-नारी एकत्र होते हैं। यह सौभाग्य आज तक हिंदी के किसी भी अन्य ग्रंथ को नहीं प्राप्त हुआ। इसकी पुस्तकें देवालयों में रक्खी रहती हैं, और उनकी देवतों की भाँति पूजा होती है। लोग यंत्र में मढ़कर इसके गुटके गले और बाहु में बाँधते हैं। कहाँ तक कहा जाय, गीता की भाँति यह ग्रंथ-रत्न भी हिंदू-धर्म में इतना मिल गया कि उसका एक अंग हो गया है। इस ६०० पृष्ठों के बृहद् ग्रंथ में अनेकानेक विषय

आ गए हैं। गोस्वामीजी ने प्रत्येक कांड के प्रारंभ में संस्कृत के श्लोकों और भाषा के छंदों द्वारा देवतों की स्तुतियाँ की हैं। उत्तर-कांड में आठ श्लोकों का एक रुद्राष्टक बनाया है। बहुत-से कवियों ने इस ग्रंथ की स्तुति, आरती, श्लोक इत्यादि बनाए हैं।

कविता का परिचय

"राम-बाम दिसि जानकी, लखन दाहनी ओर ;
ध्यान सकल कल्यान-कर, सुर-तरु तुलसी तोर।"

गोस्वामीजी के ग्रंथों के विषय में जो कुछ हमें कहना था, ऊपर कह चुके। अब उनके ग्रंथों—विशेषकर रामायण—के आधार पर उनके गुण-दोषों का कुछ भाग, यथाशक्ति, यहाँ दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। शेष वर्णन आगे यथास्थान मिलेगा।

गुण-कथन

(१) गोस्वामीजी कथा-वर्णन में कोई बात एकबारगी नहीं कह देते, बल्कि आनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की प्रथम से सूचना दे देते हैं, जिससे पाठक को उनका दिग्दर्शन प्रथम से हो रहे। इसी प्रकार औचित्य और अनौचित्य के विषय में भी जगह-जगह पर कुछ लिखते रहते हैं, जिसमें पाठक उनसे सहमत हो जाय।

"दच्छ न कछु पूँछी कुसलाता ; सतिहि बिलोकि जरे सब गाता।"

यहाँ कवि दक्ष के प्रतिकूल पाठकों का क्रोध भड़का रहा है।

"तुलसी जसि भवितव्यता, तइसिय मिलइ सहाइ ;
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लइ जाइ।"

यहाँ भानुप्रताप पर आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है, यद्यपि अभी उसका कहीं पता भी नहीं है।

"देखि राम-छबि कोउ अस कहई, जोगि जानकी यह बर अहई।
असि प्रतीति तिनके मन माहीं, राम चाप तोरब, सक नाहीं।"

बाल-कांड से ही राम के विषय में—

"प्रीति पुनीत भरत कइ देखी ; सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी ।
पुर-नारि सकल पसारि अंचल, बिधिहि बचन सुनावहीं ,
ब्याहिय सु चारिउ भाइ यहि पुर, हम सुमंगल गावहीं ।"

(बाल-कांड)

"सबके उर अभिलाख अस, कहहिं मनाइ महेस ;
आपु अछत जुवराज-पद, रामहिं देइँ नरेस ।"

"सुबस बसिहि पुनि अवध सुहाई ; सब गुन-धाम राम-प्रभुताई ।
तोर कलंक, मोर पछिताऊ, मुएहु मेटि जाइहि नहिं काऊ ।
सीय कि पिय सँग परिहरिहिं, लखन कि रहिहहिं धाम ;
भरत कि भोगब राज-पद, नृप कि जियहिं बिनु राम ?
भोरेहु भरत न पेलिहहिं, मन महँ राम रजाइ ;
करिय न सोच सनेह-बस, कहेउ राउ बिलखाइ ।"

(अयोध्या-कांड)

जब भरत राम को मनाने गए थे, तब ये वाक्य जनक ने अपनी रानी से कहे थे ।

"निसिचर-हीन करौं मही, भुज उठाइ प्रन कीन ।"

यह प्रण रामचंद्र ने सीता-हरण के प्रथम किया था ।

"यहि लागि तुलसीदास इनकी कथा संछेपहि कही ;
रघुबीर-सर-तीरथ-सरित तन त्यागि गति पैहैं सही ।"

(सुंदर-कांड)

त्रिजटा का स्वप्न भी इसका प्रमाण है ।

"जो तेहि आजु बधे बिनु आवों , तो रघुपति-सेवक न कहावों ।"
"कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी , उर सर लागत मरिहि सुरारी ।"

(लंका-कांड)

(२) यह महाशय अपनेको तुरंत मुख्य कथा पर पहुँचा देते हैं, और रोचकता-रहित तैयारियों में समय नष्ट नहीं कराते ।

"तापस नृपहिं बहुत परितोखी, चला महा कपटी, अति रोखी।"
"नृप हरखे पहिचानि गुरु, भ्रमबस रहा न चेत ;
बरे तुरत सत सहस वर, बिप्र कुटुंब-समेत।"

(बाल-कांड)

इनको रावण का कथन शीघ्रता से करना था, अतः केवल तीन चौपाइयों में उस राजा भानुप्रताप का नाश कह दिया, जिसकी कथा आठ पृष्ठों से कहते चले आते थे।

"खर-दूषन पहँ गइ बिलखाता ; धिक-धिक तव पौरुष, बल भ्राता।"
"तेहि पूछा, सब कहेसि बुझाई ; जातुधान सुनि सैन सजाई।"

(आरण्य-कांड)

(३) गोस्वामीजी अमुक उवाच कहाए बिना बात कहा देते हैं, परंतु यह विदित हो जाता है कि किसने बात कही। इसका उदाहरण उपर्युक्त छंद भी है।

"अतिसै देखि धरम कइ हानी ; परम सभीत धरा अकुलानी।
गिरि, सरि, सिंधु भार नहिं मोही ; जस मोहिं गरुअ एक पर-दोही।
भगति-सहित मुनि आहुति दीन्हे ; प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे।
जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा ; सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा।"

(बाल-कांड)

"तब सुग्रीव बिकल होइ भागा ; मुष्टि-प्रहार बज्र सम लागा।
मैं जु कहा रघुबीर कृपाला, बंधु न होइ मोर यह काला।"

(किष्किंधा-कांड)

"निसिचर मारि तुम्हैं लै जैहैं ; तिहुँ पुर नारदादि जस गैहैं।
हैं सुत, सब कपि तुमहि समाना, जातुधान भट अति बलवाना।"

(सुंदर-कांड)

(४) बड़ी-बड़ी घटनाओं में गोस्वामीजी आकाश-वाणी करवा दिया करते थे।

महादेव मन में जब सती-त्याग का निश्चय करके चले, तब—

"चलत गगन भइ गिरा सुहाई : जय महेस, भलि भगति दृढ़ाई।"

पार्वती की तपस्या समाप्त होने पर जो 'गगन-गिरा' हुई थी, वह कुछ आवश्यकता से अधिक लंबी है।

मनु और शतरूपा जब तपस्या करती थीं, तब ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनके पास आए, और बोले कि वर माँगो। परंतु वे नहीं बोले। इस पर ईश्वर ने उन्हें अनन्य-भक्त समझा, और—

"माँगु-माँगु बर, भइ नभ-बानी, परम गँभीर कृपामृत-सानी।"

तब उन्होंने परमेश्वर के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की, और ईश्वर ने दर्शन देकर उनके यहाँ अवतार लेना भी स्वीकार किया। इससे विदित होता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का गगन-गिरा से कोई संबंध नहीं था।

राजा भानुप्रताप के यहाँ गगन-गिरा बहुत छोटी होकर भ्रामक हो गई, और राजा को शाप दिया जा चुकने पर राजा के निर्दोष होने के बारे में उसे फिर सफ़ाई देनी पड़ी।

राम-जन्म-संबंधी गिरा कुछ भ्रामक है। उसमें कहा गया है कि मैं कश्यप और अदिति को वरदान दे चुका हूँ। वे ही इस जन्म में दशरथ और कौशल्या हैं। उनके यहाँ अवतार लेकर मैं नारद के वचन सत्य करूँगा। मेरा अवतार परम शक्ति-समेत होगा। यह वाणी ब्रह्माजी सहित सब देवतों ने सुनी थी। इसके विषय में लिखा है—

"गगन ब्रह्म-बानी सुनि काना, तुरत फिरे सुर, हृदय जुड़ाना।"

अतः यह वाणी स्वयं ईश्वर की थी। गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परमेश्वर मानकर उन्हें "बिधि, हरि, बिष्णु नचावनहारे।" कहा भी है। फिर नारद-वचन सत्य कैसे हुआ? उन्होंने तो विष्णु को शाप दिया था। बात यह है कि यद्यपि गोस्वामीजी परब्रह्म को विष्णु से पृथक् और बड़ा समझते और राम को उन्हीं

का अवतार मानते थे, परंतु कभी-कभी उनको परब्रह्म और विष्णु के बारे में भ्रम हो जाता था। इस गिरा में मनु तथा शतरूपा के स्थान पर कश्यप और अदिति का नाम भ्रम-वश ही आ गया है ; क्योंकि मनु और शतरूपा की तपस्या के कथा-प्रसंग में कह दिया गया है कि वे ही दशरथ और कौशल्या होंगे ।

एक बार भरत के विषय में लक्ष्मण का संदेह निवृत्त करने को और दूसरी बार भुशुंड-विषयक लोमश का आशीर्वाद सत्य करने को गगन-गिरा हुई थी। रामायण में कुल आठ बार गगन-गिरा हुई है।

(५) गोस्वामीजी निंद्य मनुष्यों पर, कथा-वर्णन में, सदैव बड़ा क्रोध प्रकट करते हैं ।

"देखा सु बस करम-मन-बानी , तब बोला तापस बक ध्यानी।"
"एवमस्तु कहि कपट-मुनि, बोला कुटिल बहोरि ।"
"तापस नृपहिं बहुत परितोषी , चला महाकपटी अति रोषी।"
"बड़ कुघात करि पातकिनि, कहेसि कोप-गृह जाहु ।"
"यह सुनि, मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मतिमंद।"
"यहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ , छाइ भवन पर पावक धरेऊ।"
"कुटिल, कठोर, कुबुद्धि, अभागी , भइ रघुबंस-बेनु-बन-आगी ।"
"सुरपति-सुत धरि बायस-भेखा, सठ चाहत रघुपति-बल देखा।"
"अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह ;
ता सन आइ कीन्ह छल, मूरख अवगुन-गेह।"

इसी भाँति निशाचरों को बात-बात पर गालियाँ दी गई हैं।

(६) गोस्वामीजी ने रामायण की कथा में अपनी ओर से कुछ बढ़ा-घटा देने के विषय में स्वयं लिख दिया है—

"नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि ।"

इसी से इनकी कथा कहीं-कहीं वाल्मीकि की कथा से पृथक् हो जाती है। इन्होंने स्वयंवर के समय सीता को छोटी कन्या की भाँति नहीं

दिखलाया। रामचंद्र से धनुष सभा में ही तुड़वाया है, सभा-विसर्जन हो जाने के पीछे एकांत में नहीं। जनक का प्रण केवल धनुष उठाने और चढ़ाने का था, न कि उसे तोड़ने का; परंतु रामचंद्र ने उसे चढ़ाया और तोड़ भी डाला। अतः राम के ऊपर स्वल्प-मात्र लांछन भी न लगने देने के अभिप्राय से इन्होंने जनक से धनुष तोड़ने ही का प्रण कराया है। इन्होंने रामचंद्र का प्रभाव बढ़ाने के अभिप्राय से परशुराम को सभा में बुलाया; किंतु अन्य रामायणों में बरात लौटते समय रास्ते में परशुराम का आना कहा गया है। गोस्वामीजी ने यह नहीं लिखा कि परशुराम का तेज भी रामचंद्र ने ग्रहण किया। इसका कारण यह है कि यह रामचंद्र को परमेश्वर और परशुराम को विष्णु का अवतार मानते थे। अतः परमेश्वर में वैष्णव तेज का होना कैसे लिखते? जयंत ने काग होकर सीता के चरण में चोंच नहीं लगाई थी, वरन् उन्हें वस्त्र-हीन करने का प्रयत्न किया था। गोस्वामीजी ने अपनी भक्ति के कारण उसकी प्रेमासक्ति न लिखकर सिर्फ़ चरण में चोंच मारना-भर लिख दिया है।

(७) इन्होंने समय और स्थान का परिमाण कहीं-कहीं बहुत बढ़ाकर लिखा है—

"बीते संबत सहस सतासी, तजी समाधि संभु अबिनासी।"
"कह मुनि तात भयउ अँधियारा; जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा।"

यह भी संभव है कि कपटी मुनि ने ७० योजन दूर नगर का होना झूठ कहा, ऐसा प्रकट करना कवि को अभीष्ट हो।*

"मास दिवस का दिवस भा, मरमु न जानइ कोइ।"

(८) युद्ध-वर्णन में इन महाशय ने प्रथम दिन हनुमान् और अंगद की प्रधानता रक्खी है, और एक ही दिन के युद्ध में "आधा

* यह सत्तर योजन भानुप्रताप एक ही दिन के शिकार में चले गए थे।

कटक कपिन संहारा।" द्वितीय दिन मेघनाद की प्रधानता रही, परंतु यह विजयी निशाचरों को भी किसी-न-किसी प्रकार नीचा दिखा दिया करते थे। मेघनाद ने जब लक्ष्मण को मूर्च्छित कर दिया, तब वह उन्हें उठा ही न सका। इसी प्रकार उन्हें मूर्च्छित करके रावण भी नहीं उठा सका, और हनुमान् का घूसा लगने से आप ही गिर पड़ा। इसी प्रकार कई और घटनाएँ कही गई हैं, जिनका उल्लेख हम लंका-कांड की समालोचना में कर चुके हैं। जान पड़ता है, गोस्वामीजी की भक्ति उन्हें निशाचरों की प्रसन्नता में कुछ-न-कुछ दुःख मिला देने के लिये विवश करती थी। तीसरे दिन कुंभ-कर्ण ने समस्त वानर-सेना को परास्त कर दिया, और रामचंद्र को घोर युद्ध करके उसका वध करना पड़ा। रामचंद्र की दूसरे दिन की लड़ाई बहुत थोड़ी है। चौथे दिन मेघनाद ने समस्त सेना को बहुत व्याकुल किया, और लक्ष्मण को मोहित करके रामचंद्र को भी नाग-पाश से बाँध लिया। मेघनाद-वध के पश्चात् पाँचवें दिन स्वयं रावण युद्ध के लिये आया। इस अवसर पर उसके पराक्रम को कुंभकर्ण और मेघनाद के पराक्रम से अधिक दिखलाने के अभिप्राय से इन्होंने पहले विभीषण से यह विचार कराया कि रथी रावण से राम पैदल न लड़ सकेंगे, और फिर इंद्र से भी यही सोच-विचार कराकर रथ भिजवा दिया। कुंभकर्ण और मेघनाद के युद्ध में कभी इसका विचार भी किसी को नहीं हुआ था। केशवदास ने भी कुछ यही समझकर लिखा है—

"चढ़ि हनुमंत पर रामचंद्र तब रावण रोप्यो जाई।"

वाल्मीकि ने रावण की चलाई शक्ति लक्ष्मण के लगने पर द्रोणाचल मँगवाया है। गोस्वामीजी ने यह महत्त्व इस कारण मेघनाद को दिया कि रावण का गुरुत्व वह भली भाँति स्थापित करनेवाले थे ही, अतः मेघनाद को कुछ भी बड़ाई न मिलने पर

उसका वीरत्व बिलकुल फीका पड़ जाता । छठे दिन रावण के यज्ञ का विध्वंस किया गया, और वह बड़े क्रोध से युद्ध करने को आया। इसी दिन पहले-पहल राम-रावण-युद्ध हुआ। इस दिन रावण ने एक बार राम के सारथी और दूसरी बार घोड़ों को गिरा दिया, और दोनों बार उन्हें स्वयं राम ही ने उठाया। इससे जान पड़ता है कि युद्ध इतना विकराल हो रहा था कि किसी दूसरे को बीच में आने का साहस नहीं हुआ । प्रथम तीन दिन की लड़ाइयों में वानरों ने राम की ओर से युद्ध आरंभ किया; परंतु अंतिम दिनों में निशाचरों ही की तरफ़ से लड़ाई शुरू हुई। सातवें दिन रावण ने बड़ा प्रचंड युद्ध किया; रामचंद्र के अतिरिक्त समस्त सेना को पराजित और मूर्च्छित कर दिया । फिर बड़े ही क्रोध और उद्दंडता के साथ राम-रावण का लोमहर्षण युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध को गोस्वामीजी ने बड़ी उत्कृष्ट और प्रभावशाली भाषा में बड़ी अच्छी रीति से वर्णन किया है। यही दशा रावण के पहले दो दिन के युद्धों की भी रही थी । अंत को बहुत-से अप-शकुन होने के बाद रावण का वध हुआ । सात दिन के युद्ध में एक दिन स्फुट, एक दिन कुंभकर्ण से, दो दिन मेघनाद से और तीन दिन रावण से युद्ध हुआ है । कुछ लोगों का मत है कि गोसाईंजी का युद्ध-वर्णन शिथिल है । परंतु हमारी समझ में उसमें शैथिल्य का नाम तक नहीं है । हाँ, उन्होंने युद्ध का बहुत विस्तार नहीं किया है ।

भवभूति ने अपने महावीर-चरित्र में लिखा है कि रावण ने धनुष-भंग होने पर परशुराम को राम के विरुद्ध भेजा था, जिसमें कुछ करना न पड़े, और शत्रु-नाश हो जाय। इसी तरह ताड़का, सुबाहु, मारीच, खर, दूषण, त्रिशिरा, विराध, कबंध आदि सब रावण के ही भेजे हुए गए थे। परंतु तुलसीदास ने ये बातें नहीं लिखी हैं।

(६) गोस्वामीजी ने अपने नायक तथा उपनायकों का शील-गुण आद्योपांत एक-रस निबाह दिया है । शील का कथन करने में इन महाकवि ने पूरा ध्यान दिया है, और उसमें पूरी सफलता भी इन्हें प्राप्त हुई है—

(क) रामचंद्र को गोस्वामीजी ने सब गुणों का आकर माना है। जो कोई देखता था, वह इनके रूप को देखते ही मोह जाता था। विश्वामित्र, परशुराम, जनक, जनकपुरवासी, गुह, मार्ग के ग्रामवासी, शूर्पणखा और खर-दूषण तक इनका रूप देखकर मोहित हो गए। यह निरभिमान इतने थे कि विश्वामित्र के पैर तक दबाते थे, और सरल-स्वभाव इतने कि इन्होंने सीता को देखने और उन पर एक प्रकार से मोहित होने तक का हाल विश्वामित्र से कह दिया। गंभीरता इतनी थी कि विश्वामित्र की आज्ञा पाते ही बे-धड़क धनुष-भंग के वास्ते खड़े हो गए। इसी प्रकार, परशुराम को देखकर सब लोग डर गए थे, परंतु इनको कुछ भी हर्ष-विषाद नहीं हुआ। ब्राह्मणों को इतना मानते थे कि परशुराम के हज़ारों दुर्वाक्य सुनाने पर भी इनको क्रोध न आया। इनकी सर्वप्रियता इनके अभिषेक का विचार सुनते ही दशरथ के प्रधान कृपा-पात्र सुमंत के हर्ष-गद्गद हो जाने से विदित होती है यह भरत को सबसे बढ़कर प्यार करते थे। लक्ष्मण को भी इतना चाहते थे कि उनके पीछे नारी-हानि तक सहना इन्हें स्वीकार था। गुरु-महिमा तो इनसे कोई भी सीख सकता है। आत्म-त्याग इनमें इतना अधिक था कि इन्हें जान पड़ा—

"बिमल बंस यह अनुचित एका, अनुज बिहाइ बड़ेहि अभिषेका।"

प्रजाओं का इन पर इतना प्यार था कि इनके वियोग में उनको जीना भी भारू था। जो कोई इनको देखता था, वही इनकी सेवा करने को उद्यत हो जाता था। सच्चे प्रेम के यह इतने वश थे कि

अनार्य जाति की शबरी के जूठे बेर तक इन्होंने खाए । भक्तवत्सल यह बहुत बड़े थे—

"सुनु सुरेस रघुनाथ-सुभाऊ, निज अपराध रिसाइँ न काऊ।
जो अपराध भगत कर करई, राम-रोष-पावक सो जरई।"

भरत के आगमन पर यह इतने प्रेम-गद्गद हो गए कि—

"उठे राम अति प्रेम अधीरा; कहुँ पट, कहुँ निखंग, कहुँ तीरा।"

गोस्वामीजी ने इनके शील, संकोच और दयालुता की बार-बार प्रशंसा की है। मुनियों का कष्ट देखकर इन्होंने निशिचर-हीन मही करने की प्रतिज्ञा की। सुग्रीव की विपत्ति देखकर इनकी भुजाएँ फड़क उठीं। यह महाराज बड़े ही दृढ़-प्रतिज्ञ थे। यहाँ तक कि जब कभी इन्हें लंका-विजय में संदेह होता था, तो सीता के न मिलने का या अपनी बदनामी का उतना शोक नहीं करते थे, जितना कि विभीषण को लंका न दे सकने का। आज्ञा-पालक इतने थे कि इन्होंने स्वयं दशरथ की अनिच्छा होने पर भी उनकी आज्ञा का पालन किया। शूर्पणखा का विरूपकरण-मात्र इनका एक ऐसा कार्य है, जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता। शूद्रक मुनि का वध गोस्वामीजी ने नहीं लिखा है। बालि को ओट से मारने का कारण यह जान पड़ता है कि बड़े शत्रु को छल से भी मारने में दोष नहीं है, यह प्रमाणित करना इन्हें अभीष्ट था। रामचंद्र बालि के अनुचित आचरण के कारण उससे क्रुद्ध थे; परंतु उसने ज्यों ही दीन वाक्य कहे कि इनका सब क्रोध तुरंत शांत हो गया। इतने दयालु होने पर भी इन्हें उचित क्रोध आता था—

"सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी; पावा राज, कोष, पुर, नारी।
जेहि सायक मैं मारा बाली, तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली।"

इनके चित्तमें कृतज्ञता इतनी अधिक थी कि इन्होंने हनुमान् से कहा—

"प्रतिउपकार करउँ का तोरा ; सनमुख है न सकत मुख मोरा।"

इनका यह प्रण था कि—

"कोटि बिप्र अघ लागइ जही, आए सरन न त्यागउँ तेही।"

इनकी शूरता, पांडित्य आदि के उदाहरण रामायण-भर में भरे पड़े हैं। गोस्वामीजी रामचंद्र को परब्रह्म का अवतार मानते थे।

(ख) श्रीसीताजी को गोस्वामीजी ने आदि-शक्ति का अवतार माना है। इनके शील-गुण में कवि ने पति-प्रेम और सभय प्रकृति को प्रधान रक्खा है। रामचंद्र के वन जाने पर भी इनसे वियोग सहा नहीं गया, और यह उनके साथ ही चली गईं। स्वयंवर में राजों का उपद्रव और परशुराम का आगमन होने पर यह बहुत डर गई थीं। मारीच की पुकार को रामचंद्र की आवाज़ समझ भय-विह्वल होकर इन्होंने मर्म-भेदी वचन तक कह डाले, और लक्ष्मण को राम के पास भेज ही दिया। रावण ने एक महीने में वध करने की इन्हें धमकी-भर दी थी; परंतु इनको सचमुच डर मालूम हुआ कि—

"मास दिवस बीते मोहिं मारिहि निसिचर पोच।"

इतनी भीरु होने पर भी इन्होंने रावण की अनुचित बात-चीत पर उसे खूब फटकारा था। इनके अतिरूपवती होने के कारण ही बहुधा इन्हें क्लेश सहना पड़ा। इनकी प्रकृति का सार निम्न-लिखित छंदों द्वारा विदित होता है—

"तब रावन निज रूप दिखावा ; भइ सभीत जब नाम सुनावा।
कह सीता धरि धीरज गाढ़ा, आइ गए प्रभु, खल, रहु ठाढ़ा।"

"जेहि विधि कपट-कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम,
सोइ छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि-नाम।"

(ग) भरत में रामचंद्र का अलौकिक प्रेम बहुत ही विशेष

था, और यह बात सब लोगों को भले प्रकार से विदित भी थी। जैसा कि स्वयं दशरथ ने कैकेयी से कहा था—

"चहत न भरत भूप-पद मेरे ; बिधि-बस कुमति बसी जिय तेरे।"

प्रजा-वर्ग में भी यदि कहीं कोई भ्रम-वश कह देता था कि भरत भी माता के कुमंत्र में शरीक हैं, तो दूसरे तुरंत ही उसकी बात का खंडन कर देते थे। भरत का प्रेम गोस्वामीजी ने उस चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, जिससे विशेष वर्णन करना प्रायः असंभव है। उसको कवि ने यहाँ तक वर्णन किया है—

"अगम सनेह भरत, रघुबर को ; जहँ न जात मन बिधि, हरि, हर को।"

इन्होंने बड़े गंभीर होने पर भी अपनी माता की कुटिलता देखकर उन्हें बुरा-भला कहा, जो अनुचित भी नहीं है। इतनी अधिक अपराधिनी होने पर भी मंथरा को जब शत्रुघ्न मारने लगे, तो इन्होंने उसको छुड़ा दिया। गोस्वामीजी ने इनकी बुद्धिमत्ता और वक्तृत्व-शक्ति के भी अच्छे उदाहरण दिखलाए हैं। स्वार्थ-त्याग की मात्रा इनमें इतनी अधिक थी कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। जिस राज्य के लिये राजों में प्रतिदिन झगड़े-बखेड़े हुआ करते हैं, और जिसके कारण भाई-भाई और बाप-बेटों तक में युद्ध हुआ करते हैं, उसी राज्य को पाकर भी छोड़ देना इन्हीं के समान महानुभाव का काम था। स्वार्थ-त्याग का इससे बढ़कर उदाहरण इस स्वार्थी संसार में मिलना कठिन है। अपने उत्तरदायित्व को यह इतना समझते थे कि अंत में जब रामचंद्र ने वनवास या अयोध्या के लौटने का निर्णय इन्हीं पर छोड़ दिया, तब इन्होंने लौटने के लिये हठ नहीं किया ; क्योंकि पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना घोर पाप था। इनमें पराक्रम भी असीम था। इनके एक ही बिना फल (गाँसी) के बाण से हनुमान्-जैसा वीर भी गिर पड़ा, जिस पर इन्होंने उनसे कहा—

"चढ़ु मम सायक सैल समेता ; पठवउँ तोहिं जहँ कृपानिकेता ।"

गोस्वामीजी को इनके पराक्रम-वर्णन का अवसर कभी नहीं मिला, अतः उन्होंने इस स्थान पर इन्हीं दो-चार छंदों द्वारा इनका बल भली भाँति दिखला दिया। यह हनुमान् के गिरने की घटना गोस्वामीजी ही के मस्तिष्क से निकली है। कृत्तिवास ने इसे कुछ और भी बढ़ा दिया है। इनका रूप रामचंद्र से इतना मिलता-जुलता था कि इन्हें तथा रामचंद्र के पहचानने में लोग धोखा खा जाया करते थे। यद्यपि समस्त अयोध्या-कांड में भी रामचंद्र की प्रधानता वर्तमान है, तथापि अयोध्या-कांड के उत्त-रार्द्ध के वास्तविक नायक महात्मा भरत ही हैं। हम इन्हीं के साथ अयोध्या में जाते, फिर जाकर रामचंद्र से मिलते और वन का परि-भ्रमण करके ससैन्य अयोध्या को लौट आते हैं। अयोध्या-कांड के द्वितीयार्ध में यही वर्णन है। उसमें राम का वर्णन उतना ही है, जितना कि वह भरत से संबंध रखता है। अंत में गोस्वामीजी कहते हैं—

"भरत-चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं ;
सीय-राम-पद-प्रेम, अवसि होइ भवरस-बिरति।
पूरन भरत-प्रीति मैं गाई ; मति-अनुरूप अनूप सुहाई।
अब प्रभु-चरित सुनहु अति पावन, करत जो बन सुर-नर-मुनि-भावन।"

गोस्वामीजी ने भरत को ईश्वर का चतुर्थांश माना है। सरस्वती ने इंद्र से भरत के विषय में कहा है—

"मोसन कहत भरत-मति फेरू ; लोचन सहस न सूझ सुमेरू।"

इस वाक्य से गोस्वामीजी ने यह भी स्पष्टता-पूर्वक कह दिया कि बुराई का प्रभाव केवल दुर्बल-चित्त मनुष्यों पर ही पड़ता है, न कि दृढ़-चित्त महानुभावों पर। वास्तव में गोस्वामीजी ने सब बातों में भरत को राम का प्रतिबिंब माना है। भरत के विषय में श्रीराम स्वयं लक्ष्मण से कहते हैं—

"तात तुम्हारि सपथ, पितु आना ; सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना।"

(घ) लक्ष्मण में रामचंद्र की आज्ञा के पालन और स्नेह के भाव खूब ही मिल गए थे। इन्होंने राम के लिये माता, पिता, भाई, स्त्री, राज्य-सुख आदि सभी कुछ छोड़ दिया। जिस समय राम के साथ यह वन को जानेवाले थे, और इन्हें भय था कि वह ले जायँ या न ले जायँ, वहाँ यह—

"कहि न सकत कछु, चितवत ठाढ़े ; दीन मीन जनु जल ते काढ़े।"

इनको अधिक बातचीत करना पसंद न था। यह वाक्य-शूर न होकर कर्म-शूर थे। जब राम ने समुद्र से रास्ता माँगा, तब इन्हें बुरा लगा, और जब उसे धमकाने को धनुष-बाण उठाया, तब यह प्रसन्न हुए। कर्म-शूरता और युद्ध-शूरता के साथ-ही-साथ इनमें क्रोध की मात्रा भी अधिक थी। यहाँ तक कि यह दासियों तक को पीटा करते थे—

"हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे ; दीन्हि लषन सिष अस मन मोरे।"

जिस समय स्वयंवर में जनक ने पृथ्वी को वीर-विहीन कह दिया, उस समय इन्हें पूरा क्रोध हो आया था। इसी प्रकार राजों की युद्ध-चेष्टा को देखकर भी इन्हें क्रोध हो आया था। राम के वनवास से इन्हें दशरथ, कैकेयी और भरत पर अत्यंत क्रोध था। यहाँ तक कि स्वयं सुमंत के सम्मुख इन्होंने दशरथ के प्रतिकूल कटु वाक्य कह दिया। और भी—

"कहँ लगि सहिय, रहिय मन मारे ; नाथ साथ, धनु हाथ हमारे।
आय बना भल सकल समाजू ; प्रकट करौं रिस पाछिलि आजू।"
"कैकयि कहँ पुनि-पुनि मिले जिय कर छोभ न जाय।"

इनमें चपलता की मात्रा भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। यह परशुराम से राम के सामने ही लड़े पड़ते थे। इसी प्रकार राम को थोड़ा-सा भी क्रोधित देखकर यह सुग्रीव को मार डालने के लिये उद्यत

हो गए। साहसी इतने थे कि कोई कैसा भी बली क्यों न हो, उससे लड़ने को प्रस्तुत हो जाते थे। इन्होंने यहाँ तक कह डाला कि यदि शंकर भी सहाय करें, तो भरत को और वैसे ही मेघनाद को मार डालूँगा। मेघनाद को इन्हीं ने मारा।

(ङ) हनुमान् अनुपम भक्त, बली और साहसी थे। इनको राम-काज जितना प्रिय था, उतना अपना जीवन भी न था। इन्हों-ने सुरसा से कहा कि मैं सीता की सुधि राम को सुनाकर फिर तेरा आहार बनने का तुझे वचन देता हूँ, परंतु तू मुझे अभी जाने दे। जानकी से अजर, अमर और बलनिधि होने का वर पाकर यह उतने प्रसन्न नहीं हुए, जितने यह सुनकर कि राम तुम पर कृपा करेंगे। सुग्रीव के राम-काज भुला देने पर इन्हीं ने उन्हें सचेत किया था। जामवंत से अपने बल की प्रशंसा सुनकर इनका इतना साहस बढ़ा कि यह पर्वताकार हो गए। रामचंद्र को इन्हीं पर अधिक भरोसा था, अतः जब सब वानर, भालु जानकी को खोजने जा रहे थे, तब उन्होंने इन्हीं को मुद्रिका दी। कठिन कार्य के करने को सदा इन्हीं की नियुक्ति होती थी—यथा, समुद्र-पार जाना, लंका से सुषेण वैद्य को लाना, लक्ष्मण के वास्ते रात-भर में ही द्रोणाचल से औषध लाना आदि। यह बलवान् इतने थे कि द्रोणाचल को उठा लिया, और एक-ही-एक मुष्टिक मारकर मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण आदि वीर भटों तक को गिरा दिया। यह महाशय जहाँ कठिन कार्यों के लिये भेजे जाते थे, वहाँ सहज या आनंद के कार्यों पर भी जाने का इन्हीं का हक़ समझा जाता था। लंका में विजय-वार्ता सुनाने को जानकी के पास और नंदिग्राम में रामागमन की ख़बर सुनाने को भरत के पास भी यही भेजे गए थे। यह सौभाग्य इन्हीं को प्राप्त हुआ कि भरत, लक्ष्मण आदि के होते हुए भी अयोध्या में यही पूजित हुए, और वहाँ हनुमान्‌गढ़ी आज तक वर्तमान है।

गोस्वामीजी ने लिखा है कि हनुमान् का नाम लेते ही भूत-प्रेत निकट नहीं आते। बाहु-पीड़ा-निवारणार्थ गोस्वामीजी ने इन्हीं की स्तुति की है।

(च) अंगद भी रामचंद्र के सच्चे भक्त थे। बालि मरते समय रामचंद्र को इनकी बाँह पकड़ा गया था। इनके चातुर्य और बल पर सबको भरोसा था। जिस समय संपाति से डरकर सब वानरों के प्राण सूखे जाते थे, और किसी को कोई उपाय नहीं सूझता था, उस समय इन्हीं ने जटायु का हाल कहकर सबके प्राण बचाए थे। रावण के यहाँ राम-दूत होकर जाने का सम्मान सर्वसम्मति से इन्हीं को प्राप्त हुआ, और राम ने इनकी बुद्धि पर पूरा भरोसा करके कहा—

"बहुत बुझाय तुमहिं का कहऊँ ; परम चतुर मैं जानत अहऊँ।
काज हमार, तासु हित होई ; रिपु सन किहेहु बतकही सोई।"

अतः रामचंद्र ने इनके विचारों की कोई भी सीमा नहीं रक्खी थी, और पूरा अधिकार देकर इन्हें लंका भेजा था। रावण की बातों का बरज़स्ता उत्तर देना इनकी चतुरता को प्रकट करता है। जब इन्होंने पावँ रोपा, और वह किसी से न उठा, तब स्वयं रावण उसे उठाने को चला। उस समय इन्होंने बड़ी ही चतुरता से पैर हटाकर उसको यह मुँह-तोड़ उत्तर दिया—

"मम पद गहे न तोर उबारा।"
"गहसि न राम-चरन सठ जाई।"

इनके पैर को कोई भी न उठा सका। गोस्वामीजी ने इनको भी हनुमान् के समान दिखाने के अभिप्राय से इनके हाथ से भी लंका में रावण के एक पुत्र का वध कराया है। एक बार इन्होंने रावण को भी गिरा दिया था। गोस्वामीजी ने इनका युद्ध हनुमान् के समान ही वर्णन किया है। केवल समुद्र के उल्लंघन में कहला दिया—

"अंगद कहा, जाउँ मैं पारा ; जिय संसय कछु फिरती बारा।"

इनको राम ने किष्किंधा का युवराज नियत किया था। इनका शील-गुण भी हनुमान् की छाया-सा था।

(छ) राम ने बालि-वध कर सुग्रीव को राजा बना दिया था। यद्यपि स्वभाव से यह साधु थे, परंतु राज्य पाने पर कुछ विषय-वश हो गए। पीछे हनुमान् के समझाने से यह तुरंत सँभल गए, और इन्होंने जानकीजी की खोज करने को चारों ओर वानर भेजे। इन्होंने यहाँ तक कहा कि—

"बिषय मोर हरि लीन्हेसि ज्ञाना।"

(ज) विभीषण को गोस्वामीजी ने राम का बड़ा भारी भक्त माना है। इन्होंने रावण से बिगड़कर राम का आश्रय ग्रहण किया, और फिर निशाचरों का संहार कराने में पूरा योग दिया। इनका भाई-भतीजों के मारे जाने की युक्तियाँ बताना हमको अच्छा नहीं लगा। इनको अनार्य-जाति की जातीयता का बिलकुल ध्यान न था। यह रावण से बिगड़कर जब रामचंद्र के पास चले गए, तब उसके बाद तो चाहे इनके बचाव में कुछ कहा भी जा सके, पर सुंदर-कांड में जो हनुमान् को इन्होंने सीता का पता दे दिया, और फिर हनुमान् को मारे जाने से बचाकर उनकी पूँछ जलाने-भर की सलाह दी, उससे यह अवश्य राज-द्रोह और विश्वास-घात के दोषी हुए। इनका चरित्र भक्ति के अतिरिक्त बड़ा निंद्य है। हमने केशवदास की समालोचना में इनके चरित्र की पूरी आलोचना की है। विशेष वहीं देखिए।

(झ) जामवंत ऋक्षराज थे। इनकी वृद्धावस्था और बुद्धि की प्रखरता के कारण राम ने इन्हें मंत्री बनाया था। सब कामों में इनका मत माना जाता था। परम वृद्ध होने पर भी इनका पराक्रम ऐसा था कि इन्होंने मेघनाद को मूर्च्छित कर दिया

और इनकी लात खाकर रावण भी अर्द्ध-रात्रि-पर्यंत अचेत पड़ा रहा। इन्हीं ने प्रोत्साहित करके हनुमान् को लंका में भेजा, और अंगद को यह कहकर रोक लिया कि—

"किमि पठवउँ सब ही कर नायक।"

(ञ) रावण लंका का राजा और रामचंद्र का प्रधान शत्रु था। इसने सीता-हरण करके रामचंद्र को अपार दुःख दिया। यह ब्राह्मणों का नहीं, बल्कि देवतों का ही शत्रु था। ब्राह्मणों को केवल इसी कारण सताता था कि उनके यज्ञादि न कर सकने से देवगण दीन, हीन होकर आप ही पस्त हो जायँगे। रामचंद्र से यह इसी विचार से लड़ा था कि यदि वह परमेश्वर हों, तो उनके हाथ से मरकर समर में अमर-गति प्राप्त करे, और यदि कोई मनुष्य ही हों, तो दोनों भाइयों को जीतकर उनकी स्त्री हर ले। इस पुरुष-रत्न में शौर्य, पराक्रम, आत्म-निर्भरता, अभिमान और राजनीतिज्ञता कूट-कूटकर भरी थी। इसका साहस अतुलनीय था। सूझ भी प्रथम श्रेणी की थी। यहाँ तक कि यह बात का समुचित उत्तर तत्काल ही दे देता था। विवाद में इसकी बुद्धि बड़ी ही पैनी थी। राजनीतिज्ञता तो यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि अपने मतलब के लिये मारीच-जैसे छोटे आदमी से भी प्रणाम करके मिला, और उसके गड़बड़ करते ही साम-दाम की बात एकदम किनारे रखकर उस भयंकर अस्त्र का प्रयोग कर बैठा, जिससे मारीच को फिर ज़बान हिलाने की भी हिम्मत नहीं हुई। रामचंद्र का पत्र इसने बाएँ हाथ से लिया, और चारों वेद तक का पूर्ण पंडित होने पर भी उसे स्वयं न पढ़ मंत्री से ही बँचवाया। राजनीति के मामले में यह अनुचित-उचित का वैसा अधिक विचार नहीं करता था, और राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में ही इसने सीता-हरण कर डाला। संभव है, रावण ने यह सोचकर ऐसा किया हो कि उसकी

मान-हानि तो शूर्पणखा के नाक-कान कटने से हो ही चुकी थी—अतः वह भी अवश्य शत्रु की मान-हानि कर ले। कारण, यदि शत्रु प्रबल हुआ, तो खुले तौर पर ऐसा हो सकना असंभव था।

शूरता इसमें इतनी अधिक थी कि रामचंद्र से युद्ध करते हुए भी इसने उनकी समस्त सेना को कई बार पराजित कर दिया। बाण-विद्या में श्रीराम से और मल्ल-युद्ध में हनुमान् से यह पूरी सरबर करता था। यहाँ तक कि इससे लड़ने में अंजनीकुमार का भी दम उखड़ गया, और उनके लिये 'संकट' आ पड़ा। आत्म-निर्भरता का यह हाल था कि यों भी यह 'सहज अशंक' कहलाता था। श्रीराम की चढ़ाई का हाल जानकर भी यह नृत्य देखता रहा, और सबके मर जाने पर बोला—

"निज भुज-बल मैं बैर बढ़ावा ; देहौं उतर, जो रिपु चढ़ि आवा।"

यह मरते-मरते भी कहता रहा—

"कहाँ राम, रन हतौं प्रचारी।"

मंदोदरी के रोने-गाने और समझाने-बुझाने को यह इतना तुच्छ समझता था कि उसे सिवा हँसकर टाल देने के इसने कभी ध्यान देने लायक़ ही न समझा। मेघनाद और कुंभकर्ण के मरने पर यह अवश्य रोया; पर स्त्रियों को रोते देखते ही रोना बंद कर उन्हें समझाने लगा। अभिमान की मात्रा इसमें इतनी अधिक थी कि अपने मस्तक में ब्रह्मा का यह लेख बाँचकर कि 'मैं मनुष्य के हाथ से मारा जाऊँगा,' यह हँस पड़ा, और ब्रह्मा को इसने सठिया गया समझ लिया। जटायु को देखकर सोचा—

"मम कर-तीरथ छाँड़िहि देहा।"

वैसे ही विभीषण के विषय में यही कहता था कि—

"करत राज लंका सठ त्यागा ; होइहि जब कर कीट अभागा।"

रामचंद्र को सिवा 'तपसी', 'तापस' आदि के कभी और कुछ

नहीं कहा । शौर्य, आत्मनिर्भरता और अभिमान के कारण यह कभी किसी की सलाह या उपदेश नहीं मानता था। यहाँ तक कि इसने मारीच, विभीषण, प्रहस्त, शुक, मंदोदरी, कुंभकर्ण, माल्यवान् एवं कालनेमि-जैसे हितुओं की सलाह पर भी कभी ध्यान नहीं दिया। इसने एक काम बहुत ही बेजा किया कि विभीषण के लात मार दी। वाल्मीकि का वर्णन पढ़ने से विभीषण का और भी अधिक दोष सिद्ध होता है। हनुमान् की सुंदर-कांडवाली भारी वक्तृता के उत्तर में रावण ने क्या ही चतुरता से कहा है—

"मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी।"

इसके मुकुट गिर पड़ने पर जब सभासदगण घबराए, तब यह कैसी चतुरता से बोला कि—

"सिरहु गिरे संतत सुभ जाही, मुकुट गिरे कस असगुन ताही?"

इसने रामचंद्र की बहुत-सी बातें सुन यही कहा कि—

"बैर करत तब नहिं डरे, अब लागत प्रिय प्रान।"

निदान तुलसीदास रावण को, राम का वैरी होने के कारण, जा-बेजा तो सदा ही कहा करते थे, पर इसका शील-गुण उन्होंने बहुत ही अच्छा निबाहा है।

(ट) मंदोदरी के शील-गुण में भय और अहवात की रक्षा ही प्रधान है। भय और स्नेह के मारे यह रावण को बहुत कड़ी-कड़ी बातें तक, समझाते-समझाते, कह बैठती थी; पर उसने इसकी बातों पर कभी यथेष्ट ध्यान नहीं दिया।

(ठ) कुंभकर्ण रावण का छोटा भाई था। पर रावण इसकी बड़ी इज़्ज़त करता था। यहाँ तक कि इसके 'शठ' कह देने पर भी रावण कुछ न बोला। यह बड़ा ही प्रबल वीर था। रावण को इसका बड़ा भरोसा था। इसमें अकेले ही एक सेना के बराबर

शक्ति थी। तभी तो यह रामचंद्र और उनकी समस्त सेना से लड़ने को निहत्था और अकेला ही चल खड़ा हुआ।

(ड) मेघनाद में अद्वितीय पितृ-भक्ति और शूरता, ये प्रधान गुण थे। रावण ने इससे जब जो कुछ भला-बुरा करने को कहा, इसने बिना आगा-पीछा सोचे वैसा ही किया। और सबने तो रावण को रामचंद्र से न लड़ने के लिये समझाया, पर इसने ऐसा कभी विचारा तक नहीं। तभी तो रावण इसके मरने पर यही कहकर विलाप करने लगा—

"हा सुत संतत आज्ञाकारी।"

यह इंद्र तक को जीत चुका था; जिससे रावण को इसका बड़ा भरोसा था। सुंदर-कांड में हनुमान् की बड़ी बहादुरी की बातें सुनकर भी रावण जानता था कि मेघनाद को जो आज्ञा दी जायगी, उसे वह पूरी ही करेगा। इसी से उसने कह दिया था—

"मारेसि जनि सुत, बाँधेसि ताही।"

कुंभकर्ण के मरने पर जब रावण विकल हुआ, तब भी पितृ-भक्त मेघनाद ने यही कहकर समझाया—

"देखेहु कालिह मोरि मनुसाई।"

इसका शील-गुण बहुत ही निर्दोष दिखलाया गया है।

(ढ) दशरथ के विषय में कहा जा सकता है कि उत्कट पुत्र-स्नेह और सत्य-प्रियता मानो इनके हिस्से में पड़ी थी। पर वृद्धावस्था तक यह कामी बने रहे। इन्होंने यहाँ तक कहा कि मैं चाहे नरक जाऊँ, पर राम मेरी निगाह की ओट न हों। वचन फेर लेने का इन्हें इतने पर भी ध्यान न आया। अंत को इन्होंने इसीलिये प्राण ही दे दिए।

(ण) कौशल्या और देवियों के शील-गुण में गोस्वामीजी ने रत्ती-भर भी भेद नहीं रक्खा है। यद्यपि कैकेयी ने राम

को वनवास दिया, तथापि कैकेयी को इन्होंने राम की माता ही कहा—

"जो पितु-मातु कहेँ वन जाना, तौ कानन सत अवध समाना।"

दशरथ का स्वर्गवास हो जाने पर भी जब भरत आए, तो यह उनसे मिलने के वास्ते उठकर दौड़ीं। यह दशरथ के साथ सती हो जाना चाहती थीं; पर भरत के कहने तथा राम के दर्शन की अभिलाषा से रह गईं। इन्होंने भरत से राज्य स्वीकार करने के लिये बहुत हठ किया। इससे इनका महत्त्व प्रकट होता है। निम्न-लिखित दोहे से यह जान पड़ता है कि इन्हें भरत के आत्म-हत्या कर लेने का भय था—

"लखन, राम, सिय जाहिं बन, भल परिनाम, न पोच;
गहबरि हिय कह कौसिला, मोहिं भरत कर सोच।"

पुत्र-वधू से इनका व्यवहार अनुकरणीय था। इन्होंने कभी किसी को कोई अनुचित बात नहीं कही। धैर्य की मात्रा इनमें बहुत अधिक थी।

(त) कैकेयी पहले राम को बहुत चाहतीं और प्यार करती थीं। पर, शायद, उनके चित्त में कुछ संदेह भी कभी था; क्योंकि यह उनकी "प्रीति-परिच्छा" ले चुकी थीं। इनका चित्त ऐसा अभिमानी था कि यह कहती थीं—

"नैहर जन्म भरब बरु जाई, जियत न करब सवति-सेवकाई।"

यह हृदय की बुरी न थीं। क्योंकि इन्होंने—

"अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन।"

सौतिया-डाह तो इन्हें बिलकुल न था। यहाँ तक कि रामचंद्र के युवराज होने के विषय में दशरथ ने इनकी सम्मति लेने की कुछ भी आवश्यकता नहीं समझी। इन्होंने पहले यह ख़बर सुनकर आनंद मनाया, और कहा—

"रामहि तिलक साँचु जो काली, माँगु, देहुँ मनभावत आली।"

अंत को इनके द्वारा रामचंद्र को दुःख-कष्ट उठाना पड़ा। इस कारण गोस्वामीजी से इन्हें गाली दिए बिना नहीं रहा जाता। साथ ही, भरत की माता होने के कारण, इनका बचाव भी करना ही पड़ता है, और इसके लिये शारदा द्वारा मति पलटने की एवं भावी इत्यादि की बातें लानी पड़ती हैं। तो भी कहना ही पड़ता है कि गोस्वामीजी से, राम-भक्ति के मारे, इनका शील-गुण ठीक-ठीक नहीं दिखलाते बना। उन्होंने इन्हें पहले देवी-सी कहकर अंत को पूरी पिशाची बना दिया, और महाअनुचित बातें इनके मुँह से कहलाईं।

(थ) सुमंत का इतना सम्मान था कि रामचंद्र इनको पिता के समान मानते थे। यह महाशय जाति के सूत थे। शायद इसी कारण गोस्वामीजी ने इनके कुल का परिचय नहीं दिया। यह राम से इतना सच्चा स्नेह रखते थे कि राम के वनवास पर इनको वास्तव में बड़ा ही क्लेश हुआ। रामचंद्र के यहाँ घर के बड़े-बूढ़ों के समान इनका मान होता था।

(द) निषाद-पति गुह को रामचंद्र से ऐसा सच्चा स्नेह था कि उनके वास्ते यह भरत से लड़कर मरने को तैयार हो गया था, और भरत के साथ मार्ग में चलने में इतना प्रेम-मग्न हो गया था कि चलते-चलते रास्ता भूल गया।

(ध) शिव रामचंद्र के अनन्य दृढ़ भक्त थे। यहाँ तक कि इन्होंनें सती-सी स्त्री को इसी अपराध पर त्याग दिया कि उन्होंने सीता का रूप धारण करके राम की परीक्षा ली थी। यह रामचंद्र के बाल-रूप के भक्त थे। यह प्रभाव में राम से कम, परंतु और सबसे बड़े थे। रामचंद्र का ध्यान करते ही शिव प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। यह अपना अपमान सह लेते

थे ; परंतु और किसी माननीय को न मानने का अपराध क्षमा नहीं कर सकते थे।

(८) काकभुशुंड भी राम के बाल-रूप के अनन्य भक्त थे। जब गरुड़ का भ्रम किसी से दूर न हो सका, तब महादेव ने उनको इनके पास भेजा। वहाँ जाने पर उनका संदेह पूर्णतया निवृत्त हो गया।

शिव, काकभुशुंड और गोस्वामीजी की भक्ति में कोई भेद नहीं था। इन तीनों की उपासना सब तरह समान थी।

(१०) गोस्वामीजी ने विप्रगण की महिमा का सदा गान किया, और यह कहा कि गुणी अथवा गुणहीन, सब प्रकार के ब्राह्मण पूज्य हैं। इन्होंने अन्य कवियों की भाँति द्विज-शब्द से ब्राह्मण का बोध कराया है, यद्यपि वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनों द्विज हैं। यह कहते हैं कि विप्र-कोप से कोई भी नहीं बचा सकता, और कुल-भर का नाश हो जाता है। अंतिम बात पर इन्होंने बड़ा ज़ोर दिया है। विवाह के समय महादेव और राम ने पहले ब्राह्मणों को प्रणाम करके तब कुछ किया। युद्ध करने के प्रथम राम ने—

"विप्र-चरन-पंकज सिर नावा"

यह कहते हैं—

"मंगल-मूल बिप्र-परितोषू ; दहै कोटि कुल भूसुर-रोषू।"

"सापत, ताड़त, परुष कहंता, बिप्र पूज्य, अस गावहिं संता।
पूजिय बिप्र सील-गुन-हीना ; नाहिन सूद्र गुन-ज्ञान-प्रबीना।"

"सब द्विज देहु हरषि अनुसासन, रामचंद्र बैठहिं सिंहासन।"

"पुन्य एक जग महँ, नहिं दूजा, मन क्रम बचन बिप्र-पद-पूजा।
सानुकूल तेहि पर सब देवा, जो तजि कपट करइ दुज-सेवा।"

"सुनु मम बचन सत्य अब भाई, हरि-तोषक ब्रत दुज-सेवकाई।

अब जनि करसि बिप्र-अपमाना ; जानसि बरम्ह अनंत समाना ।
इंद्र-कुलिस, मम सूल बिसाला , काल-दंड, हरि-चक्र कराला ।
जो इन कर मारा नहिं मरई , बिप्र-रोष-पावक सोउ जरई ।"
"दुज-निंदक बहु नरक-भोग करि, जग जनमइ बायस-सरीर धरि ।"

(११) गोस्वामीजी ने इंद्र तक देवतों को मनुष्यों से कुछ ही बड़ा और ऋषि-मुनियों से बहुत कम माना है । नारद ने जब काम को जीतने का हाल इंद्र की सभा में कहा, तब नारद के इस महत्त्व पर सब देवतों को बड़ा आश्चर्य हुआ । देवता बड़े स्वार्थी और कभी-कभी कपटी भी हो जाते हैं । उनको राक्षसों से इतना भय था कि यद्यपि वे राम को परमेश्वर जानते थे, तथापि निशा-चरों के युद्ध में उन्हें राम-पराजय का भय उपस्थित हो जाता था । यहाँ तक कि वे दो-एक बार मारे भय के भागे, और ऋषि-मुनि ऐसे अवसरों पर भी स्थिर रहे । यथा—

"देव, दनुज, नर, किन्नर, ब्याला , प्रेत, पिसाच, भूत, बैताला ।
तिनकी दसा न कह्यों बखानी , सदा काम के चेरे जानी ।
सिद्ध, बिरक्त, महामुनि, जोगी , तेऽपि काम-बस भए बियोगी ।"

*　　*　　*

"सकल कहहिं, कब होइहि काली ; बिघन मनावहिं देव कुचाली ।
ऊँच निवास, नीचि करतूती ; सकहिं न देखि पराइ बिभूती ।
बार-बार गहि चरन सकोची ; चली बिचारि बिबुध-मति पोची ।"

*　　*　　*

"कपट-कुचालि-सीवँ सुर-राजू , पर-अकाज प्रिय आपन काजू ।
काक-समान पाकरिपु-रीती ; छली, मलीन, न कतहुँ प्रतीती ।
लखि, हँसि हिय, कह कृपानिधानू ; सरिस स्वान मघवा निज बानू ।"

इन वर्णनों को वेद की वंदनाओं से मिलाने पर कैसा आश्चर्य होता है ?

(१२) गोस्वामीजी अन्य सभी देवतों का पूजन केवल इसी मतलब से करते थे कि उनके सहारे श्रीराम की भक्ति प्राप्त और दृढ़ हो। यहाँ तक कि शिव की भी वंदना इन्होंने कभी किसी अन्य कारण से नहीं की। यथा—

"भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ;
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतस्थमीश्वरम्।"

* * *

"सिव-सेवा कर फल सुत सोई, अविचल भक्ति राम-पद होई।"

विनय-पत्रिका में गणेश, सूर्य, शिव और अन्य सभी देवतों की स्तुति करने में गोस्वामीजी केवल राम-भक्ति का वर माँगते थे, और कुछ नहीं।

तुलसीदास राम-भक्त का यह एक लक्षण मानते थे—

"बिनु छल बिस्वनाथ-पद नेहू।"

इसके अनेक उदाहरण हैं।

बाल-कांड के प्रारंभ में कवि ने महादेव की इतनी बड़ी कथा इस कारण से लिखी है कि श्रोता की राम-कथा सुनने की पात्रता विदित हो जाय। यथा—

"प्रथम कह्यौं मैं सिव-चरित, बूझा मरम तुम्हार ;
सुचि सेवक तुम राम के, रहित समस्त बिकार।"

इनका यह विचार था कि—

"पूजनीय, प्रिय परम जहाँ ते, मानिय सकल राम के नाते।"

इसी कारण यह शिव, भरत, कौशल्या, दशरथ, हनुमान् इत्यादि को इतना मानते थे। और क्या कहें, सीता भी इसके परे न जा सकीं—

"सुमिरत रामहि तजहिं जन, तिनु सम बिषय-बिलासु ;
राम-प्रिया, जग-जननि सिय, कछु न आचरज तासु।"

देवतों में यह शिव को राम का सबसे बड़ा भक्त मानते थे, और इसी से उन्हें सबसे बड़ा देवता कहते हैं। यहाँ तक कि उन्हें विष्णु से भी बड़ा दिया है। जिस समय सब देवता विष्णु के साथ शिव से ब्याह करने की प्रार्थना करने आए, तब शिव ने उनको अन्य देवतों से पृथक् भी न माना। वह यही बोले—

"कहहु अमर, आयहु केहि हेतू ?"

फिर विष्णु को उनसे बात करने तक की हिम्मत न हुई। सबकी ओर से ब्रह्मा ने कहा कि देवगण शिव का विवाह देखने को उत्सुक थे। इस स्थान पर विष्णु शिव से बहुत ही छोटे दिखलाए गए हैं। इसके पहले परब्रह्म श्रीराम शिव को विवाह करने का आदेश कर गए थे, और उनसे शिव ने कहा था—

"नाथ-बचन पुनि मेटि न जाहीं।"

और—

"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा, परम धरम यह नाथ हमारा।"

इसी से तो ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवतों की विनती सुनकर महादेव ने—

"××× समुझि प्रभु बानी। ऐसेइ होउ कहा सुख मानी।"

तुलसीदास राम और विष्णु में इतना बड़ा अंतर समझते थे कि शिव राम के दास थे, और विष्णु भी शिव के वैसे ही दास थे। विष्णु अर्थात् हरि और शिववाला अंतर विनय-पत्रिका में यों दिखलाया गया है—

"जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं,
बेद-बिदित तेहि पद पुरारि-पुर कीट, पतंग समाहीं।"

एवं—

"सिद्ध-सनकादि-योगींद्र-वृंदारका-बिष्णु-बिधि-वंद्य-चरणारबिंदम्।

यह शिव हैं। इधर राम का यह हाल है कि—

"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिए दसमाथ,
सो संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ।"

शिव, काकभुशुंड एवं गोस्वामीजी के प्रभु और कोई नहीं, "दशरथ-अजिर-विहारी" राम ही थे। यथा—

"पुरुष प्रसिद्ध, प्रकास-निधि, प्रकट परावर-नाथ;
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ।"

(१३) निर्गुण और सगुण ब्रह्म। गोस्वामीजी सगुण ब्रह्म के उपासक थे। इनका मत था कि निर्गुण ब्रह्म ध्यान-गम्य नहीं है, और सगुण ब्रह्म का ध्यान करना सहज है। जितने भक्त महानुभावों का वर्णन इन्होंने किया है, उन सभी को सगुणोपासक ही रक्खा है। यथा—शिव, काकभुशुंड, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि। यहाँ तक कि भगवान् वेद को भी इन्होंने सगुण-वादी माना है। इनके मत से सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहते, और न ईश्वर में लीन होते हैं—

"ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ; प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ।"

"वेदा ऊचुः—
जे ब्रह्म, अज, अद्वैत, अनुभव-गम्य मन पर ध्यावहीं,
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।"

"सगुन-उपासक परम हित, निरत नीति दृढ़ नेम,
ते नर प्रान समान मोहिं, जिनके द्विज-पद-प्रेम।"

(१४) गोस्वामीजी ने रामचंद्र को परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप माना है। उनको ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि का स्रष्टा और शासनकर्ता कहा है, तथा सर्व-व्यापी, अनीह, अनाम, अरूप परब्रह्म का अवतार वर्णन किया है। इन्होंने सती तथा काकभुशुंड के मोह में ब्रह्मा, विष्णु और महेश इत्यादि के अनेक रूप वर्णन किए हैं; परंतु राम

का रूप कहीं भी दूसरा नहीं कहा। इन्होंने जगत् को प्रकाश्य और राम को जगत् का प्रकाशक, अनीह, अनंत, अज और अद्वैत माना है। परंतु परब्रह्म का रूप इन्होंने वही वर्णन किया है, जो विष्णु का है। मनु और शतरूपा रानी की कथा देखिए। इसी प्रकार सीताजी को इन्होंने आदि-शक्ति का अवतार माना है। राम और सीता के इन सब गुणों को इन्होंने सैकड़ों स्थानों पर कहा है; परंतु फिर भी इस बात पर ज़ोर देते गए हैं कि वह दशरथ-अजिरविहारी राम का वर्णन कर रहे हैं। इन सब बातों के होते हुए भी इन्होंने कहीं-कहीं राम को विष्णु और सीता को लक्ष्मी का अवतार भी कह दिया है—

"अति हरख मन, तन पुलक, लोचन सजल पुनि-पुनि कह रमा।"
"नख-निरगता, सुरबंदिता, त्रयलोक-पावनि सुर-सरी।"

इस स्थान पर कवि ने सीता-राम को लक्ष्मी-नारायण माना है। नारद-मोह के संबंध में भी इन्हें ऐसा ही भ्रम हो गया था। शेष स्थानों पर राम तथा सीता को परब्रह्म और आदि-शक्ति माना है—

"आदि सकति, जेहि जग उपजाया, सो अवतरिहि मोरि यह माया।
उमा, रमा, ब्रह्मानि बंदिता, जगदंबा, संतत अनिंदिता।
एक, अनीह, अरूप, अनामा, अज, सच्चिदानंद, परधामा।
व्यापक, बिस्व-रूप भगवाना, तेइ धरि देह चरित कृत नाना।
आदि, अंत कोउ जासु न पावा, मति अनुमान निगम अस गावा।
बिनु पग चलइ, सुनइ बिनु काना, कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आनन-रहित, सकल रस-भोगी, बिनु बानी बकता, बड़ जोगी।
तनु बिनु परस, नयन बिनु देखा, गहइ घ्रान बिनु बास असेखा।
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान,
सोइ दसरथ-सुत भगत-हित, कोसल-पति भगवान।

जगत प्रकास्य, प्रकासक रामू, मायाधीस, ज्ञान-गुन-धामू।
संभु, बिरंचि, बिष्णु भगवाना, उपजहिं जासु अंस ते नाना।
ऐसे प्रभु सेवक-बस अहई, भगत हेतु लीला-तनु गहई।
सुनि सेवक सुर-तरु सुर-धेनू, बिधि-हरि-हर-बंदित पद-रेनू।
सारद कोटि अमित चतुराई, बिधि सत-कोटि अमित निपुनाई।
बिष्णु कोटि सम पालन-करता, रुद्र कोटि-सत सम संहरता।
निरवधि, निरुपम राम सम नहिं आन निगमागम कहैं।
जिमि कोटि-सत खद्योत रबि कहँ कहत अति लघुता लहैं।"

(१५) रामचंद्र के विषय में इनके बहुत ऊँचे विचार थे ही, सो जब उनके विषय में यह कोई साधारण मनुष्यों के समान घटना का वर्णन करते थे, तब दो-एक सिफ़ारिशी बातें अवश्य लिख देते थे। ऐसे छंद रामायण में स्थान-स्थान पर भरे पड़े हैं—

"जाकी सहज स्वास स्रुति चारी, सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।
लव-निमेख महँ भुवन-निकाया, रचइ जासु अनुसासन माया।
भगत हेतु सोइ दीनदयाला, चितवत चकित धनुष-मख-साला।
जासु त्रास डर कहँ डर होई, भजन-प्रभाव देखावत सोई।
सुमिरत जाहि मिटइ भव-भारू, तेहि स्रम यह लौकिक ब्यवहारू।
निगम नेति सिव ध्यान न पावा, माया-मृग पीछे सोइ धावा।"

(१६) ज्ञान, भक्ति। गोस्वामीजी ने भक्ति का दर्जा सबसे ऊँचा रक्खा है। इस विषय पर रामायण-भर में आपने जगह-जगह पर बहुत कुछ लिखा है। आरण्य और उत्तर-कांडों में तो अपना मत साफ़-साफ़ प्रकट रूप से कहा है। यह महापुरुष अनन्य भक्त थे। भगवान् वेदव्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान-भक्ति के विषय में बहुत कुछ कहा है। उनका एवं हिंदू-दर्शनशास्त्रों का मत है कि मोक्ष-पद विना ज्ञान के नहीं मिल सकता, और भक्ति

ज्ञान दृढ़ करने का एक भारी साधन है। गोस्वामीजी ने इस मत को पूर्ण रूप से खुलासा नहीं ग्रहण किया, यद्यपि वास्तव में इसे माना अवश्य है।

यह कहते हैं, ज्ञान से केवल मोक्ष-पदवी प्राप्त हो सकती है। पर ज्ञान होना इतना कठिन है कि उसका मिलना वस्तुतः असंभव है। वह केवल घुणाक्षर-न्याय से मिल सकता है, अथच यदि कहीं मिल भी गया, तो बिना भक्ति के स्थिर नहीं रह सकता। केवल भक्ति से भी मोक्ष मिलती है। परंतु भक्ति मोक्ष का साधन-मात्र नहीं है, वरन्—

"राम-भगति सोइ मुकुति गोसाईं, अनइच्छित आवै बरियाईं।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा, संसृति-मूल अविद्या नासा।
भोजन करिय तृप्ति हित लागी; जिमि सुअसन पचवइ जठरागी।
असि हरि-भगति सुगम, सुखदाई, को अस मूढ़, न जाहि सुहाई?"

कुछ लोग गोस्वामीजी को अद्वैत-वादी समझते हैं। यही हमें भी समझ पड़ता है। कुछ महाशय रामानंदी होने से इन्हें विशिष्टाद्वैत-वादी भी मानते हैं।

इनका मत है कि क्रोध बिना द्वैत-भाव के हो नहीं सकता; क्योंकि जब जीव-मात्र ईश्वरमय अर्थात् एक हैं, तो क्रोध किस पर करे? और, जब द्वैत-मत हुआ, तो अज्ञान आ ही गया। जब मनुष्य की द्वैत-बुद्धि छूट जाती है, तब वह परमेश्वर के बराबर हो जाता है। ऐसा होना वस्तुतः असंभव है, अतः ज्ञानी होना भी असंभव है—

"क्रोध कि द्वैतक बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान;
माया-बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान।"

ज्ञान पुरुष-रूपी है, और भक्ति एवं माया स्त्री-रूपी। स्त्री और पुरुष में जल्दी प्रेम हो जाता है; परंतु स्त्री के रूप पर स्त्री नहीं

रीझती। अतः ज्ञान पर माया का प्रभाव जल्दी हो जाता है, और भक्ति पर उसका प्रभाव नहीं होता। फिर ईश्वर भक्ति के अनुकूल है, अतः भक्ति से माया डरती है, और उसके पास नहीं आती। इधर दैववशात् पूरा परिश्रम सध जाने और ज्ञान-दीपक के जल जाने पर भी स्त्री-रूपी माया अंचल-वायु से उस दीपक को बुझा देती है। जब मनुष्य पूरा विरक्त हो जाय, तभी उसे भक्त समझना चाहिए। गोस्वामीजी का यह मत समझ पड़ता है कि पूर्ण भक्ति प्राप्त हो जाने पर अविद्या-जनित अंधकार दूर हो जाता है, भक्त को विना चाहे हुए पूर्ण ज्ञान एवं मोक्ष प्राप्त होती है, और भक्ति द्वारा इतनी दृढ़ता हो जाती है कि माया उसके पास नहीं फटक सकती। परंतु भक्ति-हीन ज्ञान एक तो हो ही नहीं सकता, और यदि होता भी है, तो इतना अस्थिर रहता है कि वह थोड़े ही में माया के फंदे में पड़ जाता है। अतः ज्ञान बड़ा ही कठिन और दुष्प्राप्य है, एवं भक्ति बहुत ही सुगमता से प्राप्त हो सकती है। रामचंद्र कहते हैं, भक्त और ज्ञानी दोनों मेरे पुत्र के समान हैं; परंतु मैं ज्ञानी को प्रौढ़ और भक्त को बालक के समान समझता हूँ। अतः जिस प्रकार माता छोटे बालक की सँभाल रखती है, वैसे ही मैं भक्त की हर समय रक्षा किया करता हूँ। भक्ति सगुणोपासना से प्राप्त होती है। उसके नाम-जप और चरित्र-गान, ये दो मुख्य साधन हैं, जो कि सत्संग से प्राप्त हो सकते हैं। इसी कारण नामोपासना और ईश्वर-गुण-गान से परमेश्वर की प्रसन्नता होती है। ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करना ही भक्त की अंतिम इच्छा है, यद्यपि ऐसा करने में उसे ज्ञान और मोक्ष विना चाहे ही प्राप्त हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति कही है। यथा—(१) संतों का संग, (२) राम-कथा-श्रवण, (३) गुरु-पद-सेवा, (४) निष्कपट होकर राम-गुण-गान, (५) राम पर दृढ़ विश्वास रख-

कर नाम का जप, (६) दम, शील, विरति, सज्जनानुमोदित धर्म इत्यादि, (७) जगत् को राममय देखना, और राम से संतों को अधिक मानना (इसका प्रथमार्द्ध अनन्य भक्ति है। यथा—"सो अनन्य असि जाहि की, मति न टरै हनुमंत ; मैं सेवक सचराचर रूप-रासि भगवंत ।"), (८) संतोष करना, और पर-दोष न देखना, (६) छल-हीन होकर हर्ष-विषाद छोड़ राम का भरोसा रखना। इनमें से जिसके एक भी हो, वह परमेश्वर का प्रिय है। गोस्वामीजी के हृदय में नवधा भक्ति थी।

गोस्वामीजी ने लिखा है कि राम-भक्त चार प्रकार के होते हैं, और चारों को नाम का आधार है। इनमें ज्ञानी परमेश्वर को विशेष प्यारा है। गोस्वामीजी ने भक्ति-हीन ज्ञान का पद भक्ति से बहुत नीचा रक्खा है, और यह भी लिखा है कि भक्ति बहुत कम मनुष्यों में है। अतः इनकी रुचिवाले मनुष्यों ने और स्वयं इन्होंने जहाँ कहीं वरदान माँगा है, वहाँ भक्ति ही माँगी है। इन्होंने श्रेष्ठ मनुष्यों की इस प्रकार श्रेणियाँ बाँधी हैं, जिनका माहात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है—धर्म-व्रत-धारी, विषय-विरक्त, सम्यक् ज्ञानी, जीवन्मुक्त, ब्रह्म-निरत, विज्ञानी, भक्त।

"जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरी,
ते पाय सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।"

"सरुज सरीर बादि बहु भोगा, बिनु हरि-भजन बादि जप-जोगा।
सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञाना, करनधार बिनु जिमि जलजाना।"

"रामचंद्र के भजन बिनु, जो चह पद निरबान,
ज्ञानवंत अपि सोपि नर, पसु बिनु पूँछ, बिषान।

"भगति-हीन गुन सुख सब ऐसे, लवन बिना बहु बिंजन जैसे।"

उपर्युक्त कारणों से यह महाशय राम-नाम को रामचंद्र से भी अधिक मानते हैं। यथा—

"करहुँ कहाँ लगि नाम-बड़ाई, राम न सकहिं नाम-गुन गाई।"

गोस्वामीजी की भक्ति उनके रचित ग्रंथों में प्रत्येक स्थान पर झलकती है। भले मनुष्यों का तो कहना ही क्या, वह दुष्ट राक्षसों तक को भी भक्त ही कहते हैं, और यह बात प्रायः हर एक के मरते समय कह देते हैं कि—"मरती बार कपट सब त्यागा।" यही दशा मारीच, कालनेमि, मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण इत्यादि सभी के विषय में देख पड़ती है, यद्यपि मारीच ने मरते समय भी ज़ोर से लक्ष्मण का नाम लेकर धोखा ही दिया, और उसी धोखे में आकर सीता ने लक्ष्मण को ज़बर्दस्ती राम के पास भेजा, और स्वयं रावण के फंदे में पड़ीं।

सत्संग के बिना भक्ति विवेक और मोह-हानि नहीं हो सकती। नव प्रकार की भक्तियों में एक सत्संग भी है; परंतु राम-कृपा के बिना सत्संग भी नहीं प्राप्त हो सकता। सत्संग से कौन बड़ा नहीं होता, और कुसंग से कौन नहीं बिगड़ता?—

"को न कुसंगति पाइ नसावा? केहि न सुसंग बड़प्पन पावा?
भगति सुतंत्र सकल सुख सानी, बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।
बरु भल बास नरक कर ताता, दुष्ट-संग जनि देइ बिधाता।
राम-कथा के ते अधिकारी, जिनके सतसंगति अति प्यारी।
तात सरग-अपबरग-सुख, धरहु तुला यक अंग,
तुलइ न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सतसंग।
बिनु सतसंग न हरि-कृपा, तेहि बिनु मोह न भाग,
मोह गए बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग।"

(१७) माया गोस्वामीजी ने दो प्रकार की कही है, एक राक्षसों की, दूसरी परमेश्वर की। राक्षसों की माया केवल युद्धादि में काम आती थी। उससे युद्ध करनेवालों को मोहित एवं विस्मित किया जाता था—उन पर अस्त्र, जल, अग्नि, पवन

इत्यादि का उत्पात किया जा सकता था, और वह प्रभावशाली अस्त्रों से निवृत्त भी हो सकती थी। परमेश्वर की माया जगत् को नचाती है। यहाँ तक कि "नारद, सिव, बिरंचि, सनकादी" भी उसके फंदे में फँस जाते हैं। जीव उस माया के वश में रहता है; परंतु माया स्वयं राम के वश में है, और इसी कारण भक्ति करनेवाले को माया नहीं व्यापती। वह दो प्रकार की है, विद्या और अविद्या —

"मैं अरु मोर-तोर तै माया, जेहि बस कीन्हे देव-निकाया।
गो-गोचर जहँ लगि मनुजाई, सो सब माया जानेउ भाई।
तेहि कर भेद सुनउ तुम सोऊ, बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।
एक रचै जग गुन बस जाके, प्रभु-प्रेरित, नहिं निज बल ताके।
एक दुष्ट अतिसय दुख-रूपा; जा बस जीव परा भव-कूपा।
सो प्रभु-भ्रुव बिलास खगराजा, नाच नटी इव सहित समाजा।"

उत्तर-कांड की समालोचना के उदाहरण में भी माया का वर्णन है।

इन दोनों मायाओं के अतिरिक्त एक देवतों की भी माया है, जो साधारणतः मनुष्यों को मोहित कर सकती है। उसी ने मंथरा और कैकेयी को मोह-वश किया था। अवधवासी जब भरत के साथ राम को बुलाने वन को गए, तब वे भी उसी से मोहित किए गए थे। पर वह स्वयं भरत को नहीं मोहित कर सकी। कुंभकर्ण की मति वर माँगने के समय भी उसी से फेरी गई थी। उसका प्रयोग प्रायः शारदा को प्रेरित करके किया जाता था।

(१८) तपस्या को भी तुलसीदास ने बड़ा पद दिया है—

"तप-बल रचइ प्रपंच बिधाता, तप-बल बिष्णु सकल जग-त्राता।
तप-बल संभु करइँ संहारा, तप-बल सेष धरइँ महि-भारा।
तप-अधार सब सृष्टि भवानी, करहु जाइ तप अस जिय जानी।"

(१६) गोस्वामीजी ने स्त्रियों की हर जगह निंदा की है। यद्यपि उन्होंने सीता, कौशल्या इत्यादि की स्तुति भी की है, तथापि वह स्तुति रामचंद्र से संबंध रहने के कारण की गई है। गोस्वामीजी ने स्त्रियों को सहज जड़, सहज अपावन, अनधिकारिणी, अज्ञ आदि कहकर नारी-चरित्र को गंभीर समुद्र कहा है, और लिखा है कि स्वतंत्र होकर ये बिगड़ जाती हैं—

"उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम पर-पति देखहिं कैसे, भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे।
धरम बिचारि समुझि कुल रहहीं, ते निकृष्ट तिय, स्रुति अस कहहीं।
बिनु अवसर भय ते रह जोई, जानेहु अधम नारि जग सोई।"

इन्होंने स्त्री-संबंधी जाँच की कसौटी बड़ी कड़ी रक्खी है। इसी से विदित होता है कि यह उनसे असंतुष्ट रहते थे—

"भ्राता, पिता, पुत्र उरगारी, पुरुष मनोहर निरखति नारी।
राखिय नारि जदपि उर माहीं, शास्त्र, नृपति, जुवती बस नाहीं।
पाप उलूक निकर सुखकारी, नारि निविड़ रजनी अँधियारी।"

"अवगुन-मूल, सूल-प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।"

"ढोल, गवाँर, सूद, पसु, नारी, इन्हैं ताड़ना की अधिकारी।
नारि-सुभाव साँच कबि कहहीं, अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस, अनृत, चपलता, माया, भय, अविवेक, असौच, अदाया।
साँचु कहइँ कबि नारि-सुभाऊ, सब बिधि अगम, अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंब मुकुर गहि जाई, जानि न जाइ नारि-गति भाई।"

"का नहिं पावक जरि सकइ, का न समुद्र समाइ ;
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ?"

गोस्वामीजी की माता इनकी बाल्यावस्था में मर गई थीं, और अपनी स्त्री से यह अप्रसन्न हो गए थे। इनके बैरागी होने के कारण उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ इनसे नहीं मिलती थीं, और केवल निम्न

श्रेणी की स्त्रियों को यह इधर-उधर देखते होंगे। अतः स्त्रियों के विषय में इनका अनुभव अच्छा न था। यही कारण है कि इन्होंने उनकी निंदा की है। फिर भी हम तो यही कहेंगे कि ऐसे महात्मा और महाकवि को विना सोचे इतनी प्रचंड निंदा न करनी चाहिए थी।

(२०) गोस्वामीजी भाग्य पर विश्वास रखते थे; क्योंकि उन्होंने यह कहलवाया है—

"होइहि सोइ, जु राम रचि राखा।"

"जोगी, जटिल, अकाम तनु, नगन, अमंगल-बेख,
अस स्वामी यहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख।"

"सिय, रघुबीर कि कानन-जोगू ; करम प्रधान साँच कह लोगू।"
"कोउ न काहु दुख-सुख कर दाता ; निज कृत करम भोग सब भ्राता।"
"करम-प्रधान बिस्व रचि राखा ; जो जस करइ, सो तस फल चाखा।"

परंतु यह महाशय प्रायः विपत्ति-पीड़ित आदमियों को समझाने के लिये धार्मिक सिद्धांतों द्वारा उन्हें आश्वास देते थे। कार्य-कुशलता को यह कर्मों के आसरे नहीं रोकना चाहते थे। यथा—

"कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा।"

"सो परंतु दुख पावई, सिर धुनि-धुनि पछताइ ;
कालहि, कर्महि, ईसुरहि, मिथ्या दोष लगाइ।"

इन्होंने यह भी लिखा है कि राम और शिव की कृपा से कर्म के लेख मिट भी सकते हैं। यथा—

"रामचरित चिंतामनि चारू ; संत-सुमति-तिय सुभग सिंगारू।
मंत्र महामनि विषय-ब्याल के ; मेटत कठिन कुअंक भाल के।"
"जो तप करइ कुमारि तुम्हारी, भाविहु मेटि सकैं त्रिपुरारी।"

"बावरो रावरो नाह भवानी ;
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी,

तिन रंकन को नाक सँवारत, हौं आयों नकबानी।"

(२१) यद्यपि गोस्वामीजी ने हर तरह से दीनता प्रकट की और निरभिमान भाव भी खूब ही दिखाया है, तथापि उनको यह अवश्य विश्वास था कि उनकी रचना परमोत्तम होती है, और सिवा खलों के और कोई उनका उपहास न करेगा। तुलसीदास को समालोचकों से बड़ा भय था, और उन्होंने होनहार तथा वर्तमान समालोचकों से बड़ी विनती करते हुए, तर्क छोड़कर, कथा सुनने का अनुरोध किया है।

"चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जाइँ बुद्धि-बल-बानी।
अस बिचारि जे परम बिरागी, रामहिं भजइँ तरक सब त्यागी।
पुनि सब ही बिनवौं कर जोरी, करत कथा जेहिं लागु न खोरी।
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई, सुनिहहिं बाल-बचन चितु लाई।
समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी, कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।
एतेहु पर करिहहिं जे संका, मोहिं ते अधम ते जड़मति रंका।
हँसिहहिं कूर, कुटिल, कुबिचारी, जे पर-दूषन-भूषन-धारी।
खल-परिहास होइ हित मोरा, काक कहहिं कलकंठ कठोरा।
हँसिहहिं बक दादुर चातकहीं, हँसहिं मलिन खल बिमल बतकहीं।"

गोस्वामीजी की कविता का उपहास तो किसी ने नहीं किया, परंतु बहुत लोग इनके छंदों के इतने अधिक अर्थ करते हैं कि वे उपहासास्पद हो जाते हैं। बहुत महाशयों ने ऐसे भी अर्थ निकाले हैं, जो प्रशंसनीय हैं; परंतु कहना ही पड़ता है कि शब्दों को तोड़-मरोड़कर अर्थ निकालना कवि की आत्मा को क्लेश देना है। हम इस स्थान पर एक प्रशंसनीय और एक उपहास-योग्य अर्थ का नमूना नीचे लिखते हैं—

"मुक्ति-जनममहि जानि, ज्ञान-खानि अघ-हानि-कर,
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न?

जरत सकल सुर-वृंद, बिखम गरल जेहि पान किय ,
तेहि न भजसि मतिमंद, को कृपालु संकर सरिस ?"

महि=म अक्षर का ; अघहानिकर=अघ हानिक र=र अक्षर अघ-हानि करनेवाला है । जहँ=र और म अक्षरों में । सो कासी= सोक असी=शोक के लिये तलवार । ज रत=जिसमें रत हैं । शंकर= कल्याण करनेवाला ।

इस प्रकार अर्थ लगाने से उपर्युक्त दोहे काशी और शिव की स्तुति के वाचक न रहकर राम-नाम की स्तुति के वाचक हो जाते हैं । म को मुक्ति का जन्म जानो, और र को ज्ञान-खानि तथा पाप-हानि करनेवाला जानो, जिस र और म में शंभु-भवानी वास करते हैं, उस शोक की तलवार को क्यों न सेवे ? जिस राम में विषम गरल पान करनेवाला (शिव) एवं सब सुर-वृंद रत हैं, हे मतिमंद, उसको क्यों नहीं भजता ? उस कल्याणकर के समान कृपालु कौन है ?

"विनय-प्रेम-बस भई भवानी ; खसी माल, मूरति मुसकानी ।"
विनय-प्रेमवस, भई भवानी!(लाना तो) खसी-माल । मूरति मुसकानी ।

सीता ने कहा—विनय प्रेम हो चुका, भई भवानी हो ! लाना तो बकरों का समूह । इस पर तो मूर्ति भी मुसकिराई कि अब अच्छा बलिदान मिलेगा ।

दोष-कथन

(१) गोस्वामीजी पात्रों से बात-चीत कराने में कभी-कभी उसको उचित से अधिक करा देते थे ।

"जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनउ तुम्हार ;
सोइ हम करब, न आन कछु, बचन न मृषा हमार ।
कुपथ माँगु रुज-व्याकुल रोगी, बैद न देइ, सुनहु मुनि जोगी ।"

यह भगवान् ने उस समय, जब नारद ने राज-कन्या को ब्याहने

के वास्ते उनसे रूप माँगा था, नारद से कहा था। इसमें दोहा-भर कह देना उचित था। परंतु चौपाई कह देने से उनकी भविष्य कुटिलता ऐसी प्रकट हो गई कि उसे कोई पागल भी समझ जाता।

"धुआँ देखि खर, दूषन केरा, सूपनखइ तब रावन प्रेरा।
बोली बचन क्रोध करि भारी, देस, कोस कइ सुरति बिसारी।
करसि पान, सोवसि दिन-राती, सुधि न तोहिं, सिर पर आराती।
राज नीति बिनु, धन बिनु धरमा, हरिहिं समरपे बिनु सतकरमा।
बिद्या बिनु बिबेक उपजाए, स्रम फल किए पढ़े अरु पाए।
संग ते जती, कुमंत्र ते राजा, मन ते ज्ञान, ज्ञान ते लाजा।
प्रीति प्रनय बिनु, मद ते गुनी; नासहिं बेगि, नीति असि सुनी।
रिपु, रुज, पावक, पाप, प्रभु, इन गनिय न छोट करि;
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन।"

यहाँ नाक-कान कटने पर सूपनखा को नीति और धर्म-शास्त्र के सिद्धांतों का उपदेश देने की कोई इतनी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, जितनी कि अपने दुःख-अपमान की बात कहने की।

बाल-कांड

(२) रामचंद्र की महिमा बढ़ाने को गोस्वामीजी ने अन्य देवतों की प्रायः निंदा कर दी है। सती-मोह इस कथन का पूर्ण प्रमाण है। सती-मोह में विधि, हरि, हर इत्यादि के अनेक रूप देख पड़े; परंतु रामचंद्र, लक्ष्मण और सीता के दूसरे रूप नहीं देख पड़े। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लक्ष्मण भी विधि, हरि और हर से बड़े थे।

"जाना राम सती दुख पावा, निज प्रभाव कछु प्रगट देखावा।"

यह तो वही मसल हुई कि "मरे पर सौ दुर्रे।" रामचंद्र से ऐसा कराना बहुत ही अनुचित हुआ। जब कोई दुःखित हो, तो उस समय उसे और दुःखित करना कौन-सी महानुभावता है? सती से

झूठ बुलाना भी अनुचित हुआ। गोस्वामीजी ने सती की दुर्दशा का तो सविस्तर वर्णन किया है, परंतु दक्ष-यज्ञ-विध्वंस तीन ही चौपाइयों में कह डाला।

"सती मरत हरि सन बर माँगा, जनम-जनम सिव-पद-अनुरागा।"

यहाँ पर हरि से वर मँगवाना भी बेजा है। महादेव के विवाह में इन्होंने परछन तक न होने दी, और महादेव का रूप देखते ही मैना मारे डर के भागकर घर में घुस गई, तथा पार्वती को लेकर रोने लगी—

"जेहि बिधि तुम्हें रूप अस दीन्हा, तेहिं जड़ बर बाउर कस कीन्हा?"

सारे रनिवास में हाहाकार मच गया। इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता। मैना तो प्रथम से ही जानती थी कि पार्वती को कैसा वर मिलेगा, और उसी के वास्ते पार्वती ने तप ही किया था, तब फिर यह हाहाकार क्यों कराया गया? साधारण स्त्रियों की भाँति मैना अत्यंत अस्थिर मति की कैसे हो सकती थी? संभवतः महादेव का विवाह इस कारण बिगाड़ा गया, जिसमें रामचंद्र के विवाह की शोभा बढ़ जाय। इन महाकवि की रामायण ही के आधार पर जहाँ कहीं बड़ी गड़बड़ या ख़राबी होती है, तो लोग प्रायः यह कहते हैं कि "महादेव की बरात है।" कुमारसंभव और शिवपुराण में महादेव के विवाह का बड़ा ही उत्तम वर्णन है।

(३) गोस्वामीजी ने महादेवजी से कहलाया है—

"अनुज, जानकी सहित निरंतर, बसहु, राम प्रभु, मम उर अंतर।"

सो क्या महादेव लक्ष्मण का भी ध्यान करते थे? अस्तु। गोस्वामीजी ने ध्यान की मूर्ति के साथ वानरों और रीछों को नहीं रक्खा, यही उनकी बड़ी कृपा हुई।

(४) इसी प्रकार परशुराम से यह कहला दिया कि—

"छमहु छमा-मंदिर दोउ भ्राता।"

(५) उत्तर-कांड में गोस्वामीजी ने माया का वर्णन करते हुए "नारद, शिव, बिरंचि, सनकादी" को लोभ, मोह, काम आदि सभी दुर्वासनाओं का शिकार बना दिया है।

(६) और—

"जो संपति सिव रावणहिं, दीन्हि दिए दस माथ,
सो संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ।"

इससे भी इनकी निंदा की प्रवृत्ति पूरी तरह प्रकट होती है।

(७) दो-चार स्थानों पर गोस्वामीजी ने वाक्य-रचना अशुद्ध की है—

"देखि उमहिं तप खिन्न सरीरा, ब्रह्म-गिरा भइ गगन गँभीरा।
प्रभु सरबज्ञ दास निज जानी, माँगु-माँगु बर भइ नभ बानी।"

इन दोनों स्थानों पर 'भइ' के स्थान पर 'किय' कर देने से ठीक हो सकता था।

"जो कछु आयसु ब्रह्मै दीन्हा; हरखे देव, बिलंब न कीन्हा।"

इसमें जो के पीछे 'सो किया गया', यह नहीं लिखा, इतनी कमी है।

परंतु इन दो-एक व्याकरण-संबंधी क्षुद्र त्रुटियों को कोई भी दोष नहीं कह सकता। इन्हें आर्ष प्रयोग समझना चाहिए।

(८) इन महाकवि ने परशुराम और लक्ष्मण का संवाद ऐसा उपहास-योग्य लिखा है कि वैसी रचना करने में शायद क्षुद्र कवि को भी लज्जा आती। इन्होंने परशुराम और लक्ष्मण को ऐसा दिखलाया है, जैसे एक ओर महाक्रोधी, निर्बल, अभिमानी और चिढ़नेवाला बुड्ढा खड़ा हो, और दूसरी ओर एक बड़ा ही नटखट, बिगड़ा हुआ, ठठोल छोकरा, जिसको बड़े-छोटे का कुछ भी लिहाज़ न हो। यह वर्णन गोस्वामीजी के सहज-गांभीर्य के बिलकुल ही विरुद्ध है। परशुराम के ये वाक्य—

"उतरु देत छोड़ौं बिनु मारे , केवल कौसिक सील तुमारे ।
बोले रामहिं देइ निहोरा , बचइ बिचारि बंधु लघु तोरा ।"

साफ़ ज़ाहिर करते हैं कि वह अपने मन में जानते थे कि युद्ध में उनसे कुछ भी किया न होगा, अतः लक्ष्मण को क्षमा करने के बहाने ढूँढ़ते थे। यहाँ तक कि राम को भी मन में विचारना पड़ा—

"गुनहु लखन कर हम पर रोखू , कतहुँ सुधाइउ ते बड़ दोखू ।
टेढ़ जानि संका सब काहू , बक्र चंद्रमहिं ग्रसइ न राहू ।"

यदि कहिए कि वह "बहै न हाथ, दहै रिस छाती" के कारण विवश थे, तो उन्होंने राम और लक्ष्मण को इस प्रकार क्यों ललकारा—

"देखु जनक, हठि बालक एहू , कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ।
छल तजि करउ समर सिव-द्रोही , बंधु सहित नतु मारउँ तोही ।"

परशुराम के मुख से रामचंद्र के प्रति नीचे लिखे दो वाक्य कहलाने में गोस्वामीजी ने परशुराम की पूरी नीचता दिखा दी है—

"संभु-सरासन तोरि सठ, करसि हमार प्रबोध ।"
"बंधु कहै कटु सम्मत तोरे , तू छल-विनय करसि कर जोरे ।"
"मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े , दुज, देउता घरहि के बाढ़े ।"

लक्ष्मण से ये वाक्य कहलाकर स्वयं गोस्वामीजी को सब लोगों से यह कहलाना पड़ा कि—

"अनुचित कहि सब लोग पुकारे ।"

नीचे के वाक्यों से जान पड़ता है, मानो परशुराम बेवक़ूफ़ बनाए जा रहे थे—

"मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया , परिहरि कोप, करिय अब दाया ।
टूट चाप नहिं जुरइ रिसाने , बैठिय, होइहैं पाँय पिराने ।
जौं अति प्रिय, तौ करिय उपाई , जोरिय कोउ बड़ गुनिय बुलाई ।"

किसी शूर से निम्न-लिखित बात कहलाकर भी युद्ध न कराना गोस्वामीजी का ही काम था—

"बिहँसि लखन, कहा मुनि पाहीं, मूँदिय आँखि कतहुँ कोउ नाहीं।"

द्वापर के अंत में भगवान् वेदव्यास ने भीष्म और परशुराम के युद्ध के समय जो बात-चीत कराई है, उससे परशुराम का गांभीर्य पूर्ण रूप से प्रकट होता है। जिस समय भीष्म ने बहुत ही अहंकार-पूर्ण बात-चीत की, और कहा कि जब आपने पृथ्वी क्षत्रिय-हीन की थी, तब भीष्म नहीं था, अब मैं आपको मारकर क्षत्रियों का बदला लूँगा, उस समय इन्होंने केवल यही कहा—

"कहा भयो बोलत इविधि, काल-विबस है वीर।"

अयोध्या-कांड

(९) भरत के चित्रकूट जाने में गोस्वामीजी ने कहा है कि राम से मिलने के बाद वशिष्ठ तथा अयोध्यावासी लोगों ने गुह निषाद से भेंट की। यह भेंट व्यर्थ थी। जब वह शृंगवेरपुर से भरत के साथ आ रहा था, तो फिर इस दुबारा भेंट की क्यों आवश्यकता पड़ी ?

आरण्य-कांड

(१०) दो-चार स्थानों पर १५ मात्राओं की चौपाई लिखकर छंदो-भंग या छंद के नियम का उल्लंघन किया गया है। यथा—

"तब खिसियानि राम पहिं गई।"

"सखी, मरमी, प्रभु, सठ, धनी।"

परंतु ऐसी चौपाइयाँ बहुत कम हैं।

(११) जटायु ने रामचंद्र से कह दिया था कि—

"नाथ, दसानन यह गति कीन्ही, तेहि सठ जनकसुता हरि लीन्ही।
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं, बिलपति अति कुररी की नाईं।"

इतना जानने पर भी राम ने न-जाने क्यों बंदरों को सीता के

खोजने के लिये सब ओर भेजा, और उनसे यह न कह दिया कि सीता लंका में हैं ? इसी प्रकार किष्किंधा-कांड में एक दफ़े कहा—

"एक बार कैसेहु सुधि पाओं, कालहु जीति निमिख महँ लाओं।"

(१२) गोस्वामीजी अकारण भी रामचंद्र की दयालुता के गीत गाया करते थे। जब जटायु ने रामचंद्र के वास्ते जान तक दे दी, तो इस विषय में यदि कुछ प्रशंसा हो सकती थी तो उसी की ; परंतु यह महाशय उस जगह भी राम ही की बड़ाई का डंका पीटते हैं—

"कोमल-चित अति दीनदयाला ; कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।
गीध अधम, खग, आमिख-भोगी, गति तेहि दीन्हि, जो जाचत जोगी।"

शवरी में नवधा भक्ति वर्तमान थी। तब भी यह कहते हैं—

"जाति हीन, अघ जनममय, मुकुत कीन्हि असि नारि ;
महामंद मन, सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि।"

किष्किंधा-कांड

"बालि-त्रास ब्याकुल दिन राती ; तन बिबरन, चिंता जर छाती।
सो सुगरीव कीन्ह कपिराऊ ; अतिकोमल रघुबीर-सुभाऊ।"

इसमें कोमलता और दयालुता की कोई बात नहीं देख पड़ती। रामचंद्र और सुग्रीव में यही शर्त हुई थी। राम ने बालि को मारा, और सुग्रीव ने लंका में ससैन्य जाकर उनके लिये लड़ाई की। इस स्थान पर हमारे किसी समालोचक महाशय ने एक बार इस शर्त के होने में संदेह प्रकट किया था। उन्हें ये चौपाइयाँ देखनी चाहिए—

"तेहि सन नाथ मइत्री कीजै ; दीन जानि तेहि अभय करीजै।
सो सीता कर खोज कराइहि ; जहँ-तहँ मरकट कोटि पठाइहि।"

इनके पीछे की भी चौपाइयाँ यही भाव पुष्ट करती हैं।

लंका-कांड

(१३) रावण और अंगद की बात-चीत जो गोसाईंजी ने कराई है,

वह स्वाभाविक नहीं है। यद्यपि रचना वहाँ की अच्छी है, तथापि यह कहना ही पड़ता है कि महाराजों की सभा में दूत इस तरह अयोग्य, उद्धत बात-चीत नहीं कर सकता। इस संवाद में बहुत-सी चित्ताकर्षक और मज़ाक़ की बातें हैं, जिससे पढ़ने में बड़ा ही आनंद आता है। किंतु यदि ये ही बातें किसी अन्य रीति से लिखी जातीं, तो ऊपर लिखा हुआ दोष भी न आने पाता। ये बात कितने ही हिंदी-कवियों ने हनुमन्नाटक के आधार पर लिख दी हैं।

(१४) मंदोदरी का रावण को समझाना भी कहीं-कहीं अनौचित्य की सीमा तक पहुँच गया है। यथा—

"बान-प्रतापु जानु मारीचा ; तासु कहा नहिं मान्यो नीचा।
निकट काल जेहि आवत साईं, तेहि भ्रम होय तुम्हारिहि नाईं।"

ऐसे वाक्य कदाचित् कोई भी अच्छी स्त्री के मुख से नहीं कहला सकता।

फिर मंदोदरी का रावण के मरने पर विलाप भी इन्होंने बिगाड़ दिया है—

"राम-बिमुख अस हाल तुम्हारा, रहा न कुल कोउ रोवनहारा।
अब तव सिर-भुज जंबुक खाहीं, राम-बिमुख यह अनुचित नाहीं।
अहह नाथ! रघुनाथ सम, कृपा-सिंधु को आन ;
मुनि-दुरलभ जो परम गति, तुम्हैं दीन्हि भगवान।"

ऐसे-ऐसे वाक्य मंदोदरी के मुख से कदापि नहीं निकल सकते थे। हमें आश्चर्य होता है कि गोस्वामीजी-सरीखे सत्कवि की लेखनी से ये वाक्य इस तरह कैसे निकले!

अवश्य ही उनकी अपार भक्ति—उनकी बढ़ी-चढ़ी भक्ति—ने ही कहीं-कहीं ऐसी त्रुटियाँ करा दी हैं, और कहीं रचना को सर्वोत्कृष्ट भी कर दिया है। गोस्वामीजी की अलौकिक भक्ति के कारण जैसे उनकी लेखनी से ऐसे-ऐसे उत्तम वर्णन निकले हैं, जिनके सामने संसार

की किसी भी भाषा के परमोत्कृष्ट वर्णन तक शायद फीके जँचने लगेंगे, वैसे ही वही अनन्य भक्ति इनसे बेमौक़े भी, सभी जगह, रामचंद्र की प्रशंसा कराए बिना नहीं छोड़ती । जो बातें इन्होंने मंदोदरी के मुख से कहाईं, उन्हें यदि यह स्वयं कह देते, तो कोई बात न थी ।

उत्तर-कांड

(१५) इसमें राजगद्दी के पश्चात् और काकभुशुंड की कथा के पूर्व जो कथांश है, वह रुचिकर नहीं जँचता । भुशुंड की कथा आरंभ होने के पीछे का भाग नायक-हीन न समझना चाहिए । यद्यपि उसमें स्वयं राम की कथा नहीं कही गई, तथापि प्रधानता प्रत्येक छंद में—नहीं, प्रत्येक पंक्ति में—राम ही की है । यह भाग रामायण का परिशिष्ट समझना चाहिए । जैसे प्रारंभ में वंदनामयी भूमिका है, वैसे ही अंत में यह भाग जानना चाहिए । ज्ञान-दीपकवाला वर्णन पहले कुछ बुरा-सा प्रतीत होता है ; पर अंत में इस झगड़े का दोषोद्धार कर दिया गया है, और गोस्वामीजी के मत से गीता से कोई वास्तविक विरोध नहीं रह गया है ।

(१६) गोस्वामीजी को वेद का प्रमाण प्रायः सभी जगह दे देना अच्छा लगता है, चाहे वह बात वेद में हो या न हो । यथा—

"त्रिबिध समीर सु सीतल छाया । सिव-बिसराम-बिटप स्रुति गाया ।"
"उपरोहित जेवनारि बनाई ; छ रस चारि बिधि,जसि स्रुति गाई।"
"अवधपुरी रघुकुल-मनि राऊ ; बेद-बिदित तेहि दसरथ नाऊ।"
"तात तुम्हार बिमल जस गाई , पाइहि लोकहु बेद बड़ाई।"

गोस्वामीजी के मत

(१) तुलसीदास का मत था कि कविता टेढ़ी एवं निंद्य है: पर यदि उसमें राम-कथा गाई जाय, तो सत्संग से वह भी पावन हो जाती है । इसी कारण यह नर-काव्य के विरोधी थे । यथा—

"भगत हेतु बिधि-भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित-सर बिनु अन्हवाए, सो स्रम जाय न कोटि उपाए।
कीन्हे प्राकृतजन-गुन-गाना, सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।
कबि-कोबिद अस हृदय बिचारी, गावहिं हरि-गुन कलि-मलहारी।
भनित बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ, राम-नाम बिन सोह न सोऊ।
भनित भदेस, बस्तु भलि बरनी, राम-कथा मुद-मंगलकरनी।"

इन्हीं कारणों से गोस्वामीजी ने कभी नर-काव्य नहीं किया। यदि कभी दो पंक्तियाँ लिख दीं, तो वह केवल मित्रता-वश टोडर-नामक एक भाग्यशाली व्यक्ति के विषय में ही। किंतु टोडर भी राम-भक्त था, और उसके विषय के केवल चार दोहों में भी महात्माजी ने दो बार राम-नाम लाकर रख ही तो दिया—

"चारि गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप;
तुलसी या संसार में, अथयो टोडर-दीप॥ १॥
तुलसी राम-सनेह को, सिर पर भारी भारु;
टोडर काँधा ना दियो, सब कहि रहे उतारु॥ २॥
तुलसी-उर थाला बिमल, टोडर-गुन-गन बाग,
ये दोउ नैनन सींचिहौं, समुझि-समुझि अनुराग॥३॥
राम-धाम टोडर गए, तुलसी भए असोच;
जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि संकोच॥ ४॥"

धन्य टोडर! तुम्हारे लिये हिंदी के सूर्य स्वयं महात्मा तुलसी-दास ने अपना दृढ़ सिद्धांत छोड़कर नर-काव्य किया! धन्य!

(२) इनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात इनसे देखने और मनन करने से नहीं छूटती थी। सास का महादेव के पैरों पर पड़ जाना, पार्वती का बिदा के समय अपनी माता को दुबारा लिपटकर रोना, कौशल्या के दौड़ाने पर बालक रामचंद्र का 'ठुमुकि-ठुमुकि' भागना और दूध-भात मुँह में लगाए दशरथ के

चौके से 'किलकात' भाग चलना, 'टिट्टिभ खग' का 'उताने' सोना, जुरों का 'कुलह' छूटना, 'पय-फेनु' से 'पवि टाँकी' फूटना, रावण द्वारा विभीषण को "होइहि जव कर कीट अभागा" कहा जाना, 'नौकारूढ़' मनुष्य को संसार चलता हुआ दिखाई देना, गरुड़ का प्रसन्नता में 'पंख फुलाना' और स्त्रियों का दीपक को 'अंचल' से बुझाना इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(३) यह महानुभाव लोगों का वार्तालाप बड़ी ही उत्तमता से वर्णन करते हैं। भरद्वाज और याज्ञवल्क्य, सप्तर्षि और गौरी (यह वार्ता ऐसी है, जो पुरुषों और स्त्रियों के बीच ही हो सकती है), ब्रह्मा और शिव (विवाह-विषयक), दशरथ और वशिष्ठ (रामाभिषेक-विषयक), कैकेयी और मंथरा, दशरथ और कैकेयी, राम और सुमंत, राम और सीता (वन-गमन-विषयक), भरत और वशिष्ठ, भरत और राम (वन में) इत्यादि के संवाद बहुत ही अच्छे ढंग से लिखे गए हैं। अन्य लोगों की आपस में बात-चीत एवं ऊपर लिखी हुई वार्ताएँ ऐसी अच्छी हैं कि उनकी जोड़ी हिंदी-साहित्य में तो है ही नहीं, शायद और किसी भाषा में भी नहीं मिलेगी।

(४) गोस्वामीजी अपने नायकों के गुण दिखलाने के लिये उपनायकों की त्रुटियाँ, खूब ही दिखला देते हैं। सती-मोह में लक्ष्मण की अज्ञता, राम-विवाह की श्रेष्ठता के लिये शिव-विवाह की त्रुटियाँ, रामचंद्र की योग्यता और शूरता दिखाने को लक्ष्मण एवं सब सेना का रावणादि की माया को न समझ सकना इत्यादि इस बात के उदाहरण हैं।

(५) तुलसीदास बहुत बड़े-बड़े एवं बड़े ही सुंदर रूपक कह सकते थे। इन्होंने बहुत-से परमोत्कृष्ट रूपक कहे हैं। यथा—वंदना में मानस का रूपक, धनुष-यज्ञ में चाप-जहाज एवं राम-सूर्यवाले रूपक (बालकांड), कैकेयी का नदीवाला रूपक (अयोध्या-कांड),

भरत का नदीवाला रूपक (चित्रकूट पर श्रीराम से मिलने में), वसंत-ऋतु का फ़ौज की चढ़ाईवाला रूपक (आरण्य-कांड), रामचंद्र के गुणों का रथवाला रूपक (लंका-कांड), रावण के युद्ध में सेना का वर्षा-ऋतुवाला रूपक (लंका-कांड), राम-प्रताप का सूर्य-वाला रूपक (उत्तर-कांड), ज्ञान-दीपकवाला प्रसिद्ध रूपक एवं विनय-पत्रिका के बहुतेरे रूपक । कहाँ तक लिखें, बहुत रूपक हैं ।

(६) इन्होंने श्रीरामचंद्र के न-जाने कितने "नखशिख" कहे हैं, और वे एक-से-एक बढ़िया हैं ।

(७) गोस्वामीजी की उमंग (Enthusiasm) बड़ी ही प्रबल थी। रामचंद्र के विषय में जो कोई भूलकर भी कभी अनुचित बात का संदेह तक कर दे, तो उसको पूर्ण रूप से फटकारे बिना यह नहीं मानते थे—

पार्वती ने कहीं पूछ दिया कि रामचंद्र परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ही थे, या कोई और ? इतने ही पर शिव ने उन्हें इतना फटकारा कि बस, हद कर दी ! "एक बात नहिं मोहिं सोहानी" इत्यादि देखिए ।

वट द्वारा श्रीराम के चरण धोए जाने में यह क्या ही विमल पड़े—

"अति आनंद उमँग अनुरागा, चरन-सरोज पखारन लागा ।"

यदि कोई अन्य व्यक्ति—मित्र हो या शत्रु—श्रीराम से मिलने चलता था, तो भी यह अपनी उमंग में आकर उसे राम-दरश-लालसा-उछाह में उन्मत्त-सा कर देते थे । यथा—सुतीक्ष्ण, विश्वामित्र, मारीच, विभीषण एवं कुंभकर्ण के उत्साह ।

इसी कारण इनका जो मत था, उसे यह बार-बार लिखते थे । जिसकी प्रशंसा करते, उसे सातवें आसमान पर चढ़ा देते थे , और जिसकी निंदा करने लगते, उसे पाताल तक पहुँचा दिए बिना न मानते थे ।

योगी, यती, तपी, विज्ञानी आदि के विषय में इन्होंने क्या ही ज़ोरों पर लिखा है कि ये सब—

"तरैं न बिनु सेए मम स्वामी। राम, नमामि नमामि नमामी।"

मानो श्रीराम "बिला शिरकत ग़ैरे व मुक़ाबिज़त दीगरे" केवल इन्हीं के स्वामी थे। ये सब बातें इनकी प्रबल उमंग के प्रमाण हैं।

(८) यद्यपि गोस्वामीजी को हँसी पसंद न थी, तो भी कहीं-कहीं प्रच्छन्न प्रहसन को इन्होंने जगह दे ही दी है। नारद-मोह-वर्णन में गुप्त हँसी की मात्रा विशेष पाई जाती है। यथा—

"जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद, सुनहु तुम्हार,
सोइ हम करब, न आन कछु, बचन न मृखा हमार।"

नारद से हर के गणों ने कहा—

"रीझिहि राज-कुँवरि छबि देखी; इनहिं बरिहि हरि जानि बिसेखी।"

रामचंद्र का वचन केवट से—

"सोइ करउ, जेहि नाव न जाई।"

लक्ष्मण का सूपनखा से कहना—

"प्रभु समरथ कोसलपुर-राजा; जो कछु करइँ उनहिं सबु छाजा।
जो जेहि मत भावै सो लेहीं; मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।"

सप्तर्षियों ने पार्वती से कहा—

"गिरि-संभव तव देह—"

महादेव की बरात में विष्णु ने कहा—

"बिलग-बिलग ह्वै चलहु सब, निज-निज सहित समाज।"

(९) इन महात्मा के सैकड़ों ही पद कहावत के रूप में प्रचलित हो गए हैं। उदाहरण देना व्यर्थ है; क्योंकि थोड़ी भी रामायण पढ़ने से सभी जगह इसके दस-पाँच प्रमाण मिल सकते हैं।

(१०) गोस्वामीजी ने कई प्रकार की भाषाओं में सफलता-पूर्वक कविता की है। प्रथम तो इन्होंने संस्कृत में भी श्लोक बनाए हैं। इनके श्लोक बड़े ही रुचिर हैं, और हिंदी जाननेवाले भी उन्हें अधिकांश समझ सकते हैं। इन श्लोकों में गोस्वामीजी ने विशेषणों का अच्छा प्रयोग किया है। विद्वानों का मत है कि ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे। यह बात विशेषणों के अधिक प्रयोग एवं एक स्थान पर व्याकरण की एक अशुद्धि आ जाने से ठीक प्रतीत होती है—

"सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्"

इस पद को थोड़ी-सी संस्कृत जाननेवाला भी बना सकता था। गोस्वामीजी के अधिकांश श्लोक ऐसे ही हैं।

रामचरित-मानस में इन्होंने थोड़े-से छंदों को छोड़कर बैसवाड़ी और अवधी भाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा तब से कथा-प्रासंगिक ग्रंथों की भाषा हो गई है। इसी भाषा का प्रयोग अपने छोटे छंदोंवाले अन्य ग्रंथों में इन्होंने किया है। परंतु कविता-वली, हनुमान्-बाहुक एवं संकट-मोचन में इन्होंने इस भाषा के साथ व्रज-भाषा का भी मेल कर दिया है। गीतावली-रामायण और कृष्ण-गीतावली में शुद्ध व्रज-भाषा ही काम में लाई गई है। विनय-पत्रिका में उपर्युक्त सभी भाषाओं को लेकर उनमें संस्कृतवत् भाषा का भी मिश्रण कर दिया गया है। इतनी भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाओं में ऐसी उत्कृष्ट रचना करना इन्हीं महाराज का काम था। तभी तो दासजी ने कहा है—

"तुलसी, गंग, दुवौ भए, सुकबिन के सरदार;
इनके काव्यन मैं मिली, भाषा बिबिध प्रकार।"

हिंदी-साहित्य में विविध भाषाओं का सफल प्रयोग करनेवाला ऐसा भारी आचार्य दूसरा नहीं हुआ।

(११) स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग तो कोई इन महाकवि से सीख ले। यथा—

"सिवहिं बिलोकि ससंक्यो मारू।"

"रुद्रहिं देखि मदन भय माना; दुराधर्ष, दुर्गम, भगवाना।"

"बिकसे सरनि बहु कंज, गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।"

इसमें भौंरों की गुंजार शब्दों ही में सुन लीजिए।

सीता-स्वयंवर में—

"सिमिटे सुभट एक-ते-एका।"

इसी प्रकार "पतियानि", "दलकि उठी", "धुआँ देखि खर-दूषन केरा" इत्यादि हैं।

(१२) गोस्वामीजी अनुप्रास को बहुत आदर नहीं देते थे, उसका स्वल्प प्रयोग ही करते थे। इन्होंने जमक का बहुत कम प्रयोग किया है। इनकी भाषा में बाह्याडंबर नहीं होता था। फिर भी वह बहुत ही सराहनीय है।

(१३) इन्होंने बहुत स्वतंत्रता के साथ सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। फ़ारसी, अरबी, तुर्की, संस्कृत और ठेठ ग्राम्य-भाषाओं तक के शब्द इनकी रचना में बहुत-से पाए जाते हैं। परंतु ग्राम्य शब्दों का व्यवहार इन्होंने ऐसी योग्यता से किया है कि उन प्रयोगों से और इनकी भाषा की रोचकता भी बढ़ गई है। हम इनके ग्रंथों से कुछ असाधारण शब्द नीचे देते हैं। विस्तार-भय से वे छंद या पद नहीं दिए जा सकते, जिनमें इनका प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के सामने कोष्ठक में नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ में जून, सन् १८९१ ई०, की मुद्रित पुस्तक की पृष्ठ-संख्या दी हुई है—

अुइँ (१६६), कोहाब (१७२), माहुर (४), गनी (१५), गरीब (१५), गरीबनेवाजू (गयउ बहोरि गरीबनेवाजू), साहेब (सरल

सखा साहेब रघुराजू), गाई (१६), बाउ (बाउ कृपा मूरति अनु-कूला), अवडेरि (२६), मरायल (३६), खटाहिं (३६), दुइ, भीतर, अयं (३८), सुनखत (४१), जिनिसि, सुअर, सयाने (४२), जहिया, तहिया (६०), चौपट (७६), झँगुलिया, हलरावैं (८७), जानबी (१४५), बाट परै (१६८), कठौता (१६६), देबा, लेबा (१६६), कतहुँ, ठाहर, ठाटू (२१०), साउजु (२११), मुठभेरी (२१०), बेहड़ (२१२), बिढ़इ (२२१), थन (२२४), डोरिआए (२३७), बारहबाट (२२४), बियानी (नतरु बाँझ भलि बादि बियानी), ढरके, खँभारू (२४६), पनहीं (२४६), गुदरत, गाँड़र (२५१), नेवाजा, बेहू (२५६), कुटीर (२८२), अकसर (३०५), डावर (३२७), निरावहिं (३२८), उवरिहसि (३५६), ठकुरसोहाती (३६६), घायल (४६६), फराक (४६७), हरहाई (५०१), पन्हाई (५३८), भटभेरे (५४१), गरिसा, ढहरुआ, नहरुआ (५४२) इत्यादि ।

(१४) गोस्वामीजी उमंग या हर्ष के समय प्रायः छंद लिखते थे। परंतु इनके छंद प्रायः दोहे-चौपाइयों से शिथिल हैं। कुछ छंद मनोहर भी हैं। जब यह उमंग में आकर छंद लिखते हैं, तो बहुधा उस दोहे या चौपाई का अंतिम शब्द, जिसके बाद छंद होता है, छंद के आदि में लिख देते हैं। यह विनती, युद्ध, विवाह, उत्सव आदि की कथा में प्रायः छंद लिखते थे। अयोध्या-कांड में इन बातों का अभाव-सा है, अतः उसमें छंद भी बहुत ही कम हैं। लंका-कांड और बाल-कांड में छंद बहुत हैं । उत्तर-कांड और आरण्य-कांड में भी स्तुति-विषयक छंद विशेषता से हैं ।

(१५) महात्मा तुलसीदास-सरीखे महाकवि के गुणों का समुचित वर्णन करना हमारी शिथिल लेखनी और स्वल्प शक्ति से परे है। इनकी रचनाओं के प्रति पृष्ठ, प्रति पंक्ति, बल्कि प्रति शब्द में

अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है। हम इनकी कविता में ऊपर जो दो-चार त्रुटियाँ दिखला आए हैं, उन्हें पाठक कदाचित् केवल त्रुटि ही समझ बैठे हों; परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। और, यदि मान भी लिया जाय कि वे वास्तविक त्रुटियाँ हैं, तो भी हम बेखटके कह सकते हैं कि उनमें से अधिकांश एक प्रकार का गुण भी समझी जा सकती हैं। और, यदि वे गोस्वामीजी की रचना से अलग कर दी जायँ, तो कदाचित् उनकी ख्याति इतनी विस्तृत न रहे, जितनी कि इस समय है। हमने लक्ष्मण और परशुराम का एवं रावण तथा अंगद का संवाद दूषित बतलाया है; पर गोस्वामीजी के लाखों पाठक इन्हीं संवादों को उत्कृष्ट समझते और प्रेम से पढ़ते हैं।

इन महानुभाव की कविता से यदि प्रशंसनीय अवतरण यहाँ दिए जाने लगें, तो इस लेख का आकार रामायण से शायद कुछ ही कम हो। अतः उनमें से थोड़े ही उदाहरण यहाँ पर दे देना हम उचित और यथेष्ट समझते हैं। इस लेख में हम रामायण के प्रत्येक कांड एवं स्वामीजी के अन्य ग्रंथों पर अपनी सम्मति प्रथम लिख चुके हैं। उसमें उन सभी के अनेक गुण प्रदर्शित किए गए हैं। ऐसे ही इनके पात्रों के शील-स्वभाव-वर्णन तथा कुछ अन्य प्रकरणों में भी इनकी कविता के गुण दिखाए जा चुके हैं। कुछ स्फुट गुण इस स्थान पर भी लिखे जाते हैं—

(१) मदन-दहन में—

"तब सिव तीसर नैन उघारा ; चितवत कामि भयो जरि छारा।"

में कितनी जल्दी जलना दिखलाया गया है ?

(२) जब यह पार्वती या सीता की सुंदरता का वर्णन करते हैं, तब साधारण स्त्रियों से उनका पार्थक्य दिखलाने को उनके विषय में 'जगदंबा' या 'जगत-मातु' आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य कर देते हैं।

(३) स्वायंभुव मनु और शतरूपा रानी से यद्यपि भगवान् ने यहाँ तक कह दिया था कि—

"सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं ; मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं।"

तथापि मनुजी से किस संकोच के साथ वरदान मँगवाया गया है कि देखते ही बनता है।

(४) राजा भानुप्रताप ने जब कपटी मुनि की परीक्षा के लिये उससे अपना नाम पूछा, तब वह उनका व उनके पिता का नाम, जो उसे भली भाँति विदित था, किस शीघ्रता से बताकर आगे को बढ़ा, और—

"गुरु प्रसाद सब जानिय राजा ; कहिय न आनहि जानि अकाजा।"

इत्यादि कहने लगा, जिसमें राजा को किसी अन्य अज्ञात विषय का प्रश्न करने को अवसर ही न मिले। इसी विचार से वह राजा को तुरंत वरदान देने को तैयार हो गया।

(५) इसी कथा में—कपटी मुनि को भानुप्रताप की राजधानी में जाना अवश्य अभीष्ट था, और उधर एकांतवासी योगी बने रहने की भी प्रबल इच्छा वह प्रकट करना चाहता था, अतः राजा को, खुशामद करके उसे अपने यहाँ बुला ले जाने के लिये, बाध्य करने के लिये उसने क्या ही युक्ति से कहा कि—

"आजु लगे अरु जब ते भयऊँ, काहू के गृह ग्राम न गयऊँ।
जो न जाउँ, तउ होइ अकाजू ; बना आइ असमंजस आजू।"

(६) भानुप्रताप के सो जाने पर कालकेतु का आना और उसका कपटी मुनि से वार्तालाप बड़े ही मनोहर प्रकार से वर्णन किया गया है। उसमें नाटक का-सा आनंद (Dramatic effect) आता है। यह पूरा उपाख्यान वंदना एवं मदन-दहन की भाँति बड़ा ही उत्कृष्ट है।

(७) जनकपुरी में विश्वामित्र और जनक की बातचीत हो

चुकने के पश्चात् गोस्वामीजी रामचंद्र को उस स्थान पर लाए। यदि श्रीराम पहले ही से वहाँ उपस्थित होते, तो गोस्वामीजी के हिसाब से इसमें उनकी कुछ हेठी अवश्य होती। कारण, जनक अवश्य ही पहले विश्वामित्र से वार्तालाप करते और जनक के सम्मानार्थ राम को उठना भी पड़ता।

(८)—

"श्याम, गौर किमि कहउँ बखानी ; गिरा अनैन, नैन बिनु बानी।"

इस छंद में क्या ही बढ़िया भाव, कितने कम शब्दों में, व्यक्त किया गया है ! नंददास ने भी यही भाव कहा है।

यथा—

"नैनन के नहिं बैन, बैन के नैन नहीं हैं।"

(९)—

लोचन-मगु रामहिं उर आनी, दीन्हेउ पलक-कपाट सयानी।

इसमें क्या ही उत्कृष्ट भाव है ! फुलवारी के वर्णन में इन महाकवि ने बहुत-से श्लाघ्य भाव कहे हैं ; परंतु यहाँ हम स्थानाभाव से उन सबको नहीं दिखा सकते।

(१०) मंथरा और कैकेयी की वार्ता में दासी ने रानी की एक-एक बात का पूर्ण उत्तर प्रायः रानी ही के शब्दों में दे दिया है।

यथा—

"हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे।"

का उत्तर—

"गाल करब केहि कर बल पाई।"

"दीन लखन सिख अस मन मोरे।"

का उत्तर—

"कत सिख देइ हमहि कोउ माई।"

"सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपाल ?"

का उत्तर—
"रामहिं छाँड़ि कुसल को आजू ?"
"पुनि अस कबहुँ कहसि घर-फोरी, तौ गहि जीह कढ़ावहुँ तोरी।"
का उत्तर—
"एकहि वार आस सब पूजी, अब कछु कहव जीह करि दूजी।"
पुनः—
"घरेउ मोर घर-फोरी नाऊँ।"
"काने, खोरे, कूबरे, कुटिल, कुचाली जानि,
तिय, विसेखि पुनि चेरि, कहि भरत-मातु मुसकानि।"
का उत्तर—
"करि कुरूप विधि परबस कीन्हा।"
"चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ?"
(११)—
"केकयसुता सुनत कटु बानी,
कहि न सकी कछु, सहमि सकानी।"
"तन पसेउ, केदलि जिमि काँपी।"
इन थोड़े ही शब्दों में बड़ा रोमांच-जनक भाव दिखलाया गया है।

(१२) गोस्वामीजी के वर्णन ऐसे पूर्ण होते हैं कि उनसे कथित विषय का चित्र ही सम्मुख उपस्थित हो जाता है। यथा—
"भूमि सयन, पट मोट, पुराना ; दिए डारि तन भूषन नाना।
माथे हाथ, मूँदि दोउ लोचन, तनु धरि सोच लाग जनु सोचन।"
(१३)—
"बहुरि बच्छ कहि, लाल कहि, रघुपति, रघुबर, तात ;
कबहुँ बोलाइ, लगाइ उर, हरखि निरखिहौं गात।"
इस दोहे में कितना वात्सल्य-भाव भरा हुआ है ?

(१४) भरत जब कौशल्या के पास गए, तो अपना दुख रोते हुए कौशल्या ने क्या ही अच्छा कहा है कि—

"पितु आयसु भूषन-बसन, तात तजेउ रघुबीर ;
बिसमय, हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल-चीर ।"

इस दोहे की प्रशंसा हम कहाँ तक करें। इसकी छटा पूरा प्रसंग पढ़ने से जान पड़ती है।

(१५) भरत के वन जाते समय निषादपति की बातों में गँवारू शब्द क्या ही उत्तमता से रक्खे गए हैं। जैसी बात-चीत उस श्रेणी के लोग करते हैं, उसका चित्र अंकित कर दिया है—

"हथबासहु, बोरहु तरनि, कीजै घाटारोहु ।"
"बेगिहिं भाय सजहु संजोऊ ।"
"सुमिरि राम-पद-पंकज-पनहीं, भाथा बाँधि चढ़ावहिं धनुहीं ।"
"अँगुरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं ।"

अयोध्या-कांड के गुणों का वर्णन कहाँ तक किया जाय। यदि इसके गुणों का पूर्ण वर्णन किया जाय, या इसके चटकीले छंद उद्धृत किए जायँ, तो एक बड़ा ग्रंथ तैयार हो सकता है। गोस्वामीजी ने इसमें प्रेम, भक्ति, उत्साह, वर्णन-चातुरी इत्यादि की परा काष्ठा कर दी है। करुणा-रस का तो यह ख़ज़ाना ही है।

(१६) सूपनखा जब रावण के पास गई, तो गोस्वामीजी ने उसका क्रोध बढ़ाने के लिये उससे झूठ ही यह बात कहला दी—

"तासु अनुज काटी स्रुति-नासा ; सुनि तव भगिनी, करि परिहासा ।"

(१७) सुंदर-कांड में हनुमान् के सम्मुख सीता और रावण की बात-चीत कराकर गोस्वामीजी ने यह पूर्ण रूप से प्रमाणित कर दिया कि सीता में किसी प्रकार का लांछन न था और उनको रावण कितना तंग किया करता था। त्रिजटावाले संवाद से यह भी दिखा दिया कि वह राम के विरह में कितनी कातर थीं ?

(१८) लंका-कांड में युद्धारंभ के पूर्व क्या ही शांत तथा मनोहर दृश्य दिखलाए गए हैं ? सुबेल-शैल, रात्रि-वर्णन, रावण के अखाड़े का दृश्य इत्यादि देखिए। इनमें तूफ़ान से पहले की शांति का-सा मज़ा मिलता है।

(१९) चंद्र-मंडल में स्थित कलंक के विषय में प्रत्येक व्यक्ति ने मानों अपना ही हाल कह दिया है। यथा—सुग्रीव राजा हुए थे, अतः उन्हें उसमें भूमि की छाया प्रतीत हुई। अंगद का राज्य छिन गया था, इस कारण उनको यह जान पड़ा कि ब्रह्मा ने चंद्रमा का सार भाग हर लिया, अतः उसकी छाती में छेद हो गया। इधर विभीषण रावण की लात सह चुके थे, सो उन्हें यही जान पड़ा कि चंद्रमा को किसी ने मारा है, जिसकी श्यामता है। राम को भाइयों से बड़ा स्नेह था, तथा वह विरही थे, इसलिये उन्हें यह प्रतीत हुआ कि—

"कह प्रभु, गरल बंधु ससि केरा; अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा।
बिष-संजुत कर-निकर पसारी; जारत बिरहवंत नर-नारी।"

हनुमान् अपना दास-भाव क्यों छोड़ने लगे। उन्होंने अंत में चट यही कह दिया—

"ससि तुम्हार प्रिय दास, तव मूरति तेहि उर बसति;
सोई स्यामता भास, × × ×"

रामचंद्र ने अपने भाव से भी अधिक इस कथन का आदर किया।

(२०) लक्ष्मण के शक्ति लगने पर श्रीराम ने जो विलाप किया है, उसमें तीन बड़ी-बड़ी भूलें जान-बूझकर कराई गई हैं। एक यह कि—"मिलइ न जगत सहोदर भ्राता;" दूसरी—"निज जननी के एक कुमारा;" तीसरी—"सौंपेउ मोहिं तुमहि गहि पानी।" ये भूलें इस कारण कराई गई हैं कि गोस्वामीजी को रामचंद्र की व्याकुलता

एवं शोक प्रदर्शित करना अभीष्ट था। इस बात को न विचारकर कुछ लोग इसमें सैकड़ों झगड़े पैदा करते और भूलें हटाने के विचार से भाँति-भाँति के अर्थ ला जोड़ते हैं। हमारी समझ में तो गोस्वामी-जी ने ऐसी स्पष्ट भूलें दिखलाकर अपनी भारी कवित्व-शक्ति एवं मानुषी प्रकृति का अपार ज्ञान प्रदर्शित किया है। क्लिष्ट-कल्पनावाले अर्थ यहाँ पर लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। पर यह हम अवश्य कहेंगे कि वे अर्थ कदापि ठीक नहीं बैठते।

(२१) युद्ध-यात्रा के समय मार्ग में कुंभकर्ण से विभीषण को मिलाना बहुत ही उचित हुआ है। विभीषण ने राम से अपने मिल जाने का कारण कहकर मानों बड़े भाई को अपनी सफ़ाई दी है।

(२२) तुलसीदास ने सीता-त्याग एवं लव-कुश की कथा जान-बूझकर इसलिये उड़ा दी कि उससे श्रीराम की निंदा होती।

(२३) गोस्वामीजी की उपमाएँ बड़ी ही चुभती हुई होती हैं—

"दलकि उठी सुनि बचन कठोरा ; जनु छुइ गयउ पाक बरतोरा।"
"देखि लाग मधु कुटिल किराती, जनु गवँ तकइ, लेउँ केहि भाँती।"

"यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मतिमंद ;
भूषन सजति बिलोकि मृग, मनहुँ किरातिनि फंद।"

किष्किंधा-कांड के अंतर्गत वर्षा एवं शरद् के वर्णन में बहुत ही अच्छी उपमाएँ दी गई हैं। उनका उल्लेख यहाँ कहाँ तक करें।

(२४) राजा भानुप्रताप की कथा पर समालोचनात्मक विचार मिश्र-बंधु-विनोद की भूमिका में हमने लिखे हैं। उन्हें वहीं देखना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि मुसलमानों को शेख़ सादी और हिंदुओं को तुलसीदास ने बिगाड़ा। पर ऐसा कहना नितांत भ्रम-मूलक है। अवश्य ही कतिपय अवांछित बातों के भी समर्थन में कुछ प्रमाण गोस्वामीजी की रचनाओं से मिल जाते हैं ; पर ऐसे

प्रमाण बहुत ही कम पाए जायँगे। और, वास्तविक बुरे कामों का समर्थन तो इनके काव्य से हो ही नहीं सकता। गोस्वामीजी के विरुद्ध अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि इनके कतिपय वाक्य आलसी लोगों को अकर्मण्यता के सहायक हो सकते हैं। यथा—

"होइहि सोइ, जो राम रचि राखा ; को करि तर्क बढ़ावइ साखा ?"

पर जैसा हम इस विषय में ऊपर लिख आए हैं, इन्होंने वास्तव में अकर्मण्यता को सहारा कभी नहीं दिया। श्रीरामचंद्र के अनन्य भक्त होने पर भी जो महानुभाव ऐसा वाक्य कह सकते हैं कि—

"कादर मन कर एक अधारा ; दैव-दैव आलसी पुकारा।"

—उन्हें कोई निरुद्योग का सहायक कैसे मान सकता है ? यों तो जैसे समुद्र में रत्न, मकर और विष सभी होते हैं, वैसे ही इन महात्मा के काव्य-महासागर में भी दो-चार दोष यदि ढूँढ़ने से कहीं निकल आवें, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ; परंतु, वास्तव में, इस समय हिंदू-जाति का वास्तविक अवलंब जितना तुलसी-कृत रामायण तथा उनके अन्य ग्रंथ हो रहे हैं, उतना सहारा आकाश-पाताल ढूँढ़ने पर भी और कहीं नहीं मिल सकेगा। साधारण कवियों के गंदे और विषय-वासना-पूर्ण काव्य पढ़ने से चाहे अच्छा भले ही क्यों न लगे, परंतु चित्त में विकार उत्पन्न हुए विना नहीं रहता। मगर जितनी देर तक इन महात्मा के ग्रंथ-रत्नों का परिशीलन किया जाता है, उतने समय के लिये पाठक मानो इस संसार की तुच्छ बातों के परे होकर उच्च विचारों, उच्च कर्मों और उच्च अभिलाषाओं का पात्र बन जाता है। ऐसे कवि-कुल-चूड़ामणि पर उक्त प्रकार के लांछन लगाना कृतघ्नता की परा काष्ठा समझनी चाहिए।

ऊपर लिखा जा चुका है कि गोस्वामीजी की रचना कई प्रकार की

हुई है। रामचरित-मानस, जानकी-मंगल, कलि-धर्माधर्म-निरूपण एवं हनुमान्-चालीसा की शैली एक भाँति की है। कवितावली, हनुमान्-बाहुक और संकट-मोचन की दूसरी प्रकार की है। रामगीतावली और कृष्ण-गीतावली की तीसरी ही शैली है। दोहावली और सतसई चौथी रीति पर बनी हैं। विनय-पत्रिका का ढंग एक पाँचवें ही कैंडे का है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रंथों में कविता-शैली बराबर बदलती गई है। पर उनकी विशेषता की छाप सब पर दूर से ही दृष्टि-गोचर होती है। इनके जो विचार और सिद्धांत हैं, वे इनके सभी ग्रंथों में, स्पष्ट रूप से, सौ-सौ पचास-पचास बार दोहरा-दोहरा कर, कई प्रकार से, कहे गए हैं। हमको कई ग्रंथों के विषय में, जो इनके रचे प्रसिद्ध हैं, संदेह हुआ करता था कि शायद उन्हें किसी अन्य कवि अथवा कवियों ने इनके नाम से बना डाला हो। इस कारण हमने अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथों को छोड़ और सभी पुस्तकों की जाँच बड़ी ही कड़ाई से की। पर अंत को हमें अधिकांश के विषय में पूर्ण विश्वास हो गया कि वे अवश्य इन्हीं महात्मा तुलसीदास के रचे हुए हैं। यह हाल ब्योरेवार अन्यत्र लिखा जा चुका है।

निदान सब बातों पर विचार करने से विदित होता है कि इन महाकवि का काव्य हिंदी में अद्वितीय है। यदि कोई भी हिंदी-कवि इनके समीप उपस्थित किया जा सकता है, तो वे महात्मा सूरदास और देव ही हो सकते हैं। यों तो हिंदी-साहित्य में नव-दस कवि ऐसे हैं, जिन्हें हम सर्वोच्च कक्षा (Reserved Class) में रखते हैं ; जैसे (१) तुलसीदास, (२) सूरदास, (३) देव, (४) विहारी, (५) त्रिपाठी-बंधु (भूषण और मतिराम), (६) केशवदास, (७) कबीरदास, (८) चंद, और (९) हरिश्चंद्र ; परंतु जैसे विष्णु भगवान् के दशावतारों में से राम और कृष्ण ही की पूर्ण महिमा है, वैसे हिंदी-साहित्य के इस "नवरत्न" में से तुलसीदास एवं

सूरदास ही सूर्य और चंद्र की भाँति महिमा एवं कवित्व-शक्ति में सबसे बढ़े हुए देख पड़ेंगे। इन दोनों में भी अब हम तुलसीदास को ही प्रथम स्थान देते हैं। अधिक क्या कहें, हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार महात्मा तुलसीदास से बढ़कर कोई कवि, हमारी जानकारी में, कभी, किसी भी भाषा में, संसार-भर में, कहीं नहीं हुआ। इनमें एक तो कोई दोष है ही नहीं, और जो दो-चार हैं भी, वे एक प्रकार से गुण ही कहे जा सकते हैं। जब तक हिंदू-जाति पृथ्वी-मंडल पर वर्तमान है, तब तक महात्मा तुलसीदास का नाम सदा अमर रहेगा। इनकी रचना तथा भक्ति से चरित्र की शुद्धि जितनी हो सकती है, उतनी अन्य कवि की कविता से होना कठिन है। गोस्वामीजी की रचना के उदाहरण कुछ विस्तार के साथ आगे दिए जाते हैं। अब हम इस निबंध को इन्हीं महानुभाव के दो-एक अमृतमय पद्यों तथा कुछ उदाहरणों के साथ समाप्त करते हैं—

"मंगल-करनि, कलि-मल-हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की;
गति कूर कबिता सरित की ज्यों परम पावन पाथ की।
प्रभु सुजस संगति भनित भलि होइहि सुजन-मनभावनी;
भव भूति अंग मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।"

"साधक, सिद्ध, बिमुक्त, उदासी, कवि, कोविद, बिरक्त, संन्यासी।
जोगी, सुर, अरु, तापस, ज्ञानी, धरम-निरत, पंडित, बिज्ञानी।
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी; राम, नमामि नमामि नमामी।"

उदाहरण—

गीतावली

आनंद उमँगत, आजु बिबुध बिमान बिपुल बनाइ कै,
गावत, बजावत, नटत, हरखत, सुमन बरखत आइ कै।
नर निरखि नभ, सुर पेखि पुर-छबि परसपर सचुपाइ कै,
रघुराज साज सराहि लोचन-लाहु लेत अघाइ कै।

पालने रघुपतिहि झुलावैं ।
लै-लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावैं।
केकि-कंठ-द्युति, स्यामबरन बपु बाल बिभूषन रुचिर बनाए;
अलकैं कुटिल ललित लटकन भ्रू नील नलिन दोउ नयन सुहाए।
सिसु-सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पद-पल्लव लाए;
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचुपाए।
उपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि-पुनि पानि पसारत;
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु-भय बिनय करत अति आरत।
तुलसिदास बहु बास-बिबस अलि गुंजत, छबि नहिं जात बखानी;
मनहुँ सकल स्त्रुति ऋचा मधुप ह्वै बिसद सुजस बरनत बर बानी।

आइ रहे जब ते दोउ भाई।
तब ते चित्रकूट-कानन-छबि दिन-दिन अधिक-अधिक अधिकाई।
सीता-राम-लखन-पद-अंकित अवनि सुहावनि, बरनि न जाई;
मंदाकिनि मज्जत, अवलोकत त्रिबिध पाप, त्रयताप नसाई।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई;
फूलत, फलत, पल्लवित, पलुहत बिटप-बेलि अभिमत सुखदाई।
सरित-सरनि सरसीरुह-संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई;
कूजत बिहँग, मंजु गुंजत अलि, जात पथिक जनु लेत बुलाई।

साँझ समै रघुबीर-पुरी की सोभा आजु बनी।
ललित दीपमालिका बिलोकहिं हित करि अवध-धनी।
फटिक-भीति, सिखरन पर राजति कंचन-दीप-अनी;
जनु अहिनाथ मिलन आयो मनि सोभित सहस-फनी।
प्रतिमंदिर-कलसनि पर भ्राजहिं मनिगन दुति अपनी;
मानहुँ प्रगटि बिपुल लोहितपुर पठइ दिए अवनी।
घर-घर मंगलचार एकरस हरखित रंक-गनी;
तुलसिदास कल कीरति गावहिं, जो कलिमल-समनी।

कृष्ण-गीतावली

कोउ सखि नई चाह सुनि आई ।
यह ब्रज-भूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई ।
घन धावन, बग पाँति पटो सिर, बैरख तड़ित सोहाई ;
बोलत पिक नकीब गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई ।
चातक, मोर, चकोर, मधुप, सुक, सुमन, समीर सुहाई ;
चाहत कियो बास बृंदाबन, बिधि सों कछु न बसाई ।
सीवँ न चापि सको कोऊ तब जब, हुते स्याम दोउ भाई ।
अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल कौन करिहि ठकुराई ?

दोहावली

बरषा-ऋतु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सु दास ;
राम-नाम बर बरन जुग, सावन-भादों-मास ।
राम-नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलि-काल ;
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालहिं दलि सुर-साल ।
रसना साँपिनि, बदन बिल, जो न जपहिं हरिनाम ;
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम ।
तुलसी जो पै राम सों, नाहिंन सहज सनेह ;
मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ।
घर-घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पाय ;
ते तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ।
रामचंद्र के भजन बिनु, जो चह पद निरबान,
ज्ञानवंत अपि सोइ नर, पसु बिन पूँछ-बिखान ।
हौंहुँ कहावत, सब कहत, राम सहत उपहास ;
साहब सीता-राम-सो, सेवक तुलसीदास ।
सपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय ;
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ।

दीप-सिखासम जुवति-तन, मन, जनि होसि पतंग ;
भजहि राम, तजि काम-मद, करहि सदा सतसंग ।
ताहि कि संपति सकुन सुभ, सपनेहु मन बिसराम ;
भूत-द्रोह-रत, मोह-बस, राम-बिमुख, रत काम ।
नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल ;
कदली बदली बिटप गति, पेखहु पनस रसाल ।
होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम,
होइ कुपूत सपूत के, ज्यों पावक में धूम ।
बरखि बिस्व हरखित करत, हरत ताप, अघ, प्यास ;
तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ।
सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति,
तुलसी तापर चाहिए, कीरति, बिजय, बिभूति ।
लोक-रीति फूटी सहै, आँजी सहै न कोइ ;
तुलसी जो आँजी सहै, सो आँधरो न होइ ।
सचिव, बैद, गुरु तीनि जहँ, प्रिय बोलहिं भय आस,
राज, देह अरु धरम को, होय बेगि ही नास ।
सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि,
ते नर पामर, पापमय, तिन्हैं बिलोकत हानि ।

कवित्त-रामायण

अवधेस के द्वार सकार गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे ;
अवलोकि हौं सोच-बिमोचन को ठगि-सी रहि, जे न ठगे, धिक-से ।
तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सु खंजन जातक-से ;
सजनी ससि मैं समसील उभै नव-नील सरोरुह-से बिकसे ।
पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए ;
नव नील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिए ।
अरबिंद-सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन-भृंग पिए

मन में न बस्यौ अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिए ?
तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं ;
अतिसुंदर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं।
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यौं, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं ;
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं।
रावरे दोषु न पाँयन को, पग-धूरि को भूरि प्रभाउ महा है ;
पाहन ते बरु बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है।
पावन पाँय पखारिकै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है।
पुर ते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै ;
झलकी भरि भाल कनी जल की, पटु सूखि गए मधुराधर वै।
फिरि बूझति हैं चलनोऽब कितो, पिय, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ?
तिय की लखि आतुरता, पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।
बिंध्य के बासी उदासी तपोब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ;
गौतम-तीय तरी तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी, परसे पद मंजुल कंज तिहारे ;
कीन्ही भली रघुनायकजू, करुना करि कानन को पगु धारे।

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानों
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है ;
कैधौं ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर-रस बीर तरवारि-सी उघारी है।
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी-कलाप,
कैधौं चली मेरु ते कृसानु-सरि भारी है ;
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं
कानन उजार्‌यो अब नगर पजारी है।
हाट, बाट, कोट, ओट, अटनि, अगार, पौंरि,

खोरि-खोरि दौरि-दौरि दीन्ही अति आगि है ;
आरत पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू,
ब्याकुल जहाँ सो तहाँ लोक चलो भागि है ।
बालधी फिरावै, बार-बार झहरावै, झरैं
बूँदिया-सी लंक पघिलाइ पाग पागि है ;
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं
चित्र हू के कपि सों निसाचरन लागि है ।
अति कोप सों रोप्यो है पाँउ सभा, सब लंक ससंकित, सोर मचा ;
तमके घननाद-से बीर प्रचारिकै, हारि निसाचर-सैन पचा ।
न टरै पग मेरुहु ते गुरु भो, सो मनो महि संग बिरंचि रचा ;
तुलसी सब सूर सराहत हैं, जग में बलसालि है बालि-बचा ।
जो दससीस महीधर-ईस को बीस भुजा खुलि खेलनहारो ;
लोकप, दिग्गज, दानव, देव सबै सहमैं सुनि साहस भारो ।
बीर बड़ो बिरदैत बली, अजहूँ जग जागत जासु पँवारो ;
सो हनुमान हन्यो मुठिका, गिरि गो गिरिराज ज्यों गाज को मारो ।
झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर-जरे, मद-अंबु चुचाते ;
तीखे तुरंग मनोगति चंचल, पौन के गौनहुँ ते बढ़ि जाते ।
भीतर चंदमुखी अवलोकत, बाहर भूप खड़े न समाते ;
ऐसे भए तौ कहा तुलसी, जु पै जानकीनाथ के रंग न राते ।
कानन भूधर, बारि, बयारि, महाबिष, ब्याधि, दवा अति घेरे ;
संकट कोटि जहाँ तुलसी सुत, मातु, पिता, हित, बंधु न नेरे ।
राखि है राम कृपालु तहाँ, हनुमान-से सेवक हैं जिहि केरे ;
नाक, रसातल, भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ।
लागि दवारि पहारि ढही, लहकी कपि लंक यथा खर खोकी ;
चारु चुआ चहुँ ओर चली लपटैं झपटैं सो तमीचर तोकी ।
क्यों कहि जात महा सुखमा, उपमा तकि ताकत हैं कबि कोकी ;

मानों लसी तुलसी हनुमान-हिए जग जीति जराय की चोकी ।

चेरो राम राय को सुजसु सुनि तेरो हर-

पाइँ तर आइ रह्यो सुरसरि-तीर हौं ;

बामदेव राम को सुभाव-सील जानियत,

नातो नेह जानि जिय रघुबीर भीर हौं ।

अबिभूत बेदन बिषम होत भूतनाथ,

तुलसी बिकल पाहि, पचत कुपीर हौं ;

मारिए, तौ अनायास कासी-बास खास फल,

ज्याइए, तौ कृपा करि निरुज-सरीर हौं ।

विनय-पत्रिका

ऐसी तोहिं न बूझिए हनुमान हठीले ।

साहब कहूँ न राम-से तो-से न वसीले ।

तेरे देखत सिंह के सिसु मेढक लीले ;

जानत हौं कलि तेरेऊ मन गुन-गन कीले ।

हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले ;

सो बल गयो, किधौं भए अब गर्ब-गहीले ।

सेवक को परदा फटै तुम समरथ सीले ;

अधिक आपु ते आपुनो सुनि मान सहीले ।

साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले ,

तिहूँ काल तिनको भलो जे राम-रँगीले ।

श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरन भव-भय दारुणम् ;

नव कंज-लोचन, कंज-मुख, कर कंज, पद-कंजारुणम् ।

कंदर्प अगणित अमित छबि नव नील नीरज सुंदरम् ;

पट पीत मानहुँ तड़ित-रुचि, सुचि नौमि जनकसुतावरम् ।

भजु दीनबंधु दिनेस दानव-दैत्य-बंस-निकंदनम् ;

रघुनंद, आनँदकंद, कोसलचंद, दसरथनंदनम् ।

सिर मुकुट, कुंडल, तिलक चारु, उदार अंग बिभूषणम् ;
आजानुभुज, सर-चाप-धर, संग्राम जित खर-दूषणम् ।
इति बदत तुलसीदास शंकर शेष मुनि-मन-रंजनम् ;
मम हृदय-कंज निबास कुरु कामादि खल-दल-गंजनम् ।

इहै परम फल परम बड़ाई ।

नख-सिख रुचिर बिंदुमाधव-छबि निरखहिं नयन अघाई ।
बिसद किसोर पीन सुंदर बपु स्याम सुरुचि अधिकाई ;
नील कंज, बारिद, तमाल, मनि इन्ह तनु ते दुति पाई ।
मृदुल चरन सुभ चिह्न पदज नख अति अद्भुत उपमाई ;
अरुन नील पाथोज प्रसव जनु मनिजुत दलसमुदाई ।
जातरूप-मनि-जटित मनोहर नूपुर जन-सुखदाई ;
जनु हर-उर हरि बिबिध रूप धरि रहे बर भवन बनाई ।
कटि-तट रटति चारु किंकिनि-रव अनुपम, बरनि न जाई ;
हेम-जलज कल कलिन मध्य जनु मधुकर मुखर सोहाई ।
उर बिसाल भृगु-चरन चारु अति सूचत कोमलताई ;
कंकन चारु बिबिध भूषन बिधि रचि निज कर मन लाई ।
गजमनि-माल बीच भ्राजत, कहि जाति न पदिक निकाई ;
जनु उडुगन-मंडल बारिद पर नवग्रह रची अथाई ।

मेरो मन हरिजू, हठ न तजै ।

निसि-दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै ।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ;
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै ।
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ, सिर पदत्रान बजै ;
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग, कबहुँ न मूढ़ लजै ।
हौं हार्यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै ;
तुलसिदास बस होइ तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजै ।

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओसन की ।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की ;
नहिं तहँ सीतलता, न बारि पुनि, हानि होति लोचन की ।
ज्यों गज काँच बिलोकि स्वान जड़, छाँह आपने तन की ;
टूटत अति आतुर अहार-बस, छति बिसारि आनन की ।
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की ;
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ।
अब लौं नसानी, अब न नसैहौं ।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ।
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं ;
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित-कंचनहि कसैहौं ।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निजबस ह्वै न हँसैहौं ;
यह मन-मधुकर पन करि तुलसी, प्रभुपद-कमल बसैहौं ।
केसव, कहि न जाय, का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मनहिमन रहिए ।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे :
धोए मिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे ।
रबिकर नीर, बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ;
बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने :
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचाने ।
जाके प्रिय न राम-बैदेही ,
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ।
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ;
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भे सब मंगलकारी ।

नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ;
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो,
जासों होइ सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो।

जो पै रहनि राम सों नाहीं,
तौ नर खर, कूकर, सूकर-से, बादि जियत जग माहीं।
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सब ही के ;
मनुज-देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह सिय-पी के।
सूर, सुजान, सपूत, सुलच्छन गनियत गुन-गरुआई ;
बिन हरि-भजन इँदारुनि के फल, तजत नहीं करुआई।
कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि, सील, सरूप सलोने,
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने।

जो अनुराग न राम सनेही सों,
तो लह्यो लाहु कहा नर देही सों ?
जो तनु धरि परिहर सब सुख भै सुमति राम अनुरागी,
सो तनु पाइ अघाइ किए अघ, अवगुन अधम, अभागी।
ज्ञान, बिराग, जोग, जप, तप, मख, जग मुद-मग नहिं थोरे ;
राम-प्रेम बिनु नेम जाय ज्यों मृगजल जलधि हिलोरे।
लोक बिलोकि, पुरान-बेद सुनि, समुझि-बूझि गुरु ज्ञानी ;
प्रीति प्रतीति राम-पद-पंकज सकल सुमंगल-खानी।
अजहुँ जानि जिय, मानि हारि हिय, होइ पलक महँ नीको ;
सुमिरु सनेह सहित हित रामहिं, मानु मतो तुलसी को।

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरि-पद भजु, कर्म, बचन अरु ही ते।
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते ;
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते।

सुत-बनितादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह सब ही ते ,
अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर, तू किन तजु अब ही ते ?
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ,
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घी ते ।

ऐसेहि जनम-समूह सिराने ;
प्राननाथ रघुपति-से प्रभु तजि, सेवत चरन बिराने ।
जे जड़ जीव, कुटिल, कायर, खल, केवल कलि-मल-साने ,
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ, हरि ते अधिक करि माने ।
सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने ,
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने ।
यह दीनता दूरि करिबे को, अमित जतन उर आने ,
तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ।

हनुमान्-बाहुक

स्वर्ण-सैल-संकास, कोटि रबि तरुन तेज घन ;
उर बिसाल, भुजदंड चंड, नख बज्र, बज्र तन ।
पिंग नयन, भृकुटी कराल रसना दसनानन ,
कपिस केस, करकस लँगूर, खल-दल-बल-भानन ।
कह तुलसिदास बस जासु उर, मारुतसुत-मूरति बिकट ,
संताप, पाप तिहि पुरुष के, सपनेहुँ नहिं आवत निकट ।
सिंधु तरे, बड़े बीर दले, खलजाल हैं लंक-से बंक मवासे ।
तैं रन-केहरि केहरि के बिदले अरि-कुंजर छैल छवा-से ।
तोसों समत्थ सु साहिब सेइ सहै तुलसी दुख दोष दवासे ;
बानर-बाज बढ़े खल खेचर, लीजत क्यों न लपेटि लवा-से ?

घेरि लियो रोगनि, कुजोगनि, कुलोगनि ज्यौं
बासर जलद घनघटा धकिनाई है ;
करुनानिधान हनुमान महाबलवान,

हेरि, हँसि, हाँकि, फूँकि फौजें तैं उड़ाई है।
बरसत बारि पीर जारिए जवासे जस,
रोष बिनु दोष धूम-मूल मलिनाई है;
खाए हुते तुलसी कुरोग रॉड़ राकसिनि,
केसरी-किसोर राखे बीर बरियाई है।
काल की करालता, करम-कठिनाई कि धौं
पाप के प्रभाव की सुभाय बाय बावरे।
बेदन कुभाँति सो सही न जाति राति-दिन,
सोई बाँह गही जो गही समीर-डावरे।
लायो तरु तुलसी तिहारो सो निहारि बारि
सींचिए मलीन भो कुपरिताप-ताव रे।
भूतनि की आपनी पराई है कृपानिधान,
जानियत सब ही की रीति राम रावरे।
पाँय-पीर, पेट-पीर, बाहु-पीर, मुख-पीर,
जरजर सकल सरीर पीर-मई है;
देव, भूत, पितर, करम, खल, काल, ग्रह
मोहिं पर दवरि दमानक-सी दई है।
हौं तो बिन मोल ही बिकानो बलि बारे ही तें,
ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
कुंभज के किंकर बिकल बूड़ें गोखुरनि,
हाय रामराय ऐसी हाल कहूँ भई है?
बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो,
राम-नाम लेत माँगि, खात टकटाक हौं।
पस्यो लोक-रीति में पुनीत प्रीति रामराय
मोह-बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं।
खोटे-खोटे आचरन आचरत अपनायो,

अंजनीकुमार सोध्यौ राम पानि पाक हौं।
तुलसी गुसाईं भयो, भोंड़े दिन भूलि गए,
ताके फल पावत निदान परिपाक हौं।
असन-बसन-हीन, बिषम-बिषाद-लीन,
देखि दीन, दूबरो करै न हाय-हाय को?
तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सील-सिंधु आपने सुभाय को।
नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइगो
बिहाइ प्रभु-बचन सु मन-बच-काय को।
ताते तनु पेखियत घोर बरतोर मिस
फूटि-फूटि निकसत लोन रामराय को।
जीवों जग जानकी-जीवन को कहाय जन,
मरिबे को बारानसी, बारि सुर-सरि को।
तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक हैं ऐसे ठाँव,
जाके जिए-मुए सोच करिहैं न लरिको।
मोको झूठो-साँचो लोग राम को कहत सब,
मेरे मन मान है न हर को, न हरि को।
भारी पीर दुसह सरीर ते बिहाल होत,
सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को?
कहौं हनुमान सों, सुजान रामराय सों,
कृपानिधान संकर सों, सावधान सुनिए;
हरष-बिषाद-राग-रोष-गुन-दोष-मई
बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिए।
माया, जीव, काल के करम के सुभाय को
करैया राम, बेद कहैं, साँची मन गुनिए।
तुमसे कहा न होहि, हा-हा सो बुझैए मोहिं,

हौं हूँ रहौं मौन ही, वयो सो जानि लुनिए।

हनुमान-अष्टक

रावन जुद्ध अजान कियो, तब नाग कि पास सबै सिर डारो;
श्रीरघुनाथ समेत सबै दल मोहे, भयो तब संकट भारो।
आनि खगेस तबै हनुमानजु बंधन काटि कुत्रास निवारो।
को नहिं जानत है जग में, प्रभु संकटमोचन नाम तुम्हारो?

राम-चरित मानस (रामायण)

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ;
बंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ।
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ;
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।
कुंद-इंदुसम देह, उमा-रमन, करुना-अयन ;
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दनमयन।
बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपा-सिंधु नर-रूप हरि ;
महामोह-तम-पुंज, जासु बचन रबि-कर-निकर।

बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा ; सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ;
अमियमूरिमय चूरन चारू ; समन सकल भव-रुज-परिवारू।
सुकृत संभुतन बिमल बिभूती ; मंजुल मंगल-मोद-प्रसूती ;
जन-मन मंजु मुकुर मल-हरनी ; किए तिलक गुन-गन-बस-करनी।
श्रीगुरु-पद-नख-मनि-गन-जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह तम सोसु-प्रकासू, बड़े भाग उर आवइँ जासू।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के, मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के।
सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक ; गुपित प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।
जथा सुअंजन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान,
कौतुक देखहिं सैल, बन, भूतल भूरि निधान।
गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन, नयन-अमिय-दृग-दोष-बिभंजन।

तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन , बरनउँ राम-चरित भव-मोचन ।
बंदउँ प्रथम महीसुर-चरना , मोह-जनित संसय सब हरना ।
सुजन-समाज सकल गुन-खानी , करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ।
साधु-चरित सुभ सरिस कपासू , निरस, बिसद, गुनमय फल जासू ।
जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा , बंदनीय जेहि जग जसु पावा ।
मुद-मंगलमय संत-समाजू ; जो जग जंगम तीरथराजू ।
राम-भगति जहँ सुर-सरि-धारा ; सरसइ ब्रह्म-बिचार-प्रचारा ।
बिधि-निषेधमय कलि-मल-हरनी , करम कथा रबि-नंदिनि बरनी ।
हरि-हर-कथा बिराजति बेनी ; सुनत सकल मुद-मंगल-देनी ।
बट बिस्वासु, अचल निज धर्मा ; तीरथराज समाज सुकर्मा ।
सबहि सुलभ सब दिन, सब देसा ; सेवत सादर समन कलेसा ।
अकथ, अलौकिक तीरथराऊ ; देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ।

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ;
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रयाग ।

बालमीकि, नारद, घटजोनी , निज-निज मुखनि कही निज होनी ।
जलचर, थलचर, नभचर नाना , जे जड़-चेतन जीव जहाना ।
मति, कीरति, गति, भूति, भलाई , जब, जेहि जतन, जहाँ जेहि पाई ।
सो जानब सतसंग-प्रभाऊ ; लोकहु बेद न आन उपाऊ ।
बिनु सतसंग बिबेक न होई ; राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई ।
सतसंगति मुद-मंगल-मूला ; सोइ फल सिधि, सब साधन फूला ।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई ; पारस परसि कुधातु सोहाई ।
बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं ; फनिमनिसम निज गुन अनुसरहीं ।
बिधि-हरि-हर-कबि-कोबिद-बानी , कहत साधु-महिमा सकुचानी ।
सो मोसन कहि जात न कैसे , साक-बनिक मनि-गन-गुन जैसे ।

बंदउँ संत समान चित, हित अनहित नहिं कोउ ;
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ ।

संत सरल-चित जगत-हित, जानि सुभाउ सनेहु ;
बाल-विनय सुनि, करि कृपा, राम-चरन-रति देहु ।
बहुरि बंदि खलगन सतिभाए ; जे बिनु काज दाहिनेहु बाँए ।
पर-हित-हानि लाभ जिन्ह केरे ; उजरे हरष, विषाद बसेरे ।
हरि-हर-जस-राकेस-राहु-से ; पर-अकाज भट सहसबाहु-से ।
जे पर दोष लखहिं सहसाखी ; परहित घृत जिनके मन माखी ।
तेज कृसानु, रोष महिषेसा ; अघ-अवगुन-धन-धनी धनेसा ।
उदय केतु सम हित सब ही के ; कुंभकरन सम सोवत नीके ।
पर-अकाजु लगि तनु परिहरहीं ; जिमि हिम-उपल कृषी दलि-गरहीं ।
बंदउँ खल, जस सेष सरोषा ; सहसबदन बरनइ पर-दोषा ।
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना ; पर-अघ सुनइ सहस दस काना ।
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही ; संतत सुरानीक हित जेही ।
बचन-बज्र जेहि सदा पियारा ; सहस नयन पर-दोष निहारा ।
उदासीन-अरि-मीत-हित, सुनत जरहिं खल रीति ;
जानु पानि जुग जोरि जन, बिनती करउँ सप्रीति ।
मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा ; तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ।
बायस पलिअहि अति अनुरागा , होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ।
बंदउँ संत-असज्जन-चरना , दुख-प्रद उभय, बीच कछु बरना ।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं , मिलत एक दारुन दुख देहीं ।
उपजहिं एक संग जल माहीं, जलज जोंक जिमि, गुन बिलगाहीं ।
सुधा-सुरा-सम साधु-असाधू, जनक एक जग-जलधि अगाधू ।
भल, अनभल निज-निज करतूती, लहत सुजस, अपलोक बिभूती ।
सुधा, सुधाकर, सुरसरि, साधू, गरल, अनल, कलिमल, सरि, ब्याधू ।
गुन-अवगुन जानत सब कोई, जो जेहि भाव, नीक तेहि सोई ।
भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु ;
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु ।

खल अघ अगुन, साधु गुन गाहा, उभय अपार उदधि अवगाहा।
तेहि ते कछु गुन-दोष बखाने, संग्रह, त्याग न बिनु पहिचाने।
भलेउ पोच सब बिधि उपजाए, गनि गुन-दोष बेद बिलगाए।
कहहिं बेद, इतिहास, पुराना, बिधि-प्रपंच गुन-अवगुन-साना।
दुख सुख, पाप पुन्य, दिन राती, साधु असाधु, सुजाति कुजाती।
दानव देव, ऊँच अरु नीचू, अमिय सजीवनि, माहुर मीचू।
माया ब्रह्म, जीव जगदीसा, लच्छि अलच्छि, रंक अवनीसा।
कासी मग, सुरसरि क्रमनासा, मरु मालव, महिदेव गवासा।
सरग नरक, अनुराग बिरागा, निगम अगम, गुन दोष-बिभागा।

जड़-चेतन गुन-दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार ;
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू, मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू।
लखि सुबेष जग-बंचक जेऊ, बेष-प्रताप पूजिअहि तेऊ।
उघरहिं अंत, न होइ निबाहू, कालनेमि जिमि रावन, राहू।
कियहु कुबेषु साधु-सनमानू, जिमि जग जामवंत, हनुमानू।
हानि कुसंग, सुसंगति लाहू, लोकहु बेद बिदित सब काहू।
गगन चढ़इ रज पवन-प्रसंगा, कीचहि मिलइ नीच जल संगा।
साधु-असाधु-सदन सुक-सारी, सुमिरहिं रामु, देहिं गनि गारी।
धूम कुसंगति कारिख होई, लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई।
सोइ जल-अनल-अनिल-संघाता, होइ जलद जग-जीवन-दाता।

ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट, पाइ कुजोग, सुजोग,
होहिं कुबस्तु-सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग।
सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम-भेद बिधि कीन्ह,
ससि पोषक, सोषक समुझि, जग जस-अपजस दीन्ह।

सीय-राममय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।
जानि कृपा करि किंकर मोहू, सब मिलि करहु, छाँड़ि छल, छोहू।

निज बुधि-बल-भरोस मोहिं नाहीं, ताते बिनय करउँ सब पाहीं।
करन चहउँ रघुपति गुन-गाहा, लघु मति मोरि, चरित अवगाहा।
सूझ न एकउ अंग उपाऊ, मम मति रंक, मनोरथ राऊ।
मति अति नीचि, ऊँचि रुचि आछी, चहिय अमिय, जग जुरइ न छाछी।
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई, सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई।

भनित मोरि सब गुन-रहित, बिस्व-बिदित गुन एक ;
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्ह के बिमल बिबेक।

यहि महँ रघुपति-नाम उदारा, अति पावन, पुरान-स्रुति-सारा।
मंगल-भवन, अमंगलहारी, उमासहित जेहि जपत पुरारी।
भनित बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ, राम-नाम बिनु सोह न सोऊ।
बिधु-बदनी सब भाँति सवाँरी, सोह न बसन बिना बर नारी।
सब गुन रहित कुकबि-कृत बानी, रामनाम-जस-अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही, मधुकर सरिस संत गुन-ग्राही।
जदपि कबित-रस एकउ नाहीं, राम-प्रताप प्रगट यहि माहीं।
सोइ भरोस मोरे मन आवा ; केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ?
धूमउ तजइ सहज करुआई, अगरु-प्रसंग सुगंध बसाई।
भनित भदेस, बस्तु भलि बरनी, राम-कथा जग-मंगल-करनी।

स्याम सुरभि, पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान ;
गिरा ग्राम्य, सिय-राम-जस, गावहिं-सुनहिं सुजान।

मनि-मानिक-मुकुता छबि जैसी, अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी।
नृप-किरीट, तरुनी-तनु पाई, लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकबि-कबित बुध कहहीं, उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं।
भगति हेतु बिधि-भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई।
राम-चरित-सर बिनु अन्हवाए, सो स्रम जाइ न कोटि उपाए।
कबि-कोबिद अस हृदय बिचारी, गावहिं हरि-जस कलि-मल-हारी।
कीन्हे प्राकृत-जन-गुन-गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

हृदय-सिंधु मति सीपि-समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जो बरसइ बर बारि बिचारू, होहिं कबित मुकुता-मनि चारू।
जुगुति बेधि पुनि पोहियहि, राम-चरित बर ताग;
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग।
जे जनमे कलिकाल कराला, करतब बायस, बेष मराला।
चलत कुपंथ बेद-मग छाँड़े, कपट-कलेवर, कलि-मल-भाँड़े।
बंचक भगत कहाइ राम के, किंकर कंचन, कोह, काम के।
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी; धिग धरमध्वज, धँधरक धोरी।
बंदउँ मुनि-पद-कंजु, रामायन जेहि निरमएउ,
सखर, सकोमल मंजु, दोष-रहित, दूषन-सहित।
बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची, कीरति जासु सकल जग माची।
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू, बिस्व-सुखद, खल-कमल-तुसारू।
गिरा, अरथ जल, बीचि सम, कहियत भिन्न, न भिन्न;
बंदउँ सीता-राम-पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।
बंदउँ राम-नाम रघुबर को, हेतु कृसानु, भानु, हिमकर को।
बिधि-हरि-हरमय बेद-प्रान सो, अगुन, अनूपम, गुननिधान सो।
महामंत्र जोइ जपत महेसू, कासी मुकुति हेतु उपदेसू।
महिमा जासु जान गनराऊ, प्रथम पूजियत नाम-प्रभाऊ।
जान आदिकबि नाम-प्रतापू, भएउ सुद्ध करि उलटा जापू।
नाम-प्रभाउ जान सिव नीको, कालकूट फल दीन्ह अमी को।
बरषा-रितु रघुपति भगति, तुलसी सालि सु दास;
राम-नाम बर बरन जुग, सावन-भादवँ मास।
सुमिरत सुलभ, सुखद सब काहू, लोक लाहु, परलोक निबाहू।
बरनत बरन प्रीति बिलगाती, ब्रह्म-जीव सम सहज सँघाती।
नर-नारायन सरिस सु भ्राता, जग-पालक बिसेषि जन-त्राता।
भगति सुतिय कल करन-बिभूषन, जग-हितहेतु बिमल बिधु-पूषन।

स्वाद-तोष सम सुगति सुधा के, कमठ-सेषसम धर बसुधा के।
जन-मन मंजु कंज मधुकर-से, जीह-जसोमति-हरि-हलधर-से।
एक छत्र, इक मुकुट-मनि, सब बरननि पर जोउ,
तुलसी रघुबर-नाम के बरन बिराजत दोउ।
यहि बिधि निज गुन-दोष कहि, सबहि बहुरि सिर नाइ,
बरनउँ रघुबर बिसद जसु, सुनि कलि-कलुष नसाइ।
निज संदेह-मोह-भ्रम-हरनी, करउँ कथा भव-सरिता-तरनी।
बुध-बिसराम, सकल जन-रंजनि, राम-कथा कलि-कलुष-बिभंजनि।
राम-कथा कलि-पन्नग-भरनी, पुनि बिबेक-पावक कहँ अरनी।
राम-कथा कलि कामद गाई, सुजन-सजीवनिमूरि सोहाई।
सोइ बसुधातल सुधा-तरंगिनि, भय-भंजनि, भ्रम-भेक-भुअंगिनि।
असुरसेनसम नरक-निकंदिनि, साधु-बिबुध-कुल हित गिरि-नंदिनि।
संत-समाज-पयोधि रमा-सी; बिस्व-भार-भर अचल छमा-सी।
जमगन-मुँह-मसि जग जमुना-सी; जीवनमुकुति हेतु जनु कासी।
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी; तुलसिदास हित हिय हुलसी-सी।
सिव-प्रिय मेकल सैल-सुता-सी; सकल सिद्धि-सुख-संपति-रासी।
सदगुन-सुरगन अंब अदिति-सी; रघुबर-भगति प्रेम-परमिति-सी।
राम-कथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु;
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय-रघुबीर-बिहारु।
राम-चरित-चिंतामनि चारू; संत-सुमति-तिय सुभग सिंगारू।
जग-मंगल गुन-ग्राम राम के; दानि मुकुति, धन, धरम, धाम के।
सदगुरु ज्ञान, बिराग, जोग के; बिबुधबैद भव भीम रोग के।
जननि-जनक सिय-राम-प्रेम के; बीज सकल ब्रत, धरम, नेम के।
समन पाप, संताप, सोक के; प्रिय पालक परलोक, लोक के।
काम-कोह-कलिमल-करिगन के; केहरिसावक जन-मन-बन के।
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के; कामद घन दारिद-दवारि के।

मंत्र महामनि बिषय-ब्याल के ; मेटत कठिन कुअंक भाल के ।
हरन मोह-तम दिनकर-कर-से ; सेवक-सालिपाल जलधर-से ।
अभिमत-दानि देव-तरुबर-से ; सेवत सुलभ सुखद हरि-हर-से ।
सुकबि सरद, नभ मन उडुगन-से ; रामभगत जन जीवनधन-से ।
सेवक-मन-मानस मराल-से ; पावन गंग-तरंग-माल-से ।
संबत सोरह सै इकतीसा , करउं कथा हरि-पद धरि सीसा ।
नौमी, भौमबार, मधु-मासा , अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।
जिन्ह हरि-कथा सुनी नहिं काना , स्रवन-रंध्र अहि-भवन-समाना ।
नयनन्हि संत-दरस नहिं देखा , लोचन मोरपंख कर लेखा ।
ते सिर कटु तुंबरि सम तूला , जे न नमत हरि-गुरु-पद-मूला ।
जिन्ह हरि-भगति हृदय नहिं आनी , जीवत सव समान तेइ प्रानी ।
जो नहिं करइ राम-गुन-गाना , जीह सो दादुर-जीह समाना ।
कुलिस-कठोर निठुर सोइ छाती , सुनि हरि-चरित न जो हरषाती ।

राम-कथा सुर-धेनु सम, सेवत सब सुखदानि ,
सतसमाज सुरलोक सब, को न सुनइ अस जानि ?

राम-कथा सुंदर कर-तारी , संसय-बिहग उड़ावनहारी ।
राम-कथा कलि-बिटप-कुठारी , सादर सुनु गिरिराजकुमारी ।
भगतबछल प्रभु कृपानिधाना , बिस्व बास प्रगटे भगवाना ।

नील सरोरुह, नील मनि, नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तनु-सोभा निरखि कोटि-कोटि-सत काम ।

सरद-मयंक बदन छबि-सीवाँ , चारु कपोल चिबुक, दर ग्रीवाँ ।
अधर अरुन रद, सुंदर नासा , बिधु-कर-निकर-बिनिंदक हासा ।
नव अंबुज अंबक-छबि नीकी , चितवनि ललित भावती जी की ।
भ्रुकुटि मनोज-चाप-छबि-हारी , तिलक ललाट-पटल-दुतिकारी ।
कुंडल-मकर मुकुट सिर भ्राजा , कुटिल केस जनु मधुप-समाजा ।
उर श्रीवत्स, रुचिर बनमाला , पदिक-हार, भूषन मनि-जाला ।

केहरि कंधर चारु जनेऊ, बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ।
करि-कर सरिस सुभग भुज-दंडा, कटि निषंग, कर सर-कोदंडा।
तड़ित-बिनिंदक पीत पट, उदर रेख बर तीनि ;
नाभि मनोहर लेति जनु, जमुन भवँर छबि छीनि।
पद-राजीव बरनि नहिं जाहीं, मुनि-मन-मधुप बसहिं जिन्ह माहीं।
बाम भाग सोभति अनुकूला, आदि-सक्ति छबि-निधि, जग-मूला।
जासु अंस उपजहिं गुन-खानी, अगनित लच्छि, उमा, ब्रह्मानी।
भृकुटि-बिलास जासु जग होई, राम बाम दिसि सीता सोई।
छबि-समुद्र हरि-रूप बिलोकी, इकटक रहे नयन पट रोकी।
चितवहिं सादर रूप अनूपा, तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा।
भूप बाग बर देखेउ जाई, जहँ बसंत रितु रही लुभाई।
लागे बिटपि मनोहर नाना, बरन-बरन बर बेलि-बिताना।
नव पल्लव, फल, सुमन सुहाए, निज संपति सुर-रूख लजाए।
चातक, कोकिल, कीर, चकोरा, कूजत बिहग, नटत कल मोरा।
मध्य बाग सर सोह सुहावा, मनि-सोपान बिचित्र बनावा।
बिमल सलिल, सरसिज बहु रंगा, जल-खग कूजत, गुंजत भृंगा।
बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु, हरषे बंधु समेत ;
परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत।
कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि, कहत लषन सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन-दुंदुभी दीन्ही, मनसा बिस्व-बिजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितए तिहि ओरा, सिय-मुख-ससि भए नयन चकोरा।
भए बिलोचन चारु अचंचल, मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।
देखि सीय-सोभा सुख पावा, हृदय सराहत बचनु न आवा।
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई।
सुंदरता कहँ सुंदर करई, छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई।
सब उपमा कबि रहे जुठारी, केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी?

सोभा-सींव सुभग दोउ बीरा, नील-पीत-जलजाभ-सरीरा ।
मोर-पंख सिर सोहत नीके, गुच्छा बिच-बिच कुसुम-कली के ।
भाल तिलक, स्रम-बिंदु सुहाए, स्रवन सुभग भूषन छबि छाए ।
बिकट भ्रुकुटि, कच घूँघरवारे, नव सरोज लोचन रतनारे ।
चारु चिबुक, नासिका, कपोला, हास-बिलास लेत मन मोला ।
मुख-छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं, जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ।
उर मनिमाल, कंबु-कल ग्रीवा, काम-कलभ-कर भुज बल-सींवाँ ।
सुमन समेत बाम कर दोना, साँवर कुँअर सखी सुठि लोना ।

केहरि कटि पट पीत धर, सुखमा-सील-निधान ;
देखि भानु-कुल-भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान ।

उएउ अरुन अवलोकहु ताता, पंकज-लोक-कोक-सुख-दाता ।
बोले लषन जोरि जुग पानी, प्रभु-प्रभाव-सूचक मृदु बानी ।

अरुन-उदय सकुचे कुमुद, उडुगन-जोति मलीन ;
तिमि तुम्हार आगमन सुनि, भए नृपति बल-हीन ।

नृप सब नखत करहिं उजियारी, टारि न सकहिं चाप-तम भारी ।
कमल, कोक, मधुकर, खग नाना, हरषे सकल निसा-अवसाना ।
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे, होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ।
उएउ भानु, बिनु स्रम तम नासा, दुरे नखत, जग तेज प्रकासा ।
रबि निज उदय ब्याज रघुराया, प्रभु-प्रताप सब नृपन्ह दिखाया ।
तव भुज-बल-महिमा उदघाटी, प्रगटी धनु-बिघटन-परिपाटी ।
पुनि मुनि-बृंद समेत कृपाला, देखन चले धनुष-मख-साला ।
रंगभूमि आए दोउ भाई, अस सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ।
चले सकल गृह-काज बिसारी, बाल, जुवान, जरठ नर-नारी ।
देखी जनक भीर भइ भारी, सुचि सेवक सब लिए हँकारी ।
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू, आसन उचित देहु सब काहू ।

कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह, बैठारे नर-नारि ;

उत्तम, मध्यम, नीच, लघु, निज-निज थल अनुहारि ।
राजकुँअर तेहि अवसर आए, मनहुँ मनोहरता तन छाए।
गुन-सागर, नागर, बर बीरा, सुंदर, स्यामल-गौर-सरीरा।
राज-समाज बिराजत रूरे, उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे।
जिन्ह के रही भावना जैसी, प्रभु-मूरति देखी तिन्ह तैसी।
देखहिं भूप महा रन-धीरा, मनहुँ बीर-रस धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल छोनिप-बेखा, तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई, नर-भूषन, लोचन-सुखदाई।
नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज-निज रुचि अनुरूप ;
जनु सोहत सृंगार धरि, मूरति परम अनूप।
बिदुषन प्रभु बिराट-मय दीसा, बहु मुख, कर, पग, लोचन, सीसा।
जनक जाति अवलोकहिं कैसे, सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे।
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी, सिसु सम,प्रीति न जाइ बखानी।
जोगिन्ह परमतत्त्वमय भासा, सांत, सुद्ध, सम, सहज प्रकासा।
हरि-भगतन देखे दोउ भ्राता, इष्टदेव इव सब सुखदाता।
रामहिं चितव भाव जेहि सीया, सो सनेह सुख नहिं कथनीया।
उर अनुभवति,न कहि सक सोऊ, कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ?
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ, तेहि तस देखेउ कोसलराऊ।
राजत राज-समाज महँ, कोसल-राज-किसोर ;
सुंदर, स्यामल-गौर-तनु, बिस्व-बिलोचन-चोर।
सहज मनोहर मूरति दोऊ, कोटि काम उपमा लघु सोऊ।
सरद-चंद-निंदक मुख नीके, नीरज-नयन भावते जी के।
चितवनि चारु मार-मद-हरनी, भावति हृदय, जाति नहिं बरनी।
कल कपोल स्रुति कुंडल लोला, चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला।
कुमुद-बंधु-कर-निंदक हासा, भृकुटी कुटिल, मनोहर नासा।

भाल बिसाल तिलक झलकाहीं, कच बिलोकि अलि-अवलि लजाहीं।
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई, कुसुम-कली बिच-बीच बनाई।
रेखा रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ, जनु त्रिभुवन-सोभा की सीवाँ।
कुंजर-मनि-कंठा कलित, उरन्ह तुलसिका-माल।
बृषभ-कंध, केहरि ठवनि, बल-निधि बाहु बिसाल।
कटि तूनीर पीत पट बाँधे, कर सर-धनुष बाम बर काँधे।
पीत जज्ञउपबीत सोहाए, नख-सिख मंजु महा छबि छाए।
देखि लोग सब भए सुखारे, इकटक लोचन टरत न टारे।
हरषे जनक देखि दोउ भाई, मुनि-पद-कमल गहे तब जाई।
करि बिनती निज कथा सुनाई, रंग-अवनि सब मुनिहि दिखाई।
जहँ-जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ, तहँ-तहँ चकित चितव सब कोऊ।
निज-निज रुख रामहिं सब देखा, कोउ न जान कछु मरम बिसेखा।
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ, राजा मुदित महा सुख लहेऊ।
सब मंचन्ह तें मंच इक, सुंदर, बिसद, बिसाल;
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ, बैठारे महिपाल।
जानि सुअवसर सीय तब, पठई जनक बुलाइ;
चतुर सखी सुंदरि सकल, सादर चलीं लेवाइ।
सिय-सोभा नहिं जाइ बखानी, जगदंबिका रूप-गुन-खानी।
उपमा सकल मोहिं लघु लागी, प्राकृत नारि अंग अनुरागी।
सीय बरनि तेहि उपमा देई, कुकबि कहाइ अजसु को लेई?
जो पटतरिय तीय महँ सीया, जग असि जुवति कहाँ कमनीया?
गिरा मुखर, तन अरध भवानी, रति अतिदुखित अतनु पति जानी।
बिष, बारुनी बंधु, प्रिय जेही, कहिय रमा सम किमि बैदेही?
जो छबि-सुधा-पयोनिधि होई, परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु, मंदरु सिंगारू, मथइ पानि-पंकज निज मारू।
यहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता-सुख-मूल;

तदपि सकोच समेत कबि, कहहिं सीय-समतूल ।
चलीं संग लै सखी सयानी, गावत गीत मनोहर बानी।
सोह नवल तनु सुंदर सारी, जगत-जननि अतुलित छबि भारी।
भूषन सकल सुदेस सुहाए, अंग-अंग रचि सखिन्ह बनाए।
रंगभूमि जब सिय पगु धारी, देखि रूप मोहे नर-नारी।
हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई, बरषि प्रसून अपछरा गाई।
पानि-सरोज सोह जयमाला, अवचट चितए सकल भुआला।
सिय चकित-चित रामहि चाहा, भए मोह-बस सब नरनाहा।
मुनि समीप देखे दोउ भाई, लगे ललकि लोचन निधि पाई।

गुरुजन-लाज, समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि ;
लगी बिलोकन सखिन्ह तन, रघुबीरहि उर आनि ।

तब बंदीजन जनक बुलाए, बिरदावली कहत चलि आए।
कह नृप, जाइ कहहु पन मोरा, चले भाट, हिय हरष न थोरा

बोले बंदी बचन बर, सुनहु सकल महिपाल ;
पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल ।

नृप-भुज-बलु बिधु सिव-धनु राहू, गरुअ, कठोर बिदित सब काहू।
रावन, बान महाभट भारे, देखि सरासन गवहिं सिधारे।
सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा, राज-समाज आजु जेइ तोरा।
त्रिभुवन-जय-समेत बैदेही, बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही।
सुनि पन सकल भूप अभिलाषे, भटमानी अतिसय मन माषे।
परिकर बाँधि उठे अकुलाई, चले इष्टदेवन्ह सिरु नाई।
तमकि ताकि तकि सिव-धनु धरहीं, उठइ न कोटि भाँति बल करहीं।
जिनके कछु बिचार मन माहीं, चाप समीप महीप न जाहीं।

तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न, चलहिं लजाइ ;
मनहुँ पाइ भट-बाहु-बल, अधिक-अधिक गरुआइ ।

डिगइ न संभु-सरासन कैसे, कामी-बचन सती-मन जैसे।

सब नृप भए जोग उपहासी , जैसे बिनु बिराग संन्यासी ।
कीरति, बिजय, बीरता भारी , चले चाप-कर बरबस हारी ।
श्रीहत भए हारि हिय राजा , बैठे निज-निज जाइ समाजा ।
बिस्वामित्र समय सुभ जानी , बोले अति सनेह मृदु बानी ।
उठहु राम, भंजहु भव-चापा , मेटहु तात जनक-परितापा ।
सुनि गुरु-बचन चरन सिरु नावा , हरष-बिषाद न कछु उर आवा ।
ठाढ़ भए उठि सहज सुभाए , ठवनि जुवा मृगराज लजाए ।

उदित उदयगिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग ।
बिकसे संत सरोज-बन, हरषे लोचन-भृंग ।

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी , बचन नखत-अवली न प्रकासी ।
मानी महिप कुमुद सकुचाने , कपटी भूप उलूक लुकाने ।
भए बिसोक कोक मुनि-देवा , बरषहिं सुमन, जनावहिं सेवा ।
गुरु-पद बंदि सहित अनुरागा , राम मुनिन सन आयसु माँगा ।
सहजहि चले सकल जग-स्वामी , मत्त मंजु बर कुंजर-गामी ।
चलत राम सब पुर-नर-नारी , पुलक पूरि तन भए सुखारी ।
बंदि पितर सब सुकृत सँभारे , जौं कछु पुन्य-प्रभाव हमारे ।
तौ सिव-धनु मृनाल की नाईं , तोरहिं राम गनेस गोसाईं ।

रामहिं प्रेम समेत लखि, सखिन्ह समीप बोलाइ ;
सीता-मातु सनेह-बस, बचन कहइ बिलखाइ ।

सखि सब कौतुक देखनहारे , जेउ कहावत हितू हमारे ।
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं , ये बालक, अस हठ भलु नाहीं ।
रावन, बान छुआ नहिं चापा , हारे सकल भूप करि दापा ।
सो धनु राजकुँअर-कर देहीं , बाल मराल कि मंदर लेहीं ।
भूप सयानप सकल सिरानी , सखि बिधि-गति कछु जाति न जानी ।
बोली चतुर सखी मृदु बानी , तेजवंत लघु गनिय न रानी ।
कहँ कुंभज, कहँ सिंधु अपारा , सोखेउ सुजस सकल संसारा ।

रबि-मंडलु देखत लघु लागा , उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।
मंत्र परम लघु, जासु बस, बिधि, हरि, हर, सुर सर्ब ;
महामत्त गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्ब।
काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हे , सकल भुवन अपने बस कीन्हे।
देवि तजिय संसय अस जानी , भंजब धनुष राम सुनु रानी।
सखी-बचन सुनि भइ परतीती , मिटा बिषाद, बढ़ी अति प्रीती।
तब रामहिं बिलोकि बैदेही , सभय हृदय बिनवति जेहि-तेही।
मन-ही-मन मनाव अकुलानी , होउ प्रसन्न महेस, भवानी।
करहु सफल आपनि सेवकाई , करि हित हरहु चाप-गरुआई।
गन-नायक बर-दायक देवा , आजु लगे कीन्हेउँ तुव सेवा।
बार-बार सुनि बिनती मोरी , करहु चाप-गुरुता अति थोरी।
देखि-देखि रघुबीर तन, सुर मनाव धरि धीर ;
भरे बिलोचन प्रेम-जल, पुलकावली सरीर।
नीके निरखि नयन भरि सोभा , पितु-पनु सुमिरि बहुरि मन छोभा।
अहह तात, दारुन हठ ठानी , समुझत नहिं कछु लाभ न हानी।
सचिव सभय सिख देइ न कोई , बुध-समाज बड़ अनुचित होई।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा , कहँ स्यामल मृदु-गात किसोरा।
बिधि किहि भाँति धरउँ उर धीरा , सिरिस-सुमन कत बेधिय हीरा!
सकल सभा कै मति भइ भोरी ; अब मोहिं संभु-चाप, गति तोरी।
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी , होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी।
अति परिताप सीय मन माहीं , लव-निमेष जुग-सत सम जाहीं।
प्रभुहि चितइ, पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल ;
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु-मंडल डोल।
गिरा अलिनि मुख-पंकज रोकी , प्रगट न लाज-निसा अवलोकी।
लोचन-जल रह लोचन-कोना , जैसे परम कृपन कर सोना।
सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी , धरि धीरज प्रतीति उर आनी।

तन-मन-बचन मोर पन साँचा, रघुपति-पद-सरोज चितु राँचा।
तौ भगवान सकल उर-बासी, करिहहिं मोहिं रघुबर कै दासी।
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू, सो तिहि मिलइ, न कछु संदेहू।
प्रभु तन चितइ प्रेम-पन ठाना, कृपानिधान राम सब जाना।
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे, चितव गरुड़ लघु ब्यालहि जैसे।

लषन लखेउ रघुबंस-मनि, ताकेउ हर-कोदंड ;
पुलकि गात बोले बचन, चरन चापि ब्रह्मंड।

दिसि-कुंजरहु, कमठ, अहि, कोला, धरहु धरनि धरि धीर, न डोला।
राम चहहिं संकर-धनु तोरा, होहु सजग सुनि आयसु मोरा।
चाप समीप राम जब आए, नर-नारिन्ह सुर, सुकृत मनाए।
सब कर संसय अरु अज्ञानू, मंद महीपन्ह कर अभिमानू।
भृगुपति केरि गरब-गरुआई, सुर मुनि-बरन्ह केरि कदराई।
सिय कर सोच, जनक-पछितावा, रानिन्ह कर दारुन दुख-दावा।
संभु-चाप बड़ बोहित पाई, चढ़े जाइ सब संग बनाई।
राम-बाहु-बल सिंधु अपारू, चहत पार नहिं कोउ कनहारू।

राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे-से देखि ;
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि।

देखी बिपुल बिकल बैदेही, निमिष बिहात कलप-सम तेही।
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा, मुए करइ का सुधा-तड़ागा?
का बरषा जब कृषी सुखाने, समय चूकि पुनि का पछ्ताने?
अस जिय जानि जानकी देखी, प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी।
गुरुहि प्रनाम मनहिं-मन कीन्हा, अति लाघव उठाय धनु लीन्हा।
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ, पुनि धनु नभ-मंडल-सम भयऊ।
लेत, चढ़ावत, खैंचत गाढ़े, काहु न लखा, देख सब ठाढ़े।
तेहि छन मध्य राम धनु तोरा, भरेउ भुवन धुनि घोर, कठोरा।

संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल ;

बूड़ सो सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिं मोहबस।

इंद्र-स्तुति

जय राम सदा सुख-धाम हरे, रघुनायक सायक चाप धरे।
भव-बारन, दारन सिंह प्रभो, गुन-सागर, नागर, नाथ, बिभो।
तनु काम अनेक अनूप छबी, गुन गावत सिद्ध, मुनींद्र, कबी।
जसु पावन रावन नाग महा, खगनाथ जथा करि कोप गहा।
जन-रंजन, भंजन सोक भयं, गत क्रोध सदा प्रभु बोधमयं।
अवतार उदार अपार गुनं, महिभार-बिभंजन ज्ञानघनं।
अज व्यापकमेकमनादि सदा, करुनाकर राम नमामि मुदा।
रघुबंस-बिभूषन, दूषन-हा, कृत भूप बिभीषन दीन रहा।
गुन-ज्ञान-निधान अमान अजं, नित राम नमामि बिभुं बिरजं।
भुज-दंड प्रचंड प्रताप बलं, खल-बृंद-निकंद महा कुसलं।
बिनु कारन दीनदयाल हितं, छबि-धाम नमामि रमा-सहितं।
भव-तारन कारन काज परं, मन-संभव दारुन दोष-हरं।
सर चाप मनोहर तून धरं, जलजारुनलोचन भूपबरं।
सुख-मंदिर सुंदर श्रीरमनं, मद, मार मुधा, ममता-समनं।
अनवद्य अखंड न गोचर गो, सब रूप सदा सब होइ न सो।
इति बेद बदंति, न दंतकथा, रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा।
कृतकृत्य बिभो सब बानर ए, निरखंत तवानन सादर जे।
धिग जीवन देव-सरीर हरे, तव भक्ति बिना भव भूलि परे।
अब दीनदयालु दया करिए, मति मोरि बिभेद-करी हरिए।
जेहि ते बिपरीत क्रिया करिए, दुख सो सुख मानि सुखी चरिए।
खल-खंडन मंडन रम्य छमा, पद-पंकज सेवित संभु उमा।
नृपनायक दे बरदानमिदं, चरनांबुज-प्रेम सदा सुभदं।

वेद-स्तुति

जय सगुन-निर्गुन-रूप राम अनूप भूप-सिरोमने;

दससकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज-बल हने।
अवतार नर संसार-भार बिभंजि दारुन दुख दहे;
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे।
तुव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे;
भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुनन्हि भरे।
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे;
भव-खेद-छेदन-दच्छ हम कहँ रच्छु राम नमामहे।
जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरी,
ते पाइ सुर-दुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तुव जे होइ रहे,
जपि नाम तुव बिनु स्रम तरहिं भव, नाथ राम नमामहे।
जे चरन सिव अजपूज्य रज सुभ परसि मुनि-पतनी तरी,
नख-निर्गता मुनि-बंदिता त्रैलोक्य-पावनि सुर-सरी।
ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंज-जुत बन फिरत कंटक जिन लहे,
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।
अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने,
षट-कंध, साखा पंचबिंस, अनेक पर्न, सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे,
पल्लवत, फूलत नव ललित संसार-बिटप नमामहे।
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं,
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।
करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं;
मन-बचन-कर्म बिकार तजि तुव चरन हम अनुरागहीं।

शिव-स्तुति

जय राम रमा-रमनं समनं, भव-ताप-भयाकुल पाहि जनं।
अवधेस सुरेस रमेस बिभो, सरनागतमागत, पाहि प्रभो;

दससीस-बिनासन बीस भुजा , कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।
रजनी-चरबृंद पतंग रहे , सर पावक-तेज प्रचंड दहे।
महि-मंडल-मंडन चारुतरं , धृत सायक चाप निषंग बरं।
मद मोह महा ममता रजनी , तम-पुंज दिवाकर तेज अनी।
मनजात किरात निपात किए , मृग लोग कुभोग सरे न हिए।
हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे , बिषया बन पाँवर भूलि परे।
बहु रोग बियोगन्हि लोग हए , भवदंघ्रि निरादर के फल ए।
भव-सिंधु अगाध परे नर ते , पद-पंकज प्रेम न जे करते।
अति दीन मलीन दुखी नितहीं , जिनके पद-पंकज-प्रीति नहीं।
अवलंब भवंत कथा जिनके , प्रिय संत अनंत सदा तिनके।
नहिं राग, न लोभ, न मान-मदा , तिनके सम बैभव वा बिपदा।
यहि ते तव सेवक होत मुदा , मुनि त्यागत जोग-भरोस सदा।
करि प्रेमु निरंतर नेमु लिए , पद-पंकज सेवत सुद्ध हिए।
सम मानि निरादर-आदरही , सब संत सुखी बिचरंति मही।
मुनि-मानस-पंकज-भृंग भजै , रघुबीर महा रनधीर अजै।
तुव नाम जपामि नमामि हरी , भवरोग महा मद मान अरी।
गुन-सील-कृपा-परमायतनं , प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं।
रघुनंद निकंदय द्वंद घनं , महिपाल बिलोकय दीन जनं।

इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि वास्तव में, चौरासी-वार्ता तथा भक्तमाल के अनुसार, सूरदास सारस्वत-ब्राह्मण थे, और इनके पिता का नाम रामदास था। इनका जन्म दिल्ली के समीप सीही-ग्राम के निवासी निर्धन माता-पिता के घर हुआ था। अब यह प्रश्न उठता है कि सूरदास जन्मांध थे या नहीं? इसके विषय में सिवा भक्तमाल के कोई प्राचीन प्रमाण तो नहीं मिला, परंतु रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह-कृत रामरसिकावली में, भक्तमाल के आधार पर, लिखा हुआ है—"जनमहि ते हैं नैन-बिहीना।" हमें तो इस लेख पर विश्वास नहीं होता। सूरदास ने अपनी कविता में ज्योति के, रंगों के और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे-ऐसे मनोरम वर्णन किए हैं, उपमाएँ ऐसी चुभती हुई दी हैं, जिनसे यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों-देखे, केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से, ऐसा वर्णन कर सकता है। चौरासी-वार्ता में इनका जन्मांध होना नहीं लिखा है। एक किंवदंती है कि सूरदास जब अंधे न थे, तब एक युवती को देखकर उस पर आसक्त हो गए थे। मगर पीछे प्रकृतिस्थ होकर यह दोष नेत्रों का समझ तुरंत दो सुइयों से आपने अपने दोनों नेत्र फोड़ डाले। यह बात सत्य जँचती है। संभव है, स्त्री का विषय होने के कारण ही चौरासी-वार्ता में यह हाल न लिखा गया हो।

भक्तमाल में लिखा है कि इनके पिता ने आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत कर दिया था। कुछ काल में इनके माता-पिता मथुरा-दर्शन को गए। उस समय सूरदास भी उनके साथ थे। जब वे घर लौटने लगे, तब सूरदास ने उनसे विनती की कि "अब मुझे यहीं रहने दो।" इस पर उनके माता-पिता रोने लगे। बोले—"तुम्हें अकेले किसके सहारे छोड़ जायँ?" तब सूर ने कहा—"कृष्णचंद्र का सहारा क्या थोड़ा है?" इस पर एक साधु

ने कहा—"मैं इस बालक को अपने साथ रक्खूँगा।" तब सूर के माता-पिता रोते-कलपते घर चले गए, और यह महाराज ब्रज में ही रह गए। एक बार अंधे होने के कारण सूरदास एक कुएँ में जा पड़े, और छः दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन इन्हें किसी ने निकाला। सूर ने समझा, स्वयं कृष्ण भगवान् ने उन्हें निकाला है। बस, इन्होंने निकालनेवाले की बाँह पकड़ ली; पर वह बाँह छुड़ाकर भाग गया। इस पर इन्होंने यह दोहा पढ़ा—

"बाँह छोड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोहिं;
हिरदै सों जब जाइ हौ, मरद बदौंगो तोहिं।"

इसके उपरांत, चौरासी-वार्ता के अनुसार, यह महाराज गऊघाट-नामक एक स्थान पर, जो आगरे और मथुरा के बीच में है, रहने लगे। वहीं यह महाराज वल्लभाचार्य महाप्रभु के शिष्य हुए, उन्हीं के साथ गोकुल में श्रीनाथजी के मंदिर को गए, और बहुत काल तक वहीं रहे। इसी स्थान पर इनसे गोस्वामी बिट्ठलनाथ से बहुधा भेंट हुआ करती थी, और गोस्वामीजी इनके पद सुना करते थे। सूरदास सदैव कृष्णानंद में मग्न एवं उन्मत्त रहा करते थे, और अपनी अखंड भक्ति से संसार को शुद्ध करते थे।

यहीं रहते-रहते यह महाराज वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। जब इन्हें विदित हुआ कि इनका अंत-समय निकट है, तब यह पारासोली को चले गए। जब गोस्वामीजी को यह संवाद मिला, तब वह भी पारासोली पहुँचे, और सूरदास से अंत-पर्यंत उनसे बात-चीत होती रही। उसी समय किसी ने सूरदास से पूछा—"आपने अपने गुरु का कोई पद क्यों नहीं बनाया?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया—"मैंने सब पद गुरुजी ही के बनाए हैं; क्योंकि मेरे गुरु और श्रीकृष्णचंद्र में कोई भी भेद नहीं है।" तथापि उन्होंने एक पद भी रचा। वह यों है—

"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ;
श्रीवल्लभ-नख-चंद-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नहीं या कलि मैं, जासों होत निबेरो ;
'सूर' कहा कहि दुविधि आँधरो, बिना मोल को चेरो।"

अंत-समय सूरदास ने कृष्ण-राधिका का एक भजन कहा, और ऐसे प्रेम-गद्गद हुए कि उनके नेत्रों में अश्रु-जल छा गया। इस पर गोस्वामीजी ने पूछा—"सूरदासजी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है ?" तब सूरदास ने निम्न-लिखित भजन पढ़कर शरीर त्याग दिया—

"खंजन नैन रूप रस माते ;
अतिसै चारु, चपल, अनियारे पल-पिंजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के उलटि-उलटि ताटंक फँदाते ;
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते।"

इन महाशय के विषय में कई ग्रंथकारों का मत है कि यह उद्धव के अवतार थे।

कविता

सूरदास ने पाँच ग्रंथ बनाए हैं—सूरसागर, सूरसारावली, साहित्यलहरी (दृष्ट-कूट), नल-दमयंती और ब्याहलो। खोज में ब्याहलो और नल-दमयंती, ये दो ग्रंथ लिखे हैं ; पर हमारे देखने में नहीं आए।

साहित्यलहरी को सूरदास ने सं० १६०७ वि० में संकलित किया था। इसमें कुछ पद सूरसागर से और कुछ कूट रक्खे गए हैं। इसकी एक छंदोबद्ध टीका भी है; जो सूरदास के नाम से बनी है। परंतु यह निश्चय नहीं होता कि यह टीका सचमुच सूर-कृत है या नहीं। टीका में प्रत्येक पद के अलंकार, नायिका आदि का वर्णन है। परंतु सूरदास ने रीतिबद्ध कविता नहीं की है। स्वाभाविक रीति से जो वर्णन जहाँ उचित था, लिखा। इस

कारण शंका होती है कि यह टीका सूर-कृत नहीं है। सरदार कवि ने अपनी टीका में पहले ११७ पद दिए हैं, फिर ६३ और लिखे हैं। इस प्रकार उनकी प्रति में कुल १८० पद हैं। इन कूटों में नायिका और अलंकार अवश्य निकलते हैं, और श्रुति-कटु दूषण भी नहीं है; परंतु यह दोष है कि विना टीका की सहायता के इनका अर्थ लगाना कठिन है। इनमें यमक और अनुप्रास खूब आए हैं। यदि कोई धैर्यवान् व्यक्ति इस पुस्तक के अर्थ लगाकर देखे, तो विदित हो कि इसमें सूरदास ने कितना परिश्रम किया है।

सूरसारावली में सूरदास ने सूरसागर की सूची-सी दी है। इसमें ११०७ पद हैं। परंतु कुल ग्रंथ में एक ही छंद होने के कारण इसे पढ़ना उतना रुचिकर नहीं है, जितना इन महाकवि के अन्य ग्रंथों को। यदि एक ही छंदवाले दूषण को छोड़ दीजिए, तो इस ग्रंथ में भी सूरदास की वही छटा विद्यमान है, जिसने उनको कवियों में सूर्य की पदवी से विभूषित कराया है।

सूरसागर बारह स्कंधों में समाप्त हुआ है। परंतु दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष स्कंध बहुत छोटे हैं, और उनमें साहित्यिक छटा भी प्रायः वैसी रोचक नहीं है, जैसी कि दशम के पूर्वार्द्ध में। जिस प्रकार तुलसीदास के बाल तथा अयोध्या-कांड निकाल डालने से उनके कवित्व-गौरव का एक बृहदंश खंडित हो सकता है, उसी प्रकार यदि सूरसागर के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध निकाल डाला जाय, तो सूर को सूर्यवत् कोई भी न माने। तथापि, जैसे रामायण के अन्य कांडों में गोस्वामीजी की कवित्व-शक्ति की पूर्ण झलक मिलती है, और पूर्वोक्त दोनों कांड पढ़कर पाठक अवाक् रह जाते हैं, उसी प्रकार वही सूर-कृत दशम के पूर्वार्द्ध एवं अन्य स्कंधों का हाल है। सूरसागर में श्रीमद्भागवत के आशय पर कथा कही गई है; परंतु कथाएँ बहुत न्यूनाधिक हैं। प्रथम

नव स्कंधों में विविध वार्ताएँ और कथाएँ हैं, तथा दशम में श्रीकृष्णचंद्र की लीलाओं का वर्णन है। एकादश स्कंध में उद्धव का बदरिकाश्रम-गमन एवं हंसावतार की कथा है। बारहवें स्कंध में बौद्धावतार, भविष्य कल्कि-अवतार एवं परीक्षित के शरीर-त्याग का वर्णन है। उस समस्त सूरसागर में, जो बाबू राधाकृष्ण-दास द्वारा प्रकाशित हुआ है, ४०१८ पद हैं। सूरदास ने प्रत्येक वर्णन सूक्ष्म रूप से किया है; केवल, श्रीकृष्ण ने नंदगृह में बस-कर जो लीला की है, उसका और उद्धव-संवाद का वर्णन विस्तार-पूर्वक है। परंतु इन्हीं दोनों वर्णनों में सूरदास ने दिखा दिया है कि विस्तार किसे कहते हैं। सूर व्रज-वासी कृष्ण के, विशेष-कर राधा-कृष्ण के, भक्त थे। अतः ज्यों ही कृष्ण मथुरा को चले गए, त्यों ही उनका भी वर्णन संक्षेप से होने लगा। कहीं-कहीं आपने कार्यों के वर्णनों में बड़ी ही द्रुत गति का आश्रय लिया है। आप व्रज में मथुरा को नहीं जोड़ते (पृष्ठ ५६२)। व्रजवासीदास ने व्रजविलास को इसी पुस्तक के सहारे बनाया है। इस ग्रंथ के गुणों और दोषों का वर्णन सौर कविता की समालोचना में किया जाता है।

कविता की समालोचना

(१) सूरदास की कविता में सर्व-प्रधान गुण यह है कि उसके पद-पद से कवि की अटल भक्ति झलकती है। प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा होता है। सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि, जो उस पर बीते, अथवा जो उमंगें उसके चित्त में उठें, या जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वर्णन करे। यदि कोई लंपट मनुष्य वैराग्य-कथन करने बैठेगा, तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी

चंचल नहीं किया। तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से लाकर वर्णन करे ? यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो वैराग्य के विषय में उसने इधर-उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह चलेगा। ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नक़ल के कोई असली भाव न आवेगा। ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरक्त है, उसके चित्त में वैराग्य-संबंधी असली भाव उठेंगे, और जब उनका वर्णन होगा, तभी कविता असली और सजीव होगी। इसी कारण उर्दू के कवियों में यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी ख़ास उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ, आशिक़ हो आओ। असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है—"थारी कविता में सूल्यो लग्यो।"

सूरदास की कविता प्रधानतः ऐसी है कि उसमें भक्ति का चित्र प्रत्येक स्थान पर देख पड़ता है। यह महाराज जाति-भेद, कर्म-भेद आदि को तुच्छ मानकर केवल भक्ति को प्रधान और एक-मात्र मानव-हृदय का शृंगार समझते थे। इनके मत में यदि कोई नर भक्त है, तो वह बड़ा है, चाहे जिस जाति अथवा पाँति का क्यों न हो (पृष्ठ ४, संख्या १८)। कोई मनुष्य चाहे जितना चंदन आदि क्यों न लगाता हो, परंतु यदि शुद्ध भक्त नहीं है, तो वह अपना समय वृथा नष्ट करता है (पृष्ठ ९, संख्या २८)। यह महाराज यह नहीं समझ सकते थे कि कोई मनुष्य भक्त क्योंकर न हो ? जो भक्ति नहीं करता था, उस पर यह अचंभा करते थे (पृष्ठ ३९, संख्या १३)। यह कहते थे—'भगति बिनु बैल बिराने ह्वै हो' (पृष्ठ ३१, संख्या २०३)। भक्ति के विषय में, संक्षेप में, इनका मत यह था—

"तजो मन, हरि-बिमुखन को संग ;
जाके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग।
कहा होत पय-पान कराए, बिष नहिं तजत भुजंग ;
कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान न्हवाए गंग।
खर को कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन अंग ;
गज को कहा न्हवाए सरिता, बहुरि धरै खहि छंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत, रीतो करत निषंग ;
'सूरदास' खल कारी कामरि, चढ़त न दूजो रंग।"

(पृष्ठ ३१, संख्या २०४)

"भजन बिनु कूकर-सूकर-जैसो ;
जैसे घर बिलाव के मूसा, रहत बिषय-बस वैसो ;
उनहू के गृह, सुत, दारा हैं, उन्हें भेद कहु कैसो ?"

यह महाराज जगदीश्वर, राम एवं कृष्ण को एक ही समझते थे—

"सोई बड़ो जु रामहिं गावै।
श्वपच प्रसन्न होय बड़ सेवक,
बिनु गोपाल द्विज-जनम न भावै।
होय अटल जगदीस-भजन में,
सेवा तासु चारि फल पावै।"

(पृष्ठ २८, सं० ११८)

और, शेष देवतों में यह देव-भाव नहीं रखते थे। यथा—

"और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।"

(पृष्ठ १६, संख्या १०३)

परंतु, तो भी, यह महाराज गोस्वामी तुलसीदास की भाँति और देवतों को गालियाँ नहीं देते थे। सूरदास को एक ईश्वर का उपासक कहना चाहिए।

सगुणोपासना करने का कारण सूर ने इस प्रकार लिखा है—

"अबिगति गति कछु कहत न आवै ;
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस, अंतरगत ही भावै।
मन-बानी को अगम, अगोचर, सो जानै, जो पावै ;
रूप-रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु, निरालंब मन धावै ;
सब बिधि अगम बिचारहिं, ताते सूर सगुन पद गावै।"

(पृष्ठ १, संख्या २)

ऐसे भक्त होने पर भी सूरदास अपनेको इतना बड़ा पतित समझते थे कि चित्त को आश्चर्य होता है (पृष्ठ ११, संख्या ६६; पृष्ठ १२, संख्या ७३)। इनकी इतनी प्रबल और प्रगाढ़ भक्ति के होते पर भी कहना पड़ता है कि इनकी और तुलसीदास की भक्ति में भेद था। गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी; परंतु इनकी सखा और सखी-भाव की। यह महाशय श्रीकृष्णचंद्र को अपना मित्र समझते थे, और इसी कारण इन्होंने राधा को भी भला-बुरा कहा है। और, जब श्रीकृष्ण भी कोई बेजा बात करते थे, तब उन्हें भी सूरदास डाट देते थे। इसके अतिरिक्त सखी-भाव भी आपकी रचना में आता है। तुलसीदास जब कभी राम की नर-लीला का वर्णन करते हैं, तब पाठक को यह अवश्य याद दिला देते हैं कि राम परमेश्वर हैं; वह केवल नर-लीला करते हैं। यह बात ऐसे भोंडे प्रकार से भी वह सैकड़ों बार स्मरण कराते हैं कि जी उकता उठता है, और यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते थे कि कितनी ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः-पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता है। यह बात सूरदास में नहीं है। यह एक-दो बार स्मरण कराने को ही यथेष्ट समझते हैं। इन्होंने, जहाँ तक हमें स्मरण है, केवल दो-चार स्थानों पर सिफ़ारशी छंद दिए

हैं (पृष्ठ ११६, संख्या १६; पृष्ठ १२६, संख्या ६२)। परंतु श्री-कृष्णचंद्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का शौक़ था। उन स्थानों को छोड़कर सूरदास ने उनका ईश्वरत्व मौक़े-बे-मौक़े नहीं दिखाया है। पृष्ठ ४७२ पर आपने श्रीकृष्ण को आशीर्वाद भी दिया है। इन्होंने दो-चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निंदा भी की है। यथा—पृष्ठ ६ संख्या ३१; पृष्ठ ७ संख्या ३६, और—

"हम बिगरी, तुम सबै सुधारी;
द्विज कानीन हमारे बाबा, कुंडज पिता, जगत में गारी।
हम सब जग-जाहिर जारज हैं, ताहू पर यक बात बिगारी;
बड़े कष्ट सों ब्याहु भयो है पतिनी ह्वै गइ पंच-भतारी।"

"तुम जानत राधा है छोटी।
हमसों सदा दुरावति है यह, बात कहै मुख चोटी-पोटी;
कबहुँ स्याम सों नेकु न बिछुरति, किए रहति हमसों हठ-जोटी।
नँदनंदन याही के बस हैं, बिबस देखि बेंदी छबि चोटी;
'सूरदास' प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ ते अति ही खोटी।"
(पृष्ठ २१६, संख्या ७५)

"सखी री स्याम कहा हितु जानै ?
'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै।"
(पृष्ठ ४७९, संख्या ८४)

इसी प्रकार सैकड़ों पद सूरदास की कविता में मिलते हैं।

(२) सूरदास की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। चंद आदि के होने पर भी यह कहना अयथार्थ न होगा कि हिंदी के वास्तविक उत्कृष्ट प्रथम कवि सूरदास ही थे। परंतु इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुति-मधुर है कि जैसी इनके पीछेवाले कवियों तक में बहुत कम पाई जाती है। पृष्ठ ५८३ में आपने 'महलात'-शब्द का भी प्रयोग किया है। इनकी कविता में मिलित वर्ण

बहुत कम आते हैं। उसके माधुर्य और प्रसाद प्रधान गुण हैं ओज की मात्रा इनकी कविता में बहुत कम है। इनको यमक और अनुप्रास का इष्ट नहीं था ; परंतु उचित रीति पर इन दोनों गुणों को यह महाराज अपनी कविता में रखते थे। कहीं यमक आदि के लिये इन्होंने अपना भाव नहीं बिगाड़ा। इनके पद ललित और अर्थ-गंभीरता से भरे हुए हैं।

सिवा सूरसारावली के, समस्त कविता में इन्होंने छंद इतना शीघ्र और इस रीति पर परिवर्तित किए हैं कि कहीं इनके छंद अरुचिकर नहीं होते। इन महाराज ने अपनी कविता में संस्कृत के पद बहुतायत से नहीं रक्खे ; परंतु जहाँ कहीं वे आए हैं, वहाँ स्तुत्य रीति से आए हैं। इनके कुछ घनाक्षरी-छंद भी मिले हैं (पृष्ठ ४०४, संख्या ३६ और ३७)। कुछ घनाक्षरी-छंद आपने छः पदों के भी लिखे हैं। सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन में दिए जायँगे, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(३) उपमा-रूपक। यह महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसंद करते थे, और इन्होंने उपमाएँ भी बहुत ही अच्छी खोज-खोजकर रक्खी हैं। इनके अर्थ-गांभीर्य, उपमा और पद-लालित्य ऐसे उत्कृष्ट हैं कि किसी कवि को कहना ही पड़ा—

"उत्तम पद कबि गंग के, उपमा को बलबीर (बीरबल);
केसव अरथ-गँभीरता, सूर तीनि गुन धीर।"

उदाहरणार्थ इनके दो पद आगे लिखे जाते हैं, जिनसे इन महाराज के रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा। आपने प्रायः रूपकों में पूरे वर्णन किए हैं। संयोग-शृंगार में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा की बहुतायत रक्खी है, और वियोग-वर्णन में स्वभावोक्ति की। यथा—

"अद्भुत एक अनूपम बाग ;
जुगुल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग ;
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमरित-फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद, काग ;
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर नाग।
अंग-अंग प्रति और-और छवि, उपमा ताको करत न त्याग ;
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, मानहु अधरन को बड़ भाग।"

"बरनौं श्रीबृषभानु-कुमारि ;
चित दै सुनहु स्याम-सुंदर छवि, रति नाहीं उनहारि।
प्रथमहि सुभग स्याम बेनी की, सुषमा कहहुँ विचारि ;
मानहु फनिक रह्यो पीवन को, ससि-मुख सुधा निहारि।
बरनै कहा सीस-सेंदुर को, कबि जु रह्यो पचि हारि ;
मानहु अरुन किरन दिनकर की, निसरी तिमिर बिदारि।
भ्रुकुटी बिकट निकट नैनन के, राजत अति बरनारि ;
मनहु मदन जग जीति जेर करि, राखेउ धनुष उतारि।
ता बिच बनी आड़ केसरि की, दीन्ही सखिन सँवारि ;
मानौ बँधी इंदु-मंडल मैं, रूप-सुधा की पारि।
चपल नैन नासा बिच सोभा, अधर सुरंग सुढारि ;
मनो मध्य खंजन सुक बैठ्यो, लुबध्यो बिंब बिचारि।
तरिवन सुघर, अधर नकबेसरि, चिबुक चारु रुचिकारि ;
कंठसिरी, दुलरी, तिलरी पर, नहिं उपमा कहुँ चारि।
सुरँग गुलाब-माल कुच-मंडल, निरखत तन-मन वारि ;
मानौ दिसि निरधूम अगिनि के, तपि बैठे त्रिपुरारि।
जौ मेरो कृत मानहु मोहन, करि ल्याऊँ मनुहारि ;
'सूर' रसिक तबहीं पै बदिहौं, मुरली सकहु सम्हारि।"

(४) नख-शिख । पूर्वोक्त दोनों पदों में कवि की नख-शिख वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है। नख-शिख के श्रेष्ठ वर्णन पृष्ठ २८, संख्या १८२, पृष्ठ १८६ और १८७, पृष्ठ २७८, संख्या १० के छंदों में भी हैं, और वे बहुत ही श्लाघ्य तथा सुहावने हैं।

(५) प्रबंध-ध्वनि । इन महाराज ने अपनी कविता में पुराने आख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है। इस कथन के उदाहरणार्थ पृष्ठ ६, संख्या ४८ देखिए ।

(६) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि यह महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं। यह जिस बात का वर्णन विस्तार-पूर्वक कर देते हैं, उसमें फिर औरों के लिये बहुत कम भाव रह जाते हैं । या तो यह बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं, या पूर्ण विस्तार के साथ। इनके सविस्तर वर्णन कर देने पर अन्य कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवांछित भी इनके भाव लेने पड़ते हैं; क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नए भावों के लिये जगह छोड़ ही नहीं रखते। इसी कारण रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंहदेवजी ने यथार्थ लिखा है कि—

"मतिराम, भूषन, विहारी, नीलकंठ, गंग,
बेनी, संभु, तोष, चिंतामनि, कालिदास की ;
ठाकुर, नेवाज, सेनापति, सुखदेव, देव,
पजन, घनाँनँदऽरु घनस्यामदास की।
सुंदर, मुरारि, बोधा, श्रीपति हू दयानिधि,
जुगल, कविंद त्यों गोविंद, केसौदास की ;
'रघुराज' और कबिगन की अनूठी उक्ति,
मोहिं लगी झूठी जानि जूठी सूरदास की।"

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूरदास की कविता के नायक यशोदा-नंदन तथा गोपिका-वल्लभ श्रीकृष्ण थे । अतः इन्होंने

श्रीकृष्णचंद्र के उन सभी कार्यों को, जिन्हें उन्होंने यशोदा और गोपियों के संबंध में किया है, पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है।

(क) सबसे प्रथम जो बहुत उत्कृष्ट वर्णन सूरदास ने किया है, वह कृष्ण की बाल-लीला का है। जैसा उत्तम और सच्चा बाल-चरित्र इन महाकवि ने लिखा है, वैसा संसार-भर के किसी ग्रंथ में हम लोगों ने अद्यावधि नहीं देखा। माता से माखन माँगा जाना, माता द्वारा बालक का लालन-पालन होना, माता का खीझना, चोटी बढ़ने के बहाने दूध पिलाना, चंद्र के विषय में झगड़ा, राम की कथा माता द्वारा सुनाई जाना इत्यादि वर्णन ऐसे सच्चे ढंग से कहे गए हैं कि जान पड़ता है, सच-मुच कोई बालक माता के पास खेल रहा है। इसके उदाहरण-स्वरूप किस छंद को हम लिखें। पूरा वर्णन पढ़ने से ही इसका स्वाद मिल सकता है। ज्यों ही माता ने कहा—"कजरी को पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़े", त्यों ही बालक ने तुरंत दूध पीकर पूछा—"मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ? किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी।" उदाहरणार्थ एक छंद नीचे लिखा जाता है—

"मातु, मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हो, तोहिं जसुमति कब जायो ?
कहा कहौं, यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात;
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात ?
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर ?
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै;
मोहन को मुख रिस-समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत;
'सूर स्याम' मोहि गो-धन की सौं, हौं माता, तू पूत।"

(ख) बाल-लीला के पश्चात् इन महाकवि ने माखन-चोरी का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। माखन-चोरी भी ऐसी कही है, मानो कोई सच-मुच गोपिकाओं को खिझा रहा हो। यशोदा के पास उलहना आना, उनका गोपिकाओं के कथन पर प्रतीति न करना और पुत्र से इनकार सुनकर क्रोध करने के स्थान पर हर्ष-मग्न हो जाना बड़ी ही स्वाभाविक रीति से कहा गया है। फिर बहुत अधिक शिकायतें सुनकर माता का कुछ क्रोध करना, बालक को समझाना और फिर यह सुनकर कि कृष्ण ने माखन भी चुराया एवं गोपी के लड़के को भी मारा है, उन्हें रस्सी से ऊखल में बाँध देना, ये सब बातें अत्यंत स्वाभाविक रीति से लिखी गई हैं (पृष्ठ १४२, संख्या २५)। ऊखल में बाँधने पर जब-जब बालक रोया, तब-तब माता ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया कि वह चोर है। चोरी पर ऐसे समय में ज़ोर देना बड़ा ही स्वाभाविक है, और वह प्रकट करता है कि एक ही बालक होने तथा उसे प्राणों से अधिक चाहने पर भी यशोदा बेजा काम देखकर अदूर-दर्शिनी माताओं की भाँति चुप न बैठकर कड़ा दंड देती थीं। माखन-चोरी-लीला का भी वर्णन अत्यंत रोचक और स्वाभाविक है।

(ग) ऊखल-बंधन के पश्चात् कालिय-पराजय, दावानल-पान और चीर-हरण के भी बड़े ही विशद वर्णन हैं। उद्धृत करने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अतः हम यहाँ कोई छंद नहीं लिखते। परंतु ये वर्णन देखने ही योग्य हैं। सूरदास ने भोजन के वर्णन अनेक बार किए हैं। भोज्य वस्तुओं में आप अपच करनेवाली चीज़ों की बहुतायत रखते हैं। उनमें सघृत वस्तुओं का प्राधान्य रहता है।

(घ) इसके पीछे रास-लीला, मान एवं मान-मोचन के भी

वर्णन बड़े ही अच्छे हैं । विशेषकर ३९९ से ४११ पृष्ठ-पर्यंत जो मान और मान-मोचन वर्णित है, उससे प्रकट होता है कि यह महाकवि एक ही विषय को कितनी दूर तक और कितनी उत्तमता से कह सकते हैं, अथच महाभक्त होने पर भी शृंगार-रस के गूढ़ विषयों का इनको कितना सच्चा ज्ञान है । यह कहना पड़ेगा कि माखन-चोरी और रास-विलास के वर्णन इतने विस्तृत हो गए हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल शृंगार-रस का वर्णन करनेवालों की रचना की भाँति कोरा काव्य-मात्र है, या किसी कथा का अंग भी । यदि कोई केवल कथा-प्रसंग जानने के विचार से इसे पढ़ने बैठे, तो उसका जी अवश्य उकता जाय । परंतु वास्तव में ये वर्णन बड़े ही विशद और सच्चे हैं । केशवदास, दास इत्यादि की भाँति इन्होंने अपनी कविता में अन्य कवियों की कविताओं से उठा-उठाकर उलथा नहीं रक्खा है ; न किसी ऐसे विषय को विस्तार से कहा ही है, जिसमें इन्हें पूर्ण योग्यता और सहृदयता न होती । अतः इस कविता में जहाँ कहीं विस्तृत वर्णन हैं, वहीं वे सच्चे, असली ख़ास सूरदास के भावों से भरे हैं, और इसी कारण इन कविवर ने सच्चे पाठकों से ऐसे-ऐसे वचन कहला ही लिए कि—

"सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास ;
अब के कबि खद्योत-सम, जहँ-तहँ करत प्रकास ।"
"कबिता-करता तीनि हैं, तुलसी, केसव, सूर ;
कबिता-खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर ।"
"तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी ;
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी ।"
"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर ;
किधौं सूर को पद लग्यो, तन-मन धुनत सरीर ।"

अंतिम दोहा तानसेन ने बनाकर सूरदास को सुनाया था। इसके उत्तर में सूरदास ने निम्न-लिखित दोहा पढ़ा—

"बिधना यह जिय जानिकै, सेसहि दिए न कान,
धरा, मेरु, सब डोलतो, तानसेन की तान।"

सूरदास इतने सच्चे और यथार्थ-भाषी कवि थे कि इनकी कविता में असंभव पदार्थों का कथन बहुत कम पाया जाता है; अर्थात् किसी असंभव घटना का होना इन्होंने नहीं कहा। "बिंध्य लगि बाढ़िबो उरोजन को पेखो है" की भाँति के कथन इन सच्चे कवि को नहीं भाते थे। इस यथार्थ-भाषण के प्रतिकूल हम श्रीकृष्णचंद्र के संबंध में ऐसी कथाओं का वर्णन, जो अब असंभव ज्ञात होती हैं, प्रमाण-स्वरूप नहीं मानते; क्योंकि वे उस कथा के अंग हैं, जिसे यह कवि कहने बैठे हैं। इसी यथार्थ-भाषण की आदत के कारण इन्होंने कई स्थानों पर विस्तार से सुरति का वर्णन किया है, और कहीं-कहीं ऐसी-ऐसी गालियाँ दिलाई हैं, जिनको कविता में रखना सभ्यता के प्रतिकूल है। कहना न होगा कि ये वर्णन भी सराहनीय अवश्य हैं।

(ङ) सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका-भेद भी लिखा है; परंतु कविता-रीति के नियमानुसार उसे न लिखकर जिस दशा के पीछे स्वाभाविक रीति पर जो दशा होती है, उसी का वर्णन, कथा-प्रसंग की भाँति, इन्होंने किया है। और, जिस नायिका का प्रसंग चलाया, उसका, अपनी विस्तार-कारिणी प्रकृति के अनुसार, कुछ देर तक वर्णन किया। इन्होंने सब नायिकाओं का वर्णन न करके बहुत कम का किया है; परंतु जो कुछ कहा है, वह परम मनोहर है। हम अधिक उदाहरण न देकर केवल धीरादि-भेद का एक पद नीचे लिखते हैं। यथा—

"अतिहि अरुन हरि, नैन तिहारे;
मानहुँ रति-रस भए रँगमगे, करत केलि पिय पलक न पारे।

मंद-मंद डोलत संकित-से, राजत मध्य मनोहर तारे ;
मनहु कमल-संपुट महँ बींधे, उड़ि न सकत चंचल अलि बारे।
झलमलात, रति-रैनि जनावत, अति रस-मत्त भ्रमत अनियारे ;
मानहुँ सकल जगत जीतन को, काम बान खरसान सँवारे।
अटपटात, अलसात, पलक-पट, मूँदत, कबहूँ करत उघारे ;
मनहुँ मुदित मरकत-मनि-अंगन, खेलत खंजरीट चटकारे।
बार-बार अवलोकि कनखियन, कपट-नेह मन हरत हमारे ;
'सूर' स्याम सुखदायक रोचन, दुख-मोचन लोचन रतनारे।"

कथाओं के वर्णन में कहीं-कहीं इनकी रचना में काल-विरुद्ध दूषण आ जाता है। जैसे दावानल में गोवर्द्धन-धारण का, और गोवर्द्धन-धारण में दावानल-पान का।

(च) इन सब कथाओं के पीछे इन महाकवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। यदि कहा जा सकता हो कि अमुक कवि ने 'क़लम तोड़ दी', तो हम अवश्य कहेंगे कि व्रज-विरह-वर्णन में इन महाकवि ने सच-मुच क़लम तोड़ दी है। उद्धव-संवाद और कृष्ण-मथुरा-गमन को पढ़-कर जान पड़ता है कि सूरदास वियोग-श्रृंगार के कथन में बड़े ही पटु थे। वियोग का वर्णन किसी दूसरे कवि ने ऐसा बढ़िया और स्वाभाविक नहीं किया। इस विषय में भी कोई छंद उदा-हरणार्थ लिखना हम उचित नहीं समझते; क्योंकि एक रोएँ से सिंह का अनुभव नहीं कराया जा सकता। वियोग-वर्णन में आपने राधा का नाम बहुत नहीं लिया।

(छ) उद्धव-संवाद भी बहुत ही विस्तृत रूप से कहा गया है। यह पृष्ठ ५०२ से प्रारंभ होकर पृष्ठ ५६२ पर समाप्त होता है, और ये पृष्ठ रॉयल अठ-पेजी के ढाईगुने होंगे! यह भी आद्यो-पांत प्रेमालाप से भरा हुआ है, और ऐसा कोई भाव न बचा

होगा, जो इसमें न आ गया हो । इसमें बड़े ही प्रशंसनीय पद मिलते हैं । उदाहरणार्थ एक पद नीचे लिखा जाता है—

"ऊधो, मन न भए दस-बीस ;
एक हुतो, सो गयो स्याम-सँग, को अवराधै ईस ?
इंद्री सिथिल भईं केसव बिनु, ज्यों देही बिनु सीस ।
आसा लगी रहति तनु-स्वासा, जीजै कोटि बरीस ।
तुम तौ सखा स्याम-सुंदर के, सकल जोग के ईस,
'सूरदास' वा रस की महिमा, जो पूछै जगदीस ।"

उद्धव-संवाद में गोपियों ने कहीं-कहीं ज्ञान को व्यर्थ माना है, और कहीं-कहीं अपनी योग्यता के लिये बहुत ऊँचा । निर्गुणोपासना का खंडन अवतार के सिद्धांत को ठीक मानकर किया गया है, जो तार्किक सिद्धांतों के प्रतिकूल है । अंत में उद्धवजी भी ज्ञान भूलकर प्रेम-मग्न हो गए, और प्रेमियों की भाँति कृष्ण के विहार-स्थल देखते फिरे । उसके बाद उन्होंने यदुपति के पास जाकर गोपियों की बड़ी सिफ़ारिश की ।

(ज) अन्य राजों की कथा एवं युद्ध इत्यादि वर्णन करने का प्रयत्न इन सच्चे कवि ने, इन विषयों से सहृदयता न होने के कारण, नहीं किया; और जहाँ किया भी, वहाँ वह अच्छा नहीं बना । महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास में यही अंतर है । गोस्वामीजी ने कुल बातों का वर्णन अच्छा और अपने ख़ास विषयों का बड़ा ही विशद किया है ; किंतु महात्मा सूरदास ने अपने ख़ास विषयों का वर्णन ऐसा किया है जैसा कि गोस्वामीजी या संभवतः किसी भाषा का कोई कवि नहीं कर सका । परंतु साधारण विषयों का कथन साधारण कवियों से भी ख़राब किया है । उनको अच्छे प्रकार से कहने का इन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया । इसी कारण सूर-सागर के इधर-उधर दो-चार पृष्ठ पढ़नेवाले इन्हें साधारण कवि

समझ सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति इनके विशद वर्णन संग्रह करके रामायण की इतनी पोथी निकाल ले, तो उसके देखने से सूरदास-जी की कविता का पूरा आनंद मिल सके। हाल में सूर-सुधा-नामक एक ऐसा ही संग्रह हमने बनाया है, जिसका प्रथम खंड मनोरंजन-पुस्तकमाला में प्रकाशित हो चुका है, और दूसरा खंड भी शीघ्र ही निकलेगा।*

(झ) इन्होंने स्फुट विषयों का वर्णन भी कहीं-कहीं अच्छा किया है। प्रीति के विषय में इनका मत है—

"प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ;
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनो देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यो ;
सारँग प्रीति जु करी नाद सों, सनमुख बान सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो ;
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो।"

सत्संग पर सूरदास को बड़ी श्रद्धा थी। इस बात में भी तुलसीदास से इनका मत मिलता है। यथा—

"जा दिन संत पाहुने आवत ;
तीरथ कोटि अन्हान करैं फल, जैसो दरसन पावत।
नेह नयो दिन-दिन-प्रति उनको, चरन-कमल चित लावत ;
मन-बच-क्रम औरन नहिं जानत, सुमिरत औ सुमिरावत।
मिथ्या-बाद-उपाधि-रहित है, बिमलि-बिमलि जस गावत ;
बंधन करम कठिन जो पहिले, सोऊ काटि बहावत।"

इस छंद से सूरदास के रहन-सहन का भी पता लगता है।

* इधर 'संक्षिप्त सूरसागर' नाम से अन्य दो संग्रह भी प्रकाशित हो गए हैं।—संपादक

इन महाशय ने पाँच पृष्ठ तक केवल मुरली का वर्णन किया है। उसमें बड़े ही बढ़िया पद लिखे हैं। जब श्याम का इतना वर्णन है, तब फिर मुरली ही क्यों रह जाय? यह इन्हीं का काम था कि मुरली-जैसे विषय पर क़रीब चालीस पद लिख गए।

इन महाकवि ने पृष्ठ ३१६ से क़रीब १८ पृष्ठों में केवल नेत्रों का वर्णन किया है। ऐसे-ऐसे छोटे विषयों पर इतनी बड़ी कविता रच डालना साधारण कवि का काम नहीं है। इस वर्णन में भी अच्छे पद बहुत हैं। उदाहरण लीजिए—

"नैना नाहीं कछू विचारत ;
सनमुख समर करत मोहन सों, जद्यपि हैं हठि हारत।
अवलोकत अलसात नवल छवि, अमित तोष अति आरत ;
तमकि-तमकि तरकत मृगपति ज्यों, घूँघट-पटहि बिदारत।"

(ञ) सूरदास ने कई जगह पर पदों में कथाएँ कहकर फिर उनको साधारण छंदों में सूक्ष्म रूप से दुहराया है। इन सबमें कालिय-दमन की दुबारा कथा श्लाघ्य है ; परंतु उसमें भी यह दोष है कि कृष्ण और नागिन की बात-चीत में कृष्ण ने नागिन को बहुत फटकारा है। कृष्ण उस समय बालक थे। शायद यही विचार-कर सूर ने उनसे ऐसा कहलाया हो।

(७) सूर ने जगह-जगह पर कूट लिखे हैं। उनमें अलंकार तथा श्लांग भी आए हैं। उदाहरण-स्वरूप सरदार-कृत सूर-दृष्ट-कूट (मुंशी नवलकिशोर के यहाँ मुद्रित हुई प्रति) के पृष्ठ ६४ पर लिखित एक कूट हम यहाँ लिखते हैं (उसका अर्थ भी उसी पृष्ठ पर सरदार ने लिखा है)।—

"जनि हठ करहु सारँग-नैनी ;
सारँग ससि सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग बैनी।
सारँग रसन दसन गुनि सारँग, सारँगसुत दृढ़ निरखनि पैनी ;

सारँग कहो सु कौन बिचारो, सारँगपति सारँग रचि सैनी।
सारँग सदनहि लै जु बहन गए, अजहुँ न मानत गत भइ रैनी;
'सूरदास'-प्रभु तव मग जोवै, अघकरिपु ता रिपु सुख-दैनी।"

(८) इन्होंने लोगों का शील-गुण भी अच्छा दिखलाया है। यशोदा के यद्यपि एक ही पुत्र वृद्धावस्था में हुआ था, तथापि वह उसकी बेजा चाल-ढाल पर कड़ा दंड तक देती थीं; पर ऐसी उदार-हृदया भी थीं कि रोहिणी-पुत्र बलदेव को अपने पुत्र से भी अधिक मानती थीं। यथा—

"हलधर कहत प्रीति जसुमति की।
एक दिवस हरि खेलत मोसों, झगरो कीन्हो पेलि;
मोको दौरि गोद करि लीन्हो, इनहिं दियो कर ठेलि।"

इन्होंने कृष्ण के चले जाने पर देवकी से जो संदेश कहला भेजा है, वह विशेष रूप से देखने योग्य है—

"सँदेसो देवकी सों कहियो;
हौं तौ धाय तिहारे सुत की, मया करत नित रहियो।
जदपि टेंव तुम जानत उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै;
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि, माखन-रोटी भावै।
तेल, उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भगि जाते;
जोइ-जोइ माँगत, सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते।
'सूर' पथिक सुनि मोहिं रैनि-दिन, बढ़ो रहत उर सोच;
मेरो अलख लड़ैतो मोहन, ह्वै है करत सकोच।"

यशोदा के शील-गुण में केवल यह बात अनुचित जान पड़ती है कि उन्होंने नंद से बार-बार कहा—"दशरथ तुमसे अच्छे थे। क्यों तुम पुत्र को मथुरा में छोड़कर जीते-जागते घर चले आए?" इन्होंने शायद अपनी यथार्थ-भाषण की टेंव से ऐसा कहला दिया हो।

कुब्जा का शील-गुण भी नौ बढ़ियों की भाँति खूब ही दिखाया गया है। वह समझती थी कि गोपी ग्रामीण थीं, अतः श्याम को अपने वश में न रख सकीं; परंतु वह खुद नागरी थी, अतः उसने उन्हें लुभा लिया। उस दासी ने केवल यह सोचा ही नहीं, गोपियों से उद्धव द्वारा कहला भी भेजा (पृ० ४०४-४०५)।

(६) यद्यपि सूरदास स्वयं श्याम के भक्त थे, तथापि उन्होंने गोपियों के मुख से काले रंग की खूब निंदा कराई है, और अंत पर्यंत किसी स्थान पर भी तुलसीदास की भाँति कोई सिफ़ारशी छंद नहीं लिखा। वे कहती थीं—

"सखी री, स्याम सबै इकसार;
मीठे बचन सोहाए बोलत, अंतर जारनहार।

* * *

भँवर, कुरंग, काग अरु कोकिल, कपटिन की चटसार।"
"सखी री, स्याम कहा हितु जानै?
कोऊ प्रीति करौ कैसे हू, वह अपने गुन ठानै।
देखौ या जलधर की करनी, बरषत पोषै आनै;
'सूरदास' सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै।"
"ऊधो, कारे सबहि बुरे।"

इत्यादि। इससे ज्ञात होता है, सूरदास ऐसे संकीर्ण-हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी राय के प्रतिकूल कुछ कहता, तो उनसे, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, विना अपनी सम्मति प्रकट किए न रहा जाता। अँगरेज़ी में ऐसे कवियों को सर्वव्यापक दृष्टि के कवि (Poets of general vision.) कहते हैं। सूरदास इसी प्रकार के कवि थे। भाषा-साहित्य में सूरदास, तुलसीदास और देव, ये सर्वोच्च तीन कवि हैं। इनमें न्यूनाधिक बतलाना मत-भेद से ख़ाली नहीं है। अतः सूरदास की

गणना भाषा के तीन सर्वोच्च कवियों में है, और निश्चय-पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इनसे कोई भी अच्छा है। अब हम लोगों का यह मत है कि हिंदी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उन्हीं के पीछे सूर का नंबर आता है, और तब देव का। महात्मा सूरदास हिंदी के वाल्मीकि हैं। वाल्मीकि ही के समान यह हिंदी के वास्तविक प्रथम सत्कवि हैं, और उन्हीं के समान इनके भी वर्णन पूर्ण, बड़े और सर्वांग-सुंदर होते हैं।

गोस्वामी सूरदास के विषय में हम थोड़े में अपना मत प्रकट कर चुके। अब की बार हमने 'नवरत्न' के सभी कवियों के वर्णन में कुछ पीछे उदाहरण और बढ़ा दिए हैं। तदनुसार सूरदास के उदाहरण भी आगे लिखे जाते हैं। इनका संग्रह ग्रंथ—'सूर-सुधा'—हम संकलित कर चुके हैं, और उसका प्रथम खंड काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित भी कर दिया है। इसलिये यद्यपि यहाँ उदाहरण देने की विशेष आवश्यकता न थी, तो भी साम्य के विचार से यहाँ भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। ये उदाहरण सूर-सुधा के छंदों से भिन्न और उनसे कुछ घटिया भी हैं। जो महाशय इन उदाहरणों से श्रेष्ठ उदाहरण देखना चाहें, वे सूर-सुधा देखने का कष्ट अवश्य उठावें।

उदाहरण

नीबी ललित गही हरि राई।
जबहिं सरोज धरो श्रीफल पर, तब जसुमति गइ आई;
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाई।
देखो ढीठ, देति नहिं माता, राखो गेंद चुराई;
काहे को झकझोरत नोखे, चलहु न, देउ बताई।
देखि बिनोद बाल-सुत को तब, महरि चली मुसकाई;
'सूरदास' के प्रभु की लीला को जानै इहि भाई।

मोहन करते दोहनि लीनी, गोपद बछरा जोरे ;
हाथ धेनु-थन, बदन तिया-तन, छीर-छीटि छल-छोरे।
आनन रही ललित पय-छींटै, छाजति छबि तृन तोरे ;
मनहुँ निकसि निकलंक कलानिधि, दुग्ध-सिंधु के बोरे।
दै घूँघुट-पट ओट नील हँसि, कुँअरि मुदित मुख मोरे ;
मनहुँ सरद-ससि को मिलि दामिनि, घेरि लियो घन घोरे।
यहि बिधि रहसत, बिलसत दंपति, हेत हिए नहिं थोरे ;
'सूर' उमँगि आनंद-सुधानिधि, मनो बिलावल फोरे।

डसी री माई स्याम-भुअंगम कारे ;
मोहन-मुख मुसकानि मनहुँ बिष, जाति मरे सो मारे।
फुरै न मंत्र, जंत्र गति नाहीं, चले गुनी गुन डारे ;
प्रेम-प्रीति-बिष हिरदै लागी, डारत है तनु जारे।
निर्बिष होत नहीं कैसेहु करि, बहुत गुनी पचि हारे ;
'सूर' स्याम गारुड़ी बिना को, मो सिर गाड़ू टारे ?

अबहीं देखे नवलकिसोर ;
घर आवत ही तनक भए हैं, ऐसे तन के चोर।
कछु दिन करि हरि माखन-चोरी, अब चोरत मन मोर ;
बिबस भई, तनु-सुधि न सँभारति, कहत बात भइ भोर।
यह बानी कहत ही लजानी, समुझि भई जिय ओर ;
'सूर' स्याम मुख निरखि चली घर, आनंद लोचन लोर।

सखियन बीच नागरी आवै ;
छबि निरखत रीझै नँद-नंदन, प्यारी मनहि रिझावै।
कबहुँक आगे, कबहुँक पाछे, नाना भाव बतावै ;
राधा यह अनुमान कियो, हरि मेरे चितहि चोरावै।
आगे जाइ, कनक-लकुटी लै, पंथ सँवारि बतावै ;
निरखत छाँह जहाँ प्यारी की, तहँ लै छाँह छुवावै।

छबि निरखत तनु वारत अपनो, नागर जियहि जनावै ;
अपने सिर पीतांबर वारत, ऐसे रुचि उपजावै ।
ओढ़ि ओढ़नियाँ चलत दिखावत, यहि मिस निकटहि आवै ;
'सूर' स्याम ऐसे भावनि सों, राधा मनहि रिझावै ।

बिनती सुनहु देव मघवापति ;
केतिक बात गोकुल ब्रजबासी, बार-बार रिस करत जाहि अति।
आपुन बैठि देखियो कौतुक, बहुतै आयसु दीनो ;
छिन में बरषि प्रलय-जल पाटौं खोजु रहै नहिं चीनो ।
महाप्रलय हमरे जल बरषै, गगन रहै भरि छाइ ;
अछै-बिरछ बट बचतु निरंतर, कह ब्रज, गोकुल गाइ ।
चले मेघ माथे कर धरि कै, मन में क्रोध बढ़ाइ ;
उमड़त चले इंद्र के पायक, 'सूर' गगन रहे छाइ ।

धरनि-धर क्यों राख्यो दिन सात ?
अति ही कोमल भुजा तुम्हारी, चापति जसुमति मात ।
ऊँचो अति बिस्तार, भार बहु, यह कहि-कहि पछितात ;
वह अघात तेरे तनक-तनक कर, कैसे राख्यो तात ?
मुख चूमति, हरि कंठ लगावति, देखि हँसे बल-भ्रात ;
'सूर' स्याम को कितिक बात यह, जननी जोरति नात ।

मात-पिता इनके नहिं कोई ;
आपुहि करता, आपुहि हरता, त्रिभुवन गए रहत है जोई ।
कितिक बार अवतार लियो ब्रज, ये हैं ऐसे वोई ;
जल-थल, कीट-ब्रह्म के ब्यापक, और न इन सरि होई ।
बसुधा-भार उतारन कारन, आपु रहत तनु गोई ;
'सूर' स्याम माता-हितकारी, भोजन माँगत रोई ।

नंद-सुअन यह बात कहावत ;
आपुन जोबन-दान लेत हैं, तापर जोइ-सोइ सखनि कहावत ।

वै दिन भूलि गए हरि, तुमको, चोरी माखन खाते ?
खीझत ही भरि नयन लेत हे, डर डरात भजि जाते।
जसुमति जब ऊखल सों बाँधति, हम ही छोरत जाइ ;
'सूर' स्याम, अब बड़े भए हौ, जोबन-दान सुहाइ।
लरिकाई की बात चलावति ;
कैसी भई, कहा हम जानैं, नेकहु सुधि नहिं आवति।
कब माखन चोरी करि खायो, कब बाँधे धौं मैया ?
भले-बुरे को मात-पिता तन, हरषत ही दिन जैया।
अपनी बात खबरि करि देखहु, न्हात जमुन के तीर ;
'सूर' स्याम तब कहत सबनि के कदम चढ़ाए चीर।
सबै रहीं जल माँझ उघारी ;
बार-बार हा-हा करि थाकीं, मैं तट लिए हँकारी।
आईं निकसि बसन बिनु तरुनी, बहुत करी मनुहारि ;
कैसे हास भए तब सबके, सो तुम सुरति बिसारि।
हमहिं कहति दधि-दूध चुराए, अरु बाँधे महतारी ;
'सूर' स्याम के भेद-बचन सुनि, हँसि सकुचीं ब्रज-नारी।
गन गंधर्ब देखि सिहात ;
धन्य ब्रज-ललनानि कर ते, ब्रह्म माखन खात।
नहीं रेख, न रूप, नाहिं तन, बरन नहिं अनुहारि ;
मात-पितु दोऊ न जाके, हरत, मरत न जारि।
आपु करता, आपु हरता, आपु त्रिभुवन-नाथ ;
आपु ही सब घट के व्यापी, निगम गावत गाथ।
अंग प्रति-प्रति रोम जाके, कोटि सत ब्रह्मंड ;
कीट ब्रह्म प्रयंत जल-थल, इनहि ते यह मंड।
बिश्व बिश्वंभरन एई, ग्वाल-संग बिलास ;
सोई प्रभु दधि-दान माँगत, धन्य 'सूरजदास'।

तैं मेरे हित कहत सही री ;
यह मोको सुधि भली दिवाई, तन बिसरे मैं बहुत बही री।
जब ते दान लियो हरि हमसों, हँसि-हँसि री कछु बात कही री ;
काके घर, काके पितु-माता, काके तन की सुरति रही री ?
अब समुझति कछु तेरी बानी, आई हौं लइ दही मही री ;
सुनहु 'सूर' प्रातहि ते आई, यह कहि-कहि जिय लाज गही री।

तऊ न गोरस छाँड़ि दयो ;
चहुँ फल भवन गह्यो साँरंग-रिपु, बाजि धरा अथयो।
अमी-बचन रुचि रचत कपट हठि, झगरो फेरि ठयो।
कुमुदिनि प्रफुलित हौं जिय सकुची, लै मृग चंद जयो।
जानि निसा ससि रूप बिलोकत, नवल किसोर भयो ;
तब ते 'सूर' नेक नहिं छूटत, मन अपनाइ लयो।

तुमसों कहा कहौं सुंदरघन ;
या ब्रज में उपहास चलत है, सुनि-सुनि स्रवन रहति मन-ही-मन।
जा दिन सबनि बछरु-नोई करि, मो दुहि दई धेनु बंसी-बन ;
तुम गहि बाँह सुभाइ आपने, हौं चितई हँसि नेकु बदन तन।
ता दिन ते घर मारग जित-तित, करत चबाउ सकल गोपी-जन ;
'सूर' स्याम सों साँचु सारि हौं, यह पतिबरत सुनहु नँद-नंदन।

इह न होइ हरि माखन-चोरी ;
तब वह सुख पहिंचानि, मानि सुख, देती जानि हानि हुती थोरी।
उनहिं दिनानि सुकुआर हुते हरि, हौं जानत अपनो मन भोरी ;
ब्रज बसि बास बड़े के ढोटा, गोरस-कारन कानि न तोरी।
अब भए कुसल किसोर नंद-सुत, हौं भइ सजग समान किसोरी ;
जात कहा बलि बाँह छुड़ाए, मूसे मन संपति सब मोरी।
नख-सिख लौं चितचोर सकल अँग, चीन्हे पर कत करत मरोरी ?
यक सुनि 'सूर' हर्‍यो मेरो सरबस, अरु उलटी डोलों सँग डोरी।

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हे ;
बाँह मरोरि जाहुगे कैसे, मैं तुमको नीके करि चीन्हे।
माखन-चोरी करत रहे तुम, अब तो भए मन-चोर ;
सुनत रही मन चोरत हैं हरि, प्रगट लियो मन मोर।
ऐसे ढीठ भए तुम डोलत, निदरे ब्रज की नारि ;
'सूर' स्याम मोहू निदरौगे, देत प्रेम की गारि।
मन-ही-मन रीझति है राधा, बार-बार पिय-रूप निहारै ;
निरखि भाल बेंदी सेंदुर की, वा छबि पर तन,मन,धन वारै।
यह मन कहति सखी जनि देखै, बूझै पर कह कैहौं ?
तिहूँ भुवन सोभा, सुख की निधि, कैसे उनहि दुरैहौं ?
पग जेहरि, बिछियन की झमकनि, चलत परसपर बाजत ;
'सूर' स्याम-स्यामा सुख जोरी, मनि-कंचन-छबि लाजत।
यह बृषभानु-सुता वह को है ?
याकी सरि जुवती कोउ नाहीं, यह त्रिभुवन-मन मोहै।
अति आतुर देखन को आवति, निकट जाइ पहिचानो ;
ब्रज में रहति किधौं कहुँ औरै, बूझे ते तब जानो।
यह मोहिनी कहाँ ते आई, परम सलोनी नारि ?
'सूर' स्याम देखत मुसुकानी, करी चतुरई भारि।
इनते निधरक और न कोई ;
कैसी बुद्धि रची है नोखी, देखी-सुनी न होई।
इह राधा सौं हाथ बिधाता, बुद्धि चतुरई आनी ;
कैसे स्याम चुराइ चली लै, अपने भूषन ठानी।
और कहा इनको पहिचाने, मोपै लखे न जात ;
'सूर' स्याम चंद्रावलि जाने, मन-ही-मन मुसुकात।
हरि परदेस बहुत दिन लाए ;
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आए।

बीर बटाऊ पंथी हो तुम, कौन देस ते आए ?
यह पाती हमरी लै दीजो, जहाँ साँवरे छाए ।
दादुर, मोर, पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाए ;
'सूरदास' गोकुल तें बिछुरे, आपुन भए पराए ।

किते दिन हरि दरसन बिन बीते ;
एकौ फुरत न स्यामसुँदर बिन, बिरह सबै सुख जीते ।
मदनगोपाल बैठि कंचन रथ, चितइ किए तनु रीते ;
सुफलक-सुत लै गए दगा दै, प्रानन हीं के प्रीते ।
बहुरि कृपालु धोप कब आवहिं, मोहन राम समीते ?
'सूरदास' प्रभु बहुरि कृपा करि, मिलहु सुदामा मीते ।

जनि चालहि अलि, बात पराई ;
नहिं कोउ सुनै, न समुझत ब्रज में, नइ कीरति सब जात हिराई ।
जाने समाचार, सुख पाए, मिलि कुल की आरति बिसराई ;
भले ठौर बसि भली भई मति, भले ठौर पहिचान कराई ।
मीठी कथा कटुक-सी लागति, उपजत है उपदेस खटाई ;
उलटे न्याउ सूर के प्रभु के बहे जात माँगत उतराई ।

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए ;
समुझी बात कहत मधुकर सों, समाचार सब पाए ।
पहिले ही अति चतुर हुते, अरु गुरु सब ग्रंथ दिखाए ;
बाढ़ी बुद्धि, कहत जुबतिन को, जोग-सँदेस पठाए ।
आगे हूँ के लोग भले हो, पर-हित डोलत धाए ;
अब अपने मन फेरि पाइ हैं, चलत जो होहिं पराए ।
ते क्यों नीति करैं आपुन, जिन औरन अपथ छुड़ाए ?
राज-धर्म सुनि इहै 'सूर' जिहि, प्रजा न जाहिं सताए ।

ऊधो हरि यह कहा बिचारी ?
सदा समीप रहत बृंदाबन, करत बिहार बिहारी ।

एक तौ रंग रचे कुबिजा के, बिसरि गए सब नारी ;
कछु इक मंत्र कियो उन दासी, तेहि विनोद अधिकारी ।
दिन दस और रहौ तुम इतहीं, देखौ दसा बिचारी ;
प्रान रहत हैं आसा लागे, कब आवैं गिरिधारी ।
तुम तौ कहत जोग है नीको, कहो, कौन बिधि कीजै ?
हम तन ध्यान नंद-नंदन को, निरखि-निरखि सो जीजै ।
सुंदर स्याम-कंठ बैजंती, माथे मुकुट बिराजै ;
कमल नैन, मकराकृत कुंडल, देखत ही भव भाजै ।
याते जोग न आवै मन में, तू नीके करि राखि ;
'सूरदास' स्वामी के आगे, निगम पुकारत साखि ।
ऊधो मन माने की बात ;
दाख-छोहारा छाँड़ि अमृत-फल, बिष-कीरा बिष खात ।
जो चकोर को दइ कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात ;
मधुप करत घर कोरि काठ में, बँधत कमल के पात ।
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात ;
'सूरदास' जाको मन जासों, सोई ताहि सुहात ।

देव

अनुभव-सागर, रसिक-वर, भाषा-भानु बिसाल,

महाकवि देवदत्त (देव)
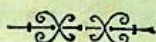
देवदत्त, उपनाम 'देव', का जन्म सं० १७३० वि० (सन् १६७४ ई०) में हुआ था। इन्होंने स्वयं अपने ग्रंथ भावविलास के अंत में, निम्न-लिखित दोहे में, अपना समय कहा है—

"सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं बर्ष ;
कढ़ी देव-मुख देवता, 'भावविलास' सहर्ष।"

देवजी ने अपने ग्रंथों में सन्-संवत् का ब्योरा बहुत कम दिया है, और अपने विषय में तो प्रायः कुछ भी नहीं कहा। इन कारणों से इनके विषय में बहुत कम बातें ज्ञात हैं । यहाँ तक कि हम इनके पिता तक का नाम नहीं जानते । इन्होंने कहा है—

"द्यौसरिया कवि देव को, नगर इटायो बास।"

इससे विदित होता है कि देवजी कान्यकुब्ज-ब्राह्मण और इटावा-नगर के रहनेवाले थे। इटावे में मुहल्ला छुपेटी और घटिया में ब्राह्मणों का वास है । इससे जान पड़ता है कि यह भी यहीं रहते होंगे । पर इटावे में हमने पूछ-जाँच की, तो विदित हुआ कि यह दुसरिहा कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे, और पंसारी-टोला, बलालपुरा (शहर इटावा) में रहते थे । इनके वंशधर इटावे से प्रायः ३२ मील पर, मौज़ा कुसमरा में, शायद अब तक मौजूद हैं। शिवसिंहसरोज में इनका निवास-स्थान समाने-गाँव में माना गया है। यह ग्राम ज़िला-मैनपुरी में है । यह कथन उपर्युक्त दोहे के आगे माननीय नहीं जान पड़ता । देवजी हितहरिवंश स्वामी के संप्रदायवाले बारह शिष्यों में मुख्य थे।

यह महाशय ऐसी अद्भुत कवित्व-शक्ति से संपन्न थे कि इन्होंने केवल सोलह वर्ष की बाल्यावस्था में ही भावविलास-जैसा ग्रंथ बनाकर तैयार कर दिया । इतनी प्रतिभा होने पर भी भाग्य ऐसा कुछ मंद था कि इनका अच्छा आदर कहीं नहीं हुआ । यह महाराज बड़े और छोटे, सभी प्रकार के मनुष्यों के यहाँ पहुँचे ; परंतु सिवा भोगीलाल के और किसी श्रीमान् ने इन्हें संतुष्ट न किया। यह स्वयं कहते हैं—

"ऐसो हौं जु जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे, हाथ-पाँय तेरे तोरतो ;
आजु लगि कत नरनाहन की 'नाहीं' सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो ।
चलन न देतो 'देव' चंचल, अचल करि,
चाबुक-चितावनीन मारि मुँह मोरतो ;
भारो प्रेम-पाथर, नगारो दै, गरे मों बाँधि,
राधा-बर-बिरुद के बारिधि में बोरतो ।"

देवजी ने 'भावविलास' और 'अष्टयाम' बनाकर पहले-पहल बादशाह औरंगज़ेब के बड़े पुत्र आज़मशाह को जाकर सुनाए थे। इन्होंने भावविलास में लिखा है—

"दिल्ली-पति नवरंग के, आजमसाहि सपूत ;
सुन्यो, सराह्यो ग्रंथ यह, अष्टयाम-संजूत ।"

आज़मशाह हिंदी के प्रेमी थे। फिर भी इन्होंने देव का ऐसा सम्मान न किया कि उनको औरों का मुख न देखना पड़ता ।

इसके पीछे देव ने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर 'भवानीविलास' ग्रंथ बनाया, और फफूँद, ज़िला-इटावा के कुशलसिंह के नाम पर 'कुशलविलास' की रचना की । तदनंतर मरदनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह बैस के वास्ते प्रेमचंद्रिका-ग्रंथ बनाया । इनकी भी देव ने

अधिक प्रशंसा नहीं की। इससे विदित होता है कि इनके यहाँ भी उनका यथेष्ट आदर नहीं हुआ। इस समय देवजी अच्छे गुणज्ञ की खोज में, अथवा तीर्थ-यात्रा के लिये, या चाहे और ही किसी कारण से हो, देश-भर में बराबर घूमते रहे। यह महाराज जहाँ गए, वहाँ के मनुष्यों की चाल-ढाल, रीतियों और अन्यान्य दर्शनीय पदार्थों पर पूरा ध्यान देते रहे। इन्होंने काश्मीर, पंजाब, बंगाल, उड़ीसा, मदरास, बंबई, गुजरात, राजपूताना, बरार आदि सब देशों को घूम-घूमकर देखा। इन महाकवि ने अपने भ्रमण द्वारा प्राप्त अपूर्व ज्ञान को वृथा नहीं खोया, अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर उसका उपयोग किया है। 'जाति-विलास'-नामक ग्रंथ रचकर इन्होंने सब देशों की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। इन्होंने नायिकाओं के देश-भेद में इन देशों की स्त्रियों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है—अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, अभीर, बरार, कोकनद, केरल (इसमें अब मलाबार, कोचीन और ट्रावंकोर भी शामिल हैं), द्रविड़ (तंजोर), तिलंग, कर्नाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, काश्मीर, और सौवीर। इन महाकवि ने इन सब देशों की स्त्रियों का ऐसा सच्चा वर्णन किया है कि जान पड़ता है, ये वहाँ गए अवश्य थे। इस समय इनका कोई भी आश्रय-दाता न था। यहाँ तक कि इन्होंने 'जातिविलास' किसी को भी समर्पण नहीं किया।

इस प्रकार घूमते-घामते देव को एक गुणज्ञ राजा भी मिल ही गया। वह राजा भोगीलाल थे। जैसा बढ़िया वर्णन आपने भोगीलाल का किया है, वैसा किसी भी अन्य आश्रय-दाता का नहीं किया। इन्होंने, सं० १७८३ में, इन्हीं राजा के वास्ते

'रसविलास'-नामक ग्रंथ बनाया। इन गुणज्ञ राजा को पाकर देव ने अपने-पुराने आश्रय-दाताओं को केवल भुला ही नहीं दिया, छोड़ भी दिया। वह लिखते हैं—

"पावस-घन चातक तजै, चाहि स्वाति-जल-बिंदु;
कुमुद मुदित नहिं मुदित-मन, जौ लौं उदित न इंदु।"
"देव सुकबि ताते तजे, राइ, रान, सुलतान;
रसबिलास करि रीझि हैं, भोगीलाल सुजान।"
"भूलि गयो भोज, बलि, बिक्रम बिसरि गए,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं;
राजा, राइ, राने, उमराइ उनमाने,
उन माने निज गुन के गरब गिरबीदे हैं।
सुबस बजाज जाके सौदागर सुकबि,
चलेई आवैं दसहू दिसान के उनींदे हैं;
भोगीलाल भूप लाख पाखर लिवैया,
जिन लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।"

इन छंदों से जान पड़ता है कि भोगीलाल बड़े गुणज्ञ थे, उनके यहाँ बहुत-से कवि आते थे, और उन्होंने देव को पूर्ण रूप से संतुष्ट किया था।

परंतु देव का भाग्य ऐसा कहाँ था कि वह उनको कल से एक स्थान पर बैठने देता? जान पड़ता है, या तो भोगीलाल का शरीर-पात हो गया, या देवजी से उनसे कुछ अनबन हो गई। जिस समय इन्होंने अपना प्रधान ग्रंथ 'शब्दरसायन' बनाया, उस समय इनका कोई भी आश्रय-दाता न था। अतः इन्होंने शब्दरसायन भी किसी को नहीं अर्पण किया। इसके पीछे देवजी ने अपनी समस्त कविता का संग्रह-स्वरूप 'सुखसागरतरंगसंग्रह'-नामक ग्रंथ बनाया, और उसे पिहानी के अकबरअली ख़ाँ को समर्पण

किया। देव ने 'भावविलास' और 'रसविलास' के सिवा और किसी ग्रंथ में सन्-संवत् का ब्योरा नहीं दिया है। शेष ग्रंथों का समय उनकी कविता की प्रौढ़ता एवं अन्य गुणों से यहाँ क्रम-बद्ध किया गया है। देव के स्वर्ग-वास का क्या समय था, इस बात का अभी ठीक पता नहीं लगा। कोई कहता है, इन्होंने ७२ ग्रंथ बनाए, और कोई इन्हें ५२ ग्रंथों का रचयिता बतलाता है। हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि इन्होंने ५२ ग्रंथ बनाए हों, तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि यह महाशय वही छंद इधर-उधर उलट-पलटकर रखकर नया ग्रंथ तैयार कर देते थे। 'जातिविलास' और 'रसविलास' में बहुत ही कम अंतर है। इनका चाहे जो ग्रंथ उठा लीजिए, और देखिए, तो ज्ञात होगा कि इनके सर्व-श्रेष्ठ छंद प्रायः सभी ग्रंथों में वे ही हैं। इन बातों से विदित होता है कि नया ग्रंथ बनाने में इन्हें बहुत समय नहीं लगता था। सुना जाता है, इन्होंने 'नीतिशतक' और 'वैराग्यशतक' भी बनाए हैं। देव-जैसा रसिया मनुष्य सत्तर वर्ष की अवस्था के प्रथम 'वैराग्यशतक' कभी न बनाता। जान पड़ता है, जब ४३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'रसविलास' समाप्त किया, तब 'शब्दरसायन' और 'सुखसागरतरंग' आदि बनाने का विचार किया। फिर सत्तर वर्ष की अवस्था के लगभग इन्होंने 'वैराग्यशतक' बनाया होगा, और इसी अवस्था के इधर-उधर इनका शरीर-पात भी हुआ होगा। अतः जान पड़ता है कि सं० १८०२ के लगभग देवजी स्वर्ग-वासी हुए होंगे।

हमने देव के चौदह ग्रंथ देखे हैं। उन्हीं की समालोचना भी नीचे लिखते हैं। शोक का विषय है कि जहाँ तक हमें ज्ञात है, आपके केवल ये ही ग्रंथ मुद्रित हुए हैं--'भावविलास', 'अष्टयाम', 'भवानीविलास', 'रसविलास' और 'सुखसागरतरंग'। हाल में हमने 'सुजानचरित्र', 'रागरत्नाकर' और 'प्रेमचंद्रिका'-

नामक इनके ग्रंथ भी देव-ग्रंथावली में छपवाए हैं। 'देवशतक' जयपुर से प्रकाशित हो गया है; जिसमें जगदर्शनपचीसी, आत्मदर्शन-पचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी और प्रेमपचीसी हैं। इनके अतिरिक्त भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का बनाया हुआ सुंदरीसिंदूर-नामक (देव के काव्य का) एक संग्रह भी छापा गया है।

(१) भावविलास। यह देव का प्रथम ग्रंथ है। इन्होंने इसे केवल सोलह वर्ष की अवस्था में बनाया था। परंतु इनकी प्रौढ़-कविता में जो गुण देख पड़ते हैं, वे सब इस बाल्य-कविता में भी पाए जाते हैं। रसविलास तिरपन वर्ष की अवस्था में बना, और यद्यपि इन दोनों में अंतर अवश्य है, तथापि इनमें इतना अधिक अंतर नहीं है, जितना कि होना उचित था। इससे संदेह होता है कि देव ने इस ग्रंथ के निकम्मे छंद निकालकर उनके स्थान में पीछे से बने हुए उत्कृष्ट छंद रख दिए हैं। तो भी ऐसी बाल्यावस्था में ऐसा बढ़िया ग्रंथ बनाना इन्हीं का काम था। इन्होंने इस ग्रंथ में लिखा है—

"कबि देवदत्त शृंगार-रस सकल भाव-संयुत सच्यो;
सब नायिकादि-नायक-सहित अलंकार-बरनन रच्यो।"

इन्होंने और कवियों की भाँति छः प्रकार के भाव कहे हैं। देव भी मरणावस्था का वर्णन न करके उसके स्थान पर मूर्च्छा का कथन कर देते हैं। भरतादि आचार्यों ने तेंतीस संचारी भाव माने हैं; परंतु देव ने चौंतीसवाँ 'छल' भी कहा है। इस ग्रंथ में प्रेम का निम्न-लिखित लक्षण दिया गया है—

"सुख-दुख में है एक-सम, तन-मन-बचननि प्रीति;
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सु प्रेम प्रतीति।"

देव ने दो प्रकाशों में भाव का वर्णन करके तृतीय में रस का कथन किया है। इन्होंने अलौकिक और लौकिक, दो प्रकार के

रस कहे हैं। अलौकिक रस तीन प्रकार का कहा है—स्वप्न, मनोरथ और उपनायक। इन्होंने भी लौकिक रस नव प्रकार का कहा है। यथा—श्रृंगार, हास्य, करुणा, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, और शांत। इनमें से नाटक में केवल प्रथम आठ रहते हैं, और काव्य में पूरे नव।

श्रृंगार दो प्रकार का होता है—संयोग और वियोग। दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। यह कहकर देवजी ने संयोग के दस हावों और वियोग की दस दशाओं का वर्णन किया है। इन्होंने नायकों के चार और नायिकाओं के ३८४ भेद माने हैं। यौवन का निम्न-लिखित लक्षण दिया है—

"बालापन को भेदि कै, छबि को अंकुर होय;
जग माहै, दिन-दिन बढ़ै, जोबन कहिए सोय।"

देवजी के मत में कविता और कामिनी अलंकार पहनने से उत्कृष्टतर देख पड़ती हैं। अतः यह महाशय प्रायः सालंकार नायिका का वर्णन करते हैं—

"कविता, कामिनि, सुखद पद, सुबरन, सरस, सुजाति;
अलंकार पहिरे, बिशद, अदभुत-रूप लखाति।"

देव कहते हैं कि पुरातन आचार्यों की रीति से केवल ३९ अलंकार मुख्य हैं। उन्हीं का यह वर्णन करते हैं।

भावविलास एक बड़ा ही रोचक ग्रंथ है। आश्चर्य है कि एक सोलह वर्ष का बालक ऐसा विशद ग्रंथ बनाने में कैसे समर्थ हुआ! यह ग्रंथ भाषा के किसी भी रीति-ग्रंथ से कविता के गुणों में न्यून नहीं है।

(२) अष्टयाम। यह देव का द्वितीय ग्रंथ है। प्रायः कविजन षट्-ऋतुओं का वर्णन करते हैं। देवजी ने उससे भी आगे बढ़कर दिन के प्रत्येक प्रहर और घड़ी का वर्णन कर दिखाया है। यह ग्रंथ

भी भावविलास के साथ ही बना था। जान पड़ता है, इसमें पीछे से कोई छंद नहीं मिलाए गए हैं। सो यह ग्रंथ भावविलास से कुछ हीन बना है। परंतु, तो भी, इसमें देव की वही मनभावनी छटा वर्तमान है। इतनी प्रगाढ़ शक्ति इन्हीं महाराज में थी कि केवल दिन-रात के वर्णन में पूरा ग्रंथ बनाकर तैयार कर दिया। कुछ अन्य वैष्णव कवियों ने भी अष्टयाम कहे हैं; किंतु वे ग्रंथ देव-कृत अष्ट-याम की समता नहीं कर पाते।

इन्होंने भावविलास और अष्टयाम (आज़मशाह, औरंगज़ेब के पुत्र) को पढ़कर सुनाए, और उन्होंने इन दोनों ग्रंथों की प्रशंसा की। वास्तव में ये ग्रंथ बहुत ही प्रशंसनीय हैं।

(३) भवानीविलास। यह ग्रंथ भवानीदास-नामक एक वैश्य महाशय के नाम पर बनाया गया। इसमें रस-वर्णन है; परंतु इसकी कविता भावविलास से प्रौढ़ है। उपर्युक्त तीनों ग्रंथ काशी में, बाबू रामकृष्ण वर्मा के यहाँ, भारत-जीवन प्रेस से प्रका-शित हुए थे।

(४) सुंदरीसिंदूर। यह देव का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा संकलित, देव के चुने हुए, १११ छंदों का बड़ा ही चित्ताकर्षक संग्रह है। इसमें प्रथम पदार्थ-निर्णय है। उसके पीछे रस-वर्णन है। फिर उपमा आदि कही गई हैं। इसमें पूर्ण रूप से कोई प्रबंध नहीं है; परंतु इसके छंद बड़े ही मनोहर हैं।

(५) सुजानविनोद। यह पंडित युगलकिशोर के पुस्तकालय में वर्तमान है। इसमें प्रेमचंद्रिका की भाँति प्रेम का सूक्ष्म वर्णन किया गया है; जो श्रेष्ठ है। इनके मतानुसार जप या तप उतना श्रेष्ठ नहीं है, जितना प्रेम। देव ने इस ग्रंथ में सूक्ष्मतया दो-एक छंदों में उद्धव के विषय का वर्णन करके नायिका-भेद कहा है।

अंत में षट्-ऋतुओं का वर्णन करके इसे समाप्त कर दिया है। यह षट्-ऋतु-वर्णन बहुत अच्छा है। यह ग्रंथ उत्तमता तथा आकार में भवानीविलास के समान है। इसके नाम से भ्रम होता है कि यह सुजान-नामक किसी व्यक्ति के वास्ते बनाया गया होगा; परंतु ग्रंथ में किसी सुजान का नाम तक नहीं आया। अतः जान पड़ता है, यहाँ सुजान से विज्ञ मनुष्य का तात्पर्य है। देव का कथन है कि प्रेमी जन विषयासक्त मनुष्यों को परम नीच मानकर विषय-वासनाओं से इतर शुद्ध प्रेम की उपासना करके ब्रह्मानंद को प्राप्त होते हैं। आपके सिद्धांत बहुत ऊँचे हैं।

(६) प्रेमतरंग। यह भी हमने पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में देखा है। इसके केवल तीन अध्याय वहाँ हैं। इसमें बड़े विस्तार के साथ नायिका-भेद का वर्णन है। इन तीन अध्यायों में क़रीब दो सौ के छंद हैं। इस ग्रंथ का आकार शब्दरसायन के बराबर होना संभव है। इसमें भी देवजी ने परकीया और सामान्या के संपर्क को बहुत निंदित माना है—

"प्रगट भए परकीय अरु सामान्या को संग;
धरम-हानि, धन-हानि, सुख थोरो, दुःख इकंग।
उत्तम रस शृंगार की, स्वकिया मुख्य अधार;
ताको पति नायक कह्यो, सुख-संपति को सार।"

यह एक परम मनोहर ग्रंथ है, और इसकी कविता बहुत प्रशंसनीय।

(७) रागरत्नाकर। यह एक बड़ा ही श्रेष्ठ ग्रंथ है। इसमें देव ने रागों का वर्णन किया है। इस ग्रंथ में केवल दो अध्याय हैं। इसके विषय का सूक्ष्म वर्णन नीचे लिखा जाता है—

षड्ज, रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नाम के सात स्वर होते हैं। मुख्य राग छः हैं—भैरव, मालकौस,

हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ । इन सबमें दीपक रागों का राजा है। प्रत्येक राग की पाँच-पाँच भार्याएँ हैं। यथा—भैरव की भैरवी, बरारी, मधुमाधवी, सिंधवी और बंगाली। मालकौस की टोड़ी, गौरी, गुणकरी, खंभावती और कुकुभ। हिंडोल की रामकरी, देसाख, ललित, बिलावल और पटमंजरी। दीपक की देसी, कामोद, नट, केदारा, और कान्हरो। श्री की मालसिरी, मारू, धनाश्री, बसंत और आसावरी। मेघ की मलारी, गूजरी, भूपाली, देशकारील और टंक ।

द्वितीय अध्याय बहुत ही छोटा है, और उसमें थोड़े-से उपरागों का स्वल्प वर्णन हुआ है।

रागों और रागिनियों के रूप तथा उनके विषय में अन्य जानने योग्य बातें देवजी ने एक-एक छंद में बहुत ही श्लाघ्य रीति से दिखा दी हैं। उदाहरणार्थ दीपक का छंद यहाँ लिखा जाता है—

"सूरज के उदै, तूरज राव, चढ़ो गजराज, प्रभा परिवेख्यो ;
दूसरो सूरज, सूरज-जोति, किरीट ज्यों सूरज भूषन भेख्यो।
कामिनी संग, सुरंग मैं प्यो धनी, ग्रीषम द्योस, मध्यान्ह बिसेख्यो ;
दीपन दीप ज्यों दीपत दीपक, रागु-महीपति दीप ज्यों देख्यो।"

'रंग मैं प्यो धनी' से रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद को समझना चाहिए । इस स्थान पर दीपक का स्वरूप, उसके गाने का उचित समय, उसके साथ के वाद्य, उसकी सवारी, उसके भूषण, उसके स्वर-लक्षण आदि का पूरा वर्णन एक ही छंद में कर दिया गया है। छंद भी बहुत ही मनोहर है।

रागिनियों के उदाहरण-स्वरूप बसंती का वर्णन नीचे लिखा जाता है—

"साँवरी, सुंदरि, पीत दुकूलनि, फूल रसाल के मूल लसंती ;
लीन्हे रसाल की मंजरी हाथ, सुरंगित आँगी हिए हुलसंती।

पूरन प्रेम, सुरंग मैं प्यौ घनी, संग-ही-संग बिलोल हसंती ;
है उत हैउत ही दिन माँझ, समौ करि राख्यो बसंत, बसंती।"

इसमें भी उपर्युक्त बातों का कथन किया गया है। यह देव का ही काम था कि ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छंदों द्वारा राग-रागिनियों का सांगापांग वर्णन कर दिया। यह भी देव का बड़ा ही विशद ग्रंथ है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि वह रागों के भी पूर्ण ज्ञाता थे।

(८) कुशलविलास। यह तिरासी बड़े-बड़े पृष्ठों का एक प्रकृष्ट ग्रंथ है। इसमें नव अध्यायों द्वारा नायिका-भेद वर्णित है। यह ग्रंथ फफूँद, ज़िला-इटावा के निवासी, शुभकरन के पुत्र, कुशलसिंह सेंगर के नाम पर बना है। इसमें कुशलसिंह की साधारण बड़ाई है ; जिससे जान पड़ता है कि यहाँ भी कवि का साधारण ही मान हुआ था। इसके नवों अध्यायों में क्रमशः भाव-भेद, स्वकीया-पति-निरूपण, स्वकीयादि-स्वरूप, मुग्धा के १३ भेद, मुग्धादिक-स्वरूप, मुग्धा का पूर्वानुराग, मध्या की दस अवस्था, दस हाव, तीन मान और धीरादि-भेद वर्णित हैं। इसमें अपने सिद्धांत के दो दोहे इन्होंने कहे हैं—

"भूलि कहत नव रस सुकबि, सकल-मूल सिंगार ;
जो संपति दंपतिनु की, जाको जग बिस्तार।
होति अनूढ़ा रस-बिबस, नवल छैल-छबि देखि ;
ऊढ़ा गूढ़ बिमूढ़-मन, प्रेमारूढ़ बिसेखि।"

उत्तमता में यह ग्रंथ भवानीविलास के बराबर है ; देव की कविता के सब गुण इसमें भी मौजूद हैं। यहाँ उदाहरणार्थ केवल एक छंद लिखते हैं—

"अंब-कुल, बकुल, कदंब, मल्ली, मालती,
मलैजन को मींजि कै, गुलाबन की गली है;

को गनै अलप तरु, जीत्यो जो कलपतरु,
तासों बिकलप क्यों, बिकल मति अली है।
चित्त जाके जाय चढ़ि चंपक चपायो कौन
मोचि सुख सोचि हौं सकुच चुप चली है;
कंचन विचारे रुचि पाई चारु पंचन मैं,
चंपा-बरनी के गरे परयो चंपकली है।"

(६) देवचरित्र । यह ४४ बड़े पृष्ठों का ग्रंथ है । इसमें श्रीकृष्णचंद्र के ऐतिहासिक चरित्र, कंस-वध पर्यंत कुछ विस्तार से और शेष बहुत सूक्ष्मतया, कहे गए हैं। इसमें सब लीलाएँ थोड़े में, अत्यंत उत्तमता के साथ, कही गई हैं, और वर्णन सवैयों तथा घनाक्षरियों में हुआ है । यह बड़ा ही मनोहर ग्रंथ है । इसमें इन महाकवि ने ऐतिहासिक वर्णन की शक्ति पूर्ण रूप से प्रकट कर दी है । कालिया नाग को नाथने की और गोवर्द्धन-धारण की लीलाएँ विशेष श्लाघ्य हैं । इस ग्रंथ में गोपियों के रास और उद्धव-संदेश का अच्छा वर्णन नहीं किया गया, न उनके विस्तार का कुछ भी प्रयत्न हुआ है । उत्तमता में यह ग्रंथ भी भवानीविलास के समान है ।

उदाहरण लीजिए—

फैलि-फैलि, फूलि-फूलि, फलि-फलि, हूलि-हूलि,
झपकि-झपकि आईं कुंजैं चहुँ कोद ते :
हिलि-मिलि हेलिनु सों केलिनु करन गईं,
बेलिनु बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते ।
नंदजू की पौंरि पर ठाढ़े हे रसिक 'देव',
मोहनजू मोहि लीन्ही मोहनी सुमोद ते,
गाथनि सुनत भूली साथनि की, फूल गिरे
हाथनि के हाथनि ते गोदनि के गोद ते ।"

"मेरे गिरिधारी गिरि धरथो धरि धीरजु,
अधीर जनि होहि अंगु लचाकि लुरकि जाय;
लाड़िले कन्हैया, बलि गई बलि मैया,
बोलि ल्याऊँ बल-भैया, आय उर पै उरकि जाय।
टेक रहि नेक जौलौं हाथ न पिराय,
देखि साधु सँगु रीति अँगुरी ते न बुरकि जाय;
परथो ब्रज-बैर बैरी बारिद-बाहन बारि
'बाहन के बोझ हरि-बाँह न मुरकि जाय।"

(१०) प्रेमचंद्रिका। यह ग्रंथ मरदनसिंहात्मज राजा उद्योतसिंह बैस के वास्ते रचा गया। इसमें प्रथम श्रृंगार-रस के दो छंद कहकर कवि ने राधा-कृष्ण की वंदना की है। इस ग्रंथ में प्रेम का वर्णन इस छंद में किया गया है—

"जाके मद मात्यो उमात्यो ना कहुँ कोऊ,
जहाँ बूड़यो उछल्यो ना तरयो सोभा सिंधु सामुहै।
पीवत ही जाहि कोई मारयो सो अमर भयो,
बौरान्यो जगत जान्यो, मान्यो सुखधामु है।
चख के चखक भरि चाखत ही जाहि, फिरि
चाख्यो ना पियूख, कछु ऐसो अभिरामु है;
दंपति-सरूप ब्रज औतरयो अनूप, सोई
'देव' कियो देखि प्रेम-रस प्रेम नामु है।"

देव के मतानुसार सब रसों में श्रृंगार-रस मुख्य है। तल्लीनता की विशेषता से मुख्य प्रेम मुग्धाओं में होता है। मध्या में कभी-कभी कलह होने से उसका प्रेम कलुषित होता है। और, प्रौढ़ा में रोष-गर्वादि अधिक होते हैं। अतः उसमें उत्तम प्रेम नहीं मिलता। प्रेम पाँच प्रकार का होता है—सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य, और कार्पण्य। सानुराग प्रेम श्रृंगारमय होता है।

इस शृंगार के दो भेद हैं—संयोग और वियोग। ये भी गूढ़ और अगूढ़ के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। वियोग-शृंगार चार प्रकार का होता है—पूर्वानुराग, करुण, मान, और प्रवास। तीन प्रकार की नायिकाओं में से स्वकीया और परकीया में प्रेम होता है। गणिका में नहीं होता। अतः उसमें शृंगाराभास हो जाता है। इन्हीं के पति उपपति और व्यसनी नायक हैं; जिनमें क्रम से प्रेम, सुख, दुःख तथा दुर्वासना प्रधान हैं।

पूर्वानुराग स्वकीया और परकीया मुग्धाओं में होता है। उसकी उत्पत्ति श्रवण, दर्शन ,तथा स्मरण से है। इसी के अनंतर अभिलाषा आदि दस दशाएँ होती हैं। पहले श्रवण, दर्शन, स्मरण एवं विरह के द्वारा पूर्वानुराग होता है। तब अभिलाषा आदि दस दशाएँ उत्पन्न होती हैं। उनके पीछे संयोग होता है। शृंगार का मुख्य पात्र शुद्ध स्वकीया है, उसमें भी मुग्धा विशेष रूप से। परकीया के विषय में देवजी का यह मत है—

"परकीया उपपति-विरह, होति प्रेम-आधीन ;
पति संपति तन बिपति मैं, दौरि परै पन पीन।
पर-रस चाहै परकिया, तजै आपु गुन-गोत ;
आपु औटि खोवा मिलै, खात दूध फल होत।
काची प्रीति कुचालि की, विना नेह-रस-रीति ;
मार-रंग मारू मही बारू की-सी भीति।"

इन कविरत्न ने प्रेम के तत्त्व, गंभीरता, महत्त्व, निःस्वार्थ भाव, तल्लीनता, चाह आदि के परमोत्कृष्ट चित्र खींचे हैं। प्रेमी जन प्रेम पात्र के लिये समस्त संसार को कैसे और क्यों तृणवत् छोड़ देते हैं, इसका प्रत्यक्ष वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। देव ने विषयानंद को तुच्छ कहकर ऊँचे प्रेम का वर्णन किया है। विषयजन्य प्रेम को आप फीका और पोच समझते थे। शृंगार का प्राधान्य

रखकर भी आपने अपनी रचना में विषयजन्य प्रेम का कथन कम किया है।

इसके पीछे प्रेमचंद्रिका में स्वकीया मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, तथा परकीया का प्रेम-वर्णन किया गया है। परकीया के वर्णन में बड़े ही मनोहर छंद हैं। देवजी ने यह सब कहकर इस ग्रंथ के मुख्य विषय—गोपियों के प्रेम—का कथन किया है। यह वर्णन देखते ही बनता है। इसके पीछे आपने भक्ति का वर्णन आरंभ किया है। उसमें प्रथम गोपियों का रास कहा है, तत्पश्चात् दो-चार भक्तों की दशा पर दो-दो एक-एक छंद कहकर ग्रंथ समाप्त कर दिया है। यह बड़ा ही सुंदर ग्रंथ है। इसमें हृदय को क्षुब्ध करनेवाले कितने ही बड़े-बड़े मनोहर और चटकीले छंद हैं। उद्धव का वार्तालाप इस ग्रंथ का मुख्य अंश है। और, वही इसका सर्वोत्कृष्ट भाग भी है। इसमें पुराने आचार्यों के दर्रे पर न चलकर देवजी ने एक अनोखा प्रबंध बाँधा है। उन्होंने प्रेम-संबंधी अपने अपूर्व अनुभवों का निचोड़ अपने ख़ास ढंग से, इसमें भर दिया है। जितनी जाँच की बातें देवजी के इस छोटे-से ग्रंथ में पाई जाती हैं, उतनी उनके किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं मिलतीं। यह उनका सर्वप्रिय विषय और सर्वप्रिय ग्रंथ है। उन्होंने मानो बाह्याडंबर को छोड़कर इसमें पाठकों को अपना हृदय दिखा दिया है। देवजी की प्रगाढ़ कवित्व-शक्ति और रसियापन जातिविलास, रसविलास और प्रेमचंद्रिका से ही पूर्ण प्रकट होता है। काव्यरसायन में ये बातें उतनी अधिकता से नहीं हैं, यद्यपि उसमें भी इन सबकी झलक देख पड़ती है। काव्यरसायन में देवजी ने आचार्यता दिखाई है। प्रेमचंद्रिका के उदाहरण-स्वरूप हम दो छंद नीचे देते हैं—

"कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं;

कैसो नर-लोक, परलोक, वर लोकन मैं,
लीन्हीं मैं अलीक, लोक-लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं ;
वृंदाबन वारी बनवारी की मुकुट वारी
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं।"

"बोरयो बंसु-बिरद मैं, बौरी भई बरजति
मेरे बार-बार बीर कोई पास पैठौ जनि ;
सिगरी सयानी तुम, बिगरी अकेली हौंहीं,
गोहन मैं छाँडौ, मोसों भौंहनि उमैठौ जनि।
कुलटा कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, कूर,
काहू के न काम की, निकाम, याते ऐंठौ जनि ;
'देव' तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तौ
बैठी हौं बिकल, कोऊ मोहिं मिलि बैठौ जनि।"

(११) जातिविलास। इस ग्रंथ की वंदना बड़ी ही विशद है

"पाँयनि नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि मैं, धुनि की मधुराई ;
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिए हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई।
जै जग-मंदिर-दीपक, सुंदर श्रीव्रज-दूलह 'देव' सहाई।"

इसमें सबसे प्रथम जाति-भेद कहा गया है। फिर अष्टांगवती नायिका है। तदनंतर भारतवर्ष के समस्त देशों की वधुओं का वर्णन आरंभ हुआ है। हमारी कापी में केरल-बधू तक का वर्णन लिखा है। उसके आगे पुस्तक अपूर्ण है। यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ, और हमको कहीं इसकी पूर्ण प्रति भी नहीं मिली। अंदाज़न् तीन-चौथाई ग्रंथ हमारी प्रति में नहीं है। यह बड़े खेद का विषय है; क्योंकि 'जातिविलास' देवजी के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में

से एक है। जहाँ तक यह ग्रंथ हमारे पास है, वहाँ तक इसकी रचना रसविलास से बहुत कुछ मिलती है। यहाँ तक कि दोनों ग्रंथों में प्रति सैकड़े नब्बे छंद एक ही हैं। इस कारण रसविलास के विषय में जो कुछ लिखा जाय, वही जातिविलास के विषय में भी समझना चाहिए।

(१२) रसविलास। यह ग्रंथ देवजी ने विजया-दशमी, संवत् १७८३ वि० (सन् १७२७ ई०), को समाप्त किया। इसकी वंदना का छंद भी वही है, जो जातिविलास का। यह बड़ा ही मनोहर छंद है, और इसको अच्छी व्रजभाषा का उदाहरण मान सकते हैं। यह ग्रंथ राजा भोगीलाल को समर्पित हुआ है। देवजी ने भोगीलाल की जितनी प्रशंसा की है, उतनी किसी अन्य आश्रयदाता की नहीं। इसमें प्रथम नागरिकाओं के विभाग लिखे गए हैं, और उनका बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है। जिस कामिनी में आठों अंग पूर्ण हों, उसी को नायिका कहते हैं। आठों अंग ये हैं—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव और भूषण। देवजी कहते हैं, वह एक बार भावविलास रचकर नायिका-भेद कह चुके हैं, और अब उसी (नायिका-भेद) को द्वितीय बार नए प्रकार से कहते हैं।

नायिकाओं के आठ भेद होते हैं। यथा—जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्त्व। इनके भेदांतर भी नीचे लिखे जाते हैं—

जाति के चार भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी।

कर्म के तीन भेद—स्वकीया, परकीया, गणिका।

गुण के तीन भेद—सात्त्विक, राजस, तामस।

देश के अनंत भेद—अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृंदावन, मालवा, आभीर, बरार, कोकनद, केरल, द्रविड़, तिलंग, कर्नाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, कश्मीर, सौवीर आदि-आदि।

काल के दस भेद—स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, उत्कंठिता, बासकसज्जा, प्रवत्स्यद्भर्तृका, प्रोषित-पतिका, आगतपतिका।

वय के तीन भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

प्रकृति के तीन भेद—कफ, पित्त, वात।

सत्त्व के नव भेद—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, काग।

इसके पीछे देवजी ने नायिकाओं के संयोग और वियोग तथा नायक का वर्णन करके ग्रंथ समाप्त कर दिया है। यह ग्रंथ देवजी की प्रौढ़ अवस्था में बना और इसी कारण प्रौढ़ कविता से परिपूर्ण है। देश-देशांतरों में घूम-घूमकर कवि ने इसे बनाया है। प्रेमचंद्रिका की भाँति इसमें भी देव अपनी ही बनाई हुई रीति पर चले हैं, और इसी कारण ग्रंथ के बीच अद्भुत कवित्व की छटा देख पड़ती है। नायिका-भेद नए ढंग का अवश्य है, परंतु उसमें किसी नायिका का वर्णन छूटा नहीं है। गुप्ता, अनुशयना आदि का वर्णन इसमें स्पष्ट रूप से नहीं आया; परंतु वह सब परकीया-नायिका के अंतर्गत समझना चाहिए। इस ग्रंथ की कविता किसी भी स्थान पर शिथिल नहीं हुई। हर जगह एक ही तरह औवल दर्जे की होती चली गई है। इस ग्रंथ से अच्छे अधिक ग्रंथ भाषा-साहित्य में न होंगे। केवल इतना ही खेद है कि इसका विषय नायिका-भेद है। यदि किसी श्रेष्ठ विषय पर ऐसा उत्कृष्ट ग्रंथ बना होता, तो गीता की तरह घर-घर इसकी पूजा होती। इसमें देवजी ने दिखा दिया है कि कवि की दृष्टि कितनी पैनी होती है, और वह एक ही निगाह में कितना देख सकता है। जिस जाति की और जिस देश की नायिका का कथन है, उसमें उस जाति के कर्म एवं उस देश के स्वभावों और रीतियों का ऐसा सच्चा वर्णन है कि कुछ कहते नहीं

बनता। इसमें देवजी ने जाति-भेद से उपर्युक्त चार प्रकार की नायिकाओं के अतिरिक्त इन जातियों का भी पृथक्-पृथक् वर्णन किया है—देवी, पुजारिन, द्वारपालिका, राजकुमारी, धाय, दूती, सखी, जौहरिन, छीपिन, पटइन, सोनारिन, गंधिन, तेलिन, तमोलिन, काँदुनि, बनेनी, कुम्हारिन, दरजिन, चूहरिन, गणिका, ब्राह्मणी, रजपूतिन, खत्रानी, वैश्या, कायथिन, किसारिन, नाइन, मालिन, धोबिन, अहिरिन, काछिन, कलारिन, कहारिन, लुनेरिन, मुनितिय, व्याधतिय, भीलिन, सैन्या, वेश्या, मुकेरिन, बनजारिन, जोगिन, नटिन, कंजरिन, पथिक-वधू और भठियारिन। भठियारिन का वर्णन केवल जातिविलास में है। इनमें से प्रत्येक जाति के कथन में छंद से यह भास जाता है कि यह अमुक जाति का वर्णन है। यही दशा देशों की है। उदाहरणार्थ जाति और देश में से दो-दो छंद नीचे लिखे जाते हैं—

"देव देखावति कंचन सो तनु, औरनि को मनु तावै अगोनी;
सुंदरि साँचे में दै भरि काढ़ी-सी, आपने, हाथ गढ़ी बिधि सोनी।
सोहति चूनरि स्याम किसारी कि, गोरी, गुमान-भरी, गज-गोनी;
कुंदन-लीक कसौटी में लेखी-सि, देखी सो नारि सुनारि सलोनी।"

"पँड़िन ऊपर घूमत घाँघरो, तैसियै सोहति सालू कि सारी;
हाथ हरी-हरी राजै छरी, अरु जूती चढ़ी पग फूँद-फुँदारी।
आछे उरोज हरा घुँघुचीन के, हाँकति हाँ कहि बैल निहारी;
गातन ही दिखराय बटोहिन बातन ही बनिजै बनिजारी।"

"तीनिहु लोक नचावति ऊक मैं, मंत्र के सूत अभूत गती है;
आपु महा गुनवंत गोसाइनि, पाँइन पूजत प्रानपती है।
पैनी चितौनि चलावति चेटक, को न कियो बस जोगि-जती है?
कामरू-कामिनि, काम-कला, जगमोहनि भामिनि भानमती है।"

"जोबन के रंग भरी, ईंगुर से अंगनि पै,

पँड़िन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की ;
उचके उचोहैं कुच झपे झलकत झीनी
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की।
गुलगुले, गोरे, गोल, कोमल कपोल,
सुधाबिंदु बोल, इंदुमुखी, नासिका ज्यों कीर की;
'देव' दुति लहराति, छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि, किसोरी कसमीर की।"

(१३) **काव्यरसायन**। यह ग्रंथ देवजी के सब स्वतंत्र ग्रंथों से गुरुतर और प्रौढ़तर है । इसका दूसरा नाम शब्दरसायन भी है। जैसे केशवदास ने कविप्रिया में आचार्यता दिखाई है, वैसे ही देवजी ने काव्यरसायन में गुरुता प्रदर्शित की है । काव्य के विषय में सूक्ष्मतया इनका यह मत है—

"ऊँच नीच तन कर्म-बस, चल्यो जात संसार ;
रहत भव्य भगवंत जस नव्य काव्य सुख-सार।
रहत न घर वर वाम धन, तरुवर सरवर कूप ;
जस सरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप"

समर्थ काव्य का लक्षण देवजी ने यों दिया है—

"सब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद बचननि अर्थ ;
छंद भाव भूखन सरस सो कहि काव्य समर्थ।"

पहले देव ने पदार्थ-निर्णय किया है । यह महाराज अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त एक चौथी शक्ति 'तात्पर्य' भी मानते हैं। शुद्ध लक्षणा, व्यंजना आदि का वर्णन करके इस महाकवि ने इनके संकीर्ण भेद कहे हैं । इन भेदों में इन कविवर ने अभिधा में अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यंजना, लक्षणा में लक्षणा, लक्षणा में व्यंजना, लक्षणा में अभिधा, व्यंजना में व्यंजना, व्यंजना में अभिधा, व्यंजना में लक्षणा,

अभिधा में तात्पर्य, लक्षणा में तात्पर्य और व्यंजना में तात्पर्य का वर्णन किया है। इस ग्रंथ में देव ने पढ़नेवालों के लिये यह बड़ी सुविधा कर दी है कि प्रत्येक उदाहरण के पीछे दोहे में उसका प्रयोजन भी प्रकट कर दिया है।

पदार्थ-निर्णय के पीछे आपने रस-निर्णय किया है। शब्द, काव्य और रस में इन्होंने निम्न-लिखित संबंध दिखाया है—

"काव्य सार सब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार ;
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार ।
ताते काव्य सु मुख्य रस, जामैं दरसत भाव ;
अलंकार सब्दार्थ के, छंद अनेक सुभाव ।"

देव के मतानुसार यदि कविता को वृक्ष मानें, तो रस उसके फलों का रस होगा।

रस के स्वरूप को आपने इस छप्पै के द्वारा खूब ही समझाया है—

"रस-अंकुर थाई बिभाव रस के उपजावन ;
रस अनुभव, अनुभाव सु सात्त्विक रस झलकावन ।
छिन छिन नाना रूप रसनि संचारी उझकै ;
पूरन रस संयोग बिरह रस रंग समुझ कै ।
ये होत नायिकादिकनि में रत्यादिक रस भाव षट ;
उपजावत शृंगारादि-रस गावत नाचत सुकबि नट ।"

इसी को सूक्ष्म रूप से कवि ने इस प्रकार कहा है—

"जो बिभाव, अनुभाव अरु, संचारिन करि होय ,
थिति की पूरन वासना, सुकबि कहत रस सोय ।"

देव के मतानुसार रसों में शृंगार, वीर, और शांत मुख्य हैं। शेष छः रसों (हास्य, भयानक, रौद्र, करुणा, अद्भुत, बीभत्स) में दो-दो क्रमानुसार इनके संगी हैं। वीर और शांत अपने साथियों

समेत श्रृंगार के संगी होते हैं, अतः श्रृंगार-रस ही रसराज है। रसों ही से मिलता हुआ रस-मित्र, रस-शत्रु आदि का वर्णन है। फिर पात्र-विचार हुआ है। इसके पीछे कवि ने रस-रीति कही है। तदनंतर शब्दालंकार का वर्णन किया गया है। इसके विषय में इनका यह मत था—

"अलंकार जे सब्द के, ते कहि काव्य सुचित्र ;
अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर बरन बिचित्र।
अधम काव्य ताते कहत, कबि प्राचीन, नवीन ;
सुंदर छंद अमंद रस, होत प्रसन्न प्रबीन।
जिनहिं न अनुभव अरथ को, भावत नहिं रस भोग ;
चित्र कहत तिन हेत कछु, भिन्न-भिन्न-रुचि लोग।
सरस बाक्य, पद, अरथ तजि, सब्द चित्र समुहात ;
दधि, घृत, मधु, पायस तजत, बायस चाम चबात।
मृतक काव्य बिनु अर्थ के, कठिन अर्थ के प्रेत ;
सरस भाव रस काव्य सुनि, उपजत हरि सों हेत।"

देव ने चित्र-काव्य की इतनी निंदा करके फिर भी कई प्रकार की उत्कृष्ट चित्र-कविता की है। इसके पीछे इन्होंने अर्थालंकार कहे हैं। उनमें आपने सबका वर्णन न करके चालीस मुख्य और तीस गौण अलंकार ही कहे हैं। इतने पर भी संतुष्ट न होकर फिर कहा है—

"अलंकार मैं मुख्य द्वै, उपमा और सुभाव ;
सकल अलंकारन बिषे, दरसत प्रकट प्रभाव।"

देव ने उपमा की प्रधानता समझाने के लिये बहुत तरह की उपमाएँ कही हैं। शेष अलंकारों को आपने थोड़े में इस प्रकार कहा है कि एक-एक छंद में चार-चार पाँच-पाँच अलंकार भर दिए। दसवें अध्याय से इन्होंने छंदों का वर्णन आरंभ किया है।

छंद दो प्रकार के होते हैं। एक मात्रा-वृत्त, और दूसरा वर्ण-वृत्त। लघु-गुरु मात्राओं का विचार करके देवजी ने गणागण का वर्णन किया है। इनके गद्य का उदाहरण बड़ा ही विचित्र है। गद्य तीन प्रकार का होता है—वृत्ति, चूर्ण, और उत्कलिका। देव ने छंदों के लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही साथ दिए हैं; अर्थात् जिस छंद का लक्षण कहना हुआ, उसी छंद में उसका लक्षण कह दिया। इस प्रकार एक ही साथ लक्षण और उदाहरण, दोनों ज्ञात हो जाते हैं। संस्कृत के कुछ कवियों ने इसी प्रकार छंदों के उदाहरण दिखलाए हैं। देव ने प्राचीन प्रकार के आठों सवैयों के लक्षण और नाम एक ही छंद में दिखा दिए हैं। वह छंद यह है—

"सैल भगा, बसुभा, मुनि भागग, सात भगोल, लसै लभगा;
लै मुनि भागग, ही लल सत्त भगी, लल सात भगंग पगा।
पी मदिरा, ब्रजनारि किरीटि, सुमालति, चित्रपदा भ्रमगा;
मल्लिक, माधवि, दुर्मिलिका, कमला सु सवैय बसुक्रम गा।

इस सवैए को समझने के लिये प्रथम भगण का रूप जान लेना आवश्यक है। भगण तीन अक्षरों का होता है; जिसमें प्रथम गुरु और अंत के दोनों लघु होते हैं।

मदिरा=सैल भगा; सात भगण और एक गुरु।
किरीटी=बसुभा; आठ भगण।
मालती=मुनि भागग; सात भगण और दो गुरु।
चित्रपदा=सात भगोल; सात भगण और एक लघु।
मल्लिका=लसै लभगा; एक लघु, सात भगण, और एक गुरु।
माधवी=लै मुनि भागग; एक लघु, सात भगण और दो गुरु।
दुर्मिलिका=लल सत्त भगी; दो लघु, सात भगण और एक गुरु।
कमला=लल सात भगंग; दो लघु, सात भगण और दो गुरु।

इनके अतिरिक्त मंजरी, ललिता, सुधा और अलसा नाम के चार प्रकार के नवीन मत के सवैए हैं—

मंजरी=लाष्टभगल ; एक लघु, आठ भगण, एक गुरु, और एक लघु।

ललिता=ललाष्टभ ; दो लघु, आठ भगण।

सुधा=लल मुनिभगल ; दो लघु, सात भगण, एक गुरु, और एक लघु।

अलसा=सैलभर ; सात भगण और एक रगण।

रगण के तीन अक्षरों में आदि और अंत के गुरु होते हैं, तथा मध्य का लघु।

दंडक नियत-गण-वर्ण और अनियत-गण-वर्ण के होते हैं। अनियत-गण-वर्ण को घनाक्षरी कहते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं—जिनमें से किसी में तीस, किसी में इकतीस, किसी में बत्तीस, और किसी में तेंतीस वर्ण होते हैं।

देवजी ने सात प्रकार के गाहा दोहे कहे हैं। मेरु, मर्कटी, पताका आदि के विषय में इनका यह मत है—

"मेरु, पताका, मर्कटी, नष्ट और उद्दिष्ट ;
कौतुक-हित प्रस्तार हू बिस्तारत हैं सृष्ट।
मानुष-भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छंद ;
अलंकार पंचांग ये कहत-सुनत आनंद।"

अपने काव्यरसायन-ग्रंथ के विषय में निम्न-लिखित दोहे देवजी ने लिखे हैं—

"सत्य रसायन कबिन को, श्रीराधा-हरि-सेव ;
जहाँ रसालंकार-सुख, सच्यो रच्यो कबि देव।
भाषा, प्राकृत, संसकृत, देखि महाकबि-पंथु ;
देवदत्त कबि रस रच्यो, काव्यरसायन ग्रंथु।"

देव ने वास्तविक रीति-ग्रंथ केवल काव्यरसायन और भाव-विलास लिखे हैं। इनमें भी काव्यरसायन में इन्होंने अपनी आचार्यता दिखलाई है। इसमें पदार्थ-निर्णय, रस, अलंकार और पिंगल के वर्णन हैं। रस का वर्णन देव ने बहुत ही उत्कृष्ट किया है। यह ग्रंथ आपके सब स्वतंत्र ग्रंथों से बड़ा है, और संभवतः सबसे पीछे बना भी है। केवल सुखसागरतरंग संग्रह और नीति तथा वैराग्य की कविताएँ इसके पीछे बनी होंगी। कविता की उत्तमता में भी यह ग्रंथ प्रेमचंद्रिका आदि से उत्कृष्ट है। प्रत्येक छंद में देव की अलौकिक योग्यता की छटा देख पड़ती है। दुर्भाग्यवश यह ग्रंथ भी अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। भाषा-रसिकों को उचित है कि कम-से-कम काव्यरसायन को तो अवश्य ही मुद्रित करावें। यह ग्रंथ देव के परमोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है, और इसमें भी इनकी अनुमतियों का आविर्भाव हुआ है।

(१४) सुखसागरतरंग। इस ग्रंथ की वंदना में भी आपने शृंगार-रस को नहीं छोड़ा—

"माया देबी नायिका, नायक पूरुष आपु ;
सबै दंपतिन मैं प्रकट, देव करैं तेहि जापु।"

इसको देव ने पिहानी के अकबरअली ख़ाँ के वास्ते बनाया था। इससे विदित होता है कि उस समय मुसलमान भी भाषा-साहित्य को खूब समझते और उसका आदर करते थे। स्वयं देवजी के समान महाकवि ने लिखा है कि अकबरअली रस-पंथ जानते थे। इससे विदित होता है कि भाषा-साहित्य पर अकबरअली का अधिक अधिकार था। इसी प्रकार बादशाह औरंगज़ेब के पुत्र आज़मशाह ने भावविलास और अष्टयाम सुनकर उन ग्रंथों की प्रशंसा की थी। इस ग्रंथ में देवजी ने प्रथम दंपति की वंदना करके तब देवियों की स्तुति की है। और किसी देवता की वंदना

नहीं की । फिर छत्तीसवें छंद में एक प्रकार से ग्रंथ के विषय का वर्णन करके आपने सवैयों और दंडकों में बहुत बढ़िया ढंग से सूक्ष्मतया नायिका-भेद कहा है । इसके पीछे गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधा का सौभाग्य कहकर पंचमी-महोत्सव का वर्णन किया है । ये सब वर्णन बहुत ही उत्कृष्ट हैं । वसंत-ऋतु के कथन में भी इन्होंने आगे चलकर होली का वर्णन किया है । पंचमी-महोत्सव के पीछे देव ने शृंगार-रस की रचना की है । दूसरे अध्याय को कवि ने प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रारंभ किया है। इसके पीछे सूक्ष्मतया शृंगार-रस का सांगोपांग कथन हुआ है। तदनंतर देव ने परकीया के बहुत-से छंद कहकर षट्ऋतु-वर्णन किया है । फिर अष्टयाम कहकर नख-शिख कहा है । इसमें से उदाहरणार्थ नेत्र-वर्णन का एक छंद नीचे लिखा जाता है—

"लाज की निगड़ गड़दार अड़दार चहूँ,
  चौंकि चितवनि चरखीन चमकारे हैं;
बरुनी अरुन लीक, पलक झलक झूल,
  झूमत सघन घन घूमत घुमारे हैं।
रंजित रजोगुन सिंगार-पुंज कुंजरत,
  अंजन सोहन मनमोहन दतारे हैं।
'देव' दुख-मोचन सकोच न सकत
  चलि लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं।"

नख-शिख कहकर इन कविवर ने नायकों की जाति कही है। फिर नायिकाओं के आठों अंगों का अच्छा वर्णन किया है। इसके पीछे देव ने बड़ा लंबा-चौड़ा नायिका-भेद कहा है । इसी के अंतर्गत अंश-भेद भी है । अंत के बारहवें अध्याय में नायक और नायक के सखाओं का वर्णन किया गया है । इसी अंतिम अध्याय को इन्होंने एक प्रशंसनीय मान-लीला के साथ समाप्त किया है।

इस लीला में उनतीस छंद हैं, और वे सब बहुत ही उत्कृष्ट हैं। इसका पहला ही छंद उदाहरणार्थ नीचे लिखा जाता है—

"प्यारी हमारी सों आओ इतै, कहि 'देव', कुप्यारी है कैसेक पेए ?
प्यारी कहो जनि मोसों अहो, कहि प्यारी प्यो प्यार की प्यारी बुलैए।
कै वह प्यार कि एतो कुप्यार ! अन्यारी है बैठी, सो बात बतैए ;
प्यारे पराए सों कौन परेखो, गरे परि कौ लगि प्यारी कहैए।"

इस ग्रंथ में देव ने मुख्य रूप से नायिका-भेद कहा है। इसको प्रायः लोग आपकी कविता का संग्रह कहते हैं। किसी अंश में यह कथन यथार्थ भी है ; क्योंकि इसमें जातिविलास, अष्टयाम, भाव-विलास आदि के विषय आ गए हैं। परंतु यह भी कहना पड़ता है कि इस ग्रंथ में न-जाने कितने ऐसे वर्णन हैं, जो कवि के अन्य प्रचलित ग्रंथों में नहीं पाए जाते। शब्दरसायन का विषय इसमें नहीं आया, और न भाव-भेद ही पूर्ण रूप से कहा गया है। अलंकार-वर्णन से भी इस ग्रंथ से कोई संबंध नहीं है। स्थूल रूप से इसे नायिका-भेद का ग्रंथ कह सकते हैं। भाषा में नायिका-भेद का इतना सांगोपांग और सर्वांग-सुंदर कोई अन्य ग्रंथ नहीं है। रसविलास में नायिका-भेद आठ भेदों में वर्णित है ; परंतु इसमें उसके दस प्रधान भेद माने गए हैं। ये शेष दो भेद रसविलास में मुख्य भेद करके नहीं माने गए। हम तो इसे स्वतंत्र ग्रंथ ही मानते, क्योंकि यदि अन्य ग्रंथों के छंदों को कहिए, तो देव का ऐसा कोई भी ग्रंथ नहीं है जिसमें अन्य ग्रंथों के छंद न भरे पड़े हों ; परंतु देव ने स्वयं इसे संग्रह कहा है। इसमें कुल मिलाकर ८५६ छंद हैं ; परंतु इसकी कविता किसी स्थान पर शिथिल नहीं हुई। भाषा-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण, सतसई और सूरसागर को छोड़कर ऐसा उत्कृष्ट कोई भी ग्रंथ नहीं है। इसमें प्रत्येक विषय का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है। प्रायः देखा गया है कि यदि भारी कवियों

तक के ग्रंथ पढ़िए तो उनके भी सभी स्थल अच्छे नहीं लगते। अधिक स्थलों पर उनकी कविता शिथिल पड़ जाती है। परंतु देव के किसी ग्रंथ में प्रायः किसी स्थान पर ऐसा नहीं हुआ। सुख-सागरतरंग-जैसा बड़ा ग्रंथ भी किसी स्थान पर शिथिल नहीं हुआ। देव का यह भी एक बड़ा ही बढ़िया ग्रंथ है।

(१९) देवमायाप्रपंच नाटक। इसमें रूपक की तरह सद्धर्म और माया के युद्ध का वर्णन किया गया है। यह पूर्ण नाटक नहीं है, यद्यपि नाटकों की भाँति इसमें नट, नटी, नेपथ्य, प्रवेश, प्रस्थान आदि का कथन है। इसे अर्द्धनाटक-सा कह सकते हैं। इसमें छः अंक हैं। प्रथम अंक में सद्धर्म के पक्षवालों का दिग्दर्शन एवं कलि का प्रवेश वर्णित है। द्वितीय अंक में कलि के पक्षवालों का स्वरूप और उनके विचार कहकर कवि ने जनश्रुति और बुद्धि का सत्संगति के यहाँ जाना कहा है। तृतीयांक में योग, मुक्ति, सत्क्रिया, सत्यता, श्रद्धा, भक्ति, शुद्धि, स्मृति, तत्त्व-चिंता, शांति, करुणा, तुष्टि और क्षमा भी सत्संगति के यहाँ जाती हैं, और इनके कुछ वर्णनों के पीछे इनमें से प्रत्येक अपने-अपने मतानुसार अनुमति देती है। इसके पीछे जनश्रुति शत्रुओं का पता लगाने को उनके यहाँ छद्म-वेष में भेजी जाती है। यह अंक बड़ा मनोरंजक है, और प्रत्येक देवी का अनुमति-विषयक छंद बहुत अच्छा है। चतुर्थ अंक में जनश्रुति योगिनी के वेष में शत्रु-नगर में जाती है, और नगर तथा उसकी सब बातों का निरीक्षण करती है। यह अंक साधारणतः अच्छा है। पाँचवें अंक में जनश्रुति सहजानंद, इच्छानंद, आत्मानंद, विषयानंद, स्पर्शानंद, भोगानंद, और संभोगानंद के उपदेश सुनती एवं धूर्तराज द्वारा तंत्र, मंत्र, इंद्रजाल तथा वाग्जाल का माहात्म्य जानती है। अंत में कई परमोत्कृष्ट छंदों द्वारा माया की महिमा कही गई है। यह अंक बड़ा ही

बढ़िया, रुचिकर और हास्य-रस से परिपूर्ण है। इसमें इच्छानंद के सिद्धांत अँगरेज़ी के एपिक्योरियन-सिद्धांत से बिलकुल मिल जाते हैं। छठे अंक में मनराज का अभिषेक हुआ, फिर युद्ध में माया की सेना सद्धर्म-दल से बिलकुल पराजित हो गई, और पुरुष की मुक्ति हुई। युद्ध-वर्णन साधारण है। ग्रंथ कुल मिलाकर अच्छा है; परंतु फिर भी इनके ख़ास ग्रंथों की बराबरी नहीं कर सकता।

उदाहरण—

"मूढ़ कहैं मरिकै फिरि पाइए, ह्याँ जु लुटाइए भौन भरे को ;
ते खल खोय खिस्यात खरे, अवतारु सुन्यो कहुँ छार परे को ?
जीवत तौ व्रत भूख सुखौत, सरीर महा सुर-रूख हरे को ;
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि, साधन देत सराध मरे को।"

देवजी के जिन ग्रंथों पर ऊपर समालोचना लिखी गई है, उन सबको समालोचना लिखते समय हमने देखा है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त पंडित युगलकिशोर मिश्र कहते थे कि निम्न-लिखित देव-कृत ग्रंथ उन्होंने स्वयं देखे थे; परंतु उनकी प्रति वह प्राप्त नहीं कर सके—

(१६) वृक्ष-विलास। यह एक छोटा-सा ग्रंथ है, और इसमें देवजी ने वृक्षों का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। इसमें अन्योक्तियाँ बहुत हैं।

(१७) पावसविलास। इसमें पावस-वर्णन के बड़े बढ़िया छंद हैं। यह आकार में भावविलास के बराबर और एक बड़ा ही अनमोल ग्रंथ है।

(१८) जगद्दर्शन-पचीसी।

(१९) आत्मदर्शन-पचीसी।

(२०) तत्त्वदर्शन-पचीसी।

(२१) प्रेमदर्शन-पचीसी ।

इन्हीं चारों पचीसियों को मिलाकर वैराग्यशतक बनता है । हाल में यह ग्रंथ जयपुर से प्रकाशित हो गया है, जो हमारे देखने में नहीं आया । इनमें के कुछ छंद नीचे लिखते हैं—

"बागो बन्यो जरपोस को तामहिं, ओस को हार तन्यो मकरी ने,
पानी मैं पाहन-पोत चल्यो चढ़ि, कागद की छतुरी सिर दीने ।
काँख मैं बाँधिकै पाँख पतंग के, 'देव' सुसंग पतंग को लीने ;
मोम के मंदिर माखन को मुनि, बैठ्यो हुतासन आसन कीने ।"

"काम परो दुलही अरु दूलह, चाकर यार ते द्वार ही छूटे ;
माया के बाजने बाजि गए, परमान ही भातखवा उठि बूटे ।
आतसबाजी गई छिन मैं छुटि, देखि अजौं उठिकै अँखिफूटे ;
'देव' दिखैयन दाग बने रहे, बाग बने ते बरोठेई लूटे ।"

"आवत आयु को द्यौस अथौंत, गए रवि त्यों अँधियारिए ऐहै ;
दाम खरे कै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै ।
'देव' छितीस की छाप बिना, जमराज जगाती महादुख देहै ।
जात उठी पुर देह की पैंठ, अरे बनिये बनिये नहिं रैहै ।"

"देव जियै जब पूछौ तौ पीर को, पार कहूँ लहि आवत नाहीं ;
सो सब झूँठ मतै मत कै बकि, मौन सोऊ रहि आवत नाहीं ।
ह्वै नँदनंद तरंगिनि मैं मन, फेन भयो गहि आवत नाहीं ,
चाहै कह्यो बहुतेरो कछू, पै कहा कहिए, कहि आवत नाहीं ।"

"संपति मैं पैंठि बैठे चौतरा अदालति के,
बिपति मैं पैन्हि बैठे पाँय झुनझुनिया ;
जेतो सुख संपति तितोई दुख बिपति मैं,
संपति मैं मिरजा, बिपति परे धुनिया ।
संपति ते बिपति, बिपति हू ते संपति है,
संपति औ बिपति बराबरि कै गुनिया ;

संपति मैं काँय-काँय, बिपति मैं भाँय-भाँय
काँय-काँय भाँय-भाँय देखी सब दुनिया।"
"गुरुजन जावन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि,
मथ्यो न बिबेक रई 'देव' जो बनायगो ;
माखन मुकुति कहाँ, छाँड़यो न भुगुति जहाँ,
नेह बिनु सगरो सवाद खेह नायगो।
बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ भाँड़े,
नच्यो कोप-आँच पच्यो मदन छिनायगो ;
पायो न सिरावन सलिल छिमा-छीटन सों,
दूध सो जनमु बिनु जाने उफनायगो।"
"माया के प्रपंचन सों, पंचन के बंचन सों,
कंचन के काज मोह-मंचन ठए फिरै।
काम भरयो, क्रोध भरयो, कपट-कुबोध भरयो,
बिस्व मैं बिरोध ही के बीजन बए फिरै।
लाभ ही के लोभ भरयो रंभत अनेक दंभ,
मान बिषै बस्तुन के पुस्तक लए फिरै ;
चौदहौ भुवन, सातौ द्वीप, नवो खंड जाके,
पेट मैं परे हैं, ताहि पेट मैं दए फिरै।"
"कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं, न पाथ मैं, न साथ की बसीति मैं ;
जटा मैं न, मुंडन न, तिलक त्रिपुंडन न,
नदी-कूप-कुंडन अन्हान दान-रीति मैं।
पीठ-मठ-मंडल न, कुंडल कमंडल न,
माला दंड मैं न 'देव' देहरे की भीति मैं।
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं।"

"ऐसो जु हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे, हाथ-पाँय तेरे तोरतो ;
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हेरि बदन निहोरतो ।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चेतावनीन मारि मुहँ मोरतो ;
भारो प्रेम पाथर, नगारो दै, गरे सों बाँधि
राधाबर-बिरद के बारिधि मैं बोरतो ।"

(२२) हाल में प्रेमदर्शन-नामक इनका एक और ग्रंथ खोज में मिला है ।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने देवजी-कृत ग्यारह ग्रंथों के नाम लिखे हैं, जिनमें से निम्न-लिखित चार ग्रंथों के अतिरिक्त शेष सात का विवरण ऊपर किया जा चुका है—

रसानंदलहरी, प्रेम-दीपिका, सुमिल-विनोद और राधिका-विलास ।

इन चार नए ग्रंथों के अतिरिक्त शिवसिंहसरोज में निम्न-लिखित सात ग्रंथों के नाम मिलते हैं—प्रेमतरंग, भावविलास, रसविलास, सुजानविनोद, काव्यरसायन, अष्टयाम और देवमाया-प्रपंच नाटक । हमारे पूज्य पिता पंडित बालदत्त मिश्र ने देव के सुखसागरतरंग को प्रकाशित कराया था । उसकी भूमिका में उन्होंने देव के नीतिशतक-नामक ग्रंथ का नाम लिखा है । हमने यह ग्रंथ नहीं देखा ; क्योंकि हमारे पुस्तकालय में नहीं है । परंतु उन्होंने इसे कहीं देखा था । पता न ज्ञात होने से हम उसे न देख सके ।

इस वर्णन से विदित होता है कि अभी तक हमें इनके २७ ग्रंथों के नाम ज्ञात हुए हैं । यदि सुंदरीसिंदूर को ग्रंथ न मानिए, तो

२६ ग्रंथों के नाम ऊपर मिलेंगे । खोज में नख-शिख और प्रेम-दर्शन-नामक इनके दो और ग्रंथ लिखे हैं ।

इन महाकवि के ग्रंथ अमूल्य रत्न हैं । समस्त भाषा-रसिकों को उचित है कि जो ग्रंथ जिस व्यक्ति के पास हो, वह उसकी सूचना समाचारपत्रों में दे दे, या नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी को लिख भेजे । इसके सिवा यदि इन महाकवि के सब ग्रंथ प्रकाशित न हो सकें, तो भाषा-रसिकों को उचित है कि अन्य रसिकों को उनके पास की हस्त-लिपियाँ प्राप्त करने में पूरी सहायता दें ।

देवजी की कविता का परिचय

(१) देव ने घनाक्षरियाँ सवैयों से अधिक रची हैं । उत्तमता में भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं । इनकी कविता में पृष्ठ-के-पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, प्रायः कहीं कोई बुरा छंद न पाइएगा । देव ने कई ग्रंथों में वे ही पद्य दो-दो तीन-तीन बार रख दिए हैं, और कहीं-कहीं एक ही ग्रंथ में वही पद्य दुबारा रख दिया है । यहाँ तक कि यदि किसी मनुष्य ने इनके कई ग्रंथ देखे हों, तो उसको इनके किसी नए ग्रंथ के देखने में बहुत कम नए पद्य मिलेंगे । इसका कारण एक यह भी है कि इनके पद्यों में कितने ही पृथक्-पृथक् भाव झलकते हैं । अतः ये महाराज एक ही छंद विविध काव्यांगों के उदाहरणों में रख देते हैं, और वह पूर्णतया बैठ भी जाता है ।

इनकी कविता में अजायबघर की भाँति अच्छे-से-अच्छे छंद देखते चले जाइए ; परंतु उसमें बिहारी की भाँति उतने चोज़ नहीं मिलते । किंतु इसके साथ-ही-साथ इनके साहित्य में अभूत-पूर्व कोमलता, रसिकता, सुंदरता आदि गुण कूट-कूटकर भरे हैं । ऐसे उत्कृष्ट पद्य किसी अन्य की कविता में स्वप्न में भी नहीं देखे जाते । इनके प्रकृष्ट पद्यों के बराबर किसी भाषा में कोई पद्य पाना

कठिन है। देव ने आभूषण-सहित रूप का वर्णन अधिक किया है, ख़ाली रूप का कम। इनके मध्या और प्रौढ़ा के भेद उतने बढ़िया नहीं बने, जितने मुग्धा के।

इनकी कविता में चोरी बहुत कम है। अधिक निर्लज्जता भी नहीं पाई जाती। परंतु 'सुखसागरतरंग' के पद्य नंबर ७७४ में वह पूर्ण रूप से विराजमान है। एक-आध स्थान पर इन्होंने गुरु अक्षर से लघु का काम लिया है। सुखसागरतरंग का छंद नंबर ४०९ इसका उदाहरण है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देव महाराज देश-देश घूमे हैं। यह पूर्ण रसिक भी थे। अतः जहाँ गए, वहाँ की स्त्रियों को इन्होंने बहुत ध्यान-पूर्वक देखा है। इन्होंने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। इनका देश-वर्णन देखकर कहीं-कहीं यह संदेह अवश्य उठता है कि संभवतः इनका चालचलन बहुत ठीक न था।

देवजी के तुकांतों में दो-चार स्थानों पर निरर्थक पद भी देख पड़ते हैं, यथा चाड़िली, रुंज इत्यादि। इन्होंने प्रेमचंद्रिका के आदि में कहा है कि कवि को प्रेम के ग्रंथ बनाने चाहिए, और पुरानी कथाओं में दिन वृथा ही बीत गए।

(२) देव की भाषा शुद्ध ब्रज-भाषा है। भाषा-साहित्य में देव और मतिराम, इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। इन दोनों कवियों की-सी उत्कृष्ट भाषा कोई भी अन्य कवि नहीं लिख सका। भाषा की कोमलता और सरसता में ये दोनों कवि अन्य कवियों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं। इनकी कविता में श्रुति-कटु शब्द ढूँढ़े से भी कम मिलते हैं, और इन महाकवियों ने मिलित वर्णों का प्रयोग जितना कम किया है, उतना कम कोई भी अन्य कवि नहीं कर सका। इन दोनों कवियों की भाषा टकसाली है, विशेषकर

देव की भाषा अद्वितीय है । इसका कारण यही है कि देव की कविता में भाषा-संबंधी निम्न-लिखित गुण मतिराम की कविता से कहीं अधिक हैं—

इनकी भाषा में अनुप्रास और यमक भरे पड़े हैं । आप जो शब्द उठाते थे, प्रायः उसी प्रकार के कई और शब्द उसके पीछे रखते चले जाते थे ; और जब वह श्रेणी छोड़ते थे, तब उसी के शब्दों का कोई और अक्षर-क्रम उठाकर उसकी समता शब्द रखने लगते थे । इस प्रकार एकसाथ आप कई भाँति का अनुप्रास रख जाते थे । पर ये गुण लाने के वास्ते इनको निरर्थक पदों का व्यवहार नहीं करना पड़ा, और प्रायः कहीं भी अपना भाव नहीं बिगाड़ना पड़ा । ऐसे बढ़िया भाव लाकर भी अनुप्रास की सर्वोत्कृष्ट प्रधानता रखने में केवल देवजी ही कृतकार्य हो सके हैं। किसी अन्य कवि की कविता में इतने अनुप्रास और यमक तो हैं ही नहीं, प्रायः इतने बढ़िया भाव भी नहीं पाए जाते । उदाहरणार्थ केवल एक छंद नीचे लिखा जाता है—

"आई बरसाने ते बोलाई वृषभानु-सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई ;
चक्र-चकवान के चकाए चकचोटन सों,
चौंकत चकोर चकचौंधा-सी चकै गई ।
'देव' नंद-नंदन के नैनन अनंदमई,
नंदजू के मंदिरन चंदमई छै गई ;
कंजन कलिनमई, कुंजन नलिनमई,
गोकुल की गलिन अलिनमई कै गई ।"

देवजी ने तुकांत भी निराले ही रक्खे हैं । अन्य कवियों ने ऐसे विलक्षण तुकांत नहीं रक्खे । इन महाकवि को भाषा पर इतना प्रगाढ़ अधिकार था कि इन्हें तुकांत खोजने में कुछ भी

कठिनता नहीं पड़ती थी, अतः यह हर प्रकार के टेढ़े-मेढ़े तुकांत रख-कर उन्हें निभा ले जाते थे । इसके उदाहरण में सुखसागरतरंग के पद्य नंबर २५, ३६६, ६४७ और ६६३ द्रष्टव्य हैं ।

इन्होंने कहीं-कहीं प्रचलित लोकोक्तियों को बहुत मनोरम प्रकार से अपनी कविता में रक्खा है । यथा—

"प्राणपति परमेश्वर सों साखी कहौ कौन सो ?"
"गरे परि कौलगि प्यारी कहैए ?"
"कालिह के जोगी कलींदे को खप्पर ।"
"मनु-मानिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
ताको तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ।"
"चंचल नैनि चमार की जाई, चितौनि मैं चाम के दाम चलावै ।"
"सूझत साँझ-भिया न कछू सु दिया न बरै कहूँ कारे के आगे ।"

देव ने अपनी कविता में बड़े-बड़े विशेषण रक्खे हैं । यहाँ तक कि कहीं-कहीं एक-एक चरण तक के विशेषण लिखे गए हैं—

"नूपुर-संजुत मंजु मनोहर, जावक-रंजित कंज-से पाँयन ।"
"बीच जरतारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की, मोतिन की झालरैं ।"

कुल मिलाकर जैसी सोहावनी भाषा यह महाकवि लिखने में समर्थ हुए हैं, उससे आधी सोहावनी भी कोई अन्य कवि नहीं लिख सका ।

प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, समाधि, कांति और उदारता-नामक गुण देव की रचना में पाए जाते हैं । कहीं-कहीं ओज का भी चमत्कार है । पर्यायोक्ति, सुधर्मिता, सुशब्दता, संक्षिप्त, प्रसन्नतादि गुणों की भी आपकी रचना में बहार है । कहीं-कहीं अर्थ-काठिन्य भी मौजूद है ।

भाषा की उत्तमता इनका सर्वोत्कृष्ट गुण है, और भाषा को देखते हुए इन कवि को किसी अन्य कवि से न्यून कहना अन्याय समझ पड़ता है। देव की मनोहर भाषा के उदाहरण-स्वरूप हम केवल एक ही पद्य नीचे लिखते हैं। परंतु इस विषय में नीचे लिखे छंद भी विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—सुखसागरतरंग के छंद १५१, ३०६, ४८१, ५५४, ७२७, और सुंदरीसिंदूर के छंद नंबर ५५ इत्यादि।

"मंजु बजै गुजरी कर-कंजन, पायलै पाय जराय लपेटी ;
नासिका मैं झमकैं मुकुता, श्रुति हू झुमकी मनि-कुंडल-जेटी।
लालन माल, जरी पट लाल, सखी सँग बाल-बधू कुश्रँरेटी ;
सेवक 'देव' सबै सुख साजति, राजति है गिरिराज की बेटी।"

जितने उत्कृष्ट पद्य देव की कविता में हैं, उतने किसी अन्य कवि की कविता में, पड़ता लगाने से, नहीं पाए जाते। यदि पद्यों की उत्तमता के हिसाब से विचार करें, तो देव ही सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरेंगे। उदाहरण-स्वरूप सुखसागरतरंग के छंद-नंबर १७, ३४, ६६, १०३, ११४, १६३, १८०, २११, ३०६, ३७६, ४५३, ४६७, ५८२, ७६६ और ७६० देखिए। अन्य ग्रंथों के पद्य इस कारण प्रायः उदाहरणों में नहीं लिखे गए कि वे ग्रंथ मुद्रित नहीं हैं, और उनके नंबर लिखने और देखने में कठिनाई होगी। अच्छे पद्यों के कुछ उदाहरण आगे लिखे जायँगे। देव-सुधा अथवा देव-सतसई नाम से इनके पद्यों का एक अच्छा संग्रह करने का भी हमारा विचार है, और वह लगभग तैयार है। शायद हम लोग उसे जल्द पाठकों की सेवा में उपस्थित कर सकेंगे।

(३) देव ने प्राकृतिक वर्णन भी बहुत ही अच्छे किए हैं। इनके पद्यों से विदित होता है कि यह महाशय प्रकृति के अच्छे निरीक्षक थे। परंतु सिवा मानव-प्रकृति के वास्तविक प्रकृति की

और यह महाशय निगाह कम उठाते थे। मानव-प्रकृति के वर्णन में इन्होंने बेशक क़लम तोड़ दी है। मानव-प्रकृति के इनके निम्न-लिखित पद्य उदाहरण हैं—सुखसागरतरंग के छंद ८६, १४८, १८१, १८२, ३४१, ३७५, ४४८, ४९२, ५३३, ५४२, ६३०, ७०२, ७०८, ७१५, ७४९, और सुंदरीसिंदूर के छंद १७, २९, ३१, ७५। रसविलास में जाति और देशों का प्रायः समस्त वर्णन है। इसमें देव ने दिखा दिया है कि कवि कितना देखता है। वास्तविक प्रकृति और मानव-प्रकृति के उदाहरण-स्वरूप दो पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

"सुनि कै धुनि चातक-मोरन की, चहुँ ओरन कोकिल-कूकन सों;
अनुराग-भरे बन-बागन मैं, हरि रागत राग अचूकन सों।
कबि 'देव' घटा उनई जु नई, बन-भूमि भई दल दूकन सों;
रँग-राती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकन सों।"
"गूजरी ऊजरे जोबन को कछु, मोल कहौ दधि को तब देहौं;
'देव' अहो इतराहु न होइ, नहीं मृदु बोलन मोल बिकैहौं।
मोल कहा अनमोल बिकाहुगी, पैंचि जबै अधरा-रसु लैहौं;
कैसी कही, फिरि तौ कहौ कान्ह, अभै कछू हौंहुँ कका कि सौं कैहौं।"

देव ने नायिकाओं का वर्णन ऐसा उत्कृष्ट किया है कि पूरी तसवीर खींच दी है। ऐसी सच्ची तसवीरें खींचने में बहुत कम कवि समर्थ हुए हैं। बरन् यह कहना चाहिए कि ऐसी निर्दोष तसवीरें कोई भी कवि नहीं खींच सका। इनकी कविता से विदित होता है कि कवि और चित्रकार में कितना घनिष्ठ संबंध है। ऐसी तसवीरें निम्न-लिखित पद्यों में मिलेंगी। सुखसागरतरंग के छंद १९७, २८९, २९२, ४१८। उदाहरणार्थ एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

"आओ ओट रावटी झरोखा झाँकि देखौ 'देव',
देखिबे को दाँव फेरि दूजे द्यौस नाहिनै;

लहलहे अंग रंगमहल के अंगन मैं,
ठाढ़ी वह बाल लाल पगन उपाहनै।
लोने मुख लचनि नचनि नैन-कोरन की,
उरति न और ठौर सुरति सराहनै ;
बाम कर बार हार आँचर सम्हारै करै,
कैयो फंद कंदुक उछारै कर दाहिनै।"

देव ने क़समें भी अच्छी खिलाई हैं—

"देहौं मिलाय तुम्हैं हौं तिहारियै आनि करौं बृषभानुलली सों ;
बाँभन की सौं, बबा कि सौं मोहन, मोहिं गऊ कि सौं, गोरस की सौं।"

देव ने टेढ़ी रचना भी अच्छी की है। यथा—

"कूबरी-सी अति सूधी बधू, बरु पायो भलो घनस्याम-सो सूधो।"
"गोकुल-गाँव के लोग गरीब हैं बासु बराबरि ही को यहाँ तो ;
बैठि रहौ, सपनेहू सुन्यो कहुँ, राजन सों परजान सों नातो।"

भाषा-संबंधी काव्यांगों के साथ इन कवि ने अन्य काव्यांग भी अपनी रचना में बड़ी ही प्रचुरता से रक्खे हैं। इनके एक-एक छंद में अनेकानेक अलंकार, गुण, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति, पात्र, रस आदि के उदाहरण मिलते हैं, और मानुषीय प्रकृति के निरीक्षण का फल प्रायः सर्वत्र प्रकट है। शब्द-रसायन में ऐसे छंद बहुतायत से मिलेंगे। उसमें स्वयं इन्होंने अपने छंदों के विविध भाव कहीं-कहीं दिखलाए हैं। मिश्र-बंधु-विनोद की भूमिका में हमने इनके एक छंद के वर्णन में अलंकार, रसादि का उसमें होना दिखलाया है। इसी प्रकार यदि कोई शब्द-रसायन की टीका रचे, तो इनकी रचना के पूरे गुण साधारण पाठकों पर भी प्रकट हों। पंडित युगलकिशोरजी मिश्र ऐसी ही एक टीका रच रहे थे ; परंतु शोक कि वह अपूर्ण रह गई, और उनका स्वर्गवास हो गया। कुछ लोगों का विचार है कि देव की भाषा-

मात्र श्रेष्ठ है, किंतु भाव-सबलता इनकी रचना का मुख्यांग नहीं है। हमारा मत इस कथन के बिलकुल प्रतिकूल है। जो लोग इनकी रचना में शब्दाडंबर-मात्र देखते हैं, वे हमारी समझ में भारी भूल करते हैं। इनकी भाषा अद्वितीय अवश्य है, किंतु साहित्य-गौरव की तुलना में हम भाषा का पद ऊँचा नहीं समझते। देव ने स्वयं यही मत प्रकट किया है। हम भाव-सबलता देव का मुख्य गुण मानते हैं। प्रेम का वर्णन आपका अद्वितीयप्राय है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। प्रेम में आपने दांपत्य-प्रीति की मुख्यता अवश्य रक्खी है, किंतु है वह औवल दर्जे का। आपने अधिक स्थानों पर केवल नायक या नायिका का कथन नहीं किया है, वरन् प्रायः दोनों का मिला हुआ वर्णन किया है। हमारी समझ में देव के इतर गुण इतने सबल हैं कि इनके भाषा-संबंधी गौरव को बिलकुल छोड़ देने से भी इनका नंबर वही-का-वही रहता है। मुख्य करके आप आचार्य हैं। भाव-भेद, रस-भेद, राग-भेद, अलंकार, पिंगल आदि, सभी में आपकी आचार्यता देख पड़ती है। इनके प्राप्य ग्रंथों से ये सब बातें प्रकट हैं। देव-चरित्र में आपने भगवान् कृष्णचंद्र की कथा भी खूब अच्छी कही है। देव-मायाप्रपंच नाटक भी दर्शनीय है।

(४) देव ने ऊँचे ख़यालात बहुत ही अधिक बाँधे हैं। ऐसे-ऐसे ऊँचे विचार सब कवियों में नहीं पाए जाते—

"आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।"

देव के बराबर अमीरी का सामान बाँधनेवाला कोई भी कवि नहीं है। इनके छंदों में हर स्थान पर साज़-सामान ख़ूब देख पड़ता है। इससे विदित होता है कि ये महाराज अमीरों में रहे थे। रसविलास के चौथे अध्याय के छंद ३०, ३१ और

३२ इस कथन के उदाहरण हैं। अष्टयाम में बहुत प्रकार के मकान कहे गए हैं।

इसी ऊँचे विचार और अमीरी से मिलता हुआ अतिशयोक्ति का विषय है। इसका भी देव की कविता में प्रभुत्व रहता है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप सुखसागरतरंग के छंद १८०, २१४ हैं।

✓ इन्होंने ग्रामीण नायिकाओं को इतना बढ़ाया है कि वे अन्य कवियों की नागरी नायिकाओं से भी अधिक नागरी देख पड़ती हैं। देवजी की नागरी नायिकाओं के वर्णन में तो सरसता, कोमलता आदि का वारापार नहीं है। इनका ग्रामीण उदाहरण लीजिए—

"बारियै बैस, बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई ;
सुंदरै हौ, सुघरै हौ, सलोनी हौ, सील-भरी रस-रूप-सनाई।
राज-बधू बलि राज-कुमारि, अहो सुकुमारि न मानौ मनाई ;
नैसुक नाह के नेह बिना, चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई।"

✓(५) देव की कविता में हृदय पर चोट करनेवाले चित्त के सच्चे भाव बहुत अधिकता से पाए जाते हैं। ऐसे कलेजा निकालकर सामने रख देनेवाले विशद पद्य बहुत कम कवियों की कविता में मिलते हैं। ऐसे पद्य केवल वे ही कवि बना सकते हैं, जो किसी विषय में बिलकुल तल्लीन हो गए हों। ऐसे पद्य प्रेमालाप में बहुत आते हैं, अतः प्रेमचंद्रिका में ऐसे पद्य बहुतायत से आए हैं। प्रेम का आपने अद्वितीयप्राय कथन किया है। उदाहरण-स्वरूप सुखसागरतरंग के पद्य ५८१, ६०२, ६५४, ७७७ और ८२६, सुंदरीसिंदूर का तीसरा पद्य, प्रेमचंद्रिका के तीसरे अध्याय के छंद ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ५०, ५१ और चौथे अध्याय का पाँचवाँ छंद देखिए। प्रेमचंद्रिका के उदाहरण में जो दो पद्य

ऊपर लिखे जा चुके हैं, वे इसके भी उदाहरण हैं। अपने छंदों में मन पर भी आपने अच्छे-अच्छे भाव बाँधे हैं।

(६) देवजी ने उपमाएँ बहुत खोज-खोजकर दी हैं। उपमा तथा उससे मिलते हुए रूपक आदि अलंकारों के कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

"उर में उरोज जैसे उमँगत पाग है।"

"साँवरेलाल को साँवरो रूप मैं, नैनन को कजरा करि राख्यो।"

सुखसागरतरंग के छंद ३०७, ३५२, ३७०, ४११, ५३६, ६५४, ८२४ और सुंदरीसिंदूर का ४५वाँ छंद भी देखने योग्य है। इन्होंने ऐसी अनूठी उपमाएँ लिखी हैं, जो केवल यही लिखते हैं, दूसरा नहीं। कुछ और छंद या छंदांश यहाँ भी लिखे जाते हैं—

"देव कछू अपनो बसु ना रस, लालच लाल चितै भई चेरी;
बेगि ही बूड़ि गईं पँखिया अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।"

(प्रेमचंद्रिका)

"देवजू द्वार किंवारन हू झँझरीन, झरोखन झाँकि फिरी त्यों;
दीन ज्यों मीन जरा की भई है, फिरै फरकै पिंजरा की चिरी त्यों।"

(प्रेमचंद्रिका)

"सुघर सोनार रूप सुबरनचोर दृग,
कोरि हरि लेत रवा राखत न राई सी;

× × ×

घर-घरिया मैं घुरी, घरी मैं उघरि आई,
फैली जाति फूल नहीं फिरति गराई-सी।
देवजू सोहाग-रंग आँचन तचाई सोई;
रचना सिराति तची कंचन सिराई-सी।"

(प्रेमचंद्रिका)

"नाथ्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गोपाल गुन,
गाड़रू सिंगार रूप-कला अकुलाई है ;
लीलि-लीलि लाज दृग मीलि-मीलि काढ़ी कान्ह,
कीलि-कीलि व्यालिनी-सी ग्वालिनी बोलाई है।"

(प्रेमचंद्रिका)

"चौंकि-चौंकि चकित चितौती चहुँ ओर भई,
साँझ की-सी चकई चकोरी मनो भोर की।"

(प्रेमचंद्रिका)

"बालपनो, तरुनापनो बाल को, 'देव' बराबरि केवल बोलै,
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन, सु नैन-पलानि तुला धरि तोलै।"

(सुजानविनोद)

"देव तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगे,
ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पात से पलटियत।"

(सु० च०)

"पतिव्रत-व्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो।"
"बड़े-बड़े नैनन ते आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।"

(सुजानचंद्रिका)

"बेलि बधून सों केलि कै पौन अन्हाय सरोजन के रस भीने ;
नायक लौं निकसो तजि कुंजन गुंजन सों अलि पुंजन लीने।"

(देवमायाप्रपंच नाटक)

"कुल की-सी करनी कुलीन की-सी कोमलता,
सील की-सी संपति सुसील कुल कामिनी ;
दान को-सो आदर उदारताई सूर की-सी,
गुनी की लोनाई गुनमंती गजगामिनी।

ग्रीषम को सलिल, सिसिर को-सो घाम 'देव',
हेउत हसंतो, जलदागम की दामिनी;
पून्यो को-सो चंद्रमा, प्रभात को-सो सूरज,
सरद को-सो बासर, बसंत की-सी जामिनी।"
(देवमायाप्रपंच नाटक)

"हाय दई, यहि काल के ख्याल मैं, फूल-से फूलि सबै कुम्हिलाने।"
(देवमायाप्रपंच नाटक)

"ताहि चितौत बड़ी अँखियान तें,
ती की चितौनि चली अति ओज कों;
बालम ओर बिलोकि कै बाल,
दई मनो खैंचि सुनाल सरोज की।"
(सुजानचरित्र)

"आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।"
(सुजानचरित्र)

"बालम के उर मैं उरमै, सु सदा लपटी रहै साल-पटी-सी।"
(सुजानचरित्र)

जो छंद अंत में कविता के उदाहरण-स्वरूप लिखे गए हैं, उनमें भी कितने ही उपमा आदि के लिये भी दर्शनीय हैं।

इन्होंने सर्वांग-रूपक बड़े ही विशद कहे हैं। यथा—सुखसागरतरंग के छंद १२४, ६४३, ८१७, २३८, सुंदरीसिंदूर के ६, ९, ३४, ६८, रसविलास के सातवें अध्याय का छंद १९, शब्दरसायन के नवें अध्याय का छंद ७३।

(७) देवजी ने बहुत-से चोज़ भी कहे हैं, यथा—

'जोगहू ते कठिन सँजोग पर नारी को।'
'सुख थोरो अरु दुख बड़ो, परकीया की प्रीति।'

"है परमेसुर ते पति नीको, सदा पतिनी को जो लोक लहावै ;
'देवजू' तासों कहा कहिए, दुख कै सुख सो सहिए जो सहावै ।
दूरिही ते रहिए कर जोरे, भले गहिए पग जो पै गहावै ;
रारि करै मनुहारि बिसारि, परै कुल गारि कुनारि कहावै ।"

(८) इनकी कविता से विदित होता है कि यह अभिमानी भी बड़े थे, और इन्हें किसी की बरदाश्त न थी। इनकी बहुज्ञता भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। प्रायः सभी विषयों का इन्हें पूर्ण ज्ञान था। इतने अनमेल विषयों पर किसी ने कविता नहीं की है। इन्होंने काव्य-रीतियों पर भी बड़ी दृढ़ता से गमन किया है। देव-ग्रंथावली प्रथम भाग की भूमिका में हमने देव के अनेक सद्गुणों के उदाहरण-स्वरूप उन छंदों का हवाला दिया है, जो उन्हीं ग्रंथों में हैं। उन सब छंदों को यहाँ दोहराने से ग्रंथ का आकार बहुत बढ़ जायगा, इसीलिये यहाँ थोड़े में उनका कथन किया जाता है। जो महाशय वे सब छंद देखना चाहें, वे उस ग्रंथ को पढ़ने की कृपा करें। उक्तियों का देव की कविता में अच्छा समावेश है। अन्योक्ति, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति आदि के आपने अच्छे उदाहरण दिए हैं। काकु, अत्यंत तिरस्कृत, वाच्य-ध्वनि आदि के अच्छे उदाहरण इनकी रचना में मिलेंगे। इशारों तथा ध्वनियों में कहीं-कहीं आपने बड़े चमत्कारपूर्ण भाव रक्खे हैं। बहुत स्थानों पर अनेकानेक भावों का आपने एक ही छंद में बड़ा विशद वर्णन किया है। ऐसा भाव-समुच्चय बड़े-बड़े कवि ही दिखला सकते हैं। लाज, मन आदि को संबोधित करके देव ने कई बहुत अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं। प्रेम और योग तथा योग और वियोग को मिला-मिलाकर आपने अच्छे-अच्छे भाव दिखलाए हैं। यद्यपि प्रकृति-निरीक्षण के फल आपकी रचना में बहुतायत से नहीं हैं, तथापि इस संबंध के छंदों की संख्या बहुत कम भी नहीं है।

आपने अनेक अनमेल विषयों पर सफलता-पूर्वक रचना की है, जैसा कि ऊपर लिखे हुए इनके ग्रंथों से विदित हुआ होगा। आप भाषा-साहित्य के बहुत बड़े आचार्य थे। आपने दशांग कविता पर अनेकानेक रीति-ग्रंथ बनाए हैं, और भाव-भेद, रस-भेद तथा प्रेम का कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार से अनूठा, हृदयग्राही तथा मनोरम वर्णन किया है। आपकी रचना में शृंगार-रस की विशेषता अवश्य है, परंतु फिर भी उसमें सदैव सदुपदेश दिए गए हैं, और प्रेम का भाव बहुत ऊँचा रक्खा गया है। शृंगारी कवि होने पर भी आपने वैराग्य, राग, माया, आत्मज्ञान, वृक्ष, पावस, नीति आदि पर अनमोल ग्रंथ रचे हैं। कवि-कर्तव्य आपकी सम्मति में कितना ऊँचा है, यह दिखाने को आपका एक छंद यहाँ दिया जाता है—

"जाके न काम, न क्रोध, बिरोध न, लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहौं,
मोह न जाहि रहै जग बाहिर, मोल जवाहिर ता अति चाहौं।
बानी पुनीत ज्यों देव-धुनी, रस आरद सारद के गुन गाहौं,
सील ससी सबिता छबिता, कबिताहि रहै कबि ताहि सराहौं।"
(प्रेमचंद्रिका)

(६) देवजी की कविता के गुण-दोष हम सूक्ष्मतया ऊपर दिखा चुके। यों तो इनकी कविता के गुण अगाध हैं, और उनका वर्णन करना कठिन काम है, परंतु यथासाध्य हमने उनका वर्णन थोड़े में स्थालीपुलाकन्याय से दिखा दिया है। जिस प्रकार लोग सूरदास और तुलसीदास की स्तुति कर गए हैं, उसी प्रकार इनकी भी स्तुति की गई है। इनके विषय में निम्न-लिखित छंद हमने सुना है, जो सुखसागरतरंग की भूमिका में हमारे पूज्य पिता ने भी लिखा है—

"सूर सूर, तुलसी सुधाकर, नछत्र केसौ,
सेष कबिराजन को जुगनू गनायकै ;

कोऊ परिपूरन भगति दिखरायो अब,
काव्य-रीति, मोसन सुनहु चित लायकै ;
देव नभ-मंडल समान है कवीन मध्य,
जामैं भानु, सितभानु, तारागन आयकै ;
उदै होत, अथवत, चारों ओर भ्रमत, पै,
जाको ओर-छोर नहिं परत लखायकै।"

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि बिहारीलाल देव से श्रेष्ठतर कवि हैं। किसी-किसी को यहाँ तक संदेह हुआ है कि हमने बिहारी का वर्णन जो नवरत्न में किया है, उसका एक-मात्र अभिप्राय उस महाकवि की निंदा करना है। ऐसे लोगों से हम क्षमा के प्रार्थी हैं, और उन्हें निश्चय दिलाते हैं कि हमने जो कुछ लिखा है, वह हमारे शुद्ध विचार हैं। उनका कहना है कि देव के कितने ही छंद बहुत कठिन हैं, अतः रचना में प्रसाद-गुण नहीं है। यदि १०० छंदों में पाँच कठिन हों, जैसा कि है भी, तो पूरी रचना से प्रसाद का अभाव नहीं माना जा सकता। इसी भाँति यदि देव ने कुछ शब्द मरोड़े हों, तो कोई हानि नहीं; क्योंकि ऐसे शब्दों का पड़ता इनकी रचना में अधिक न बैठेगा।

देवजी की कविता में जो गुण हैं, वे अद्वितीय हैं। ऐसी बढ़िया कविता किसी कवि के किसी ग्रंथ में, एक स्थान पर, नहीं पाई जाती। जैसे विशद छंद इनकी कविता में सैकड़ों पाए जाते हैं, वैसे छंद किसी की कविता में, किसी स्थान पर, न निकलेंगे। ये सब बातें होते हुए भी हम इनको भाषा-साहित्य में सर्व-श्रेष्ठ कवि नहीं कह सकते। इनको किसी कवि से न्यून कहना इनके साथ अन्याय समझ पड़ता है; परंतु इनको सर्व-श्रेष्ठ कहना गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास के साथ भी अन्याय होगा। [illegible] वा इन दोनों महा-

त्माओं के और किसी तृतीय कवि की तुलना देवजी से कदापि नहीं की जा सकती। शेष कवियों से और देवजी से बहुत बड़ा अंतर है। और, जो देवजी के प्रधान गुण हैं, उनमें इनकी कविता और उपर्युक्त दोनों महात्माओं की कविता में भी बहुत बड़ा अंतर है ; क्योंकि वे महात्मा भी उन गुणों को अपनी-अपनी कविता में सन्निविष्ट करने में देवजी के सामने नितांत असमर्थ रहे हैं । परंतु जो गुण सूरदास तथा तुलसीदास की कविता में हैं, वे गुण देवजी भी नहीं ला सके हैं। यदि देवजी किसी भारी कथा-प्रसंग का काव्य करते, तो नहीं मालूम कि उनका वर्णन कैसा होता । संभव है कि यह भी वैसा काव्य कर सकते, जैसा कि उन महात्माओं ने किया है । परंतु जब तक कोई वैसा साहित्य रचकर दिखा न दे, तब तक यह कहा नहीं जा सकता कि वह अवश्य ऐसा कर सकता है, चाहे जितना बड़ा कवि वह क्यों न हो । सूरदास की साधारण कविता से तो देवजी की कविता की कोई भी तुलना नहीं की जा सकती । परंतु सूर-कृत उत्कृष्ट प्रबंधों की बराबरी देव का कोई भी ग्रंथ नहीं कर सकता। सूर का कोई भी पद देवजी के कवित्तों के बराबर मनोहर नहीं है ; परंतु उनके कुछ परमोत्तम प्रबंध ऐसे हैं कि वे बहुत ही आला दरजे के हैं, और उनकी समता देवजी का कोई भी वर्णन नहीं कर सकता ।

ये बातें गोस्वामी तुलसीदास के विषय में भी चरितार्थ होती हैं। देव-कृत छंदों की उत्तमता को तो कोई भी कवि नहीं पहुँचता, परंतु इसी प्रकार गोस्वामीजी का भी सदा ही निभनेवाला औचित्य बहुत ही अद्वितीय है । तुलसीदास की रचना हर स्थान पर अत्यंत सराहनीय है, और सैकड़ों पृष्ठों तक वह शिथिल नहीं हुई है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि कुल मिलाकर ये दोनों महात्मा देवजी से श्रेष्ठ नहीं हैं ।

ये तीनों महापुरुष भाषा-साहित्य के भूषण हैं, और अपने-अपने ढंग पर तीनों अनमोल हैं। इनके विषय में न्यूनाधिक कहना मत-भेद से ख़ाली नहीं है। इन तीनों के भक्त अपने-अपने कवि को सर्वोत्तम मानते हैं। हमने इन तीनों महाकवियों के ग्रंथ बहुत ध्यान-पूर्वक पढ़े हैं, और हम तीनों को महान् समझते हैं। संभव है, इनके विषय में जो कुछ हमने कहा है, वह अन्य साहित्यानुरागियों को यथार्थ न जँचे, और इसमें हम यह नहीं कह सकते कि यह उनकी भूल अवश्य होगी। परंतु जहाँ तक हमें समझ पड़ा, हमने इनके विषय में अपना मत प्रकट किया। इतना अवश्य निश्चित है कि इन तीनों महानुभावों के बराबर कोई चौथा कवि किसी प्रकार नहीं पहुँचता ; क्योंकि यदि इन तीनों में ९० और १०० का अंतर है, तो शेष में इनसे सत्तर और सौ का अंतर निकलेगा। कुछ लोगों को यह वास्तविक भ्रम है कि विहारीलाल सचमुच देव से श्रेष्ठतर कवि हैं। इस विचार की पुष्टि में वे देव-कृत हज़ारों छंदों से कुछ साधारण पद निकालकर उनका विहारी के अच्छे दोहों से मिलान करते हैं। उनका यह विचार शुद्ध शंकामय समझकर हमने देव के सात सौ अच्छे छंद चुनकर एक संग्रह प्रकाशित करने का निश्चय किया है। उसे देखकर पाठक सहज में ही समझ सकेंगे कि इन दोनों कवियों में से चुने हुए छंद किसके अच्छे हैं, और कौन कैसा है? हम अपने विचारों को ठीक समझते हैं सो स्वाभाविक ही है।

देवजी के विषय में एक अपना छंद लिखकर हम यह प्रबंध समाप्त करते हैं—

"देव सुकवि ने विरच छंद अनुपम टकसाली ;
भाषा की सर्वोच्च दिखाई छटा निराली।
देस-देस की बिसद तरुनिगन बरन सुनाया ;
कर बरनित प्रति जाति सभी का रूप दिखाया।

दस अँग काव्य, बैराग, त्यों राग-भेद सब कुछ कहा ;
सब कवियों में यह एक कवि भाषा का राजा रहा।"

देवजी की रचना के कुछ उदाहरण अब लिखे जाते हैं—

प्रेमचंद्रिका

आँखिन आँखि लगाए रहैं, सुनिए धुनि कानन को सुखकारी ;
'देव' रही हिय मैं घरु कै, न रुकै निसरै बिसरै न बिसारी।
फूल मैं बासु ज्यों मूल सुबासु की, है फलि-फूलि रही फुलवारी ;
प्यारी उज्यारी हिये भरिपूरि, सु दूरि न जीवनमूरि हमारी।

एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न 'देव' चराचर मैं ;
जासों मनु राचै तासों तनु मनु राचै रुचि,
भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं ;
पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठे सर मैं ;
प्रेम सों कहत कोई ठाकुर न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे तौ पैठो प्रेम घर मैं।

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनौ लोक बूड़ि गए एक संग मैं ;
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद,
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चितभंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जंबूनद-बुंद जमुनाजलतरंग मैं ;
यों हीं मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं।

वारैं कोटि इंदु अरबिंदु रस-बिंदु पर,
मानै ना मलिंद बिंदुसम कै सुधासरो ;

मलै, मल्लि, मालती, कदंब, कचनार, चंपा,
चपेहू न चाहै चित चरन टिकासरो।
पदुमिनि तूही षटपदु को परम पदु,
'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो;
रस रिस रास रोस आसरो सरन, बिसे,
बीसो बिसबासरो कि राख्यो निसि बासरो।

कोकुल या ब्रज गोकुल दो कुल दीप-सिखा-सी ससी-सी रहीं भरि;
त्यौं न तिन्हैं हरि हेरत री रँगराति न जो अँगराती गरे परि।
जो नवला नव इंदुकला ज्यौं लची परे प्रेम रचो पिय सों लरि,
भेंटत देखि बिलोखि हिये ब्रजभूभुज 'देव' दुहूँ भुज सों भरि।

प्रेम कहानिन सों पहिले हरि कानन आनि समीप किए तैं;
चित्र चरित्र न मित्र भए सपने महँ मोहिं मिलाइ लिए तैं।
'देवजू' दूरि ते दौरि दुराइ कै प्रेम सिखाइ दिखाइ दिए तैं;
बारिज-से बिकसे मुख वै निकसे इत ह्वै निकसे न हिए तैं।

'देव' न देखति हौं दुति दूसरी देखे हैं जा दिन ते ब्रजभूप मैं;
पूरि रही री वही धुनि कानन आनन-आनन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ न हमारी ये जाय मिलीं जल-बुंद ज्यौं कूप मैं;
कोटि उपाइ न पाइए फेरि समाइ गईं रँगराइ के रूप मैं।

लाल बुलाई है, को हैं वे लाल, न जानतीं हौ तौ सुखी रहिबो करि;
री सुख काहे को देखे बिना दिखसाधन ही जियरा न पर्‍यो जरि।
'देव' तौ जानि अजान क्यौं होति, इती सुनि आँसुन नैन लए भरि;
साँची बुलाई, बुलावन आई, हहा कहु मोंहि कहा करिहैं हरि।

जागत-जागत खीन भई अब लागत संग सखीन को भारो;
खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो बिसे बीस बिसारो।
प्यौ-सुधि द्यौस गँवावति 'देवजू' जामिनि जाम मनौ जुग चारो;
नीरजनैनी निहारिए नैनन धीरज राखत ध्यान तिहारो।

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै आस हू पास अकास रह्यो भरि;
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि।

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठैं,
साँसैं भरि, आँसू भरि, कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि 'देव'
जकि-जकि, बकि-बकि, परत बई-बई।
दुहुन को रूप, गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नइ;
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधिकामैं,
राधा-मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई।

पीछे तिरीछे चितौनि सोई इत वै चितवैं री लला ललचो हैं;
चौगुनो चाउ चवाइन के चित चाह चढ़े हैं चबाउ मचो हैं।
जोबन आयो न पाप लग्यो कबि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसोहैं;
जा म लजैए जु जैए कहूँ तित पैए कलंक चितैए जु सोहैं।

प्रेम-चरचा है अरचा है कुलनेमैं नै
रचा है चित और अरचा है चितचोरी को;
छोड्यो परलोक नर-लोक बरलोक कहा,
हरख न सोक न अलोक नर-नारी को।
घाम, सित, मेह न बिचारै सुख देह हू को,
प्रीति न सनेह डरु बन न अँध्यारी को;
भूलेहू न भोग बड़ी बिपति बियोग-बिथा
जोग हू ते कठिन सँयोग परनारी को।
नेवर के बजत कलेवर कँपत 'देव'
देवर जगै न लग सोवत तनक ते;

ननद नची छी त्यौरी तोरति तिरीछी लखि,
बीछी कैसो बिषु बगरावैगी भनक ते।
देखिए कठिन साथ गहौ जू न हठि हाथ,
कैसे कहौं जाहु नाथ आए हौ बनक ते,
बस ना हमारे रंगरस ना बनत चौंकि,
रसना दसन दाबै रसना झनक ते।
बारिधि बिरह बड़ी बारिधि की बड़वागि,
बूड़े बड़े-बड़े जहाँ पारे प्रेम-पुलते;
गरुओ दरब 'देव' जोबन गरब गिरि,
पर्यो गुन टूटि छूटि बुधि नाउ डुलते।
मेरे मन, तेरी भूल मरी हौं हिये की सूल,
कीन्हीं तिन तूल-तूल अति ही अतुलते।
भावत ते भोड़ी करी, मानिनी ते मोड़ी करी,
कौड़ी करी हीरा ते, कनौड़ी करी कुल ते।

आपुस मे रस मे रहसैं बहसैं बनि राधिका कुंजबिहारी;
स्यामा सराहत स्याम की पागहि, स्याम सराहत स्यामा कि सारी।
एकहि दर्पन देखि कहै तिय, नीके लगौ पिय, प्यौ कहै प्यारी;
'देवजू' बालम बाल को बादु बिलोकि भई बलि हौं बलिहारी।

आमकुल, बकुल, कदंब, मल्लि, मालती,
मलैजन को मीजि क गुलाबन की गली है;
को गनै अलपतरु जीसों जो कलपतरु,
तासों बिकलप क्यों अलपमति अली है।
चित जाके चाय चढ़ि चंपक चपायो कोन,
मोचि मुख सोचि है सकुचि चुप चली है;
कंचन बिचारे रुचि पंचन मैं पाई 'देव',
चंपाबरनी के गरे पर्यो चंपकली है।

धार मैं धाइ धँस निरधार ह्वै जाय फसीं उकसीं न अँधेरी ;
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहिं घेरी।
'देव' कछू अपनो बसु ना रसु-लालच लाल चितै भईं चेरी ;
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।
पहिले सतराइ रिसाइ सखी जदुराइ पै पाँय गहाइए तौ ;
फिरि भेंटि भटू भरि अंक निसंक बड़े खन लौं उर लाइए तौ।
अपनो दुख औरनि को उपहासु सबै कबि 'देव' जताइए तौ ;
घनस्यामहिं नेकहुँ एक घरी को इहाँ लगि जो करि पाइए तौ।
जीभ कुजाति न नेकु लजाति गनै कुल जाति न बात बह्यो करै ;
'देव' नयो हिय नेह लगाय बिदेह कि आँचन देह दह्यो करै।
जीव अजान न जानत जान जो मैन अयान के ध्यान रह्यो करै ;
काहे को मेरो कहावत मेरो जु पै मन मेरो न मेरो कह्यो करै।

रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ, मेरे
रीझ खीझ एकै रँग राग्यौ सोई रागि चुक्यो ;
जस-अपजस, कुबड़ाई औ बड़ाई, गुन-
औगुन न जान्यो, जीव जाग्यो सोई जागि चुक्यो।
कौन काज गुरजन बरजैं जु दुरजन,
कैसो कुल-नेम, प्रेम पाग्यो सोई पागि चुक्यो ;
लोगन लगायो सु तौ लाग्यौ अनलाग्यौ 'देव',
पूरो पन लाग्यौ मन लाग्यौ सोई लागि चुक्यो।

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं ;
कैसो परलोक नरलोक बरलोकन मैं,
लीन्हो मैं अलोक लोक-लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाहि, मन जाहि, 'देव' गुरुजन जाहि,
जीव क्यों न जाहि, टेक टरति न टारी हौं ;

बृंदाबनवारी बनवारी के मुकुट पर,
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं।

कैसी कुल-बधू, कुल कैसो, कुल-बधू कौन,
तू है यह कौन पूँछै काहू कुलटाहि री ;
कहा भयो तोहिं, कहा काहि तोहिं मोहिं कीधौं,
कीधौं और का है और कहा न तौ काहि री।
जाति ही ते जाति, कैसी जाति, को है जाति परी,
तोसों हौं रिसाति, मेरी मोसों न रिसाहि री ;
लाज गहु, लाज गहु, लाज गहिबे हौं रही,
पंच हँसिहैं री, हौं तौ पंचन ते बाहिरी।

बोर्यो बंस-बिरद मैं बौरी भई बरजत
मेरे बार-बार बीर कोई पास पैठौ जनि ;
सिगरी सयानी तुम बिगरी अकेली हौं हीं,
गोहन मैं छाँड़ो मोसों भौंहन अमैठौ जनि।
कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की निकाम याते ऐंठौ जनि ;
'देव' तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तौ,
बैठी हौं बिकल, कोई मोहिं मिलि बैठौ जनि।

जिन जान्यौ बेद ते तौ बाद कै बिदित होहिं,
जिन जान्यो लोक तेऊ लीक पै लरि मरौ ;
जिन जान्यौ तपु तीनौं तापन सों तपि जिन,
पंचागिनि साध्यौ ते समाधिन परि मरौ।
जिन जान्यौ जोग तेऊ जोगी जुग-जुग जियो,
जिन जान्यौ जोति तेऊ जोति लै जरि मरौं ;
हौं तौ 'देव' नंद के कुमार तेरी चेरी भई,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ।

मोहिं तुम्हैं अंतरु गनैं न गुरजन तुम,
मेरे हौं तुम्हारी पै तऊ न पघिलत हौ;
पूरि रहे या तन मैं मन मैं न आवत हौ,
पंच पूँछि देखे कहूँ काहू ना हिलत हौ।
ऊँचे चढ़ि रोई, कोई देत न दिखाई 'देव',
गातन की ओट बैठे बातन गिलत हौ;
ऐसे निरमोही सदा मोही मैं बसत अरु
मोही ते निकरि फेरि मोंहीं न मिलत हौ।

को हमको तुम-से तपसी बिन जोग सिखावन आइहै ऊधो;
पै अब एही कहौ उनको पिछली सुधि आवति है कबहू धो?
एक भली भई भूप भए जिन्हैं भूलि गयो दधि, माखन, दूधो;
कूबरी-सी अति सखी बधू बरु पायो भलो घनस्याम-सो सूधो।
रावरा रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सों श्रुति सानो;
गात म देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारिए बात बखानो।
ऊधो, हहा हरि सों कहियो, तुम हौ न इहाँ, यह हौं नहिं मानो;
या तन ते बिछुरे तो कहा, मन ते अनते जु बसौ तब जानो।

जौ न जी मैं प्रेम, तब कीजै ब्रत-नेम, जब
कंज मुख भूलै तब संजम बिसेखिए;
आस नहीं पी की, तब आसन ही बाँधियत,
सासन के साँसन को मूँदि पति पेखिए।
नख ते सिखा लौं सब स्याममई बाम भई,
बाहिर है भीतर न दूजो 'देव' देखिए;
जोग करि मिलैं जो बियोग होय बालम, जु
ह्याँ न हरि होयँ, तब ध्यान धरि देखिए।
जोगहि सिखैहैं ऊधौ जो गहि कै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ कै चुकीं।

'देव' पंचसायक नचाय खोलि पंचन मैं,
पंचहू करनि पंचामृत सो अचै चुकीं ।
कुल-बधू ह्वै के हाय कुलटा कहाईं, अरु
गोकुल मैं, कुल मैं, कलंक सिर लै चुकीं ;
चित होत हित न हमारे नित ओर सो तौ,
वाही चितचोरहि चितौत चित्त दै चुकीं ।
'देव' प्रीति-पंथा चीरि चीर गरे कंथा डारि,
भसम चढ़ाय खान-पान हू न छूजिए ;
दूरि दुख-दुंद राखि, सुंदरा पहिरि कान,
ध्यान सुंदरानन गुरू के पग पूजिए ।
भृंगी की टकी लगाय भृंगी कीट कै मनु,
बिरागिनि ह्वै बपु बिरहागिनि मैं भूजिए ;
केली तजि राधिका अकेली होय जोगिनि, तौ
अलख जगाय हेली चेली चलि हूजिए ।
अंजन सों रंजित निरंजनहिं जानैं कहा,
फीको लगै फूल रस चाखे ही जु बौंड़ी को ;
तूरज बजाय सूर सूरज को बेधि जाय,
ताहि कहा सबद सुनावत हौ डौंड़ी को ।
ऊधो पूरे पारख हौ परखे बनाय 'देव',
पार ही पै बोरौ पैरवैया धार औड़ी को ;
मनु मनिका दै हरि हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ।
कुबिजा कितेब दुबिजा के रहे आपु 'देव'
अंसअवतारी अवतारी जिन गनिका ;
आरति न राखत निवारत नरक ही ते,
तारत तिलोक चरनोदक की कनिका ।

उनके गुनानुबाद तुम सों सुने हैं ऊधो,
गोपिन को सूधो मत्त प्रेम की जवनिका ;
कुंजन मैं टेरिहैं जु स्याम को समिरि नीके,
हाथ लै न फेरिहैं सुमिरिनी के मनिका।
मंद महामोहक मधुर सुर सुनियत,
धुनियत सीस बँधी बाँसी है री बाँसी है ;
गोकुल की कुल-बधू को कुल सम्हारै नहीं,
दो कुल निहारै लाज नासी है री नासी है।
काहि धौं सिखावत, सिखै धौं काहि सुधि होय,
सुधि-बुधि कारे कान्ह डासी है री डासी है ;
'देव' ब्रजबासी या बिलासी की चितौनि वह,
गाँसी है री हाँसी वह फाँसी है री फाँसी है।
फलि-फलि फूलि-फूल फैलि-फैलि झुकि-झुकि,
झपकि-झपकि आईं कुंजैं चहुँ कोद ते ;
हिलिमिलि हेलिन को केलिन करन गईं,
बेलिन बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते।
नंदजू की पौंरि पर ठाढ़े हैं रसिक 'देव',
मोहनजू मोहि लीनी सोहिनी वे मोद ते ;
गाथन सुनत भूली साथन के फूल गिरे,
हाथन के हाथन ते गोदन के गोद ते।
मोही मैं छिपे हौ मोहिं छ्वावत न छाँहीं, तापै
छाँह भए डोलत इतै पै मोहिं छरिहौ ;
मच्छ सुनि, कच्छप, बराह, नरसिंह सुनि,
बामन, परसुराम, रावन के अरि हौ।
'देव' बलदेव, देव-दानव न पावैं भेव,
को हौ जू कहौ जू जो हिये की पीर हरि हौ ;

कहत पुकारे प्रभु करुनानिधान कान्ह,
कान मूँदि बौध ह्वै कलंकी काहि करि हौ ?
कंपत हियो न हियो कंपत हमारो क्यों,
हँसी तुम्हें अनोखी नेकु सीत मैं ससन देहु ;
अंबर .हरैया हरि अंबर उज्यारो होत,
हेरि कै हँसै न कोई हँसै तौ हँसन देहु ।
'देव' दुति देखिबे को लोयन मैं लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी लोयन लसन देहु ;
हमरे बसन देहु देखत हमारे कान्ह,
अबहूँ बसन देहु, ब्रज मैं बसन देहु ।

बारे बड़े उमड़े सब जैबे को हौं न तुम्हें पठवों बलिहारी ;
मेरे तौ जीवन 'देव' यही धनु या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी ।
जानै न रीति अथाइन की नित गाइन मैं बनभूमि निहारी ;
याहि कोऊ पहिचानै कहा कछु जानै कहा मेरो कुंजबिहारी ।

सुजान-विनोद

हौं ही ब्रज बृंदाबन मोही मैं बसत सदा,
जमुना तरंग स्यामरंग अवलीन की ;
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि मैं सुनियत गुंजनि अलीन की ।
बंसीबट-तट नटनागर नटत मो मैं,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की ;
भरि रही भनक बनक ताल-ताननि की,
तनक-तनक तामैं झनक चुरीन की ।

भारी भयो बिबि भौंहनि रूप सुडोर दुहूँ लचि छोरनि डोलै ;
नीको चुनी को लिलार मैं टीको सु टीकि खिलार खरे गुन खोलै ।
बालपनो तरुनापनो बाल को 'देव' बराबरि केवल बोलै ;

दोऊ जवाहर जौहरी मैन सु मैन-पलानि तुला धरि तोलै ।
धाइ के अंक मैं सोई निसंक ह्वै पंकज-सी अँखियानि झकाझकी ;
त्यौं सपने में लखे अपने प्रिय प्रेमपने छवि ही की छकाछकी ।
ठाढ़े ह्वै भेंटि भरी भुज गाढ़े ही बाढ़ी दुहू के हिये मैं सकासकी ;
'देव' जगी रतिया हू गई, न तिया की गई छतिया की धकाधकी ।
साँवरो सुंदर रूप बिसाल, अनूप रसाल बड़े-बड़े नैन री ;
या बन आवत गैयनि लै नित 'देव' दिखैयन के चित चैन री ।
मैं हूँ सुनी सो कहा कहौं लाज की बात कहूँ सखि तू कहिऐ न री ;
वा जगवंचक देखे बिना दुखिया अखियान न रंचक चैन री ।

बैरागिनि कीधौं अनुरागिनि, सोहागिनि तू,
'देव' बड़भागिनि लजाति औ लरति क्यों ;
सोवति, जगति, अरसाति, हरखाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यों ।
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति-
बिथकति औ थकति, ध्यान धीरज धरति क्यों ;
मोहनि मुरति, सतराति, इतराति साह-
चरज सराहि आहचरज मरति क्यों ।

बैठी सीसमंदिर मैं सुंदरि सबारही की,
मूँदि कै किंवार 'देव' छबि सों छकति है ;
पीत पट, लकुट, मुकुट, बनमाल धारि,
बेष करि पी को प्रतिबिंब मैं तकति है ।
होति न निसंक, उर अंक भरि भेंटिबे को,
भुजनि पसारति, समेटति, जकति है ;
चौंकति, चकति, उचकति, चितवति चहूँ,
झूमि ललचाति, मुख चूमि न सकति है ।

प्रान सों प्रानपती सों निरंतर अंतर अंतर पारत हेरी ।

'देव' कहा कहौं बाहर हूँ घर-बाहर हूँ रहै भौंह तरेरी ।
लाज, न लागत लाज अहे तोहिं जानी मैं आजु अकाजिनी एरी ;
देखन दे हरि को भरि नैन, घरी छिन एक सरी किनि मेरी ।
खोरि लौं खेलन आवति ये न तौ आलिन के मत मैं परती क्यों ;
'देव' गुपालहि देखति ये न तौ या बिरहानल मैं बरती क्यों ।
माधुरी मंजुल आँब की बालि सु भालि-सी ह्वै उर मैं अरती क्यों ;
कोमल कूकि कै कोकिल कूर, करेजनि की किरचैं करती क्यों ।
'देव' म सास बसायो सनेहु सों, भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो ;
कंचुकी मैं चपर्यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो ;
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ।

देखे, अनदेख दुखदानि भए सुखदानि,
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो ;
पानी, पान, भोजन सुजन, गुरजन भूले,
देव दुरजन लोग लरत खरे परो ।
लागो कौन पाप, पल एकौ न परति कल,
दूरि गयो गेह, नयो नेह नियरे परो ;
होतो जो अजान तौ न जानतो इतीकु बिथा,
मेरे जिय जान तेरो जानिबो गरे परो ।
तेरो कह्यो करि-करि जीव रह्यो जरि-जरि,
हारी पाँय परि-परि तऊ तैं न की सँभार ;
ललन बिलोके 'देव' पल न लगाए तब,
यों कल न दीनी तैं छलन उछलनहार ।
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई,
आपु बिधि बूड़्यो माँझ बाधा-सिंधु निराधार;
एरे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हे अब,

ए केँवार दैकै तोहिं मूँदि मारौं एक बार।
अरिकै वह आजु अकेली गई खरिकै हरि के गुन रूप लुही;
उनहू अपनो पहिराइ हरा मुसक्याय कै गाय कै गाय दुही।
कबि 'देव' कहौ किन कोऊ कछू तबते उनके अनुराग छुही;
सब ही सों यही कहै बालबधू यह देखु री माल गोपाल गुही।
ना यह नंद को मंदिर है, वृषभान को भौन कहा जकती हौ;
हौं हीं यहाँ तुम ही कहि 'देवजू' काहि धौं घूँघुट कै तकती हौ।
भेंटती मोहिं भटू केहि कारन, कौन की धौं छबि सों छकती हौ;
कैसी भई सो कहौ किन कैसे हू, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ?

जब ते कुँअर कान्ह रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी;
तब ही ते 'देव' देखी देवता-सी हँसति-सी,
खीझति-सी, रीझति-सी, रूसति, रिसानी-सी।
छोही-सी, छली-सी, छीनिलीनी-सी, छकी-सी, छीन
जकी-सी, टकी-सी लगी, थकी थहरानी-सी,
बीधी-सी, बधी-सी, बिष बूड़ी-सी, बिमोहित-सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी-सी।

मंजुल मंजरी पंजरी-सी ह्वै मनोज के ओज सम्हारति चीर न;
भूख न प्यास, न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर जीरन।
'देव' घरी-पल जाति घुरी, अँसुवानि के नीर उसास समीरन;
आहन जाति अहीर अहे तुम्हैं कान्ह कहा कहौं काहू कि पीरन।

ना खिन टरत टारे आँखि न लगत पल,
आँखिन लगे री स्यामसुंदर सलौन-से;
देखि-देखि गात न अघात न अनूप रस,
भरि-भरि रूप लेत लोचन अचौन-से।
एरी कहु को हो हौं, सु को हौं, कहा कहति हौ,

कैसे बन-कुंज 'देव' देखियत भौन-से ;
राधे हौ सदन बैठी, कहती हौ कान्ह-कान्ह,
हा-हा कहि कान्ह वे कहाँ हैं, को हैं, कौन-से।
केलि के बगीचे लौं अकेली अकुलाइ आई,
नागरि नबेली बेली हेरत हहरि परी ;
कुंज पुंज तीर तहँ गुंजत भँवर-भीर,
सुखद समीर सीरे नीर की नहरि परी।
'देव' तेहि काल गूँधि ल्याई माल मालिनि, सो
देखत बिरह बिष ब्याल की लहरि परी ;
छोह-भरी छरी-सी छबीली छिति माहिं फूल-
छरी के छुअत फूलछरी-सी छहरि परी।
जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान,
ओंठन अनूठे रस हाँसी उमड़े परत ;
कंचुकी मैं कसे आवैं उकसे उरोज,
बिंदु बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।
गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार,
'देव' मनि-झुमका झुमकि झुमड़े परत ;
बड़े-बड़े नैन कजरारे, बड़े मोती नथ,
बड़ी बरुनीन होड़ा-होड़ी हुमड़े परत।
पामरिन पाँवड़े परे हैं पुर-पौंरि लगि,
धाम-धाम धूपनि के धूम धुनियतु है ;
कस्तुरी अतरसार चोवारस घनसार,
दीपक हजारनि अँध्यार लुनियतु है।
मधुर मृदंग रागरंग के तरंगनि मैं,
अंग-अंग गोपिन के गुन गुनियतु है ;
'देव' सुखसाज महाराज ब्रजराज आजु,

राधाजू के सदन सिधारे सुनियतु है।
खरी दुपहरी हरी-भरी फरी कुंज मंजु,
गुंज अलिपुंजनि की 'देव' हियो हरि जाति;
सीरे नद-नीर, तरु सीतल गहीर छाँह,
सोवैं परे पथिक, पुकारैं पिकी करि जाति।
ऐसे म किसोरी भोरी कोरी कुम्हिलाने मुख,
पंकज-से पाँय धरा धीरज सों धरि जाति;
सौंहे घाम स्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जाति।
हित की हितू री नहिं तू री समुझावै आनि,
सुख दुख मुख सुखदानि को निहारनो;
लपने कहाँ लौं बालपने की बिकल बातैं,
अपने जनहि सपने हू न बिसारनो।
'देवजू' दरस बिनु तरसि मरयो हो, पग
परसि जियैगो मन बैरी अनमारनो;
पतिब्रतब्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो।
सखी के सकोच गुरु सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सों जु उन नेकु हँसि छुयो गात;
'देव' वे सुभाय मुसक्याय उठि गए यहि,
सिसिकि-सिसिकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
कान जानै बीर बिन बिरही बिरह बिथा,
हाय-हाय करि पछिताय न कछू सोहात;
बड़े-बड़े नैननि ते आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।
सूझत न गात बीति आई अधराति, अरु

सोए सब गुरजन जानिकै बगर के ;
छिपिकै छबीली अभिसार को कैंवार खोले,
खुलिगे खजाने चारु चंदन-अगर के।
'देव' कहै भौंर गुंजि आए कुंज-कुंजनि ते,
पूँछि-पूँछि पीछे परे पाहरू डगर के,
देवता कि दामिनी, मसाल किधौं जोतिजाल,
झगरे मचत जागे सगरे नगर के।

बालम बिरह जिन जान्यो न जनम भरि,
बरि-बरि उठै ज्यौं-ज्यौं बरसै बरफराति ;
बीजन डुलावत सखीजन सो सीतहु मैं,
सौतिन सराप तनतापनि तरफराति।
'देव' कहै साँसनि सौं अँसुवा सुखात मुख,
निकसै न बात ऐसी सिसकी सरफराति ;
लौटि-लौटि परति करौंट खटपाटी लै-लै,
सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति।

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की,
सुनि कोरि-कोरि रस भावनि भरति है ;
मोरि-मोरि बदन निहारति बिहारभूमि,
घोरि-घोरि आनँद घरी-सी उघरति है।
'देव' कर जोरि-जोरि बंदत सुरन, गुरु
लोगनि के लोरि-लोरि पाँयन परति है ;
तोरि-तोरि माल पूरै मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है।

आवन सुन्यो है मनभावन को भावती ने,
आँखिन अनंद-आँसू ढरकि-ढरकि उठैं ;
'देव' दृग दोऊ दौरि जात द्वार-देहरी लौं,

केहरी-सी साँसैं खरी खरकि-खरकि उठैं।
टहलै करति टहलैं न हाथ-पाँय, रंग-
महलै निहारि तनी तरकि-तरकि उठैं;
सरकि-सरकि सारी दरकि-दरकि आँगी,
औचक उचौहैं कुच फरकि-फरकि उठैं।

केसरि किंसुक औ बरना कचनारनि की रचना उर सूली;
सेवती 'देव' गुलाब मलै मिलि मालती, मल्लि, मलिंदनि हूली।
चंपक, दाड़िम नूत महाउर पाउर डार डरावनि फूली;
या मयमंत बसंत मैं चाहत कंत चल्यो हम ही किधौं भूली।

'देव' जौ बाहिर ही बिहरै तौ समीर अमी-रस-बिंदु लै जैहै;
भीतर भौन बसै बसुधा ह्वै सुधा मुख सूँघि फनिंद लै जैहै।
राखिहौ जौ अरबिंदहु मैं मकरंद मिलै तौ मलिंद लै जैहै;
जैये कहूँ यहि राखि गोबिंद कै इंदुमुखी लखि इंदु लै जैहै।

बारियै बैस बड़ी चतुरै हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ायै बनाई;
सुंदरै हौ, सुघरै हौ, सलोनी हौ, सील-भरी रस-रूप-सनाई।
राजबधू बलि राजकुमारि अहो सुकुमारि न मानौ मनाई;
नैसिक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई।

भारे हौ भूरि भुराई भरे अरु भाँतिन-भाँतिन के मनभाए;
भाग बड़ो वहि भावती को जेहि भाव तें लै रँगभौन बसाए।
सेष भलोई भली बिधि सों करि भूलि परे किधौं काहू भुलाए;
लाल भले हौ, भलो सुख दीनो, भली भई आजु, भले बनि आए।

कंचन किनारीवारी सारी तास की मैं,
आसपास झूमी मोतिन की झालरि यकहरी;
सीसफूल, बेना, बेंदी, बेसरि औ बीरनि की,
हीरनि की भीर मैं हँसनि-छबि छहरी।
चंद-से बदन भानु भई बृषभानुजाई,

नयन लुनाई की उवनि की-सी लहरी ;
काम घाम घी ज्यों पघिलतु घनस्याम मन,
क्यों सहै समीप 'देव' दीपति दुपहरी ।
देखि न परति 'देव' देखिबे की परी बानि,
देखि-देखि दूनी दिखसाध उपजति है ;
सरद उदित इंदु बिंदु सो लगत लखे,
मुदित मुखारबिंद इंदिरा लजति है ।
अदभुत ऊख-सी पियूष-सी मधुर सुनि-
सुनि धुनि स्रवननि भूख-सी भजति है ;
मंत्री कस्यो मैन परतंत्री कस्यो बैन नीके,
बिना तार तंत्री जीभ जंत्री-सी बजति है ।

रच्यो कचमौर सु मोरपखा धरि काकपखा मुख राखि अराल ;
धरी मुरली अधराधर लै मुरली सुरलीन ह्वै 'देव' रसाल ।
पितंबर काछनी पीत पटी धरि बालम-बेष बनावति बाल ;
उरोजन खोज निबारन को उर पैन्ही सरोजमई मृदु माल ।
हौं भई दूलह वे दुलही उलही सुख बेलि-सी केलि घनेरी ;
हौं पहिरो पिय को पियरो पहिरी उन री चुनरी चुनि मेरी ।
'देव' कहा कहौं, कौन सुनै री, कहा कहे होत कथा बहुतेरी ;
जे हरि मेरी धरैं पग जेहरि ते हरि चेरी के रंग रचे री ।

पीछे परबीनैं बीनैं, संग की सहेली आगे,
भार डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि ;
चौंकति चकोरनि त्यौं मोरै मुख मोरनि त्यौं,
भौंरनि की ओर भीरु देखै मुख मोरि-मोरि ।
एक कर आली कर ऊपर ही धरे हरे-
हरे पग धरै 'देव' चलै चित चोरि-चोरि ;
दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन, राज-

हंसनि चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि।
पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक-सी;
छूटी अलकनि छलकनि जलबूँदन की,
बिना बेंदी-बंदन बदन-सोभा बिकसी।
तजि-तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज,
गुंजरत मंजु रव बोलै बाल पिक-सी;
नीबी उकसाइ नेकु नयन हँसाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर तैं निकसी।

काम-कलोलनि केलि करी निसि, प्रात उठी थिर ह्वै थहरायकै;
आपने चीर के धोखे बधू पहिरो पट पीतम को फहरायकै।
बाँधि लई कटि सों बनमाल न किंकिनि बाल लई ठहरायकै;
भावती की रसरंग की दीपति संग की देखि हँसीं हहरायकै।

माधुरी भौंरनि फूलनि भौंरनि बौरनि-बौरनि बेलि बची है;
केसरि, किंसु, कुसुंभ, कुरौ, किरवार, कनैरनि रंग रची है।
फूले अनारनि चंपक-डारनि लै कचनारनि नेह तची है;
कोकिल रागनि नूत परागनि देखु री बागनि फागु मची है।

होरी मैं आजु भिजै रँग रोरी के आपनो प्यो अपने बस कै लै;
यों कहि देव सखी गहि गोरी को ल्याई हैं गोकुल गाँव की गैलै।
लाज की गारी सुनी कबहूँ नहिं, गावत लोग लगावत ह्वैलै;
खेलति फागु नई दुलही, दृग आँसुनि लीलि उसाँसनि लै-लै।

लोग-लोगाइन होरी लगाइ मिला-मिली चारु न मेटत ही बन्यो;
'देवजू' चंदन-चूर कपूर लिलारन लै-लै लपेटत ही बन्यो।
ये यहि औसर आए इहाँ समुहाय हियो न समेटत ही बन्यो;
कीनी अनाकनियो मुख मोरि पै जोरि भुजा भटू भेटत ही बन्यो।

कंत बिन बासर बसंत लागे अंतक-से,

तीर ऐसे त्रिबिधि समीर लागे लहकन ;
सान धरे सार-से चँदन घनसार लागे,
खेद लागे खरे, मृगमेद लागे महकन ।
फाँसी-से फुलेल लागे, गाँसी-से गुलाब, अरु
गाज अरगजा लागे, चोवा लागे चहकन ;
अंग-अंग आगि ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन, अबीर लागे दहकन ।

दुलही दुलह नौल चाह अनुकूल फूले,
उलहे फिरत गोपी-गोपनि की भीर मैं ;
तैसिये बसंतपाँचैं चाय सों चरचि नाचैं,
रंग राचैं कीच माचैं केसरि की नीर मैं ।
करत न कानि जानि भरत भुजानि 'देव',
धरत न धीर उर अधिक अधीर मैं ;
संबरारि-डंबर मैं बूड़ि रहे दोऊ मुख,
सोभा के अडंबर मैं अंबर अबीर मैं ।

होरी को सोरु पर्‌यो ब्रज पौंरि किसोरी को चित्त बिछोहनि छीज्यो ;
दौरि फिरै दुरि देखिबे को न दुरै मनु ओज मनोज को मीज्यो ।
केसरिया चकचौंधत चीर ज्यों केसरि बीर सरूप लसीज्यो ;
लाल के रंग मैं भीजि रही सु गुलाल के रंग मैं चाहति भीज्यो ।

भेटि भुज भुजन समेटि उर सों जु उर,
अधर अधर धरे अधिक अधीर की ;
जोरि अंग-अंग सों लचाइ गुलचाइ भाल,
दीनी लाल बेंदी बोरि खैंचिकै अबीर की ।
'देव' दुखभंजन लला के दृग-खंजन मैं,
अंजन की लीक पीक पलक लकीर की ;
तन मन वारी बनवारी की बनक पर,

चंद बलिहारी बलिहारी बलबीर की।
भूजि रही बिरहाजुर सों समै पावन जानि जनीनु जगाई;
घोरि घनो रँग केसरि को गहि बोरि गुलाल मैं बाल रँगाई।
साँस लई गहि री कहि री हमसों उनसों अब कौन सगाई;
ऐसे भए निरमोही महा हरि हाय हमैं बिन होरी लगाई।

सीतल महल महासीतल पटीर पंक,
सीतल कै लीप्यो भीति छिति छाती दहरै;
सीतल सलिल भरे सीतल बिमल कुंड,
सीतल बिमल जल-जंत्र-धारा छहरै।
सीतल बिछौननि पै सीतल बिछाई सेज,
सीतल दुकूल पैन्हि पौढ़े हैं दुपहरै;
'देव' दोऊ सीतल अलिंगननि देत-लेत,
सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरै।

उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा,
मंदिर सवार चंदमंडल की चोटहीं;
भीतर ही लालनि के जालनि बिसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोटहीं।
बरनति बानी, चौंर ढारति भवानी, कर
जोरे रमा रानी ठाढ़ी रमन की ओटहीं;
'देव' दिगपालनि की देबी सुखदाइनि ते,
राधा ठकुराइनि के पाँइन पलोटहीं।

छीर की-सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
जामिनी की जोति भामिनी को मानु ऐछ्यो है;
ठौर-ठौर छूटत फुहारे मनौ मोतिन के,
'देव' बनु याको मनु काको न अमैछ्यो है।
सुधा के सरोवर-सो अंबर उदित ससि,

मुदित मराल मनु पैरिबे को पैख्यो है ;
बेलि के बिमल फूल फूलत समूल मनौ ,
गगन ते उड़ि उड़गन-गन बैख्यो है ।
घूँघट खुलत अबै उलटु ह्वै जैहै 'देव' ,
उद्धत मनोज जग जुद्ध जूटि परैगो ;
को कहै अलीक बात, लोक है सुरोक सिद्ध ,
लोक तिहुँ लोक की लुनाई लूटि परैगो ।
दैयनि दुराउ सुख नतरु तरैयनि को ,
मंडल हू मटकि चटकि टूटि परैगो ;
तो चितै सकोच सोचि मोचि मदु मूरछिकै ,
छौर ते छपाकर छता सो छूटि परैगो ।
इभ से भिरत चहुँघाई सों घिरत घन ,
आवत झिरत झीने झरसों झपकि-झपकि ;
सोरन मचावैं नचैं मोरन की पाँति ,
चहुँ ओरन ते कौंधि जाति चपला लपकि-लपकि ।
बिन प्रानप्यारे प्रान न्यारे होत 'देव' कहै ,
नैन बरुनीन रहे अँसुआ टपकि-टपकि ;
रतिया अँधेरी, धीर न तिया धरति, मुख
बतिया कढ़ै न, उठै छतिया तपकि-तपकि ।
पावस प्रथम पिय ऐबे की अवधि सों,
जो आवत ही आवै तो बुलाऊँ अति आदरनि;
नाहीं तौ न हिलि होन दे री झील-झाबरनि,
ग्रीषमहि राखु खाली भाखु खल खादरनि ।
बीजुरी बरजु, कहु मेघ न गरजु, इन
गाज-मारे मोर मुख मोरि री निरादरनि
कंठ रोकि कोकिलनि, चोंच नोचि चातकनि,

दूरि करि दादुर बिदा करि री बादरनि।

आली झुलावति झूँकनि सों झुकि जाति कटी झननाति झकोरे;
चंचल अंचल की चपला चल बेनी बड़ी सो गड़ी चित चोरे।
या बिधि झूलत देखि गयो तब ते कबि 'देव' सनेह के जोरे;
झूलत है हियरा हरि को हिय माँह तिहारे हरा के हिंडोरे।

झूलत ना वह झूलनि बाल की फूलनि माल की लाल पटी की;
'देव' कहै लचकै कटि चंचल चोरी दगंचल चाल नटी की।
अंचल की फहरानि हिए रहि जानि पयोधर पीन तटी की;
किंकिनि की झननानि, झुलावनि झूकनि सों, झुकि जानि कटी की।

झूलनहारी अनोखी नई, उनई रहती इत ही रँगराती;
मेह मैं ल्यावैं सु तैसिये संग की रंग-भरी चुनरी चुचुहाती।
झूला चढ़े हरि साथ हहा करि 'देव' झुलावत ही ते डराती;
भोरे हिंडोरे की डोरिन छाँड़ि खरे ससवाइ गरे लपटाती।

जोतिन के जूहनि, दुरासद दुरूहनि,
प्रकास के समूहनि, उजासनि के आकरनि;
फटिक अटूटनि, महारजत टूटनि,
मुकतमनि जूटनि समेटि रतनाकरनि।
छूटि रही जोन्ह जग लूटि दुति 'देव' कम-
लाकरनि फूटि फूटि दीपति दिवाकरनि;
नभ सुधासिंधु गोद पूरन प्रमोद ससि,
सामुद बिनोद चहूँ कोद कुमुदाकरनि।

आसपास पुहुमि प्रकास के पगार सूझै,
बन न अगार डीठि गली औनि बरते;
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी,
चंड ब्रहमंड उतरात बिधु बरते।
सरद जुन्हाई जह्नुजाई धार सहस,

सुधाई सोभासिंधु नभ सुभ्र गिरिबर ते ;
उमड़्यो परत जोतिमंडल अखंड सुधा-
मंडल मही मैं बिधुमंडल-बिबर ते ।
नगर निकेत, रेत, खेत सब सेत-सेत,
ससि के उदेत कछु देत न देखाई है ;
तारका मुकुतमाल झिलिमिलि झालरनि ,
बिमल बितान नभ आभा अधिकाई है ।
सामुद समोद ब्रज कमुद बिनोद देव,
चहुँ कोद चाँदनी की चादर बिछाई है ;
राधा मधु मालतिहि माधव मधुप मिले,
पालिक पुलिन झीनी परिमल झाई है ।
रूपे के महल धूपे अगर उदार द्वार,
झँझरी झरोखा मूँदे चारु चिकराती मैं ;
ऊध अध भूल तूल पटनि लपेटे मूल,
पटल सुगंध सेज सुखद सोहाती मैं ।
सिसिर के सीत प्रिया पीतम सनेह दिन,
छिन-सी बिहात 'देव' राति नियराती मैं ;
केसरि कुरंगसार अंग मैं लिपत दोऊ,
दोऊ मैं दिपत औ छिपत जात छाती मैं ।

रस-विलास

पाँयन नूपुर मंजु बजैं कटि-किंकिनि मैं धुनि की मधुराई ;
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई ।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुख चंद जुन्हाई ;
जै जगमंदिर-दीपक सुंदर श्रीब्रजदूलह 'देव' सहाई ।
राई लोन करति गुराई देखि अंगन की,
दुरै न दुराई त्यौं भुराई सों भिरति है ;

ज्यौं-ज्यौं सुघराई सों न उघरन देति त्यौं-त्यौं,
सुंदर सुघर घर घेरन घिरति है।
निठुर दिठौना दीन्हे नीठि निकसै न देति,
दीठि लागिबे को उर पीठि दै गिरति है;
जिन-जिन ओर चितचोर चितवत त्यौं ही,
तिन-तिन ओर तिन तोरति फिरति है।

लेहु लली उठि लाई हौं लाल को लोक की लाजहु सों लरि राखौ;
फेरि इन्हैं सपनेहू न पैयत लै अपने उर मैं धरि राखौ।
'देव' लला नवला अबला यह चंदकला कठुला करि राखौ;
आठहु सिद्धि नवो निधि लै घर बाहर भीतर हू भरि राखौ।

कुंजन के कोरे मन केलि-रस-बोरे लाल,
तालन के धोरे बाल आवति है नित को;
अमृत निचोरे कल बोलति निहोरे नेकु,
सखिन के जोरे 'देव' डोलै जित-तित को।
थोरे-थोरे जोबन बिथोरे देति रूप-रासि,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेति हित को;
तोरे लेति रति-दुति, मोरे लेति मति गति,
छोरे लेति लोक-लाज, चोरे लेति चित को।

आई हौं देखि बधू यक 'देव' सु देखत भूली सबै सुधि मेरी;
राखो न रूप कछू बिधि के घर ल्याई है लूटि लुनाई की ढेरी।
एवी अबै वहि ऐबे है बैस मरैंगी महाबिष घूटि घनेरी;
जे-जे गुनी गुनआगरी नागरी ह्वै हैं ते वाके चितौत ही चेरी।

राधे कही है कि तैं छमियो ब्रजनाथ जिते अपराध किए मैं;
कानन तानन भूतल नाखिन आँखिन रूप अनूप पिए मैं।
ओछे हिए अपने दिन-राति दयानिधि 'देव' बसाय लिए मैं;
हौं हीं असाध बसी न कहूँ पल आध अगाध तिहारे हिए मैं।

सींची सुधाकुंदन सों कुंदन की बेलि किधौं,
　　साँचे भरि काढ़ी रूप ओपनि भरतु है;
पोखी पुखराजनि बपुख नखसिख, कर-
　　चरन, अधर बिद्रुमन ज्यौं धरतु है।
हीरा-सी हँसनि, मोती मानिक दसन सेत,
　　स्यामता लसनि दृग हियरा हरतु है;
जोबन जवाहिर सों जगमग होइ जोइ,
　　जौहरी की जोइ जगु जौहर करतु है।

रेसम के गुन छीलि छुरा करि छोर ते ऐंचि सनेह रचावै;
'देव' दसौ अँगुरी कर पाँइ परै उरझाइ कै रंग मचावै।
मोहति-सी मनु पोहति मोतिन चोहति-सी छवि भौंहैं चलावै;
चंचल नैननि सैननि सों पटवा की बहू नटवा से नचावै।
अंतर पैठि दुहूँ पट के कवि 'देव' निरंतरता उर आनै;
देति मिलाइ घने अपने गुन तार सुई किधौं दूती सुजानै।
ताहि लिए कर मैं धर मैं हिय जाको सिए मरमै सु बखानै;
कीन्ही करेजन की दरजै दरजी की बहू बरजी नहिं मानै।
माखनु सो तनु दूध सो जोबन है दधि ते अधिकौ उर ईंठी;
जा छवि आगे छपाकर छाँछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नीरु चुवै कहि 'देव' बुझावत बैन बियोग अँगीठी;
ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी।

गोरे मुख गोल हरे हँसत कपोल बड़े,
　　लोयन बिलोल बोल लोने लीन लाज पर;
लोभा लागे लाल लखि सोभा कबि 'देव' छबि-
　　गोभा-से उठत रूप सोभा के समाज पर।
बादले की सारी दरदावन किनारी,
　　जगमगी जरतारी झीनी झालरि के साज पर;

मोती-गुहे कोरन चमक चहुँ ओरन, ज्यों
तोरन तरैयन की तानी द्विजराज पर।

सासु सों हाँसु छिपाए रहै, ननदी लखि ज्यौं उपजावति भीतिहि;
सौतिन सों सतराइ चितौति, जिठानिन सों जिय ठानति प्रीतिहि।
दासिन हू सों उदास न 'देव', बढ़ावति प्यारे सों प्रेम-प्रतीतिहि;
धाय सों सीखति बात बिनै की, सखीन सों सीखै सुहाग की रीतिहि।

रूप चुवै चपि कंचन नूपुर कौंल से पायन नाल बहू के;
आनन रंग मनों निचुरै पिय संग धरे मग मैं पग दू के।
इंदु से आनन मैं श्रमबिंदुनि देव गुबिंद सुखावत फूके;
सो लखि सौतिन की अँखियान मैं लागि उठी मनौ आगि की लूके।

आजु गोपालजू बारबधू सँग नूतन-नूतन कुंज बसे निसि;
जागर होत उजागर नैनन पाग पै पीरी पराग परी पिसि।
चोज के चंदन खोज खुले जहँ ओछे उरोज रहे उर मैं बिसि;
बोलत बात लजात-से जात हैं आए इतौत चितौत चहूँ दिसि।

राजपौंरिया के रूप राधे को बनाय लाई,
गोपी मथुरा ते मधुबन की लतान मैं;
टेरि कह्यौ कान्ह सों, चलौ हौ कंस चाहै तुम्हैं,
काके कहे लूटत सुनो हो दधि-दान मैं।
संग के न जाने गए डगरि डेराने 'देव',
स्याम ससवाने सो पकरि करै खान मैं;
छूटि गयो छल छैल बलि की बिलोकनि मैं,
ढीली भईं भौंहैं वा लजीली मुसक्यानि मैं।

बंसीबट के तट निकट जमुनाजल मैं,
खेलति कुँवरि राधा सखिन के पुंज मैं;
चलि न सकति बृंदाबन की गलीन बीच,
बिकल नलिननैनी अलिन की गुंज मैं।

रसिक कन्हाई आइ बाँसुरी बजाई, धुनि
सुनिकै रही न मति-गति मन लुंज मैं ;
'देव' दुरी जाय अकुलाय सुसमितमुखी ,
कुसमित बकुल-कदंबकुलकुंज मैं ।

मूरति जो मनमोहन की, मन मोहिनी की थिर ह्वै थिरकी-सी ;
'देव' गोपाल को बोल सुने, सियराति सुधा छतिया छिरकी-सी ।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं, नैनन लाज घटा घिरकी-सी ;
पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी ।

कान्हमई वृषभानुसुता भई, प्रीति नई उनई जिय जैसी ;
जानै को 'देव' बिकानी-सी डोलै, लगै गुरु लोगन देखि अनैसी ।
ज्यौं-ज्यौं सखी बहरावति बातनि, त्यौं-त्यौं बकै वह बावरी-ऐसी ;
राधिका प्यारी हमारी सौं तू कहि, काल्हि की बेनु बजाई मैं कैसी ।

गौने की चाल चली दुलही, गुरुनारिन भूषन, भेष बनाए ;
सील, सयान सबै सिखए, ऽरु सबै सुख सासुरे हू के सुनाए ।
बोलियो बोल सदा अति कोमल, जो मनभावन के मन भाए ;
यों सुनि ओछे उरोजनि पै, अनुराग के अंकुर-से उठि आए ।

केसरि सों उबटे सब अंग, बड़े मुकुतान सों माँग सँवारी ;
चारु सु चंपक-हार गरे, अरु ओछे उरोजन की छबि न्यारी ।
हाथ सों हाथ गहे कबि 'देवजू', साथ तिहारे हौं आजु निहारी ;
हा-हा हमारी सौं साँची कहौ, वह कौन ही छोहरी छीबरवारी ।

महाकवि विहारीलाल
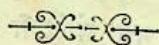
भाषा-साहित्यकारों में चरित्र न लिखने के कारण बड़े-बड़े कवियों के कुल-गोत्रादि के विषय में भी संदेह बना ही रहता है। वैसे ही इन महाकवि के कुल-गोत्रादि के विषय में भी संदेह उपस्थित है। इन्होंने 'सतसई'-नामक एक ही ग्रंथ बनाया, और उसका भी केवल समाप्त होने का संवत् ही दिया है। अपने विषय में भी इन्होंने केवल एक ही दोहा लिखकर संतोष किया है। दोनों दोहे नीचे लिखे जाते हैं—

"संवत ग्रह ससि जलधि छिति, छठि तिथि, बासर चंद ;
चैत मास, पख कृष्ण में, पूरन आनँदकंद।"
"जनम लियो द्विजराज-कुल, सुबस बसे व्रज आय ;
मेरे हरौ कलेस सब, केसव, केसवराय।"

इन दो दोहों के सिवा इनके विषय में एक यह तीसरा दोहा भी प्रसिद्ध है—

"जनम ग्वालियर जानिए, खंड बुँदेले बाल ;
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल।"

इन्हीं तीनों दोहों पर इनके कुल, गोत्र, जन्म, मरण आदि के अनुमान अवलंबित हैं। इन्होंने सतसई में राजा जयसिंह का थोड़ा-सा यशोगान किया है, और कुछ बातें जयपुर के संबंध में भी लिखी हैं। महाराजा जयसिंह ने संवत् १६७६ से १७२२ तक राज्य किया था। इसके अतिरिक्त जनश्रुतियों में यह भी प्रसिद्ध है कि इनकी सतसई के टीकाकार कृष्ण कवि इनके पुत्र थे। कृष्ण कवि

बिहारीलाल
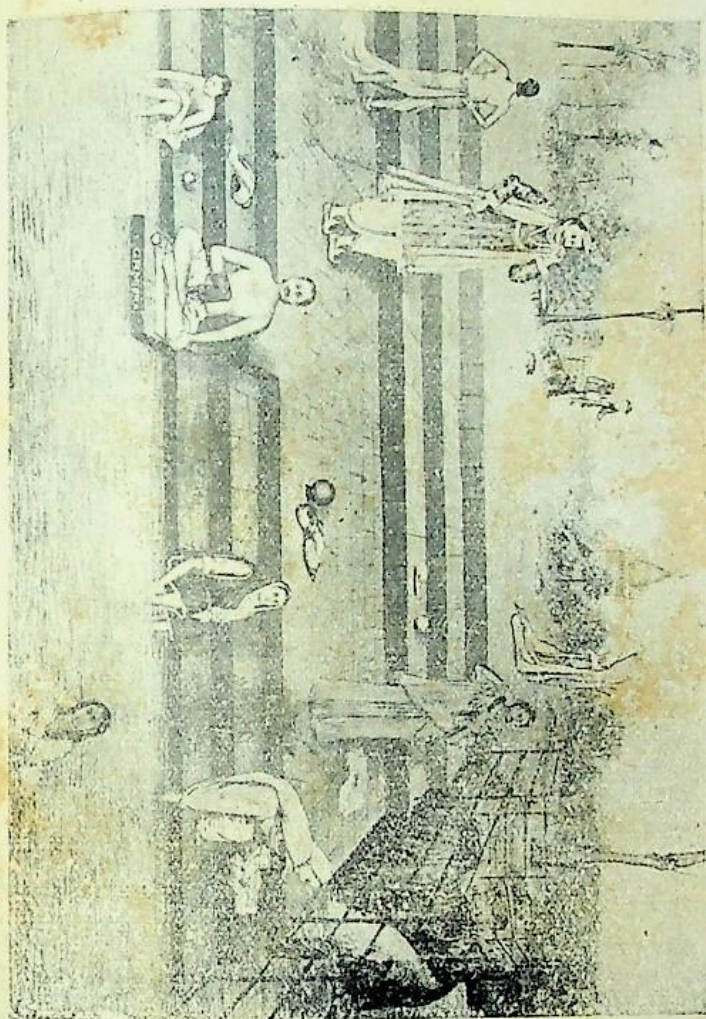
मोछ मरोरत रसिक-मनि लखौ बिहारीलाल ;
नर-नारिन के [illegible] तकत खरे ढिग ताल ।

ने अपनी कविता में अपनेको ककोर-कुल का माथुर विप्र माना है। जनश्रुतियों में यह भी प्रसिद्ध है कि यह महाशय एक बार जोधपुर गए थे। पंडित प्रभुदयाल पांडेय ने वंगवासी-प्रेस में विहारी-सतसई, अपनी टीका-समेत, छपवाई थी। इस लेख में उसी प्रति के दोहों के नंबरों का हवाला दिया जायगा। गोलोकवासी मित्रवर बाबू राधाकृष्ण दास ने 'कविवर विहारीलाल'-नामक एक निबंध लिखा है। इसी प्रकार अंबिकादत्त व्यास ने भी 'विहारी-विहार' में अच्छी भूमिका लिखी है। अतः हम विहारी के कुल आदि के विषय में विस्तार-पूर्वक न लिखकर थोड़े में अपना मत प्रकट करते हैं। ऊपर लिखे हुए द्वितीय दोहे का अर्थ विहारी के एक प्रसिद्ध टीकाकार ने यों लिखा है—

"श्लेष-अर्थ केसव पिता, अरु हरि केसवराय ;
ये द्विज-कुल, वे राज-कुल, उपजे अर्थ जताय।"

इस अर्थ तथा विहारी की कविता में बुँदेलखंडी शब्दों के प्रयोग और इनकी रचना में एक स्थान पर 'मधुकर'-शब्द के (ओड़छे के मधुकर शाह को सूचित करते हुए) आने से राधाकृष्ण दासजी ने अनुमान किया है कि विहारीलाल प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे। हमारे मत में 'मधुकर'-शब्द से 'मधुकर शाह' का व्यक्त होना नहीं समझा जा सकता। मधुकर भ्रमर को कहते हैं, और यह एक बहुत ही प्रचलित साधारण शब्द है। हमारे मत में, विहारी के पिता का नाम केशव अवश्य था, और वह ब्राह्मण भी थे, परंतु प्रसिद्ध कवि केशवदास नहीं थे। यदि केशवदास ही होते, तो यह बात जनश्रुतियों में अवश्य प्रचलित होती। विहारी का जन्म-स्थान 'बसुआ-गोविंदपुर' नाम का एक ग्राम, जो ग्वालियर के निकट है, बतलाया जाता है। और, यह भी कहा जाता है कि इनके चाचा ने महाभारत का उलथा किया था, जो अब तक वहाँ है,

परंतु प्रकाशित नहीं हुआ। विहारी का जन्म अनुमान से संवत् १६६० वि० में हुआ होगा। इन्होंने संवत् १७१६ में सतसई समाप्त की, और उसके पीछे कोई ग्रंथ या छंद नहीं बनाया। इससे जान पड़ता है, इस संवत् के थोड़े ही दिनों बाद इनका मरण हुआ होगा। सतसई में कुछ दोहे शांत-रस के भी हैं। विहारी बड़े ही शृंगारी थे। उनके चित्त में, ६० वर्ष की अवस्था के लगभग पहुँचे विना, शांत-रस का प्रादुर्भाव न हुआ होगा। अतः जान पड़ता है, उस समय, जब कि सतसई समाप्त हुई, यह लगभग ६० वर्ष के होंगे। यह जयपुर छोड़कर, सिवा जोधपुर के, और कहीं नहीं गए। वहाँ भी ठहरकर इन्होंने अपना मान बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि उस समय महाराजा जसवंतसिंह वहाँ राज्य करते थे। वह कविता के बड़े ही प्रेमी थे। उन्होंने 'भाषाभूषण'-नामक अलंकारों का बड़ा ही विशद ग्रंथ बनाया * है, जो अब तक कवि-समाज में बड़ी ही पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। इससे भी प्रकट होता है कि यह उस समय ६० वर्ष के लगभग थे, और उसके पीछे बहुत दिन जीवित नहीं रहे।

'केशवराय'वाले ऊपर के दोहे में 'राय'-शब्द आने के कारण कुछ लोग यह अनुमान लड़ाते हैं कि विहारी भाट थे। परंतु उस दोहे पर ग़ौर करने से प्रकट होता है कि 'केसवराय'-शब्द श्रीकृष्ण के लिये आया है, न कि कवि के पिता के लिये। फिर 'राय'-शब्द से सदा सर्वत्र भाट ही का अर्थ नहीं लिया जा सकता। ब्राह्मणों के नाम में भी 'राय' आ सकता है। स्वयं कवि केशव-दास तक कभी-कभी अपनेको 'केशौराय' लिखते थे। भाट प्रायः

---

* कुछ लोगों का मत है कि भाषाभूषण के प्रणेता जसवंतसिंह दूसरे थे।—संपादक

ब्रह्मभट्ट कहाते हैं। कृष्ण कवि के संबंध की जनश्रुति भी इसके प्रति-कूल है। अतः निश्चय है कि विहारीलाल माथुर चौबे थे। इनका जन्म ग्वालियर के समीप बसुआ-गोविंदपुर में हुआ, और किसी कारण इनकी बाल्यावस्था बुँदेलखंड में बीती। जवानी में यह महाशय अपनी ससुराल—मथुरा—में रहे। जान पड़ता है, इनके पिता धनहीन थे, और इनके बचपन ही में मर गए थे। मतलब यह कि इन्हें लड़कपन बुँदेलखंड में, जहाँ इनकी ननिहाल होना संभव है, और सारी उमर ससुराल—मथुरा—में बितानी पड़ी।

कहते हैं, एक समय महाराजा जयसिंह किसी एक नवोढ़ा मुग्धा रानी के प्रेम में इतने बेसुध हो गए कि उसे छोड़कर बाहर निकलते ही न थे। उस समय विहारीलाल ने नीचे का दोहा बनाकर किसी तरह उनके पास भिजवाया था—

"नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास यहि काल ;
अली कली ही सों बिंधो, आगे कौन हवाल !"

इसे पढ़कर महाराज को होश हुआ, और वह तुरंत प्रेमोन्माद से मुक्त होकर बाहर निकल आए—राज्य का काम-काज करने लगे। इसी समय से जयपुर में विहारी का आदर बढ़ा, और वह वहीं रहने लगे। कहते हैं, राजा ने उपर्युक्त दोहे पर उन्हें बड़ा पुरस्कार दिया, और फिर वैसे ही हरएक दोहे पर एक मोहर भी दी। यह एक मोहरवाली बात ठीक नहीं जँचती। विहारीलाल को कलिकाल के दानियों से सदा शिकायत रही। इससे जान पड़ता है, उनका पूरा सम्मान कभी कहीं नहीं हुआ। यदि हरएक दोहे पर एक मोहर मिलती होती, तो वह हज़ारों दोहे बना डालते, सात ही सौ दोहों पर संतोष न करते। यदि मोहरों के पुरस्कार पर हज़ारों दोहे बने होते, तो उन्हें स्वयं कवि भी नष्ट न कर सकता, और वे अवश्य प्रसिद्ध होते। इन महाकवि के

एक-मात्र ग्रंथ सतसई में सिर्फ़ ७१९ दोहे हैं। उनमें भी दो-तीन सोरठे हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने सात दोहों में सतसई की प्रशंसा की है। यथा—

"सतसैया को दोहरो, ज्यों नावक को तीर;
देखत को छोटो लगै, घाव करै गंभीर।
ब्रज-भाषा बरनी कबिन, बहु बिधि बुद्धि-बिलास;
सबकी भूषन सतसई, करी बिहारीदास।
जो कोऊ रस-रीति को, समुझ्यो चाहै सार;
पढ़ै बिहारी-सतसई, कबिता को सिंगार।
उदै-अस्त लौं अवनि पै, सबको याकी चाह;
सुनत बिहारी-सतसई सब ही करत सराह।
भाँति-भाँति के बहु अरथ, यामें गूढ़, अगूढ़;
जाहि सुने रस-रीति को, मग समुझत अति मूढ़।
बिबिध नायिका-भेद अरु, अलंकार, नृप-नीति;
पढ़ै बिहारी-सतसई, जानै कबि-रस-रीति।
करे सात सौ दोहरा, सुकवि बिहारीदास;
सब कोऊ तिनको पढ़ै, सुनै, गुनै सबिलास।"

यह भी संभव है कि बड़ाईवाले ये दोहे किसी अन्य कवि के बनाए हुए हों।

इन दोहों में सतसई की बड़ी बड़ाई की गई है। उसका बहुत-सा अंश यथार्थ भी है। इस एक छोटे-से ग्रंथ में इन कविरत्न ने मानो गागर में सागर भर दिया है। इन्हीं १४५२ पंक्तियों में मानो सभी कुछ आ गया है, और कविता का प्रायः कोई अंग, सिवा पिंगल के, नहीं छूटा। काव्य का यह छोटा-सा ख़ज़ाना पाठक को चकित और स्तंभित कर देता है। इतने छोटे-से ग्रंथ में इतना चमत्कार अन्य कोई भी हिंदी-कवि नहीं ला सका।

जैसे एकाग्रता और श्रम से इन कविरत्न ने काव्य का प्रताप-पुंज या चमत्कार इस छोटे-से भाजन में भर रक्खा है, वैसे ही इसका आदर भी बहुत कुछ हुआ। सिवा गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के और कोई भी भाषा-ग्रंथ इतनी लोकप्रियता नहीं पा सका, जितनी सतसई ने पाई है। क़रीब २५ महाशयों ने इसकी, गद्य अथवा पद्य में, टीका या व्याख्या की है। उन सबमें सूरति मिश्र की टीका सर्वोत्कृष्ट है। पठान सुल्तान के आश्रित चंद कवि ने इन दोहों पर कुंडलियाएँ लगाई हैं, और यही काम पंडित अंबिका-दत्त व्यास ने भी किया है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी क़रीब ७० या ८० दोहों पर कुंडलियाएँ लगाई थीं; परंतु कार्य असाध्य और श्रम बहुत समझकर फिर छोड़ दिया। इन दोहों पर कुंड-लिया लगाना हमको भी व्यर्थ श्रम समझ पड़ता है। यदि शेष चार पद दोहे के बराबर उत्कृष्ट हों, या उसके लगभग भी पहुँचें, तो कुंडलिया अच्छी कही जा सकती है; परंतु ऐसा न हुआ है, और न हो सकता है। बिहारी-जैसे सुकवि जब जन्म-भर में सिर्फ़ सात सौ दोहे बना सके, तब जब तक कोई वैसा ही कवि न हो, और आयु-भर श्रम न करे, तब तक भला उन बूँदों भेंट कहाँ? तभी तो नवरत्न के भी प्रसिद्ध कवि भारतेंदु ने उसे असाध्य और व्यर्थ का श्रम समझा। पंडित परमानंद ने संस्कृत-श्लोकों में सत-सई का उल्था किया है, और कृष्ण कवि ने सवैयों में। सतसई के टीकाकारों में सूरति, कृष्ण, चंद, सरदार और भारतेंदु सुकवि हैं। एक वैद्य ने सब दोहों में एक-एक वैद्यक का नुस्ख़ा निकाला है; परंतु उसमें टीकाकार ही का बुद्धि-चमत्कार देख पड़ता है। उक्त टीकावाला अर्थ स्वयं बिहारीलाल भी न जानते होंगे। *

* लाला भगवानदीन भी इधर ऐसा ही कुछ उद्योग 'शांत-बिहारी' में कर रहे हैं। वह सब दोहों में शांत-रस का अर्थ दिखा रहे हैं।—संपादक

सतसई का जो क्रम आजकल प्रचलित है, वह आज़मशाह का बँधवाया हुआ है, और अच्छा भी है। इसका छठा शतक परमोत्कृष्ट है। इसमें वर्णित षट्-ऋतु-वर्णन बहुत ही प्रशंसनीय है। इसके, प्रथम, पंचम, और सप्तम शतक भी अच्छे हैं। शेष साधारण हैं। विहारीलाल की कविता के गुण और दोष हम नीचे लिखते हैं।

इन महाकवि ने व्रज-भाषा में कविता की है; परंतु, फिर भी, यत्र-तत्र कई भाषाओं के शब्दों का बहुतायत से व्यवहार किया है। किसी भाषा का भी शब्द मिले, और यदि अच्छा हो, तो उससे काम निकालने में यह महाशय संकोच नहीं करते थे। यदि इनके प्रयुक्त शब्दों के भाषा-भेद पर ग़ौर किया जाय, तो ऐसे भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों की संख्या बहुत अधिक होगी। इन्होंने रीझबी, देखबी आदि बुँदेलखंडी और ताफ़ता, इज़ाफ़ा, किबिलनुमाँ (कुतुबनुमाँ), ग़नी, सबील, अदब, दाग़ आदि फ़ारसी के शब्द रक्खे हैं। छाँकु, उड़ायक आदि पद गढ़ भी लिए हैं। कुछ स्थानों पर इन्होंने असमर्थ शब्द भी रख दिए हैं। यथा—'दीजतु' और 'ज्यों'—

"सबहिनु बिनुहीं ससि-उदै, दीजतु अरघ अकाल ;
जात-जात ज्यों राखियत, पिय को नाम सुनाय।"

यहाँ 'दीजतु' से देती या देती हैं का और 'ज्यों' से ज्यों-त्यों का अर्थ लिया गया है; पर ये शब्द इन अर्थों को पूर्ण रूप से प्रकट करने में असमर्थ हैं। इन्होंने शब्दों को बहुत अधिक तोड़ा-मरोड़ा है, और उन्हें कहीं-कहीं बहुत ही बिगड़े हुए रूप में रक्खा है। यथा—समर (स्मर), तृष्यो (तुष्यो), हराहरु (हलाहलु), अगिनि (अग्नि), मोख (मोक्ष) इत्यादि। इसी प्रकार ठिक, आतक, दुसाल, नरसाल, ईठि, नीठि, अनखुली, धरहरि, सबा-

द्विल, बट (बाट के लिये, छंद नंबर ८६), चोरटी, गोरटी, ढुक-चित, कुकत, हई (हैरत नंबर ११६), कैवा, (१२१), लाव (१२८), डाढ़ी-सी (१३४), रहचटैं (१३६), लाय (१४१), रोज (रोज़ा की जगह—१८८), ईठि, खुँदी (१६६),चिलक, चौंध (२१७), चुपरी (ढकी—२२२), चौंटत (२२७), लोयन (लुनाई—२३०), केलि—(केला २३२) ऊलि (उछल—२३७), जनकु (मानो—२४२), बेपाय (भूली हुई—२३५), सँगी (३०६), औंचि (३३१), बींद (३३५), नतरकुकत, गाँस (३४६), नूद (वीरबहूटी—३८६), पातु (३६२), कोरि (४१५), निय (४२३), ओस (४३०), सुध (सुधा—४३५), पजरै (४३६), संसो (साँस—४४१), करै (करके—५०४), बाथ (५१०), धर (धरा, पृथ्वी—४३५), तैन (५३६), खियाल (खेल—५४७), आघ (अर्घ्य, मोल, ६८४), नीसकै (६६०) इत्यादि असाधारण, अव्यवहृत अथवा बिगड़े हुए रूपों में शब्द लिखे हैं। इनके बड़े कवि होने पर भी इनकी शब्द-संबंधी निरंकुशता प्रशंसनीय नहीं है । तुकांत के लिये भी इन्होंने शब्द मरोड़े हैं। यथा—चाढ़ (चढ़कर—२२०), आव (आब—३२२)।

अध्यापक लाला भगवानदीन ने हाल में हमारे उपर्युक्त कथनों का घोर विरोध किया है। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि विहारी की भाषा देव की भाषा से श्रेष्ठतर है। यदि कोई बात विहारी की रचना पर आरोपित हो भी गई, तो लालाजी ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अन्य कवियों ने—विशेषकर देव ने—भी वैसे ही रूप लिखे हैं, अतः विहारी दोष के भागी नहीं हैं। स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी-नवरत्न केवल देव और विहारी पर नहीं लिखा गया है; बल्कि उसमें नव कवियों पर स्वतंत्र सम्मतियाँ हैं। प्रसंगवश चाहे कहीं किसी से दूसरे का मिलान कर भी दिया गया हो, तथापि यह

इस पुस्तक का विषय नहीं है। ग्रंथ प्रत्येक कवि पर स्वतंत्र विचार करता है, आनुषंगिक नहीं। आनुषंगिक विषय उसमें केवल इतना ही है कि हमने कुल मिलाकर उत्तमता की दृष्टि से कवियों को पूर्वा-पर स्थान दिया है। फिर भी सबकी कविताओं पर स्वतंत्र रीति से विचार किया गया है। इसलिये यदि विहारी की भाषा में कोई दोष है, तो देव की भाषा में भी उसके होने से उसका परिहार न हो जायगा। देव चाहे साधारण श्रेणी से भी नीचे के कवि मान लिए जायँ, तथापि उससे विहारी की कविता का दर्जा बढ़ नहीं सकता।

लालाजी ने यह भी लिखा है कि जब अन्य कविगण उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब अकेले विहारी ही पर क्यों दोषा-रोपण होता है? इसका उत्तर ग्रंथ में पहले ही से था; किंतु लाला साहब ने दोष दिखलाने के पूर्व ग्रंथ को अच्छी तरह पढ़ने या समझने का कष्ट नहीं उठाया। हम ऊपर लिख चुके हैं कि विहारी ने शब्दों को बहुत अधिक तोड़ा-मरोड़ा है। यदि उनके कुल शब्दों को जोड़ें, और उनसे तोड़े-मरोड़े हुए शब्दों का औसत निकालें, तो वह औरों से कहीं अधिक पड़ेगा। बस, यही हमारा प्रयोजन था, और है। अन्य सत्कवियों की रचनाओं में तोड़े-मरोड़े शब्दों का औसत इतना अधिक न बैठेगा। इसीलिये विहारी का यह दोष कहा गया, और औरों का नहीं। फिर जो शब्दों की बड़ी सूची हमने दी थी, उसके विषय में केवल इतना कहा था कि वे शब्द असाधारण, अव्यवहृत अथवा बिगड़े हुए रूपों में हैं। लाला साहब ने प्रत्येक शब्द को लेकर केवल विकृत रूप की कसौटी पर कसा, और जहाँ कहीं शब्द बिगड़ा न पाया, वहाँ हमारे कथन को अशुद्ध कहने की कृपा की। इतना तो सोच ही लेना चाहिए था कि हमने उन सबको विकृत-रूप ही नहीं बतलाया है। जब

ऐसा है, तब बार-बार उसी झूठी बात पर ज़ोर देना बहुत ही भद्दी बात है। आपने यह भी कहा है कि नवीन शब्द बनाने के लिये हमने विहारी को दोषी ठहराया है। यह भी ग़लत बात है। हमने तो केवल इतना कहा था कि विहारी में यह बात है। यह नहीं कहा था कि यह अवगुण है। यदि लाला साहब ने हमारे अन्य ग्रंथ देखे होते, तो वह जानते कि हम इसे गुण ही समझते हैं। कम-से-कम इतना तो करते कि जब हमने उसे अवगुण नहीं कहा, तो हमारे मुख में ऐसा कथन अपनी ओर से न रखते। अब, शब्दों के विषय में आपने जो कहा है, उस पर विचार किया जाता है। देखने में यह विवाद असंबद्ध समझ पड़ सकता है; किंतु विहारी की रचना के विषय में होने के कारण हम इसे मुख्य विषय से असंबद्ध नहीं समझते।

'हराहरहार' में हमने प्रभुदयाल के मतानुसार हराहरु का अर्थ हलाहल लगाया था। आप कहते हैं, इसे हराहरहार पढ़ना चाहिए, अर्थात् हार सर्प हो गया। तो भी हार को हरा कहना पड़ा है। इसमें भी शब्द की तोड़-मरोड़ मौजूद है।

विहारी ने अग्नि को अगिनि कहा अवश्य, परंतु इसे आप साधारण मरोड़-मात्र मानते हैं। जब मरोड़ मौजूद है ही, तब झगड़ा थोड़ा ही समझ पड़ता है। अच्छा, मान लिया कि अन्य कविगण भी 'अगिनि' का व्यवहार करते हैं, फिर भी लालाजी की लिखी सतसई की टीका में, २२४ नं० के दोहे में, अग्नि का रूप विहारी ने 'अगनि' लिखा है, जो असाधारण मरोड़ है। 'कुकत' के दोष की शांति आप पाठ-भेद से करते हैं। आपका कथन है कि 'नतरकु कत' शुद्ध पाठ है। किंतु इसमें भी वही आपत्ति मौजूद है; क्योंकि नतरकु कोई शुद्ध शब्द नहीं है। वास्तव में नतरु (नहीं तो) कु ऐसा शब्द है। अतः 'कु' अनावश्यक

हो जाता है ; क्योंकि 'नहीं तो' का भाव तो 'नतरु' से ही आ जाता है।

'रोज' का अर्थ हमने रोज़ा माना है । आप कहते हैं, रोज ब्रज में मातम को कहते हैं । ठीक है, हम भी मानते हैं। जब प्रभुदयाल ने भी यही अर्थ लिखा है, तब आपकी राय में हमें भी यह ज्ञात था। फिर भी हमने रोज़ा अर्थ लिखा। रोज मातम के अर्थ में एक-प्रांतीय शब्द है । हमारे प्रांत में मातम के अर्थ में नहीं बोला जाता। जायसी का जो छंद लिखा गया है, उसमें रोज का अर्थ रोज़ा भी लगाया जा सकता है। ऐसा एक-प्रांतीय शब्द हमें असाधारण समझ पड़ा। आप शायद इसे बहुत साधारण मानते हों। 'ईठि' विकृत रूप में है। 'खुँदी' से घोड़े के जमने का अर्थ लिया गया है। ये एक-देशीय अथवा असाधारण शब्द हैं। 'चिलक' हमारे प्रांत में बड़ी पीड़ा को कहते हैं। लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि अमुक को चिलक (दर्द) देकर पेशाब उतरता है, या अमुक अंग में चिलक (दर्द) है। बुँदेलखंड और ब्रज में इसका अर्थ चमक माना जाता है। हमें ऐसा प्रांतीय या संदिग्ध शब्द नापसंद है। 'चौंटत' भी एक-देशीय शब्द है। 'ऊलि' को आप झूलि कहकर दोष-शांति करते हैं, और अपनी टीका में उसका अर्थ लगाते हैं 'झड़ पड़ना'। झूलि का अर्थ झड़ना कहाँ से आया, सो आप ही जानें। झूलने में कोई वस्तु झड़ जाय, तो वह बात दूसरी है; परंतु अर्थ 'झड़ना' न होकर 'झूलना' ही रहेगा। झूलने का अर्थ लगाने से वह प्रसंग में नहीं बैठता । अतएव दोष-शांति नहीं होती ।

'गाँस'-शब्द को हमने अव्यवहृत समझा था। उसका कोई अर्थ हमने नहीं लिखा। किंतु आप कहते हैं कि हमने अशुद्ध अर्थ लिखा। आपकी राय में 'बूद', बीरबहूटी के अर्थ में, ब्रज में अब तक बोला

जाता है। हमने व्रजवासियों से पूछा, तो उन्होंने कहा—हमारे यहाँ बीरबहूटी, इंद्रबधू और राम की डोकरिया, ये शब्द इस अर्थ में माने जाते हैं, न कि बूढ़। संभवतः विहारी ने बूढ़ शब्द राम की डोकरिया से निकाला हो, अथवा किसी गाँव में बोला जाता हो। ऐसी दशा में यह शब्द निंद्य अवश्य है। 'संसो' का अर्थ उस दोहे में साँस या संशय, दोनों हो सकते हैं। शब्द मरोड़ा हुआ है, यह आप भी मानते हैं। 'तूठ्यो' की दोष-शांति आप उसे शुद्ध प्राकृत कहकर करते हैं; किंतु ग्रंथ हिंदी का है, प्राकृत का नहीं। 'हई', 'कैवा', 'डाढ़ी', 'रहचट', और 'लाय' को आप व्रज में प्रचलित बतलाते हैं; पर हमें व्रजवासियों से पूछने पर भी इनका चलन नहीं ज्ञात हुआ। आपको मालूम होगा। 'लाय'-शब्द आग के अर्थ में बुँदेलखंड में अवश्य प्रचलित है; परंतु एक-देशीय होने के कारण कविता में उत्तम नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध अँगरेज़ी-समालोचकों का भी मत है कि ऐसे प्रांतीय प्रयोग भाषा की अशिष्टता (Barbarity of Language) प्रकट करते हैं। कहा जा सकता है कि सतसई व्रज-भाषा में लिखी गई है। फिर भी साधु व्रज-भाषा का लिखना श्रेयस्कर है, ग्राम्य का नहीं। वैदिक साहित्य में अवध मध्य-देश कहलाता था। यह आर्य-सभ्यता का प्राचीन केंद्र है। जो अप्रयुक्त व्रज-भाषा अवध तक में न समझी जा सके, वह ठीक नहीं मानी जायगी। ग्रंथों में शिष्ट भाषा ही का आदर होता है। डाढ़ी-शब्द डाढ़ा (दौरहा आग) से निकला हुआ समझ पड़ता है। डाढ़ी को जली हुई के अर्थ में कहना ठीक नहीं समझ पड़ता। यदि कोई अपने मन का गढ़ा हुआ चाहे जो अर्थ कह दे, तो उसके प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ होने ही से हम ऐसी-ऐसी अनुचित बातों को उचित मानने के लिये तैयार नहीं हैं।

'लात्र', 'बींदि' और 'बाथ' को राजपूतानी शब्द बताकर आप उनका समर्थन करते हैं। फिर भी प्रांतिकता के कारण इनसे भाषा में अशिष्टता आती है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

'चुपरी', 'ज्यों', 'दीजतु', 'दुकाचित', 'नजकु', 'सँगी', 'औचि', 'कौरि' और 'तैन' की दोष-शांति आप पाठ-भेद से करते हैं। आपने यह कई बार कहा है कि प्रभुदयाल की प्रति भ्रष्ट होने के कारण हमको बिहारी की रचना में शाब्दिक दोष दिखलाने का मौक़ा मिला है। संवत् १९७८ में आपने भी बिहारी-सतसई की टीका प्रकाशित की है। अब हम उसी का पाठ शुद्ध मानकर कुछ और ऐसे शब्द भी दिखलाते हैं, जो पहले नहीं दिखलाए थे। आपके दोहों के नंबर शब्दों के सामने कोष्ठकों में लिखे जायँगे—

'लखि' (६) का शुद्ध अर्थ 'देखकर' है; किंतु इस दोहे में 'देखने के लिये' ऐसा निकलता है। यह असमर्थ-दूषण है। १३ नंबर के दोहे में 'लखि' का शुद्ध अर्थ आया है।

'लोपे' (१४) का अर्थ 'पूजा का लोप किए जाने पर' आपने लिखा है। यहाँ भी असमर्थ-दूषण है। लोपे के साथ पूजा का विचार जोड़े बिना दोहे का शुद्ध अर्थ भी नहीं लगता। 'दौन' और 'संक्रौन' (२५) के शुद्ध रूप 'दो' तथा 'संक्रांति' हैं। इनके रूप केवल तुक के लिये बिगाड़े गए हैं।

'नै' (२८) का शुद्ध रूप नदी है। (३१) में आपने 'जोर' का तुकांत 'और' रक्खा है। यह अशुद्ध है। यहाँ बिहारी की आत्मा शायद आप ही से फ़र्याद कर बैठे; क्योंकि शुद्ध शब्द जौर(ज़ुल्म) और उससे 'और' का ठीक तुकांत भी मिलता है। 'बर' ५२) बल के लिये आया है। 'मौरि' (७०) मौलि के लिये है। 'दौरि' (७५) उड़ने के लिये आया है। यहाँ भी असमर्थ-दूषण है। कुही शिकार खेलने में नीचे-नीचे दौड़ती नहीं, बल्कि उड़ती है।

'चीकनी' (८४) 'पुष्ट' अर्थ के लिये असमर्थ है। बहुत-सी कमज़ोर चीज़ें भी चिकनी हो सकती हैं।

'ससिहर' (१०८) 'शशधर' की ख़राबी है। 'हायल' (१११) 'घायल' के लिये है। 'अच्छ' (११७) 'अच्छी' का बिगाड़ा हुआ रूप है। 'बरी छबि' (१२१) में छबि बेचारी जल ही गई, किंतु अर्थ लिया गया देदीप्यमान होने का। असमर्थ-दूषण है।

'सोनजाय' (१४१) सोनजुही के लिये आया है। अरगट (१५०)=आड़ + गात्र=घूँघट, इस प्रकार 'अरगट' का अर्थ लगाया गया है। शब्द-विकृति घूँघट खोले खड़ी है। 'घन' (१५७) घन-सार का आधा अंश है। 'खरौंट' (१६०) 'खरोंच' की ख़राबी है। दुलहिनि (१७२) में आगे 'पर' और होना चाहिए। 'भोगवै' (१७५) 'भोगै' के लिये आया है। 'हरकी' (१८१) 'हटकी' का विकृत रूप है। 'अति आगि' (१८८) में क्रिया-विशेषण 'अति' विशेषण की तरह 'आगि' के लिये आया है। साँट (१९६) का अर्थ आपने सौदा बेंचना माना है। शायद आप इस 'सट्टे' का अपभ्रंश समझे हों। वास्तव में यह बुँदेलखंडी शब्द है; किंतु है बहुत अशिष्ट। इसका ऐसा प्रयोग होता है कि 'साले को खूब साँटा', अर्थात् खूब गाँठा या क़ब्ज़े में किया। ऐसे अशिष्ट (Slang) शब्द का व्यवहार गर्हित है।

'मूका' (२११) 'मोखा' की ख़राबी है। 'अगनि' (२२४) अग्नि का विगड़ा रूप है, और तनु की दीप्ति का अर्थ प्रकट करने को लाया गया है। विकृत रूप तथा असमर्थता, ये दोनों दूषण वर्तमान हैं।

'खटकति' (२५५) एकवचन है, किंतु बहुवचन होना चाहिए था; क्योंकि इसके कर्ता तीन हैं।

'दिन' (२६०) 'उस दिन' के लिये आया है। इसमें असमर्थ-दूषण है।

'बारद' (२६२) बारिद की ख़राबी हैं । आधीन (२६३) अधीन का रूप है । 'उपयजाय' (२६४) उड़ जाने के लिये आया है । यह शब्द वंग-प्रांत का है ; जो एक-देशीय होने से असाधारण माना जाता है । 'इन' (२७१) 'इनका' अर्थ बतलाने के लिये आया है ।

सबील (२७३) युक्ति के अर्थ में लाया गया है । इसका शुद्ध अर्थ है मार्ग । "भाई इसकी कोई सबील निकाल दो", ऐसे वाक्य में सबील का अर्थ युक्ति माना जा सकता है ; किंतु "बचै न बड़ी सबीलहू चील घौंसुआ माँसु ।" में युक्ति का अर्थ नहीं लगता ।

'धरहर' (२७५) धैर्य के लिये आया है । 'दिया लौं नादि उठति' (२७८) में नादि उठति सचेत होने के अर्थ में आया है ; किंतु नाद से शब्द-संबंधी अर्थ निकलता है, न कि सचेत होने का ।

'बरिबरि' (२८८) 'बकि-बकि' के लिये आया है, जो असमर्थ है । यदि बड़बड़ाने का भाव लाना था, तो उपयुक्त शब्द लाया जा सकता था । 'ढोरी' (२९४) 'आदत' के लिये कहा गया है । यह शब्द ढारने से निकला है, और आदत के अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ है । 'सैल' (३०८) 'सैर' का अपभ्रंश है । हित (३२४) 'हितू' या 'पति' का अर्थ प्रकट करने में असमर्थ है ।

'पिछान' (३२७) 'पहचान' का अपभ्रंश है । 'उसरत' और 'गुभरौट' (३४७) बिगड़े हुए शब्द हैं । 'सद' (३८९) 'स्वभाव' के अर्थ में आया है । 'पनिहा' (३९२) 'चोरी का पता लगानेवालों' के अर्थ में आया है । शुद्ध बुँदेलखंडी शब्द है 'पनाही' । जो धन लेकर किसी के चोरी गए हुए ढोरों का पता बताता है, उसको पनाही कहते हैं । इसी से कवि ने मनमाना शब्द 'पनिहा' गढ़ लिया होगा । 'ठिकठैन' (४१५) 'ठीक-ठाक' के लिये आया है । 'कटानि' (४१६) आसक्ति के लिये अशिष्ट है ।

'निघरघटौ' (४२१) 'निश्चय-पूर्वक घरघाट' के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। 'जानि' (४२३) का प्रयोग ज्ञानी के अर्थ में हुआ है। 'गहराइ' (४३१) गर्राने के लिये आया है।

'रली' (४३५) से 'रंगरलियों' का अर्थ-बोध कराया गया है। 'कैनि' (४३६)—'कोर्निश' का बिगाड़ा रूप—प्रार्थना के अर्थ में आया है। 'गहिली' (४४२) 'ग्रहिल' से निकालकर 'बावली' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'रचौंहैं' (४४४) प्रेम-युक्त होने के अर्थ में आया है। शुद्ध अर्थ किसी रंग में रचने का है। 'अचैन' (४६१) का प्रयोग बेचैनी के अर्थ में हुआ है । 'मिलान' (४८४) से 'मुक़ाम' का अर्थ लिया गया है, यद्यपि मुख्य अर्थ मिलने का है।

'जीगनन' (४६२) से जुगनुओं का बोध कराया गया है । 'सखी सबै ढिग जाति' (४६७) में कर्म-जाति एकवचन है, किंतु कर्ता 'सबै सखी' बहुवचन है। शुद्ध वाक्य यों होना चाहिए था—सब सखियाँ ढिग जाती हैं। 'छुतौ' (५०४) से 'आछत' के सहारे प्रस्तुत का अर्थ निकाला गया है। 'वै' (५१०) से 'उनकी' का अर्थ-बोध कराया गया है। 'आवटी' (५२३) 'औटी' का विकृत रूप है। 'सुधि द्याय प्यो' (५७८) में लाला साहब ने जो अर्थ लिखा है, उसमें सुध दिला करके आगे कुछ होने का वाक्यांश आवश्यक है; किंतु छंद में वह कुछ नहीं है। 'औथरे' (६४५)-शब्द 'उथले' के लिये आया है। 'तरहरि' (६७८) 'तले' के लिये कहा गया है ।

संभव है, कोई दूसरा विहारी का प्रेमी लाला साहब के लिखे हुए पाठों को भ्रष्ट कहकर हमारे उपर्युक्त कथनों में दूषण निकाले। ऐसा कुछ शब्दों में होना संभव भी है। पाठों का कितना भी ढकोसला निकाला जाय, हमारी समझ में विहारी का शब्द-प्रयोग निर्दोष नहीं प्रमाणित हो सकता। हमने विकृत शब्दों के उदाहरण एक-ही-एक दिए हैं। किंतु ग्रंथ-भर में ऐसे-ऐसे शब्द अनेक

बार आए हैं । यहाँ पर इतना और कह देना आवश्यक है कि साहित्य के गौरव के लिये भाषा पर उतना विचार नहीं हो सकता, जितना कि भाव पर। साहित्य-गौरव के निर्णय में भाषा का प्रभाव उतना अधिक नहीं है।

निम्न-लिखित छंदों में दूरान्वय-दोष मौजूद है—

"वेई गाड़ि गाड़ैं परीं, उपट्यो हारु हियै न ;
आन्यो मोरि मतंग मनु, मारि गुरेरन मैन।"
"जनकु धरत हरि हिय धरे, नाजुक कमला बाल;
भजत भार-भयभीत है, घन चंदन बनमाल।"
"कियो जु चिबुक उठायकै, कंपित कर भरतार ;
टेढ़ीयै-टेढ़ी फिरति, टेढ़ो तिलक लिलार।"
"ढीठ्यो दै बोलत, हँसत, प्रौढ़ बिलास अपोढ़ ;
त्यों-त्यों चलत न पिय नयन, छकए छकी नबोढ़।"

इन कुछ दोषों के होने पर भी इन कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। यथा—

"तेह तरेरो त्योर करि, कत करियत दग लोल ;
लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मनि-झलक कपोल।"

१६९, २७६, ३१२, ३१७ और ४७३ नंबर के छंद भी इस गुण के उदाहरण हैं। इन महाकवि ने इबारत-आराई भी खूब ही की है—

"कुंज-भौन तजि भौन कौ, चलिए नंद-किसोर ;
फूटत कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर।"
"केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप ;
गात-रूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप।"

विहारीलाल ने जमक और पद-मैत्री को बड़ा ही आदर दिया है, और इनका प्रयोग भी बड़ा मनोरंजक किया है। यह चमत्कार ५, २५, ४३, ७७, ८६, १५६, १८४, १८८, २००, २०१, २०२,

२२७, ३०६, ३३०, ३३२, ३३४, ३४२, ३५४, ३६०, ३६६, ४२३, ४४७, ५२१ और ६३० नंबर के छंदों में खूब देख पड़ता है, और साधारणतः सर्वत्र ही है—

"रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन;
अंजन-रंजन हूँ बिना खंजन-गंजन नैन।"
"तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान;
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी-समान।"
"गड़े बड़े छवि छाकु छकि, छिगुनी छोर छुटै न;
रहे सुरँग-रँग रँगि वहीं, नहँ दी महँदी नैन।"

दो-चार स्थानों पर इन्होंने पद-मैत्री के साथ चित्र-काव्य भी किया है। यथा—

"खेलन सिखए अलि भले, चतुर अहेरी मार;
काननचारी नैन-मृग, नागर-नरनु सिकार।"

परंतु शब्दों के बनाव में इन महाकवि ने उद्दंडता आदि गुण (?) भी हाथ से नहीं जाने दिए हैं। उद्दंडता का उदाहरण—

"फिरि-फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव;
अंग-अंग छवि-झौंर में, भयो भौंर की नाव।"

कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि विहारीलाल की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द रक्खे हैं कि अधिक विशद भाव न होने पर भी दोहा चमचमा उठता है। इसी प्रकार, जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।

विहारी ने स्त्रियों के तालाब में नहाने का ढंग, स्नान-समय की नज़ारेबाज़ी आदि का ऐसा वर्णन किया है कि वह आँखों-देखा-सा समझ पड़ता है—

"नहिं अन्हाय, नहिं जाय घर, चित चहुँट्यो तकि तीर ;
परस फुरहरी-लौं फिरति, बिहँसति, धँसति न नीर।"
"मुँह धोवति, पँडी घसति, हँसति अनगवति तीर ;
धँसति न इंदीबरनयनि, कालिंदी के नीर।"
"मुँह पखारि, मुड़हर भिजै, सीस सजल कर छ्वाय ;
मोरि उचै घूटैनु नै, नाय सरोबर न्हाय।"
"चितवत जितवत हित हिए, किए तिरीछे नैन ;
भीजे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न।"
"बिहँसति सकुचति-सी, दिए कुच आँचर बिच बाँह ;
भीजे पट, तट को चली, न्हाय सरोबर माँह।"

इन महाकवि ने कई काव्यांगों के बड़े ही साफ़ और उत्कृष्ट उदाहरण दिए हैं। यथा—

"छुटी न लाज, न लालचौ, प्यौ लखि नैहर-गेह ;
सटपटात लोचन खरे, भरे सकोच-सनेह।" (मध्या)

उपर्युक्त तीसरा और पाँचवाँ, दोनों दोहे 'स्वभावोक्ति' के अच्छे उदाहरण हैं।

"किती न गोकुल कुलबधू, काहि न केहि सिख दीन ;
कौने तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर-लीन।" (काकु)
"मन-मोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि ;
कुंज-बिहारी सों बिहरि, गिरिधारी उर धारि।" (परिकरांकुर)
"स्वारथ, सुकृत न, श्रम बृथा, देखि बिहंग बिचारि ;
बाज पराए पानि पर, तू पंछीन न मारि। (अन्योक्ति)
कालिह दसहरा बीतिहै, धरि मूरुख, जिय लाज ;
दुरयो फिरत कत बनन में, नीलकंठ, बिनु काज ?" (")
"माहिंन ये पावक प्रबल, लुवैं चलत चहुँ पास ;
मानहु बिरह बसंत के, ग्रीषम लेत उसास।" (उत्प्रेक्षा

"मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुँह न लखाय ;
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरत जाय।" (उन्मीलित)
"डीठि न परत समान दुति, कनक कनक-से गात ;
भूषन कर करकस लगे, परस पिछाने जात।" („)
"कंचन तन धन वरन बर, रह्यो रंग मिलि रंग ;
जानी जाति सुबास ही, केसरि लाई अंग।" („)
"अंग-अंग नग जगमगत, दीप-सिखा-सी देह ;
दिया बढ़ाए हू रहै, बढ़ो उजेरो गेह।" (अतिशयोक्ति)
"छाले परिबे के डरनि, सकत न हाथ छुआय ;
झिझकति हिए गुलाब के, झवाँ झवाँवत पाय।" („)

इन कवि ने अतिशयोक्ति में क़लम तोड़ दी है, विशेषकर कोमलता, उज्ज्वलता और विरह के वर्णनों में । ६६, २३४, २४१, २४३, ४२६, ४२७, ४२८, ४२६, ४३४, ४४८, ४७७ और ४२४ नंबर के छंदों में इसकी छटा देख पड़ेगी । इन महाकवि ने उपमाएँ बड़ी ही अच्छी और अनोखी खोज-खोजकर दी हैं, तथा उत्प्रेक्षाएँ और रूपक भी बड़े ही चोखे कहे हैं—

"भो मन मोहन-रूप मिलि, पानी में को लोन।"
"साईं-सिर कच सेत, ज्यों, बीत्यो चुनति कपास।"
"जाके तन की छाँह ढिग, जोन्ह छाँह-सी होति।"
"अरगट ही फानूस-सी परगट होति लखाय।"
"भरत ढरत, बूड़त तिरत, रहट-घरी-लौं नैन।"
"आली, बाढ़े बिरह, ज्यों, पंचाली को चीर।"

१७, २७, ३४, ४३, ५४, ६७, ७२, ८४, ६०, ११२, ११४, १२७, १२८, १६२, १६३, २२२, ३१०, ३२३, ३८०, ३६६, ४२२, ४४४, ४६३, ४६७, ४७१, ५२३, ५२५, ५४२, ५६४, ६४०, ६६६ और ६६७ नंबर के छंदों में इनकी उपमा, उत्प्रेक्षा

और रूपक का ज़ोर देख पड़ता है। इन्होंने सैकड़ों नए-पुराने रूपक और उपमाएँ कही हैं। जहाँ यह पुरानी उपमाएँ या रूपक कहते हैं, वहाँ भी अपनी विशेषता रख देते हैं। यथा—

"नीको लसत ललाट पर, टीको जड़ित जड़ाय ;
छबिहि बढ़ावत रबि मनो, ससि-मंडल में आय।"
"चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन ;
मानो सुरसरिता बिमल, जल उछलत जुग मीन।"

इन उत्प्रेक्षाओं में इन कविवर ने पुराने विचारों को कैसे नए कपड़े पहनाए हैं? बिहारी ने एक यह भी विशेषता रक्खी है कि सैकड़ों रूपक कहने पर भी, जहाँ तक हमें स्मरण है, एक भी तद्रूप-रूपक नहीं कहा। वास्तव में यथावत् रूपक अभेद ही है, तद्रूप में अंतर नहीं मिटता। इसीलिये शायद इन्होंने उसे पसंद नहीं किया। उपर्युक्त काव्यांगों के अतिरिक्त भी बिहारी ने बहुत-से अच्छे काव्यांग कहे हैं। काव्य के पूर्णज्ञ होने पर भी बिहारी उसकी रीतियों के पूरे पाबंद नहीं थे। मरणावस्था के कथन में रसाभास समझकर बहुतेरे कवि मूर्च्छा ही का वर्णन कर देते हैं (यथा—"नेक मरू करिकै चितई, जब चारि घरी लौं मरीयै धरी रही।"); परंतु बिहारी ने मरण का भी वर्णन कर दिया—

"कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्रानन के ईस ;
बिरह-ज्वाल जरिबो लखे, मरिबो भयो असीस।"

पंडित पद्मसिंह शर्मा इस दोहे का हमारा अर्थ अशुद्ध मानते हैं। आप इसका यों अर्थ लगाते हैं कि "उसे विरह-ज्वाला में जलती देखकर मरना असीस (आशीर्वाद) के समान है।" भेद इतना ही है कि आप 'असीस के समान है' कहते हैं, किंतु कवि कहता है कि 'असीस भयो' (हो गया)। मरिबो क्रिया है, नाम नहीं। क्रिया पूर्ण हो गई। मरना आशीर्वाद हो गया।

यदि इसमें भी क्रिया अपूर्ण ही मानी जाय, तो कष्ट-कल्पना की हद हो गई।

सिवा संस्कृत के कवि कालिदास के और कवियों ने प्रायः गर्भवती नायिका का वर्णन नहीं किया। पर विहारी ने वह भी कहा है—

"दृग थरकोहैं अध-खुले, देह थकोहैं डार,
सुरति-सुखित-सी देखिए, दुखित गरभ के भार।"

विहारी की दृष्टि संसार-भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी, और यह महाशय अपने मतलब की बात खूब देख लेते थे। इन्होंने रंगों और उनके मिलाव का बड़ा श्लाघ्य वर्णन किया है। यथा—

"मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय;
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय।"
"सोनजुही-सी होति दुति, मिलत मालती माल;"
"देखी सोनजुही फिरत, सोनजुही-से अंग;
दुति लपटनु पट सेतहूँ, करत बनौटी रंग।"
"अधर धरत हरि के परति, ओठ दीठि पट जोति;
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्र-धनुष-रँग होति।"
"सोनजुही-सी जगमगै, अँग-अँग जोबन-जोति;
सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग देह-दुति होति।"
"कंचन तन धन बरन बर, रह्यो रंग मिलि रंग;
जानी जाति सुबास हीं, केसरि लाई अंग।"

इन कविवर ने रंगों के साथ संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया है, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है। और, निम्न-लिखित दोहे इस गुण के प्रधान उदाहरण हैं—

"रह्यो मोहु, मिलनो रह्यो, यों कहि गहे मरोर;
उत दै अलिहि उराहनो, इत चितई मो ओर।"
"छल सों चली छुआयकै, छिनकु छबीली छाँह;"
"ज्यों-ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों-त्यों खरी उताल;
झमकि-झमकि टहलैं करै, लगी रहचटैं बाल।"
"सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिन मन नीठि;
कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हसौंहीं डीठि।"
"लरिका लेबे के मिसन, लंगर मो ढिग आय;
गयो अचानक आँगुरी, छाती छैल छुआय।"
"ज्यों उझकति, झाँपति बदन, बिहँसति अति सतराय,
त्यों गुलाल झूठी मुठी, झुठकावत प्यौ जाय।"
"ज्यों-ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति,नचावति नैन,
त्यों-त्यों परम उदारहू, फगुआ देत बनै न।"
"बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय;
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय।"

इन अंतिम तीन दोहों में इन कवि ने घंटे-घंटे-भर की बात-चीत एक-एक दोहे में भर दी है। इनका प्रकृति-निरीक्षण इन दोहों से भी प्रकट होगा—१, ६, २३, २६, २८, ३०, ३७, ३८, ४०, ४१, ४२, ४८, ६१, ६५, ६८, १३६, १६८, १९६, २३९, २७१, २८०, ३३५, ३६१, ४१३, ४४४, ४६३, ४६५, ५०९, ५१३, ५४१, ५५१, ६०९, ६५१, ६५२, ६५४, ६६३, ६६४, ६६९, ६८१, ६८६, ६९०, ६९२, ६९३, १८, १९, २२, ५९, १५०, ४०६, ७११, १३४, २१५, ७६, १०५ इत्यादि। इन कवि ने प्रकृति-निरीक्षण में अपना काइयाँपन भी प्रकट किया है, और इनके दोहों के साथ प्रकृति और काइयाँपन बराबर मिले हैं। मानुषी प्रकृति के संबंध की जितनी बातें इन महाकवि ने लिखी हैं, और जितने चोज़ निकाल-

कर इन्होंने रख दिए हैं, उनके आधे भी शायद हिंदी-भाषा का कोई अन्य कवि नहीं कर सका होगा। इन सात सौ दोहों में खूबियाँ ठूँस-ठूँसकर भरी हुई हैं। परंतु इनके प्रकृति-पर्यवेक्षण में बहुधा अश्लीलता भी मिल जाती है। देखिए नंबर ५, १६८, २२८, २८१, २८२, २६५ इत्यादि।

"विहँसि, बोलाय, लगाय उर, प्रौढ़ तिया रस घूमि ;
पुलकि, पसीजति पूत को, प्यौ-चूम्यो मुँह चूमि।"

यहाँ पुत्र में भी पति-भाव आ गया है, जो निंद्य है।

"भीगे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न।"

कवियों ने कहा है—'देखि परै औ दुराव रहै कवि तोष सोई कविता मन भावै ;' परंतु विहारी ने दो-चार स्थानों पर बिलकुल साफ़ कह दिया है। इनके प्रकृति-पर्यवेक्षण में केवल एक स्थान पर ग़लती समझ पड़ती है—

"पावस घन-अँधियार महँ, रह्यो भेद नहिं आन ;
राति-द्यौस जान्यो परत, लखि चकई-चकवान।"

परंतु वर्षा-ऋतु में भारत में चक्रवाक नहीं होते। बहुत-से लोग कष्ट-कल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं ; किंतु हम उस अर्थ को अग्राह्य मानते हैं। शर्मांजी का प्रश्न है कि वे क्या होते हैं ? उत्तर यही है कि वे भारत के बाहर कहीं चले जाते हैं।

इन महाकवि ने रूप-वर्णन में सीधा, सादा, सच्चा रूप ही दरसा दिया है। सिवा देव के और कोई भी कवि ऐसा रूप नहीं दिखा सका। देखिए नंबर ५२, २३५, १५१, ३१२ पद्य इत्यादि।

"कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ ;
जगत तपोबन-सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ।"

कहते हैं, यह छंद एक तसवीर को देखकर बना था।

"चलत देत आभरन सुनि, वही परोसिहि नाँह ;
लसी तमासे के दृगनि, हाँसी आँसुन माँह।"

मानुषी और विशेषकर नागर के वर्णन में इन्होंने सुकुमारता को भी खूब रक्खा है—

"जनकु धरत हरि हिय धरे, नाजुक कमला बाल ;
भजत भार-भय-भीत ह्वै, घन, चंदन, वन-माल।"
"झिझकत चित्त गुलाब के, झवाँ झवाँवति पायँ।"

नागरी नायिकाओं के अतिरिक्त इन्होंने ग्राम्य नायिकाओं का भी वर्णन अच्छा किया है—

"गोरी गदकारी परै, हँसत कपोलनि गाड़ ;
कैसी लसति गँवारि यह, सोनकिरवा की आड़।"
"पहला-हारु हिए लसै, सन की बेंदी भाल ;
राखति खेत खरी-खरी, खरे उरोजनि बाल।"

परंतु ग्रामीण नायिकाओं की इन्होंने सदा निंदा की है—

"नागरि सकल बनाव तजि, बसी गमेलिन माह ;
मूढ़नि मैं गिनबी न तो, हूठ्यो दै इठलाह।"
"करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि ;
रे गंधी, मति-अंध, तू, इतर देखावत काहि ?"

इन कवि ने मद्य-पान का बड़ा ही बढ़िया वर्णन किया है, और इनकी रचना में ज्योतिष का भी यत्र-तत्र समावेश हुआ है—

"तिय तिथि, तरुन-किसोर बय, पुन्य-काल सम दोनु ;
पूरे पुन्निनु पाइयतु, बैस-संधि संक्रोनु।"

दो-चार और स्थानों पर भी ज्योतिष-मिश्रित वर्णन आए हैं। प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन में यह कविवर भाषा-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ हैं।

इनके दोहों में उत्कृष्ट पद्यों की गणना करनी कठिन है।

क्योंकि इनके आधे से अधिक दोहे अच्छे हैं, और कोई एक भी दोहा ऐसा नहीं है, जो ख़राब कहा जा सके। अच्छे पद्यों के बाहुल्य ही से यह ग्रंथ रामायण के बाद सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। विशद पद्यों के उदाहरण लेख के अंत में हैं। कुछ उदाहरण यहाँ भी लिखे जाते हैं—

"बरन, बास, सुकुमारता, सबही रही समाय ;
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाय।"
(मीलित अलंकार)

"लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि-गहि गहब गरूर;
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।"
"सायक-सम घायक नयन, रँगे त्रिबिध रँग गात ;
झखौ निरखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।"
"मो हिय को छुटि मान गो, निरखत ही व्रजराज ;
रही घरिक लौं मान-सी, मान किए की लाज।"
"बहै सदा पसु नरन को, प्रेम-पयोधि पगार ;
गिरि ते ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजार।"

इन्होंने अपने बहुत-से ऐसे ऊँचे और ख़ास विचार लिखे हैं कि इनके चातुर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। देखिए ७१, ७२, ८२, ८३, १०६, १६२, १६७, २४०, ३०६, ३३८, ४०२, ४७५, ५३२, ७०० नंबर इत्यादि के दोहे।

"करत मलिन आछी छबिहि, हरत जु सहज बिकासु ;
अंगराग अंगनि लग्यो, ज्यों आरसी उसासु।"
"पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत यहि हेत ;
दरपन के-से मोरचे, देह दिखाई देत।"
"अंग-अंग प्रतिबिंब परि, दरपन-से सब गात ;
दोहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात।"

"डीठि बरत बाँधी अटनि, चढ़ि धावत, न डरात ;
इतै-उतै मन दुहुँन के, नट-लौं आवत-जात ।"
"जूठे जानि न संग्रहे, मनु मुँह निकसे बैन ;
याही सों मानो किए, बातन को बिधि नैन ।"
"बिरह-बिकल बिन ही लिखी, पाती दई पठाय ;
आँक-बिहीनीयै सुचित, सूने बाँचत जाय ।"
"पत्रा ही तिथि पाइयत, वा घर के चहुँ पास ;
नित-प्रति पून्योई रहै, आनन ओप-उजास ।"

ऊँचे ख़याकात भी देखने योग्य हैं—

"वाहि लखे लोयन लगै, कौन जुवति की जोति ;
जाके तन की छाँह ढिग, जोन्ह छाँह-सी होति ।"

दूर की कौड़ी भी अच्छी लाते थे—

"भई जु तन छबि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन ;
अंग-ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न ।"

बारीक ख़यालात भी ख़ूब ही रक्खे हैं—

"मानहु बिधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे-काज ;
दृग-पग पोंछन को किए, भूषन पायंदाज ।"
"भींगे तन दोऊ कँपत, क्यों हूँ जपु निबरै न ।"

इनकी विशेषताएँ भी द्रष्टव्य हैं। ऊपर लिखे हुए दोहों में 'पहिरि न भूषन' देखिए। इन्होंने संयोगादि के दो-एक चोज़ भी कहे हैं, जो देखने योग्य हैं—

"नहिं हरि-लौं हियरा धरौं, नहिं हर-लौं अरधंग ।
एकत हो करि राखिए, अंग-अंग प्रति अंग ।"

इसे पढ़कर—

"मन तो शवम् तो मन् शवी, मन् तन् शवम् तो जाँ शवी ;
ता कस न गोयद बादऽज़ीं, मन् दीगरम् तो दीगरी ।"

याद आता है। इन्होंने बहुत-से ऐसे विचार और भाव लिखे हैं कि बड़े-बड़े कवियों ने भी इनके सामने उनके लिये हाथ फैलाए हैं। एकआध स्थान पर इन्होंने औरों के भी कुछ भाव लिए हैं। देखिए—

"नई लगनि, कुल की सकुच, बिकल भई अकुलाय ;
दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी-लौं दिन जाय।" (विहारी)

"धाई फिरै फिरकी-सी दुहूँ दिसि, 'देव' दुवौ गुन जोरिकै ऐंची।" (देव)

"पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी।" (देव)

"बाल काहि लाली भई, लोयन कोयन माँह ;
लाल तिहारे दृगनि की, परी दृगन में छाँह"। (विहारी)

"काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे।" (देव)

"नेह न, नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय ;
नीर-भरे नित-प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय।" (विहारी)

"छलकै चहूँधा अश्रुजल को प्रवाह, पै न नेकु बिरहागिनि की तपनि बुझाय है।"
(दूलह)

"नैना धैना करत हैं, उरज उमेठे जाहिं।" (रहीम)
"लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिं।"

यह भाव विहारी ने लिया है—

"भई रहति नट को बटा अटकी नागरि नेह।" (विहारी)

"भूतल ते नभ, नभ ते अवनी अगु उछलै नट का बटा हुआ।" (सीतल)

"सायक-सम घायक नयन, रँगे त्रिबिध रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।" (विहारी)

"कंज सकोच गड़े रहैं पंक मैं, मीनन बोरि दियो दहनीरन।" (दास)

उठे राम अति प्रेम अधीरा ; कहुँ धनु, कहुँ निषंग, कहुँ तीरा।"
(तुलसीदास)

"कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ;

कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट, बनमाल ।"

विहारी ने यह भाव लिया है—

"जहि व्रज केलि निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग ।" (विहारी)

इस भाव पर केशव, पद्माकर एवं अन्य कई कवियों ने कहा है। भाव केशवदास का है ।

"पिय के ध्यान गही गही, रही वही है नारि ;

आप आप ही आरसी, लखि रीझति रिझवारि ।" (विहारी)

"स्याम-ही-स्याम रही रटिकै, पुनि ह्वै गई मूरति नंदकिसोर की ।"

(पद्माकर)

"भरि गुलाल की मूठि सों, गई मूठि-सी मारि ।" (विहारी)

"डीठि-सी डीठि लगी इनके, उनके लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की ।"

(पद्माकर)

"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः

साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः" । (भर्तृहरि)

"तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग ;

अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग ।"

विहारी ने यह भाव लिया है—

लाला भगवानदीन इस स्थान पर इतने चकित हुए हैं कि उनकी समझ में हमने विहारी से पीछे होनेवाले कवियों से भाव चुराने का दोष विहारी पर लगाया । कितना बड़ा आश्चर्य है ! आपने अपना यह विचार केवल श्रीशारदा-पत्रिका में ही नहीं छपवाया, अपनी विहारी-बोधिनी पुस्तक में भी लिखा है । हमने तो पहले ही लिखा है कि बड़े-बड़े कवियों ने भी विहारी के सामने भावों के लिये हाथ फैलाए हैं । उसी कथन के उदाहरण दिए गए हैं। पैरे के अंत में यह भी लिखा है कि विहारी ने भी कभी-कभी भाव लिए हैं । दोनों बातों के उदाहरण दिए गए हैं । जिसका भाव

है, उसका छंद पहले लिखा गया है, और नक़ल करनेवाले का पीछे ।

इतने बड़े शृंगारी कवि होकर इन्होंने कुछ पद्य भक्ति के भी लिखे हैं। इनका अद्वैत मत जान पड़ता है; परंतु इनको भक्त कहना वितंडा-मात्र है, जब कि यह स्वयं लिखते हैं—

"ताहि देखि मन तीरथनि, विकटनि जाय बलाय ;
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसति पाय ।"

इनके भक्तिवाले पद्यों के ये उदाहरण हैं—

"मोर मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल ;
यहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ।"
"मैं देख्यो निरधार, यह जग काचो काँच-सो ;
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत तहाँ ।"
"जप-माला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम ;
मन काँचे, नाचे वृथा, साँचे राचे राम ।"
"ब्रजबासिन को उचित धन, जो घनरुचि तन कोय ;
सु चित न आयो सुचितई, कहौ कहाँ ते होय ?"

सूमपने के भी यह कवि प्रतिकूल थे—

"मीत न नीत, गलीत यह जो धरिए धन जोरि ;
खाए-खरचे जो बचै, तौ जोरिए करोरि ।"
"जेती संपति कृपन के, तेती सूमति जोर ;
बढ़त जात ज्यों-ज्यों उरज, त्यों-त्यों होत कठोर ।"

यह कवि ऐसे खरे आदमी थे कि इन्होंने महाराजा जयपुर के यहाँ रहते हुए भी अपना ग्रंथ उनके नाम पर नहीं बनाया, और उनकी प्रशंसा में केवल ७ या ८ दोहे कहे। उसके साथ कलि के दानियों की निंदा भी कर दी। इससे जान पड़ता है कि इन कवि का अच्छा मान जयपुर में भी नहीं हुआ। भूषण विहारी से

कवित्व-शक्ति में कम थे ; परंतु उनके शिवाजी-संबंधी पद्य विहारी के जयसाहिवाले पद्यों से कहीं अच्छे हैं। इससे जान पड़ता है कि बढ़िया पद्य केवल इच्छा से नहीं बनते, जब चित्त से उसके विषय में उमंग और उत्साह उठता है, तभी वैसे पद्य बनते हैं। विहारी ने शिवाजी की पराजय का हाल स्पष्ट नहीं लिखा, यद्यपि ख़ास जयसाहि ने उन्हें हराया था। इससे जान पड़ता है, मुग़लों की ओर से जयसाहि का शिवाजी से लड़ना इन्हें भला नहीं लगा। इस बात से प्रच्छन्न रूप में इनका जातीय प्रेम भी देख पड़ता है। कलियुग के दानियों की यों निंदा हुई है—

"कब को टेरत दीन रट, होत न स्याम सहाय ;
तुम हूँ लागी जगतगुरु, जगनायक, जग-बाय।"
"थोरेई गुन रीझवी, विसराई वह बानि ;
तुम हूँ कान्ह मनो भए, आजु कालिह के दानि।"

विहारी ने अपनी कविता में धर्म-संबंधी आचार-विचारों एवं ऐतिहासिक घटनाओं का भी बहुत हवाला दिया है। इसी प्रकार लोगों के विश्वासों पर भी इनके कई पद्य अवलंबित हैं—

"पूस-मास सुनि सखिन पै, साईं चलत सवार ,
लै कर बीन प्रबीन तिय, गायो राग-मलार।"

इसमें विश्वास यह है कि मलार गाने से पानी बरसे, और पूस की वृष्टि अकाल-वृष्टि है। इस पर विश्वास है कि जो अकाल-वृष्टि के दिन घर से चले, उसकी अकाल-मृत्यु हो। सो मलार गाने से पति न जा सकेगा।

"फिरत काग-गोलक भयो, दुहूँ देह जिय एक।"—इसमें यह विश्वास है कि कौए की आँख का गोला एक ही होता है, और वह इच्छानुसार उस गोले को किसी भी आँख में लाकर देख सकता है। पर वास्तव में यह बात नहीं है। "कछु जानत जल-थंभ-विधि,

दुरजोधन-लौं लाल।"—कहा जाता है, दुर्योधन जल-स्तंभन-विधि जानता था। विहारी ने अंतिम शतक में कुछ दोहे नीति और शिक्षा के भी अच्छे कहे हैं।

"जो सिर धरि महिमा मही, लहियत राजा-राय,
प्रगटत जड़ता आपनी, सु मुकुट पहिरत पाय।"
"सीतलता रस बास की, घटै न महिमा मूर;
पीनसवारे जो तजैं, सोरा जानि कपूर।"
"बड़े न हूजै गुननि बिनु, बिरद बड़ाई पाय;
कनक धतूरे सों कहत, गहनो गढ़ो न जाय।"
"कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय।"
"बढ़त-बढ़त संपति-सलिल, मन-सरोज बढ़ि जाय;
घटत-घटत पुनि सु न घटै, बरु समूल कुम्हिलाय।"

इन महाकवि ने यत्र-तत्र अपनी कविता में मज़ाक़ भी खूब रक्खे हैं। इसके उदाहरण हर जगह मिलेंगे।

विहारीलाल ने आँखों का भी खूब वर्णन किया है। बहुत-से दोहे प्रधान अथवा गौण रूप से आँखों के विषय में हैं। इन्होंने नेत्रों की लड़ाई का भी कथन किया है। आँखों में आँख लगने से आँख नहीं लगती, डीठि में डीठि पड़ने से डीठि किरकिरी हो जाती है, इत्यादि इनके बड़े रुचिकर विषय हैं। कई स्थानों पर इन्होंने कानन (जंगल), कान, और नैन का संबंध दिखाकर वर्णन किए हैं। साधारण-सी बात भी विहारी इस तरह कहते हैं कि वह बहुत बढ़िया लगती है। इन्होंने रुखाई और चिकनाई का साथ-साथ खूब वर्णन किया है—"रूखे कैसे होत ये, नेह-चीकने नैन!" दोहा एक बहुत ही छोटा छंद है, अतः उसमें यह गुण है कि थोड़ी-सी भी उत्तमता होने से वह चमक उठता है।

यदि सवैया या घनाक्षरी में उतनी ही उत्तमता हो, तो शेष अंश में भरती के पद लाने पड़ेंगे, जिससे कुल छंद शिथिल हो जायगा। इस कारण भी बिहारी के दोहे बड़े भले लगते हैं, और इनका यश उज्ज्वल बनाए हुए हैं। परंतु फिर भी यह असंभव है कि बिहारी ने समस्त जीवन रचना करके भी केवल ७०० दोहे ही बनाए हों। हमारा तो अनुमान है कि इन्होंने हज़ारों दोहे बनाए होंगे; उनमें से ये ७०० दोहे चुन लिए, और शेष साधारण या शिथिल दोहों का मोह न करके उन्हें नष्ट कर डाला। कविजन अपने बुरे पद्यों पर भी पुत्र-वत् स्नेह रखते हैं; परंतु बुरे लड़कों की भाँति भले लड़कों का भी भाग बँटाकर वे पैतृक संपत्ति छिन्न-भिन्न कर देते हैं। यदि बिहारी के चार-पाँच हज़ार दोहे होते, और उनमें से ये ७०० अच्छे होते, तो इनका उतना नाम कभी न होता, जितना कि केवल ७०० परमोत्कृष्ट दोहों के होने से हुआ। निकृष्ट पद्य बोझ की भाँति सत्कवि को भी थकाकर डुबो देते हैं, पर मोहवश कविगण उस बोझ को फेंक नहीं सकते। बिहारी उस बोझ को फेंककर यश के समुद्र में ऊँचे तैर रहे हैं।

इनकी कविता में काइयाँपन भरा पड़ा है। अतः उसमें इशारेबाज़ी की भी कोई हद नहीं है। इनके पद्य इतने अच्छे हैं कि बहुत-से मसले-से हो गए हैं—'बातै हाथी पाइए, बातै हाथी पाँव' इत्यादि। इनके सामयिक दोहे प्रायः मौक़े-मौक़े पर कहे जाते हैं।

हिंदी में केवल बिहारीलाल ने उर्दू के ढंग की भी कविता की है, और इन्हें उसमें कृतकार्यता मिली है। इनके बराबर किसी ने भी चोज़ नहीं कहे, और इनकी कविता सब सत्य है। यह आपबीती खूब कहते थे, और जग-बीती भी खूब देखते थे। खिय

के कोमल स्वभाव के विषय में इन रसिक-शिरोमणि का निष्कर्ष दर्शनीय और प्रत्येक विवाहित मनुष्य के पूर्णतया ध्यान देने योग्य है—

"पति ऋतु औगुन गुन वढ़त, मान माह को सीत ;
जात कठिन ह्वै अति मृदौ, रवनी-मन-नवनीत ।"

इसी प्रकार की बातों के बाहुल्य के कारण सतसई पढ़ने में चित्त कभी उकताता नहीं है। यह बड़ा ही चित्ताकर्षक ग्रंथ है। इसके कुछ दोहे तो ऐसे हैं कि उनके तात्पर्य थिएटरों में ऐक्ट करने के योग्य हैं। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप वे तीन दोहे समझने चाहिए, जो ऊपर प्रकृति-पर्यवेक्षणवाले उदाहरणों के अंत में लिखे गए हैं। जयपुर के आमेरगढ़ांतर्गत शीश-महल का भी इन्होंने बड़ा अच्छा वर्णन किया है।

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति-दीपति दर्पन-धाम ;
सब जग जीतन को कियो, काय-व्यूह मनु काम ।"

इस शीश-महल को हमने भी देखा है। इसमें हज़ारों छोटे-छोटे अंगुल-अंगुल डेढ़-डेढ़ अंगुल के शीशे लगे हैं। हर ओर दर्शक का स्वरूप देख पड़ता है, और सचमुच यह जान पड़ता है कि काय-व्यूह-सा बना है। इसकी उपमा बड़ी ही सच्ची है।

विहारी ने बहुत-सी बातों का वर्णन किया है; परंतु स्त्री को यह सबसे अधिक चित्ताकर्षिणी समझते हैं—

"यक भीजे, चहले परे, बूड़े, बहे हजार ;
किते न औगुन जग करै, नै वै चढ़ती बार !
ताहि देखि मन तीरथनि, बिकटनि जाय बलाय ;
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसति पाँय ।"

कुछ बातें सोचकर हम विहारी को एक बड़ा सत्कवि समझते हैं। तुलसीदास, सूरदास और देव को छोड़कर यह महाशय

सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इनकी कविता के उदाहरण-स्वरूप दोहे आगे लिखे जाते हैं—

रति-द्यौस हौसै रहै, मान न ठिक ठहराय;
जेतो औगुन ढूँढ़िए, गुनै हाथ परि जाय।
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोवन अंग;
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता-रंग।
अपने अँग के जानि कै, जोबन-नृपति प्रबीन;
स्तन, मन, नैन, नितंब को, बड़ो इजाफा कीन।
अर ते टरत न बर परे, दई मरक मनु मैन;
होड़ा-होड़ी बढ़ि चले, चित चतुराई नैन।
बाढ़त तो उर उरज-भरु, भर तरुनई बिकास;
बोझन सौतिन के हिए, आवति रूँधी उसाँस।
मानहु मुख-दिखरावनी, दुलहिनि करि अनुराग;
सासु सदन, मन ललन हूँ, सौतिन दियो सोहाग।
देह दुलहिया की चढ़ै, ज्यों-ज्यों जोबन-जोति,
त्यों-त्यों लखि सौतिन सबै, बदन मलिन दुति होति।
ज्यों-ज्यों जोबन जेठ-दिन, कुचमिति अति अधिकाति,
त्यों-त्यों छिन-छिन कटि-छपा, छीन परति नित जाति।
समरस समर सकोच-बस, बिबस न ठिक ठहराय;
फिरि-फिरि उझकति,फिरि दुरति, दुरि-दुरि उझकति जाय।
छला छबीले लाल को, नवल नेह लहि नारि,
चाहति, चूमति लाय उर, पहिरति, धरति उतारि।
सटपटात-सी ससिमुखी, मुख घूँघुट-पट ढाँकि;
पावक-झर-सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि।
कोटि जतन कीजै तऊ, तन की तपनि न जाय,
जौ लौं भीजे चीर ज्यों, रहै न प्यो लपटाय।

दुखहायनु चरचा नहीं, आनन-आनन आन ;
लगी रहति ढूका दिए, कानन कानन कान।
पहुँचति झट रन सुभट-लौं, रोकि सकैं सब नाहिं ;
लाखन हूँ की भीर मैं, आँखि तहीं चलि जाहिं।
अपनी गरजन बोलियत, कहा निहोरो तोहि ;
तू प्यारो मो जीय को, मो जिय प्यारो मोहि।
केसर केसरि-कुसुम के, रहे अंग लपटाय ;
लगे जानि नख अनखुली, कत बोलति अनखाय।
कर मूँदरि की आरसी, प्रतिबिंब्यो प्यो आय ;
पीठि दिए निधरक लखै, इकटक डीठि लगाय।
अंजन करि खंजन-नयनि, बैठी ब्यौरति बार ;
कच अँगुरिन बिच दीठि दै, चितवति नंदकुमार।
औरै ओप कनीनिकनि, गनी घनी सिरताज ;
मनी धनी के नेह की, बनी छनी पट लाज।
रुख रूखी मिस रोख मुख, कहति रुखौंहे बैन ;
रूखे कैसे होत ये, नेह-चीकने नैन।
लखि लोने लोइननु के कोयनु होय न आजु ;
कौन गरीब निवाजिबो, कित तूठ्यौ ऋतुराजु।
फिरि-फिरि दौरत देखिए, निचले नैक रहैं न ;
ये कजरारे कौन पै, करत कजा की नैन?
सन सूख्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊँखौ लई उखारि ;
अरी हरी अरहरि अजौं, धरि धरहरि जिय नारि।
कहा कुसुम की कौमुदी, कितक आरसी जोति ;
जाकी उजराई लखे, आँखि ऊजरी होति।
रंच न लखियत पहिरियो, कंचन-से तन बाल ;
कुम्हिलानी जानी परति, उर चंपे की माल।

सघन कुंज घन घन तिमिर, अधिक अँधेरी राति ;
तऊ न दुरि है स्याम यह, दीप-सिखा-सी जाति ।
अंग-अंग छबि की लपट, उपटति जाति अछेह ;
खरी पातरी हू तऊ, लगै भरी-सी देह ।
चुनरी स्याम सतार नभ, मुख ससि की अनुहारि ;
नेह दबावत नींद-लौं, निरखि निसा-सी नारि ।
इती भीर हू भेदि कै, कितहू ह्वै इत आय ;
फिरै दीठि जुरि दीठि सों, सबकी दीठि बचाय ।
चितई ललचौंहैं चखन, डटि घूँघट-पट माँह ;
छल सों चली छुवाय कै, छिनकु छबीली छाँह ।
चिलक चिकनई चटक सों, लफति सटक लौं आय ;
नारि सलोनी साँवरी, नागिनि-लौं डसि जाय ।
मैं हौं जान्यों लोयननु, जुरत बाढ़िहै जोति ;
को हो जानतु डीठि को, डीठि किरकिटी होति ।
दगनि लगत, बेधत हियहि, बिकल करत अँग आनु ;
ये तेरे सबते बिषम, ईछन तीछन बानु ।
कहत सबै कबि कमल-से, मो मत नैन पखान ;
नतरुकु कत इन घिसि लगत, उपजत बिरह-कृसान ।
है हिय रहत हई छई, नई जुगुति जग जोय ;
डीठिहि डीठि लगे दई, देह दूबरी होय ।
इन अँखियाँ दुखियान को, सुख सिरज्योई नाहिं ;
देखे बनै न देखिबो, बिन देखे अकुलाहिं ।
चकी जकी-सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि ;
कहूँ दीठि लागी, लगी कै काहू की दीठि ।
जस-अपजस देखत नहीं, देखत स्यामल गात ;
कहा करौं, लालच-भरे, चपल नैन चलि जात ।

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ;
ये मुँहजोर तुरंग-लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं।
उड़ी गुड़ी लखि लाल की, अँगना अँगना माँह ;
बौरी-लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह।
चलत घैरु घर-घर, तऊ, घरी न घर ठहराय ;
समुझि वही घर को चलै, भूलि वही घर जाय।
छुटन न पैयतु बसि छिनकु, नेह-नगर यह चाल ;
मार्‍यो फिरि-फिरि मारिए, खूनी फिरै खुस्याल।
क्यों बसिए, क्यों निबहिए, नीति-नेह पुर माँहिं ;
लगालगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहिं।
नेकौ वह न जुदी करी, हरषि जुदी तुम माल ;
उर ते बास छुट्यो नहीं, बास छुटेहू लाल।
जहाँ-जहाँ ठाढ़ो लख्यो, स्याम सुभग सिरमौर ;
बिनहूँ उन छिनु गहि रहत, दगन अजौं वह ठौर।
सघन कुंज, छाया सुखद, सरसिज-सुरभि समीर ;
मन ह्वै जात अजौं वहै, उहि यमुना के तीर।
फिरि-फिरि बूझत कहु कहा, कह्यो साँवरे गात ;
कहा करत, देखे कहाँ, अली चली क्यों बात ?
मन न धरति मेरो कह्यो, तू आपने सयान ;
अहे परनि पर प्रेम की, परहथ पारि न प्रान।
चित-बित बचत न, हरत हठि, लालन दग बरजोर ;
सावधान के बटपरा, ये जागत के चोर।
नावक सर-से लाय कै, तिलक तरुनि इत ताकि ;
पावक-झर-सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि।
उर लीने अति चटपटी, सुनि मुरली-धुनि धाय ;
हौं निकसी हुलसी सु तौ, गो हुलसी उर लाय।

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजि जात ;
भरे भौन में कहत हैं, नैनन हीं सों बात।
जुरे दुहुन के दृग झमकि, रुके न झीने चीर ;
हलकी फौज हरौल ज्यों, परत गोल पर भीर।
वूझ्यो खरे समीप को, लेत मानि मन मोद ;
होत दुहुन के दृगन हीं, बतरस, हँसी-विनोद।
यदपि चवाइन चीकनी, चलति चहूँ दिसि सैन,
तदपि न छाँड़त दुहुन के, हँसी रसीले नैन।
घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलिपुंज ;
जमुना-तीर तमाल-तरु, मिलत मालती-कुंज।
छ्वै छिगुनी पहुँच्यो गहत, अति दीनता दिखाय ;
बलि बावन को ब्यौंत सुनि, को बलि तुम्हैं पत्याय ?
सहज सचिक्कन, स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार ;
गनत न मन पथ अपथ लखि, बिथरे सुथरे बार।
वेई कर ब्यौरनि वहै, ब्यौरे कौन बिचार ;
जिन हीं उरझ्यो मोहि यो, तिन ही सुरझे बार।
छुटे छुटावत जगत ते, सटकारे, सुकुमार ;
मन बाँधत बेनी बँधे, नील छबीले बार।
झीने पट मैं झलमली, झलकति ओप अपार ;
सुरतरु की मनु सिंधु में, लसी सपल्लव डार।
भाल लाल बेंदी छए, छुटे बार छबि देत ;
गह्यो राहु अति आह करि, मनु ससि सूरसमेत।
हा हा बदन उघारि, दृग सफल करैं सब कोय ;
रोज सरोजन के परैं, हँसी ससी की होय।
लोने मुँह डीठि न लगै, यों कहि दीनो ईठि ;
दूनी ह्वै लागन लगी, दिए डिठौना डीठि।

सूर उदित हू मुदित मन, मुख-सुखमा की ओर ;
चितै रहैं चहुँ ओर ते, निहचल चखन चकोर।
तिय पिय सों हँसि कै कह्यौ, लख्यो डिठौना दीन ;
चंदमुखी मुखचंद तैं, भलो चंदसम कीन।
छप्यो छबीली मुख लसै, नीले अंचल चीर ;
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर।
छिनकु छबीले लाल वह, नहिं जौ लगि बतराति ;
ऊख, मयूष, पियूष की, तौ लगि भूख न जाति।
नासा मोरि, नचाय दृग, करी कका की सौंहँ ;
काँटे-सी कसकति हिए, गड़ी कटीली भौंहँ।
करे चाह सों चुटकि कै, खरे उड़ौहैं मैन ;
लाज नवाए तरफरत, करत खुँदी-से नैन।
बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न ;
हरिनी के नैनान ते, ये हरि नीके नैन।
जोग जुगति सिखए सबै, मनो महामुनि मैन ;
चाहत पिय अद्वैतता, सेवत कानन नैन।
बेसरि-मोती-दुति-झलक, परी अधर पर आय ;
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछ्यो जाय ?
जटित नील-मनि जगमगति, सींक सुहाई नाक ;
मनो अली चंपक-कली, बसि रस लेत निसाँक।
जदपि लौंग ललितौ, तऊ तू न पहिरि इक आँक ;
सदा संक बाढ़ी रहै, रहै चढ़ी-सी नाँक।
दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सारी सेत ;
कवि आँकन के अरथ-लौं, प्रगट दिखाई देत।
पाय महावर देन को, नायनि बैठी आय ;
फिरि-फिरि जानि महावरी, एँड़ी मीड़ति जाय।

पग-पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झलि ;
ठौर-ठौर लखियत उठै, दुपहरिया-सी फूलि ।
सरस कुसुम मड़रात अलि, न झुकि झपटि लपटात ;
दरसत अति सुकुमार तन, परसत मनु न पत्यात ।
भूषन-भार सम्हारिहै, क्यों यह तन सुकुमार ;
सूधे पाँय न परत धरि, सोभा ही के भार ।
लग्यो सुमन ह्वै है सफल, आतप रोस निवारि ;
बारी-बारी आपनी, सींचि सुहृदता बारि ।
तू रहि हौंही सखि लखौं, चढ़ि न अटा बलि बाल ;
सबहिनु बिनु ही ससि-उदै, दीजतु अरघ अकाल ।
फूली-फाली फूल-सी, फिरति जु बिमल बिकास ;
भोर-तरैया हो हुती, चलत तोहिं पिय पास ।
तन भूषन, अंजन दगन, पगन महावर-रंग ;
नहिं सोभा को साजियतु, कहिबे ही को अंग ।
तो रस राच्यो आन बस, कहैं कुटिलमति कूर ;
जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अँगूर ?
नेक उतै उठि बैठिए, कहा रहे गहि गेहु ;
छुटी जात नह दी छिनकु, महदी सूखन देहु ।
रहौ गुही बेनी लख्यौ, गुहिबे के त्यौनार ;
लागे नीर चुचान ये, नीठि सुखाए बार ।
राधा हरि, हरि राधिका, बनि आए संकेत ;
दंपति रति बिपरीति-सुख, सहज सुरति हू लेत ।
चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपटि लपटानि ;
ये जिहिरति सो रति मुकुति, और मुकुति अति हानि ।
यों दलमलियत निरदई, दई, कुसुम-से गात ;
कर धरि देखौ धरधरा, उर को अजौं न जात ।

मिलि परछाहीं जोन्ह सों, रहे दुहुन के गात ;
हरि, राधा इक संग ही, चले गलिन में जात।
अपने कर गहि आप ही, हिय पहिराई लाल ;
नौल सिरी औरै चढ़ी, मौलसिरी की माल।
औरै गति, औरै बचन, भयो बदन रँग और ;
द्यौसक ते पिय चित चढ़ी, कहा चढ़ाए त्यौर।
खल बढ़ई बल करि थके, कटै न कुबत कुठार ;
आल-बाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु-डार।
करत जात जेती बटनि, बढ़ि रस-सरिता सोतु ;
आल-बाल उर प्रेम-तरु, तितौ-तितौ दृढ़ होतु।
नभ लाली, चाली निसा, चटकाली धुनि कीन ;
रति पाली आली अनत, आए बनमाली न।
निसि अँधियारी नील पट, पहिरि चली पिय-गेह ;
कहौ दुराई क्यों दुरै, दीप-सिखा-सी देह ?
अरी खरी सटपट परी, बिधु आधे मग हेरि ;
संग लगे मधुपन लई, भागनु गली अँधेरि।
उठि, ठकठकु एतो कहा, पावस के अभिसार ;
जानि परैगी देखि यों, दामिनि घन अँधियार।
जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैनन होति लखाइ ;
सौंधे के डोरन लगी, अली चली सँग जाइ।
मरकत-भाजन सलिलगत, इंदु-कला के बेख ;
झीन झँगा में झलमलै, स्याम गात नख-रेख।
यहाँ न चलि बलि रावरी, चतुराई की चाल ;
सनख हिए खिन-खिन नटत, अनख बढ़ावत लाल।
बिथुर्‌यो जावक सौति-पग, निरखि हँसी गहि गाँसु ;
सलज हसौंहीं लखि लियो, आधी हँसी उसाँसु।

कपट सतर भौंहैं करी, मुख अनखौंहैं बैन;
सहज हँसोहैं जानिकै, सौहैं करति न नैन।
हठ न हठीली करि सकै, यह पावस ऋतु पाय;
आन गाँठि ज्यौं घुटत त्यों, मान गाँठि छुटि जाय।
नैना नेक न मानहीं, कितो कह्यो समुझाय;
तन-मन हारे हू हँसैं, तिनसों कहा बसाय?
रहैं निगोड़े नैन ढिग, गहैं न चेत अचेत;
हौं कसु कै रिस को करौं ये निरखे हँसि देत।
अजहुँ न आए सहज रँग, बिरह-दूबरे गात;
अबहीं कहा चलाइयत, ललन चलन की बात!
रहिहैं चंचल प्रान ये, कहि कौन की अगोट;
ललन चलन की चित धरी, कल न पलन की ओट।
मिलि चलि चलि मिलि मिलि चलत, आँगन अथयो भानु;
भयो महूरत भोर को, पौरी प्रथम मिलानु।
बामा, भामा, कामिनी, कहि बोलौ प्यो बेस;
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत बिदेस।
रह्यो ऐंचि अंत न लहै, अवधि दुसासन बीरु;
आली, बाढ़त बिरह ज्यों, पंचाली को चीरु।
करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़त नीचु;
दीने हूँ चसमा धरै, चाहै लहै न मीचु।
जिहि निदाघ दुपहर भई, रहति माघ की राति,
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति।
सुनत पथिक मुँह माह-निसि, लुवैं चलत उहि गाम;
बिन पूछे, बिन हीं सुने, जियत बिचारी बाम।
आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति;
साहस ककै सनेहबस, सखी सबै ढिग जाति।

पलनु प्रगटि बरनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात ;
अँसुवा परि छतियाँ छिनकु, छनछनाय छपि जात ।
नित संसो हंसो बचतु, मनो सो यह उनमान ;
बिरह-अगिनि-लपटन सकै, झपट न मीचु सिचान ।
कौन सुनै, कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह ;
बदाबदी जिय लेत हैं, ये बदरा बदराह ।
स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा-तीर ;
अँसुवनि करति तरोस को, खिनक खरोहौं नीर ।
हौं हीं बौरी बिरहबस, कै बौरो सब गाँव ;
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाँव ।
मैं लै दयो लयो सु कर, छुवत छिनकि गो नीरु ;
लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै गयो अबीरु ।
रँगराती राते हिए, पाती लिखी बनाय ;
पाती काती बिरह की, छाती रही लगाय ।
कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ ;
उड़ी जाहु कितही गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ ।
तर झुरसी ऊपर गरी, कज्जल जल छिरकाय ;
पिय-पाती बिनु ही लिखी, बाँची बिरह बलाय ।
रहे बरोठे में मिले, प्रिय प्रानन के ईस ;
आवत-आवत की भई, बिधि की घरी घरीस ।
बाम बाहु फरकत मिलैं, जो हरि जीवनमूरि ;
तौ तोहीं सौं भेंटि हौं, राखि दाहिनी दूरि ।
जदपि तेज रौहाल बल, पलकौ लगी न बार ;
तउ ग्वैंड़ो घर को भयो, पैंडो कोस हजार ।
टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख-जोति ;
लसति रसोंई के बगर, जगर-मगर द्युति होति ।

पीतम-दग मिहिचत तिया, पानि-परस-सुख पाय;
जानि-पिछानि अजान-लौं, नेक न होति जनाय।
मान-तमासो करि रही, बिबस बारुनी सेय;
झुकति,हँसति,हँसि-हँसि झुकति,झुकि-झुकि हँसि-हँसि देय।
छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी-गंध;
ठौर-ठौर झौरत झपत, भौंरभीर मधु-अंध।
फिरि घर को नूतन पथिक, चले चकित चित भागि;
फूल्यो देखि पलास-बन, समुहे समुझि दवागि।
दिसि-दिसि कुसुमित देखियत, उपबन बिपिन समाज;
मनो बियोगिनि को कियो, सर-पंजर ऋतुराज।
बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माहँ;
देखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाहँ।
धुरवा होहिं न लखि उठै, धुवाँ धरनि चहुँ कोद;
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद।
तिय तरसौहैं मुनि किए, करि सरसौहैं नेह;
घर परसौहैं ह्वै रहे, झर बरसौहैं मेह।
बरजे दूनी हठ चढ़ै, ना सकुचै, न सकाय;
टूटत कटि दुमची मचकि, लचकि-लचकि बचि जाय।
कियो सबै जग काम-बस, जीते जिते अजेय;
कुसुमसरहि सर धनुष कर, अगहन गहन न देय।
मिलि बिहरत, बिछुरत मरत, दंपति अति रस-लीन;
नूतन बिधि हेमंत सब, जगत जुराफा कीन।
पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि;
भरि गुलाल की मूठि सो, गई मूठि-सी मारि।
रहो रुको क्यों हूँ सु चलि, आधिक राति पधारि;
हरत ताप सब द्यौस को उर लगि यार बयारि।

चुवत स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु तर बिरमाय ;
आवत दक्खिन तें चल्यो, थक्यो बटोही बाय।
बिकसत नव मल्ली-कुसुम, निकसत परिमल पाय ;
परसि पजारत बिरह तन, बरसि रहे की बाय।
रुक्यो साँकरे कुंज-मग करत झाँझि झुकरात ;
मंद-मंद मारुत-तुरँग, खुदरत आवत जात।
लपटी पुहुप परागपट, सनी स्वेद मकरंद ;
आवत नारि नवोढ़-लौं, सुखद बाय गति मंद।
रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर ;
मंद-मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज-समीर।
धनि यह द्वैज, जहाँ लख्यो, तज्यो दृगन दुख दंद ;
तो भागन पूरब उयो, अहे अपूरब चंद।
मोरमुकुट की चंद्रिकनि, यों राजत नँद-नंद ;
मनु ससिसेखर की अकस, किय सेखर सत चंद।
मकराकृत गोपाल के, सोभित कुंडल कान ;
मनो धस्यो हिय-घर समर, ड्योढ़ी लसत निसान।
नीकी करी अनाकनी, फीकी परी गुहारि ;
मनो तज्यो तारन-बिरद, बारक बारन तारि।
मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै ब्रजराज ;
अपने-अपने बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज।
कौन भाँति रहिहैं बिरद, अब देखबी मुरारि ;
बीधे मोसों आनि कै, गीधे गीधहि तारि।
को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ;
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात।
बेसरि-मोती धन्य, तुहि को पूछै कुल जाति ;
पीबो करि तिय-अधर को, रस निधरक दिन-राति।

मोर-चंद्रिका श्याम-सिर, चढ़ि कत करति गुमान;
लखबी पायन पर लुठति, सुनियत राधा मान।
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार;
अब अलि रही गुलाब की, अपत कँटीली डार।
बहँकि बड़ाई आपनी, कत राचत मति भूल;
बिन मधु मधुकर के हिए, गड़ै न गुड़हर-फूल।
जनम जलधि पानिप बिमल, भौ जग आधु अपार;
रहै गुनी ह्वै गर परयो, भलो न मुकुताहार।
को कहि सकै बड़ेन सों, करत बड़ीयै भूल;
दीने दई गुलाब की, इन डारन ये फूल।
दिन दस आदर पायकै, करि लै आपु बखान;
जौ लगि काग सराधपख, तौ लगि तो सनमान।
मरत प्यास पिंजरा परयौ, सुवा समै के फेर;
आदर दै-दै बोलियत, बायस बलि की बेर।
यहै आस अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल,
ऐहैं फेरि बसंत-ऋतु, इन डारन वे फूल।
पटु पाखैं भखु का करैं, सदा परेई संग;
सुखी परेवा पुहुमि मैं, तू ही एक बिहंग।
कर लै सूँघि सराहि हू, सबै रहैं गहि मौन;
गंधी गंध गुलाब को, गवई गाहक कौन?
वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब;
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवईगाँव गुलाब।
गोधन, तू हरप्यो हिए, निधरक लेहि पुजाय;
समुझि परैगी सीस पर, परत पसुन के पाय।
चले जाहु, ह्याँ को करै, हाथिन को ब्यौपार;
नहिं जानत, यहि पुर बसत, धोबी, ओड़, कुम्हार।

चलत पाय निगुनी गुनी, धन, मनि, मुतियन माल ;
भेंट भए जयसाहि सों, भाग चाहियतु भाल ।
सामा, सैन, सयान सुख, सबै साह के साथ ;
बाहुबली जयसाहजू, फते तिहारे हाथ ।
अनी बड़ी उमड़ी लखे, असि-बाहक भट भूप ;
मंगल करि मान्यो हिए, भो मुह मंगल-रूप ।
घर-घर तुरकिनि हिंदुनी, देत असीस सराहि ;
पतिनु राखि चादर, चुरी, तैं राखी जयसाहि ।
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साहिबी न भूलि ;
दई-दई क्यों करत है, दई दई सु कबूलि ।
भजन कह्यो ताते भज्यो, भज्यो न एकौ बार ;
दूरि भजन जाते कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार ।
प्रलयकरन बरसन लगे, जुरि जलधर एक साथ ;
सुरपति-गरब हस्यो हरषि, गिरिधर गिरि धरि हाथ ।
मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोय ;
बसत सु चित अंतर तऊ, प्रतिबिंबित जग होय ।
दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ;
परत गाँठि दुरजन-हिए, दई नई यह रीति ।
कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ;
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-बिदारनहार ।
जात-जात बित होत है, ज्यों चित मैं संतोष ;
होत-होत त्यों होय तौ, होय घरी मैं मोष ।
या भव-पारावार के, उलँघि पार को जाइ ;
तिय-छबि छाया गाहनी, गहै बीच ही आइ ।
जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं ;
ज्यों आँखिन सब देखिए, आँखि न देखी जाहिं ।

तौ लगि या मन-सदन मैं, हरि आवैं किहि बाट ;
बिकट जटे जौं लगि निपट, खुलै न कपट-कपाट ।
कन दीबो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि ;
रूप रहचटे लगि लग्यो, माँगतु सब जग आनि ।
सबै सुहाए ई लगत, बसे सुहाए ठाम ;
गोरे मुख बेंदी लसै, अरुन, पीत, सित, स्याम ।
पायल पाय लगी रहै, लगे अमोलक लाल ;
भोड़र हू की भाँति है, बेंदी भामिनि-भाल ।
जो चाहै चटक न घटै, मैलो होय न मित्त ;
रज-राजसु न छुवाइ तो, नेह चीकनो चित्त ।
अनियारे दीरघ दगन, किती न तरुनि समान ;
वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान ।
कैसे छोटे नरन ते, सरत बड़ेन के काम ;
मढ़्यो दमामो जात क्यों, कहि चूहे के चाम ?
संगति सुमति न पावईं, परे कुमति के धंध ;
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होय सुगंध ।
समै-समै सुंदर सबै, रूप कुरूप न कोय ;
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय ।
जेती संपति कृपन के, तेती सूमति जोर ;
बढ़त जात ज्यों-ज्यों उरज, त्यों-त्यों होत कठोर ।
घर-घर डोलत दीन ह्वै, जन-जन जाचत जाय ;
दिए लोभ-चसमा चखनु, लघु तिहि बड़ो लखाय ।
कालदूत दूती बिना, जुरै न आन उपाय ;
फिरि ताके टारे बनै, पाके प्रेम लदाय ।
बहकि न इहि बहिनापुले, जब-तब बीर बिनासु ;
बचै न बड़ी सबील हू, चील घौंसुवा मासु ।

नीच हिए हुलस्यो रहत, गहे गेंद को पोत ;
ज्यों-ज्यों माथे मारियत, त्यों-त्यों ऊँचो होत।
गुनी-गुनी सब ही कहे, निगुनी गुनी न होत ;
सुन्यो कहूँ तरु अरक को, अरक समान उदोत ?
बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ;
भलो-भलो कहि छाँड़िए, खोंटे ग्रह जप-दान।
कहत सबै स्रुति, सुम्रति हू, सबै पुरातन लोग ;
तीनि दबावैं निबल कहँ, पातक, राजा, रोग।
ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगि सतरोहैं बैन ;
दीरघ होयँ न नेक हू, फारि निहारे नैन।
सबै हँसत कर तारि दै, नागर ताके नाउँ ;
गयो गरब गुन को सबै, बसे गमेले गाउँ।
दुसह दुराज प्रजान को, क्यों न बढ़ै दुख-दंद ;
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रबि-चंद।

---

(५)

त्रिपाठी-बंधु

(क) महाकवि भूषण त्रिपाठी
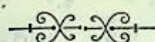
हिंदी-साहित्य-सेवियों में शायद ही कोई ऐसा हो, जो 'भूषण' की कविता से परिचित न हो। वीर-रस में इनकी जोड़ का दूसरा कवि हिंदी में एक भी नहीं है; बरन् यों कहना चाहिए कि इन्होंने इस रस को ऐसा अपना लिया है कि उसका नाम लेते ही बरबस भूषण का स्मरण हो आता है। इनके विषय में हमने सबसे पहले "समालोचक"-पत्र में, जिसे जयपुर-निवासी स्वर्गवासी मिस्टर जैनवैद्य प्रकाशित किया करते थे, एक लेख लिखा था। उसके पश्चात् काशी की नागरीप्रचारिणी-सभा के अनुरोध से हमने इनके सभी प्राप्य ग्रंथों का "भूषणग्रंथावली" के नाम से संपादन करना आरंभ किया, और वे "नागरीप्रचारिणी-ग्रंथमाला" में निकलने लगे। तीन वर्ष के पश्चात् वह "ग्रंथावली" अब समाप्तप्राय हुई है। * इस बीच में हमने भूषण पर एक लेख कलकत्ते के "देव-नागर" में भी निकाला, जिस पर दो-एक महाशयों ने कुछ लिखा भी।

नागरीप्रचारिणी-ग्रंथमाला में प्रकाशित अपनी "भूषण-ग्रंथावली" में हमने भूषण के विषय में ७७ पृष्ठों की एक भूमिका लिखी है, जिसमें यथाशक्ति इन कविरत्न की पूर्ण समालोचना की

* अब इसका तीसरा संस्करण निकला है।
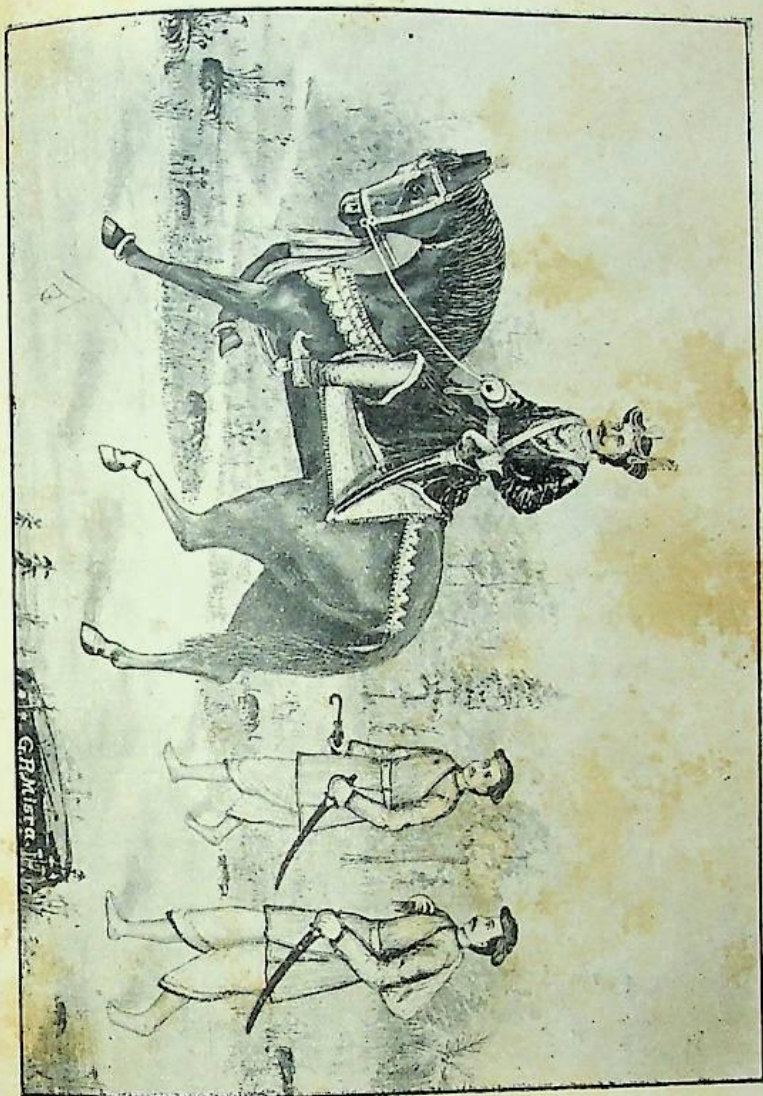
और जीवनी भी दी है। यह "भूषणग्रंथावली" उक्त सभा से मिल सकती है। इस छोटे-से लेख में उसी भूमिका का सारांश हम देते हैं। कुछ नई बातें भी लिखते हैं। जो भूषण का विशेष हाल जानना चाहें, वे भूषणग्रंथावली देखें।

भूषण कान्यकुब्ज-ब्राह्मण, कश्यप-गोत्री त्रिपाठी (तिवारी) थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर था। कविवर चिंतामणि, महाकवि मतिराम और नीलकंठ कवि (उपनाम जटाशंकर) इनके भाई थे। सब भाइयों में इनका दूसरा नंबर था। यह त्रिविक्रमपुर (वर्तमान तिकवाँपुर) में रहते थे; जो यमुना-नदी के बाएँ किनारे पर, ज़िला कानपूर, परगना व डाकख़ाना घाटमपुर में, मौज़े "अकबरपुर-बीरबल" से दो मील की दूरी पर, बसा है। कानपूर-हमीरपुर पक्की सड़क पर कानपूर से ३०वें एवं घाटमपुर-तहसील से ७वें मील पर "सजेती"-नामक एक ग्राम है; जहाँ से "तिकवाँ-पुर" केवल दो मील रह जाता है। "अकबरपुर-बीरबल" का हवाला "शिवराजभूषण" के छंद नंबर २७ में है।

रत्नाकर देवीजी के बड़े भक्त थे। हमने "भूषणग्रंथावली" की नवीन भूमिका में सप्रमाण लिखा है कि भूषण का जन्म-काल संवत् १६७० (सन् १६१३) के आस-पास है, और संवत् १७७२ (सन् १७१५) के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ मालूम होता है। इनके छोटे भाई जटाशंकर का रचा हुआ एक ग्रंथ खोज में मिला था; जिसका रचना-काल सं० १६९८ था। भूषण प्रायः २० वर्ष तक बिलकुल अपढ़ तथा निकम्मे थे। अपने बड़े भाई चिंता-मणि की कमाई से अपना बसर करते थे। एक दिन इनकी बड़ी भावज ने इन्हें भोजन करते समय नोन माँगने पर ऐसा कटु वाक्य कहा कि यह भोजन छोड़ तत्काल चल दिए। इसी समय बाहर जाकर इन्होंने पढ़ने-लिखने में विशेष श्रम किया। आठ-

दस वर्षों में ही यह अच्छे विद्वान् और कवि हो गए। जान पड़ता है, सं० १७०० के लगभग, प्रायः ३० वर्ष की अवस्था में, आप हृदयराम-सुत रुद्रराम सोलंकी चित्रकूटाधिपति के यहाँ थे। उन्हीं के यहाँ इन्होंने अपनी भद्र कविता के कारण "कवि-भूषण" की उपाधि पाई। यथा—

"कुल सुलंकि चितकूट-पति साहस-सील-समुद्र ;
कवि-भूषण पदवी दई हृदयराम-सुत रुद्र।"
(शिवराजभूषण, छंद २८)

उस समय भी इनकी कवित्व-शक्ति जैसी बढ़ी-चढ़ी थी, उसका परिचय नीचे-लिखे छंद से मिल जायगा—

"बाजि बंब चढ़यो साजि बाजि जब कलाँ भूप
गाजी महाराज राजी 'भूषन' बखानते ;
चंडी की सहाय महि मंडी तेजताई, ऐंड
छंडी राय-राना जिन दंडी औनि आन ते।
मंदीभूत रवि रज, बंदीभूत हठधर,
नंदी भूतपति भो अनंदी अनुमान ते ;
रंकीभूत दुवन, करंकीभूत दिगदंती,
पंकीभूत समुद सुलंकी के पयान ते।"
(स्फुट काव्य, छंद २)

भूषण का वास्तविक नाम कुछ और था। भूषण तो उनकी उपाधि है। पर अब वास्तविक नाम का कहीं पता तक नहीं लगता।

कुछ लोग रुद्रराम सोलंकी के यहाँ से इनका दिल्लीश्वर औरंगज़ेब के यहाँ जाना लिखते हैं ; पर इसका कुछ भी प्रमाण नहीं, बल्कि अनेक विचारों से यह बात अग्राह्य सिद्ध होती है। जो कहानियाँ इनके औरंगज़ेब के दरबार में होने और उनसे झगड़कर चले जाने के विषय में प्रसिद्ध हैं, उनका बिलकुल असत्य होना

हम सिद्ध समझते हैं। वास्तव में उनका भद्दापन आप ही उनकी असत्यता का प्रमाण है। रुद्रराम के यहाँ से भूषण या तो सीधे शिवाजी के यहाँ, सं० १७२४ के अंत तक, पहुँचे होंगे, अथवा अवधूतसिंह के यहाँ होते हुए गए होंगे। भूषण ने अवधूतसिंह का एक कवित्त कहा है (स्फुट काव्य, छंद ४); पर इनका इतिहास में कहीं पता नहीं लगता। संभव है, "शंकर (रुद्र=रुद्रराम, अथवा शिव=शिवाजी) अवधूत" के हिसाब पर भूषण ने रुद्रराम या शिवाजी को ही "अवधूतसिंह" करके एक कवित्त में लिख दिया हो।

सन् १६६७ के अंत में, प्रायः ५४ वर्ष की अवस्था में, भूषण शिवाजी के यहाँ पहुँचे, और अचानक एक देवालय पर महाराज से इनकी भेंट हो गई। इन्होंने शिवाजी को पहचाना नहीं; पर उनके कहने पर अपना एक छंद (शि० भू० छं० ५६) १८ बार पढ़कर सुनाया। इस पर महाराज ने इन्हें १८ लक्ष मुद्रा, १८ ग्राम इत्यादि पुरस्कार में दिए, और बड़े सम्मान के साथ अपना राज-कवि बनाया। सुनते हैं, इसी अवसर पर भूषण ने अपनी भावज के पास एक लाख रुपए का नोन भेज दिया था। इसी समय से, सं० १७३० तक, भूषण ने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ "शिवराजभूषण" बनाया। सं० १७३१ के लगभग यह कुछ दिन के लिये अपने घर पर आए; पर रास्ते में छत्रसाल बुँदेले के यहाँ भी हो लिए। छत्रसाल ने इनका बड़ा सम्मान किया, यहाँ तक कि चलते समय इनकी पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया। भूषणजी अत्यंत प्रसन्न होकर पालकी से कूद पड़े, और उन्होंने चार-पाँच परमोत्कृष्ट छंद महाराज की प्रशंसा में तत्काल बनाए। (छत्रसाल-दशक के छंद ४ और ५)। कुछ दिन घर पर रहकर आपने कुमाऊँ-महाराज के यहाँ जाकर

उनकी प्रशंसा का एक छंद पढ़ा (स्फुट काव्य, छंद ६)। महाराज ने इन्हें एक लाख रुपया भेंट करना चाहा ; पर इनकी विशेष ख़ातिर न की। इस पर रुष्ट होकर विना रुपए लिए ही यह चल दिए।

कुछ दिन बाद भूषणजी महाराज शिवाजी के यहाँ फिर गए, और समय-समय पर उनकी प्रशंसा के छंद बनाते रहे। उनमें "शिवाबावनी" के भी छंद हैं। शायद इन्होंने दो-चार और ग्रंथ भी बनाए हों ; पर उनका ठीक पता नहीं चलता। "शिवसिंह-सरोज" में इनके अन्य तीन ग्रंथों के नाम दिए हैं—भूषण-हज़ारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास। हज़ारे का होना कविवर कालिदास त्रिवेदी ने भी लिखा है। पर इन ग्रंथों का ठीक पता अब तक कहीं नहीं चला। इसमें संदेह नहीं कि भूषण के और कई ग्रंथ होंगे ज़रूर ; पर उनमें से किसी का पता नहीं है। सं० १७३७ में, शिवाजी का स्वर्गवास होने पर, भूषण कदाचित् छत्रसाल के यहाँ होते हुए फिर घर लौट आए हों। परंतु कभी-कभी छत्रसाल के यहाँ यह बराबर आते-जाते रहे। सं० १७६४ में साहूजी का दिल्ली से छुटकारा हुआ। उस अवसर पर यह अवश्य ही उनके यहाँ गए होंगे। साहूजी-विषयक इनका एक उत्कृष्ट कवित्त प्रसिद्ध है (स्फुट काव्य, छंद ७)। छत्रसाल की प्रशंसा करते समय तक यह साहूजी को नहीं भूले। यथा—

"राजत अखंड तेज, छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद, दिग्गजन हिए साल को ;
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज, तुरी, पैदर कतार दीन्हे,
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को ?

और राव-राजा एक मन मैं न ल्याऊँ, अब
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ।''
(छत्रसाल-दशक, छंद १०)

इससे स्पष्ट विदित होता है कि साहूजी ने शिवाजी की भाँति भूषण की पूरी ख़ातिरदारी की होगी ।

समझ पड़ता है, सं० १७६७ के निकट भूषण अपने भाई मतिराम की प्रेरणा से बूँदी-नरेश "राव-राजा बुद्धसिंह" के दरबार में गए, और उनके वृद्ध प्रपितामह महाराज छत्रसाल हाड़ा के संबंध में दो कवित्तों के अतिरिक्त निम्न-लिखित कवित्त भी पढ़ा—

"रहत अछक, पै मिटै न धक पीवन की,
निपट जु नाँगी डर काहू के डरै नहीं;
भोजन बनावै, नित चोखे खान-खानन के,
सोनित पचावै, तऊ उदर भरै नहीं ।
उगिलत आसौ, तऊ सुकल समर बीच,
राजै राव बुद्ध-कर, बिमुख परै नहीं;
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं,
जौ लौं गजराजन की गजक करै नहीं ।''

राव बुद्धसिंह ने इनकी वैसी ख़ातिर-बात न की, जैसी यह चाहते थे। अतः थोड़े ही दिनों में यह वहाँ से लौट पड़े । राह में महाराज छत्रसाल बुँदेले के यहाँ पहुँचने पर इन्होंने बुँदेला-महाराज का जो छंद पढ़ा, उसमें "राव-राजा बुद्धसिंह" की साफ़ शिकायत है । ऊपर उद्धृत छत्रसाल-दशक का छंद नंबर १० देखिए । सं० १७७२ के लगभग जब महाराज साहूजी ने उत्तर को धावा किया, तब भूषणजी ने उनकी प्रशंसा में निम्न-लिखित छंद बनाया था—

"बलख-बुखारे मुलतान लौं हहर पारै
कपि-लौं पुकारै, कोऊ धरत न सार है ;

रूम रूँदि डारै, खुरासान खूँदि मारै, खाक
खादर-लौं झारै, ऐसी साहु की बहार है।
कक्कर लौं, बक्खर लौं, मक्कर लौं चले जात,
टक्कर लेवैया कोऊ वार है न पार है;
'भूषन' सिरोंज लौं परावने परत, फेरि
दिल्ली पर परति परिंदन की छार है।"
(स्फुट का०, छंद ७)

इस समय भूषण की अवस्था प्रायः १०२ वर्ष की होगी; पर उनमें उद्दंडता वही भरी हुई थी। इसके पीछे उनके जीवित रहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। शायद इसी साल के आस-पास उनका स्वर्गवास हुआ। भूषण के घरेलू चरित्रों का हाल प्रायः कुछ भी विदित नहीं है। पर यह पुत्रवान् थे; क्योंकि तिकवाँपुर में पता लगाने से हमें विदित हुआ है कि ज़िला फ़तेहपुर और कहीं मध्य-प्रदेश में इनके वंशज अब भी वर्तमान हैं। वृंद तथा सीतल कवि भी इन्हीं के वंशज प्रसिद्ध हैं। भूषण पूर्णतया धन-संपन्न हो गए थे, और बड़े आदमियों की भाँति रहते थे। देश-भर में और राजों-महाराजों में इनका सदैव बड़ा मान रहा। इनकी कविता में सैकड़ों स्थानों एवं तत्कालीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम और वर्णन आए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने देशाटन भी खूब किया था। ये बड़े ही प्रभावशाली कवि हो गए हैं। इनका-सा सम्मान अथवा धन केशवदास के अतिरिक्त, कविता से, किसी हिंदी-कवि ने अद्यापि नहीं प्राप्त किया।

हमने भूषणग्रंथावली में शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक और स्फुट काव्य नाम के चार ग्रंथ प्रकाशित करवाए हैं। प्रायः ये सभी ग्रंथ पहले प्रकाशित हो चुके थे; पर अशुद्ध और विकृत रूप में। हमने १७ ग्रंथों को इस संबंध में देखकर और

अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रतियों को मिलाकर "ग्रंथावली" को टिप्पणी-सहित संशोधित करके काशी की नागरी-प्रचारिणी-ग्रंथमाला में छपवाया। शिवराज-भूषण की पहले की मुद्रित प्रतियों में प्रायः तीन सौ छंद हैं; पर हमारी प्रति में ३८२ छंद दिए गए हैं। शेष तीन ग्रंथों के कवित्त हमने जगह-जगह एक ग्रंथ से दूसरे में अदल-बदल कर दिए हैं, एवं उनका क्रम भी समुचित रूप से संशोधित कर दिया है। इससे आशा है, वे ग्रंथ अब ठीक रूप में आ गए हैं।

भूषण की कविता से तत्कालीन इतिहास की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध घटनाओं का पता भली भाँति लग जाता है। इतना ही नहीं, वरन्, इनके अत्यंत सत्यप्रिय होने के कारण, इनके ग्रंथों से इतिहास को भी अच्छी सहायता मिल सकती है। इन्होंने उस समय की प्रचलित काव्य-प्रणाली छोड़कर वीर-रस की ओर ध्यान दिया, और एक नवीन प्रकार की कविता का प्रचार किया। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि इनके पहले वीर-काव्य था ही नहीं, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उक्त रस पर इतना अनुराग अन्य कवियों ने नहीं प्रकट किया था, और न उसमें इतनी सफलता ही किसी ने प्राप्त की थी। "हिंदी-नवरत्न" में वीर-रस के पूर्ण प्रतिपादक एक-मात्र यही महाकवि हैं। अवश्य ही वीर-रस में हम रौद्र और भयानक-रसों को सम्मिलित मानते हैं। यह कवि एक और बात में भी बड़े भाग्यशाली थे। इनके शेष तीन भाई भी अच्छे कवि थे। मतिराम तो नवरत्नों में ही सम्मिलित हैं। चिंतामणि भी बड़े नामी कवि हो गए हैं। नीलकंठ उपनाम जटाशंकर भी अच्छी कविता करते थे। हिंदी में ऐसा दूसरा उदाहरण तो है ही नहीं, शायद अन्य भाषाओं में भी न मिले! कोई दो भाई किसी अन्य भाषा के सर्वोच्च कवियों की श्रेणी में न पहुँचे होंगे।

उस पर तुर्रा यह कि शेष दो भाई भी सत्कवि ! ये भ्रातृ-वर्ग धन्य हैं !

भूषण के ग्रंथों पर विचार

(१) शिवराजभूषण । यह ग्रंथ इन कविरत्न के प्राप्य ग्रंथों में सबसे बड़ा है, वरन् इसी को ग्रंथ कहा जा सकता है; क्योंकि शेष तीन ग्रंथ अधिकांश में बहुत छोटे और संग्रह-मात्र हैं। इसमें भूषण ने अलंकारों का पूर्ण क्रम रखते हुए भी सभी पद्य शिवाजी की ही प्रशंसा में कहे हैं। हिंदी में किसी एक ही व्यक्ति की प्रशंसा में कोई दूसरा नामी अलंकार-ग्रंथ हमने नहीं देखा। केवल हमारे चचेरे भाई मिश्र नंदकिशोर (उपनाम लेखराज) कवि ने, जिनका हाल शिवसिंहसरोज एवं डॉक्टर ग्रियर्सन के The Modern Vernacular Literature of Hindustan में लिखा है, श्रीगंगाजी की स्तुति में "गंगाभूषण"-नामक एक अलंकार-ग्रंथ बनाया है। शिवराजभूषण को भूषण ने शिवाजी के यहाँ आते ही, सं० १७२४ से, बनाना आरंभ कर दिया था। प्रस्तुत क्रम से ही यह उसे १७३० तक बनाते रहे, परंतु कुछ-कुछ अलंकारों के उदाहरण पीछे से जोड़े गए, एवं अन्य हेर-फेर समय-समय पर होते रहे।

ग्रंथ के आरंभ में श्रीभगवती की, एक बड़े ही प्रभावोत्पादक छंद द्वारा, स्तुति की गई है। फिर राज-वंश-कथन में रायगढ़ का चमत्कार-पूर्ण वर्णन है। पीछे कवि-वंश में भूषण ने अपना भी ठीक पता दे दिया है। इसके पीछे अलंकारों का सिलसिला शुरू हो जाता है। इसमें भी भूषण ने तत्कालीन मनुष्यों के वास्तविक चित्र खींच देने में खूब ही कृतकार्यता प्राप्त की है। इनके अलंकारों के उदाहरण भी बड़े स्पष्ट हैं। कुछ थोड़े-से अलंकारों को छोड़कर सभी के लक्षण और उदाहरण इन्होंने दिए हैं। भूषण ने 'परिणाम'

और 'दीपक'-अलंकार के उदाहरण अन्य कई आचार्यों से अच्छे कहे हैं; पर 'विकल्प' एवं 'सामान्य' के उदाहरण किसी कारण से अशुद्ध हो गए हैं। कभी-कभी इनके लक्षण अन्य कवियों के लक्षणों के विरुद्ध हो गए हैं; पर इन्होंने पद्य नंबर ३७६ में लिख दिया है कि मैंने यह ग्रंथ "लखि चारु ग्रंथन निज मतो युत" बनाया है। भूषण भयानक-रस के वर्णन में बहुत विशेषता रखते हैं। इन्होंने शिवाजी की शूरता और उनके दल का उतना वर्णन नहीं किया, जितना शत्रुओं पर उनकी धाक का। शिवराज-भूषण एक बड़ा ही प्रशंसनीय ग्रंथ है। वह संवत् १७३० में, सुदी १३, बुध को समाप्त हुआ; पर महीना नहीं लिखा है। उक्त संवत् के श्रावण और कार्तिक मास में शुक्ल-पक्ष की त्रयोदशी बुध के दिन पड़ती है, सो भी कार्त्तिक में बहुत कम, और सावन में विशेषकर। इससे जान पड़ता है, सावन सुदी १३, बुधवार, संवत् १७३० (सन् १६७३ ईसवी) को यह ग्रंथ समाप्त हुआ। यह बड़ा ही अच्छा ग्रंथ है, और हिंदी में इसका पूर्ण मान है।

(२) शिवाबावनी। यह भूषण के शिवाजी-विषयक ५२ छंदों का एक संग्रह है। ज़ोरदारी और गौरव में यह ग्रंथ बहुत ही उच्च कोटि का है। इसके छंद शिवराजभूषण के छंदों से भी अधिक प्रभावोत्पादक हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। निस्संदेह इसके कवित्त शिवराजभूषण समाप्त होने के पीछे बने हैं। इस बात को हमने अपनी भूषणग्रंथावली की भूमिका में सप्रमाण लिखा है। यह अति उत्कृष्ट पुस्तक है। हिंदी में इसकी जोड़ के बहुत ग्रंथ नहीं मिलेंगे। उदाहरण में हम इसके केवल तीन पद्य यहाँ पर देते हैं—

"गढ़न गँजाय, गढ़धरन सजाय करि,
छाँड़ि केते धरम-दुवार दै भिखारी-से;

साहि के सपूत पूत बीर सिवराजसिंह,
केते गढ़धारी किए बन-बन-चारी-से।
'भूषन' बखानै केते दीन्हे बंदीखाने, सेख,
सैयद हजारी गहे रैयति बजारी-से;
महता-से मुगल, महाजन-से महाराज,
डाँड़ि लीन्हे पकरि पठान पटवारी-से।"
"दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर रुंड-मुंड फरके;
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके।
मारे सुनि सुभट पनारे वारे उदभट
तारे लागे फिरन सितारे-गढ़धर के;
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम-से दरके।"
"दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी-सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जस हद्द हिंदुवाने की;
कढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
'भूषन' भनत दिल्ली-पति दिल धक-धक
धाक सुनि-सुनि सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय सीस;
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की।"

(३) छत्रसाल-दशक। इस छोटे-से ग्रंथ में दो दोहे और आठ कवित्त महाराज छत्रसाल बुँदेला के विषय में हैं, और वे ही दोनों दोहे और दो अन्य कवित्त छत्रसाल हाड़ा बूँदी-नरेश के विषय में। इतना छोटा ग्रंथ होने पर भी यह हिंदी-भाषा की एक नामी पुस्तक है,

और इसे निकाल डालने से हिंदी-साहित्य में एक प्रकार की कमी आ जायगी ! बस, इसी से पाठक इसकी बहुमूल्यता का अनुमान कर सकते हैं । यह ग्रंथ भाषा-साहित्य में एकदम अद्वितीय है, क्योंकि इसका एक भी पद्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता । इस ग्रंथ के पद्य स्फुट रूप में, समय-समय पर, सं० १७३१ से लेकर १७६७ तक, बने, और बाद को ग्रंथ-रूप में परिणत कर दिए गए, ऐसा समझ पड़ता है । भूषण सच्चे ब्राह्मण थे, और यह उन्होंने अपनी कविता से स्पष्ट सिद्ध कर दिया है । उन्हें मान से जितनी प्रसन्नता होती थी, उतनी धन-प्राप्ति से नहीं । इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि जितना धन उन्हें शिवाजी ने दिया, उसका दशमांश भी छत्रसाल बुँदेला ने नहीं दिया होगा । पर बुँदेला-महाराज ने उनका मान बहुत विशेष किया, यहाँ तक कि स्वयं अपने कंधे पर उनकी पालकी का डंडा उठाकर रख लिया ! वैसे ही भूषण ने जैसे-जैसे भड़कीले रोमांचकारी छंद छत्रसाल के विषय में कहे, वैसे कवित्त शिवाजी के विषय में शायद ही दो-चार मिल सकें ! धन्य भूषणजी, धन्य ! इस ग्रंथ-रत्न के भी केवल दो उदाहरण हम यहाँ देते हैं—

"निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै-भानु की-सी
फारैं तम-तोम-से गयंदन के जाल को ;
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिनि-सी ,
रुद्रहि रिझावै दै-दै मुंडन की माल को ।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली ,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को ?
प्रति भट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को ।"

"रैया राय चंपति को चढ़ो छत्रसालसिंह,
'भूषन' भनत समसेर जोम जमकैं;
भादौं की घटा-सी उठीं गरदैं गगन घेरैं;
सेलैं समसेरैं फेरैं दामिनि-सी दमकैं।
खान-उमरावन के, आन राजा-रावन के;
सुनि-सुनि उर लागैं घन की-सी घमकैं;
बैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
नाँघतीं पगारन नगारन की धमकैं।"

(४) स्फुट काव्य में से भूषण के ६ स्फुट छंद, जो हमें मिल सके, लिखे गए हैं। इसमें भी बड़े ही प्रभावशाली छंद हैं। इसमें दो छंद शिवाजी के, एक रुद्रराम सोलंकी का, एक राव बुद्धसिंह बूँदी-नरेश का और एक अवधूतसिंह के विषय में है। एक शृंगार-रस का है। भूषण की रचना में इस रस का बस, यह एक ही कवित्त मिलता है। एक कुमाऊँ-नरेश के, एक साहूजी के और एक शंभाजी के ऊपर है। इनमें से भी दो पद्य उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं—

"जा दिन चढ़त दल साजि अवधूतसिंह,
ता दिन दिगंत लौं दुवन डाटियतु है;
प्रलै के-से धाराधर धमकैं नगारा, धूरि-
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है।
'भूषन' भनत भुवगोल को कहर तहाँ
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है;
काँच-से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी-सी बाँटियतु है।"

"मेचक कवच साजि, बाहन बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के;
'भूषन' भनत समसेर सोई दामिनी है,

हेतु नर, कामिनी के मान के कदन के।
पैदरि बलाका, धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूने ही सदन के ;
न करु निरादर, पिया सों मिलु सादर, ये
आए बीर बादर बहादर मदन के।"

भूषण के अन्य ग्रंथ हैं अवश्य, पर अब तक उनका पता नहीं चला।

भूषण की कविता का परिचय

भूषण महाराज ने उपयोगी वर्णनों के साथ भारत-मुखोज्ज्वल-कारी शिवाजी और छत्रसाल-सदृश भारी महाराजों का यशोवर्णन करके हिंदी और देश का भारी उपकार किया है। यदि इनमें कोई वैसे बड़े काव्य के गुण न होते, तो भी इनका मान इसी कारण से अवश्य होता। पर यहाँ तो "सोने में सुगंध" की कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती है। भूषण कविता के विचार से भी हिंदी के ६ सर्वोच्च कवियों तक में उच्च आसन के अधिकारी हैं। इनकी कविता से हिंदी-साहित्य के एक मुख्य अंग की पूर्ति हुई है। इनका नाम हिंदी के साथ अमर हो गया है।

इनकी भाषा विशेषतः व्रज-भाषा है ; पर कहीं-कहीं इन्होंने प्राकृत, बुँदेलखंडी एवं खड़ी बोली का भी प्रयोग किया है। यत्र-तत्र फ़ारसी, तुर्की और अरबी-भाषाओं के भी असाधारण शब्द तक लिखे हैं ; पर दो-चार स्थानों पर उनका अशुद्ध प्रयोग हो गया है। इन्होंने बहुत कम असाधारण एवं विकृत शब्द लिखे हैं। इन कविवर का शब्द-समूह अधिकांश नामी कवियों से भी बढ़ा-चढ़ा है। भूषण ने कुल मिलाकर केवल दस प्रकार के छंदों का व्यवहार किया है। इनकी भाषा और शब्द-योजना की रीति

बहुत प्रशंसनीय है । यह महाशय अन्य कवियों की भाँति ऐसे पद्य प्रायः नहीं बनाते थे, जो केवल नायक का नाम बदल देने से किसी भी व्यक्ति की प्रशंसा के हो सकते हों । इनके कवित्तों में सैकड़ों विशेष घटनाओं का समावेश है । ऐतिहासिक घटनाओं के साथ इनकी सत्यप्रियता बहुत प्रशंसनीय है । इनमें स्वतंत्रता की मात्रा अधिक थी । शिवाजी, छत्रसाल, कुमाऊँ-नरेश एवं राव बुद्ध तक से इन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता का व्यवहार रक्खा, और उनकी त्रुटियों तक को प्रकट कर दिया । सत्य घटनाओं के साथ ख़याली और भड़कीले वर्णन इन्होंने बहुत कम किए हैं । इतिहास में शिवाजी भवानी के भक्त लिखे हैं ; पर भूषण उन्हें शिवभक्त भी बतलाते हैं । इन्होंने शिवाजी को विष्णु का अवतार माना है, और बार-बार इस मत पर ज़ोर दिया है । यह ठकुरसोहाती भी हो सकती थी । पर संभव है, भूषण का मत यह हो कि राम, कृष्ण, इत्यादि सभी 'अवतार' बहुत बड़े मनुष्य-मात्र थे । भूषण की कविता का ओज और उद्दंडता दर्शनीय है । उसमें उत्कृष्ट पद्यों की संख्या बहुत है । हमने इनके प्रकृष्ट कवित्तों की गणना की, और उन्हें केशवदास एवं मतिराम के पद्यों से मिलाया, तो इनकी कविता में वैसे पद्यों की संख्या या उनका औसत अधिक रहा । इसी से हमने भूषण का नंबर विहारी के बाद और इन दोनों के ऊपर रक्खा है ।

भूषण में जातीयता का एक बहुत भारी गुण है । इन्हें हिंदू-जाति का जितना ध्यान और अभिमान था, उतना हमने भारतेंदु के अतिरिक्त हिंदी के किसी भी दूसरे कवि में नहीं पाया । वर्तमान समय की दृष्टि से मुसलमानों के प्रति इनकी कटूक्तियाँ अनुचित-सी प्रतीत होती हैं ; पर उस समय दोनों जातियों में औरंगज़ेब के नीच व्यवहार के कारण भयंकर शत्रुता थी । सो जातीयतावश

भूषण ने मुसलमानों के विषय में जो बहुतेरे कठोर वाक्य लिखे, वे एक प्रकार से क्षम्य हो सकते हैं। कवियों की बात जाने दीजिए, उस समय के मुसलमान इतिहासकारों तक ने हिंदुओं के विषय में भूषण की कटूक्तियों से कहीं बढ़कर अनुचित बातें लिखी हैं। भूषण को हिंदुओं का इतना ध्यान था कि चाहे जिसकी प्रशंसा हो, सबमें वह हिंदुओं की बात ज़रूर ही रख देते थे। वास्तव में इनकी कविता के नायक एक प्रकार से न शिवाजी हैं न छत्रसाल, न राव बुद्ध हैं न अवधूतसिंह, न शंभाजी हैं न साहूजी ; इनके सच्चे नायक हैं हिंदू। अन्य नायक "हिंदुआन को अधार", "ढाल हिंदुआने की" इत्यादि हैं। मतलब यह कि भूषण की कविता हिंदूमय हो रही है।

इनकी कविता में कोई कहने योग्य दूषण नहीं है। सब मिला-कर निष्कर्ष यह निकलता है कि भूषण की कविता वास्तव में हिंदी-साहित्य का भूषण है, और यह सचमुच महाकवि हैं। अब हम इनकी रचना के कुछ उदाहरण देकर इस लेख को समाप्त करते हैं—

पावक-तुल्य अमीतन को भयो, मीतन को भयो धाम सुधा को ;
आनँद भो गहिरो समुदै, कुमुदावलि तारन को बहुधा को।
भूतल माहिं बली सिवराज भो, 'भूषन' भाषत सत्रु सुधा को ;
बंदन तेज त्यों चंदन कीरति, साधे सिंगार बधू बसुधा को।

चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढ़त प्रताप दिन-दिन अति जंग मैं ;
'भूषन' चढ़त मरहट्टन के चित्त चाव,
खग्ग खुलि चढ़ति है अरिन के अंग मैं।
भौंसिला के हाथ गढ़ कोट हैं चढ़त अरि,
जोट ह्वै चढ़त एकु मेरु गिरि संग मैं ;

तुरकान गन ब्योम-यान हैं चढ़त, बिनु
मान ह्वै चढ़त बदरंग नवरंग मैं।

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सों, दामिनि पावस-मेघ-घटा सों;
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सनमान महा सों।
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषन-देव-प्रभा सों;
जाहिर चारिहु ओर जहान, लसै हिंदुआन खुमान सिवा सों।

अटल रहे हैं दिगअंतन के भूप, धरि
रैयति को रूप निज देस पेस करिकै;
राना रह्यो अटल बहाना करि चाकरी को
बाना तजि 'भूषन' भनत गुन भरिकै।
हाड़ा, रायठौर, कछवाहे और गौर रहे
अटल चकत्ता को चमाऊ धरि डरिकै;
अटल सिवाजी रह्यो दिल्ली को निदरि धीर
धरि, ऐंड धरि, तेग धरि, गढ़ धरिकै।

काज मही सिवराज बली हिंदुआन बढ़ाइबे को उर ऊटै;
'भूषन' भू निरम्लेच्छ करी चहै म्लेच्छन मारिबे को रन जूटै।
हिंदु बचाय बचाय यही अमरेस चँदावत लौं कोइ टूटै;
चंद अलोक ते लोक सुखी यह कोक अभाग जो सोक न छूटै।

यों सिर पै छहरावत छार हैं जाते उठै असमान बगूरे;
'भूषन' भूधरऊ धरकैं जिनके धुनि धक्कन यों बल रूरे।
ते सरजा सिवराज दिए कबिराजन को गजराज गरूरे;
सुंडन सों पहिले जिन सोखिकै फेरि महामद सों नद पूरे।

दान समै द्विज देखि मेरु हू कुबेर हू की
संपति लुटाइबे को हियो ललकत है;
साहि के सपूत सिवसाहि के बदन पर
सिव की कथान मैं सनेह झलकत है।

'भूषन' जहान हिंदुआन के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है ;
साहिन सों लरिबे की चरचा चलति आनि,
सरजा के दगन उछाह छलकत है।
जै जयंति, जै आदि सकति, जै कालि कपर्दिनि ;
जै मधुकैटभ-छलनि, देबि, जै महिष-बिमर्दिनि।
जै चमुंड जै चंड-मुंड-भंडासुर-खंडिनि ;
जै सुरक्त जै रक्तबीज-बिड्डाल-बिहंडिनि।
जै-जै निसुंभ-सुंभद्दलनि, भनि 'भूषन' जै-जै भननि ;
सरजा समत्थ सिवराज कहँ, देहि बिजै, जै जग-जननि।
आए दरबार, बिललाने छरीदार देखि,
जापता करन हारे नेक हू न मनके ;
'भूषन' भनत भौंसिला के आय आगे ठाढ़े
बाजे भए उमराय तुजुक करन के।
साहि रह्यो जकि, सिवसाहि रह्यो तकि,
और चाहि रह्यो चकि, बने ब्यौंत अनबन के ;
ग्रीषम के भान-सो खुमान को प्रताप देखि,
तारे सम तारे गए मूँदि तुरकन के।
चंदन में नाग, मद-भस्यो इंद्र-नाग,
बिष-भरो सेस नाग, कहै उपमा अबस को ;
चोर ठहरात, न कपूर बहरात, मेघ
सरद उड़ात, बात लागे दिसि दस को।
संभु नीलग्रीव, भौंर पुंडरीक ही बसत,
सरजा सिवाजी सन 'भूषन' सरस को ;
छीरधि में पंक, कलानिधि में कलंक, याते
रूप एक टंक ये लहैं न तुव जस को।

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है;
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाह पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृगझुंड पर,
'भूषन' बितुंड पर जैसे मृगराज है;
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों म्लिच्छ-बंस पर सेर सिवराज है।

साहि-तनै सरजा सिवा की सभा जा मधि है,
मेरुवारी सुर की सभा को निदरति है;
'भूषन' भनत जाके एक-एक सिखर ते,
केते धौं नदी-नद की रेल उतरति है।
जोन्ह को हँसति जोति हीरा-मनि-मंदिरन,
कंदरन मैं छबि कुहू की उछरति है;
ऐसो ऊँचो दुरग महाबली को, जामैं
नखतावली सों बहस दिपावली करति है।

सिंह-थरि जाने बिन, जावली जँगल भठी,
हठी गज एदिल पठाय करि भटक्यौ;
'भूषन' भनत देखि भभरि भगाने सब,
हिम्मति हिए मैं धारि काहुवै न हटक्यौ।
साहि के सिवाजी गाजी सरजा समत्थ महा,
मदगल अफजलै पंजा बल पटक्यौ;
तो बिगिरि ह्वै करि निकाम निज धाम कहँ
आकुत महाउत सु आँकुस लै सटक्यौ।

जेते हैं पहार, भुव माहिं पारावार,
तिन सुनि कै अपार कृपा गहे सुख फैल है;

'भूषन' भनत साहि-तनै सरजा के पास,
आइबे को चढ़ी उर हौंसनि की ऐल है।
किरवान बज्र सों बिपच्छ करिबे के डर,
आनि कै कितेक आए सरन की गैल है;
मघवा मही मैं तेजवान सिवराज बीर,
कोट करि सकल सपच्छ किए सैल है।

एक कहैं कलपद्रुम है, इमि पूरत है सबकी चित-चाहै;
एक कहैं अवतार मनोज को, यों तन में अति सुंदरता है।
'भूषन' एक कहैं महि-इंदु यों, राज बिराजत बाढ़्यो महा है;
एक कहैं नरसिंह है संगर, एक कहैं नरसिंह सिवा है।

कबि कहैं करन, करनजीत कमनैत,
अरिन के उर माहिं कीन्ह्यो इमि छेव है;
कहत धरेस सब धराधर सेस-ऐसो,
और धराधरन को मेट्यो अहमेव है।
'भूषन' भनत महाराज सिवराज, तेरो
राज-काज देखि कोऊ पावत न भेव है;
कहरी यदिल, मौज लहरी कुतुब कहै
बहरी निजाम के जितैया कहैं देव है।

पैज-प्रतिपाल, भूमि-भार को हमाल,
चहुँचक्क को अमाल भयो दंडक जहान को;
साहिन को साल भयो, ज्वाल को जवाल भयो,
हर को कृपाल भयो हार के बिधान को।
बीर-रस ख्याल सिवराज भुंवपाल, तुव
हाथ को बिसाल भयो 'भूषन' बखान को;
तेरो करबाल भयो दच्छिन को ढाल,
भयो हिंदु को दिवाल, भयो काल तुरकान को।

आवत गुसुलखाने ऐसे कछु त्यौर ठाने,
जाने अवरंगज़ू के प्रानन को लेवा है;
रस-खोट भए ते अगोट आगरे में, सातौ
चौकी डाँकि आनि घर कीन्ही हद रेवा है।
'भूषन' भनत वह चहूँ चक्क चाहि कियो,
पातसाहि चकता की छाती माहिं छेवा है;
जान्यो न परत ऐसे काम है करत, कोऊ
गंधरब देवा है कि सिद्ध है कि सेवा है।
चमकतीं चपला न फेरत फिरंगै भट,
इंद्र को न चाप रूप बैरख-समाज को;
धाए धुरवा न, छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न, बाजिबो है दुंदुभि दराज को।
भौंसला के डरन डरानी रिपु-रानी कहैं,
पिय, भजौ देखि उदौ पावस के साज को;
घन की घटा न गज-घटनि सनाह साजे,
'भूषन' भनत आयो सैन सिवराज को।
तेरे ही भुजान पर भूतल को भार,
कहिबे को सेस नाग, दिगनाग हिमाचल है;
तेरो अवतार जग पोसन-भरनहार,
कछु करतार को न ता मधि अमल है।
साहिन में सरजा समत्थ सिवराज, कवि
'भूषन' कहत जीबो तेरोई सफल है;
तेरो करबाल करै म्लेच्छन को काल,
बिन काज होत काल बदनाम धरातल है।
दानव आयो दगा करि जावली, दीह भयारो महामद भारयो;
'भूषन' बाहुबली सरजा, तेहि भेंटिबे को निरसंक पधारयो।

बीछू के घाय गिरे अफजल्लहि, ऊपर ही सिवराज निहारयो ;
दाबि यों बैठो नरिंद अरिंदहि, मानो मयंद गयंद पछारयो।
साहि-तनै सिवसाहि निसा मैं, निसाँक लियो गढ़सिंह सोहानो ;
राठिवरो को सँहार भयो, लरिकै सरदार गिरयो उदैभानो।
'भूषन' यों घमसान भो भूतल, घेरत लोथिन मानो मसानो;
ऊँचे सु छज्ज छटा उचटी, प्रगटी परभा परभात की मानो।

लूट्यो खान दौरा जोरावर सफजंग अरु
लूट्यो मार तलबखाँ मानहुँ अमाल है;
'भूषन' भनत लूट्यो पूना मैं सइस्ताखान,
गढ़न मैं लूट्यो त्यों गढ़ोइन को जाल है।
हेरि-हेरि कूटि सलहेरि बीच सरदार,
घेरि-घेरि लूट्यो सब कटक कराल है;
मानो हय, हाथी, उमराउ करि साथी,
अवरंग डरि सिवाजी पै भेजत रसाल है।

बासव-से बिसरत, बिक्रम की कहा चली,
बिक्रम लखत बीर बखतबुलंद के ;
जागे तेजबृंद सिवाजी नरिंद मसनंद,
माल मकरंद कुलचंद साहिनंद के।
'भूषन' भनत देस-देस बैरि-नारिन मैं,
होत अचरज घर-घर दुखदंद के ;
कनक-लतानि इंदु, इंदु माहिं अरबिंदु,
झरैं अरबिंदन ते बुंद मकरंद के।

उद्धत अपार तुव दुंदुभी-धुकार साथ,
लँघैं पारावार बाल-बृंद रिपुगन के ;
तेरे चतुरंग के तुरंगन के रँगे रज
साथ ही उड़ात रज-पुंज हैं परन के।

दच्छिन के नाथ सिवराज, तेरे हाथ चढ़ैं,
धनुष के साथ गढ़-कोट दुरजन के ;
'भूषन' असीसैं, तोहिं करत कसीसैं,
पुनि बानन के साथ छूटैं प्रान तुरकन के।
गढ़नेर गढ़, चाँदा, भागनेर, बीजापूर,
नृपन की नारी रोय हाथन मलति हैं ;
करनाट, हबस, फिरंग हू, बिलायत,
बलख, रूम अरि-तिय छतियाँ दलति हैं ।
'भूषन' भनत साहि-तनै सिवराज, एते
मानि तुव धाक आगे दिसा उबलति हैं ;
तेरी चमू चलिबे की चरचा चले ते,
चक्रवर्तिन की चतुरंग-चमू बिचलति हैं।
मद-जलधरन . दुरद-बल राजत,
बहु जल-धरन जलद छबि साजै ;
पुहुमिधरन फन नाथ लसत अति,
तेज-धरन ग्रीषम रबि छाजै ।
खरग-धरन सोभा तहँ राजत,
रुचि 'भूषन' गुनधरन-समाजै ;
दिल्लि-दलन, दक्खिन दिसि थंभन,
ऐंड़-धरन सिवराज बिराजै ।
उत्तर पहार, बिधनोल खँड़हर,
झारखंड हू प्रचार चारु केली है बिरद की ;
गोर, गुजरात, अरु पूरब, पछाँह ठौर,
जंतु जंगलीन की बसति मारि रद की।
'भूषन' जो करत न जाने बिनु घोर सोर,
भूलि गयो आपनी उँचाई लखे कद की ;

खोइयो प्रबल मद-गल गजराज एक,
सरजा सों बैर कै बड़ाई निज मद की।
जाहिर जहान जाके धनद समान,
पेखियतु पासवान, यों खुमान चित चाय हैं;
'भूषन' भनत देखे भूख न रहत,
सब आप ही सों जात दुख, दारिद बिलाय हैं।
खीझे ते खलक माहिं खलभल पारत है,
रीझे ते पलक माहिं कीन्हें रंक राय हैं;
जंग जुरि अरिन के अंग को अनंग कीबो,
दीबो सिवा साहब के सहज सुभाय हैं।
देखत सरूर को सिहात न मिलन काज,
जंग जीतिबे की जामें रीति छल-बल की;
जाके पास आवै, ताहि निधन करति बेगि,
'भूषन' भनत जाकी संगति न फल की।
कीरति कामिनि राच्यो सरजा सिवा की एक,
बस कै सकै न बसकरनी सकल की;
चंचल, सरस एक काहू पै न रहै दारी,
गनिका समान सुबेदारी दिल्ली-दल की।
महाराज सिवराज, तेरे बैर देखियतु,
घन बन ह्वै रहे हरम हबसीन के;
'भूषन' भनत तेरे बैर रामनगर,
जवारि पर बहबहे रुधिर नदीन के।
सरजा समत्थ बीर, तेरे बैर बीजापुर,
बैरी-बैयरनि कर चीन्ह न चुरीन के;
तेरे रोस देखियत आगरे, दिल्ली मैं,
बिनु सिंदुर के बुंद सुख-इंदु जवनीन के।

श्रीसरजा सिव, तो जस सेत-सों, होत हैं बैरिन के मुँह कारे;
'भूषन' तेरे अरुन्न प्रताप, सपेद लखे कुनबा नृप सारे।
साहि-तनै, तव कोप-कृसानु ते बैरी जरे सब पानिपवारे;
एक अचंभव होत बड़ो, तिन ओठ गहे अरि जात न जारे।
दच्छिन-नायक एक तुहीं, भुव-भामिनि को अनुकूल ह्वै भावै;
दीनदयाल न तो-सो दुनी पर, म्लेच्छ के दीनहिं मारि मिटावै।
श्रीसिवराज, भनै कबि 'भूषन', तेरे सरूप को कोउ न पावै;
सूर के बंस में सूर-सिरोमनि ह्वै करि तू कुल-चंद कहावै।
बीर बड़े-बड़े मीर, पठान, खरो रजपूतन को गन भारो;
'भूषन' आय तहाँ सिवराज, लियो हरि औरँगजेब को गारो।
दीन्हो कुज्वाब दिलीपति कौं, अरु कीन्हो वजीरन को मुँह कारो;
नायो न माथहि दक्खिन-नाथ, न साथ में फौज न हाथ हथ्यारो।

ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक मैं,
जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं;
सुनत नगारन अगार तजि अरिन की
दारगन भाजत, न बार परखत हैं।
छूटे बार-बार छूटे बारन ते लाल देखि,
'भूषन' सुकबि बरनत हरखत हैं;
क्यों न उतपात होहिं बैरिन के झुंडन में,
कारे घन उमड़ि अँगारे बरखत हैं।
साहि-तनै सिव, तेरो सुनत पुनीत नाम,
धाम-धाम सब ही को पातक कटत है;
तेरो जस काज आज सरजा निहारि कबि,
मन भोज-बिक्रम-कथा ते उचटत है।
'भूषन' भनत तेरो दान-संकलप-जल,
अचरज सकल मही में लपटत है;

और नदी-नदन ते कोकनद होत,
तेरो कर-कोकनद नदी-नद प्रगटत है।
जसन के रोज यों जलूस गहि बैठो जोऽब,
इंद्र आवै, सोऊ लागै औरँग की परजा ;
'भूषन' भनत तहाँ सरजा सिवाजी गाजी,
तिनको तुजुक देखि नेक हू न लरजा।
ठान्यो न सलाम, भान्यो साहि को इलाम,
धूम-धाम कै न मान्यो रामसिंह हू को बरजा ;
जासों बैर करि भूप बचै न दिगंत,
ताके दंत तोरि तखत तरे ते आयो सरजा।

महाराज सिवराज चढ़त तुरंग पर,
ग्रीवा जात नै करि गनीम अति बल की ;
'भूषन' चलत सरजा की सैन भूमि पर,
छाती दरकत है खरी अखिल खल की।
कियो दौरि घाव उमरावन अमीरन पै,
गई कटि नाक सिगरेई दिली-दल की ;
सूरत जराई कियो दाह पातसाह-उर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी।

जावलि बार सिंगारपुरी, औ जवारि को राम के नैरि को गाजी ;
'भूषन' भौंसिला भूपति ते सब, दूरि किए करि कीरति ताजी।
बैर कियो सिवजी सों खवासखाँ, डौंड़िए सैन बिजैपुर बाजी ;
बापुरो एदिल साहि कहाँ, कहाँ दिल्लि को दामनगीर सिवाजी।
दारहि दारि, मुरादहि मारिकै, संगर साहसुजै बिचलायो ;
कै कर मैं सब दिल्ली कि दौलति औरहु देस घने अपनायो।
बैर कियो सरजा सिव सों, यह नौरँग के न भयो मन भायो ;
फौज पठाई हुती गढ़ लेन को, गाँठिहु के गढ़-कोट गँवायो।

तो कर सों छिति छाजत दान है, दानहू सों अति तो कर छाजै ;
तैं ही गुनी की बड़ाई सजै, अरु तेरी बड़ाई गुनी सब साजै।
'भूषन' तोहि सों राज बिराजत, राज सों तू सिवराज, विराजै ;
तो बल सों गढ़-कोट गजैं, अरु तू गढ़-कोटन के बल गाजै।

सिवाजी खुमान सलहेरिमैं दिलीस-दल,
कीन्हो कतलाम करबाल गहि कर में ;
सुभट सराहे चंदावत, कछवाहे,
मुगलौ पठान ढाहे, फरकत परे फरसें।
'भूषन' भनत भौंसिला के भट उद्भट,
जीति घर आए, धाक फैली घर-घर में ;
मारु के करैया अरि अमर-पुरै गे, तऊ,
अजौं मारु-मारु सोर होत है समर में।

अति मतवारे जहाँ दुरदै निहारियत,
तुरगन ही में चंचलाई परकीति है ;
'भूषन' भनत जहाँ पर लगैं बानन में,
कोक-पच्छिनहि माहिं बिछुरन-रीति है।
गुनिगन चोर जहाँ एक चित्त ही के, लोक
बँधे जहाँ एक सरजा की गुन प्रीति है ;
कंप कदली में, बारि बुंद बदली में,
सिवराज अदली के राज में यों राजनीति है।

बैर कियो सिव चाहत हो, तब लौं अरि बाह्यो कटार कठैठो ;
यों ही मलिच्छहि छाँड़े नहीं, सरजा मन तापर रोस में पैठो।
'भूषन' क्यों अफजल्ल बचै, अठपाँव कै सिंह को पाँव उमैठो ;
बीछू के घाय धुक्योई धरक है, तौ लगि धाय धराधर बैठो।
माँगि पठायो सिवा कछु देस, वजीर अजानन बोल गहे ना ;
दौरि लियो सरजा परनालो यों 'भूषन' जो दिन दोय लगे ना।

धाक सों खाक बिजैपुर भो, मुख आय गो खान खवास के फेना ;
भै भरकी करकी धरकी दरकी दिल एदिल साहि की सेना।
साहि-तनै सरजा समरत्थ, करी करनी धरनी पर नीकी ;
भूलि गे भोज-से विक्रम-से, औ भई बलि, बेनु की कीरति फीकी।
'भूषन' भिच्छुक भूप भए, भलि भीख लै केवल भौंसिला ही की ;
नैसुक रीझि धनेस करै, लखी ऐसियै रीति सदा सिवजी की।

मानसर-बासी हंस बसन समान होत,
चंदन सों घस्यो घनसारऊ घरीक है ;
नारद की, सारद की हाँसी में कहाँ की,
आभा सरद की सुरसरी कौन पुंडरीक है ?
'भूषन' भनत छाक्यो छीरधि में थाह लेत,
फेन लपटानो ऐरावत को करीक है ?
कयलास-ईस, ईस-सीस रजनीस,
वहाँ अवनीस सिवा के न जस को सरीक है।

पंपा, मानसर आदि अगन तलाव लागे,
जेहिके परन में अकथ जुत गथ के ;
'भूषन' यों साज्यो राजगढ़ सिवराज रहे,
देव चक चाहि कै बनाए राजपथ के।
बिन अवलंब कलिकानि आसमान में है,
होत बिसराम जहाँ इंदु औ उदथ के ;
महत उतंग मनिजोतिन के संग,
आनि कैयौ रंग चकहा गहत रबि-रथ के।

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते, अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी ;
राम-जुधिष्ठिर के बरने, बलमीकिहु ब्यास के अंग सुहानी।
'भूषन' यों कलि के कबिराजन, राजन के गुन पाय नसानी ;
पुन्य-चरित्र सिवा सरजा-जस न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।

श्रीसरजा सलहेरि के जूझ, घने उमरावन के घर घाले ;
कुंभ चँदावत सैद पठान, कबंधन धावत भूधर हाले ।
'भूषन' यों सिवराज की धाक, भए पियरे अरुने रँगवाले ;
लोहै कटे लपटे अति लोहू, भए मुँह मीरन के पुनि लाले ।
यों कबि 'भूषन' भाषत है, यक तौ पहिले कलिकाल की सैली ;
तापर हिंदुन की सब राहन, नौरँग साह करीं अति मैली ।
साहि-तनै सिव के डर सों, तुरकौ गहि बारिधि की गति पैली ;
बेद-पुरानन की चरचा, अरचा द्विज-देवन की फिरि फैली ।
दीन-दयाल, दुनी-प्रतिपालक, जे करता निरम्लेच्छ मही के ;
'भूषन' भूधर उद्धरिबो सुने, और जिते गन ते सबजी के ।
या कलि में अवतार लियो, तऊ तेई सुभाय सिवाजी बली के ;
आय धर्‍यो हरि ते नररूप, पै काज करै सिगरे हरि ही के ।

इंद्र निज हेरत फिरत गज-इंद्र अरु
इंद्र को अनुज हेरै दुगधि-नदीस को ;
'भूषन' भनत सुरसरिता को हंस हेरै
बिधि हेरैं हंस, को, चकोर रजनीस को ।
साहि-तनै सिवराज, करनी करी है तैं जु,
होत है अचंभो देव कोटियो तैंतीस को ;
पावत न हेरे तेरे जस में हिराने निज
गिरि को गिरीस हेरैं, गिरिजा गिरीस को ।

अहमदनगर के थान किरवान लैकै,
नवसेरी खान तैं खुमान मिलो बलते ;
प्यादन सों प्यादे, पखरैतन सों पखरैत,
बखतरवारे बखतरवारे हलते ।
'भूषन' भनत एते मान घमासान भयो,
जान्यो ना परत कौन आयो कौन दल ते ;

सम बेष ताके तहाँ सरजा सिवा के बाँके,
बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलते।
साहि-तनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कबिराज बेफिकिरि हैं;
झूलत झलमलात झूलैं जरबाफन की,
जकरे जँजीर, जोर करत किरिरि हैं।
'भूषन' भनत भननात, घननात घंट,
पग झननात मनो घन रहे घिरि हैं;
जिनकी गरज सुने दिग्गज बेआब होत,
मद ही के आब गड़काब होत गिरि हैं।

आजु यहि समै महाराज सिवराज, तू ही
जगदेव, जनक, जजाति, अंबरीक-सो;
'भूषन' भनत तेरे दान-जल-जलधि मैं,
गुनिन को दारिद गयो बहि खरीक-सो।
चंद-कर, किंजलक, चाँदनी, पराग, उड़-
बृंद, मकरंद बुंद पुंज के सरीक-सो;
कुंदसम कयलास, नाक गंग नाल, तेरे
जस-पुंडरीक को अकास चंचरीक-सो।

चित्त अनचैन, आँसू उमगत नैन, देखि
बीबी कहैं बैन, मियाँ, कहियत काहिनै?
'भूषन' भनत बूझे आए दरबार ते
कँपत बार-बार क्यों सँभार तन नाहिनै?
सीनो धकधकत, पसीनो आयो देह सब,
हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ-दाहिनै;
सिवाजी की संक मानि गए हौ सुखाय, तुम्हैं
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै।

झंझा-सी दिन कि भई संझा-सी सकल दिसि,
गगन लगन रही गरद छवाय है;
चील्ह, गीध, बायस-समूह घोर रोर करैं,
ठौर-ठौर चारों ओर तम मड़राय है।
'भूषन' अँदेस देस-देस के नरेस-गन,
आपुस मैं कहत यों गरब गँवाय है;
बड़ो बड़वा को जितवार चहुँवा को दल
सरजा सिवा को जानियत इत आय है।

तुरमुती तहखाने, तीतर गुसुलखाने
सूकर सिलहखाने, कूकत करीस हैं;
हिरन हरमखाने, स्याही हैं सुतुरखाने
पाढ़े पीलखाने, औ करंजखाने कीस हैं।
'भूषन' सिवाजी गाजी खग्ग सों खपाए खल
खाने-खाने खलन के खेरे भए खीस हैं;
खड़गी खजाने, खरगोस खिलवतखाने,
खीसैं खोले खसखाने खाँसत खबीस हैं।

साजि चतुरंग बीर-रंग मैं तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है;
'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नद मद गब्बरन के रलत है।
ऐल-फैल खैल भैल खलक मैं गैल-गैल,
गजन की ठेलपेल सैल उसलत है;
तारा-सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।

कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
कीन्ही सिवराज बीर अकह कहानियाँ;

'भूषन' भनत तिहुँ लोक मैं तिहारी धाक,
दिल्ली औ बिलाइति सकल बिललानियाँ।
आगरे अगारन ह्वै, फाँदती कगारन छ्वै,
बाँधती न बारन, मुखन कुम्हिलानियाँ;
कीबी कहै कहा औ गरीबी गहे भागी जाहिं,
बीबी गहे सूथनी सु नीबी गहे रानियाँ।

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे;
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धरि मन,
कीन्ह्यो ना सलाम, ना बचन बोले सियरे।
'भूषन' भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे;
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भए,
स्याह-मुख नौरँग सिपाह-मुख पियरे।

केतिक देस दल्यौ दल के बल, दच्छिन चंगुल चापि कै चाख्यो;
रूप गुमान हर्यो गुजरात को, सूरति को रस चूसि कै नाख्यो।
पंजन पेलि मलिच्छ मल्यौ सब, सोई बच्यो, जेहि दीन ह्वै भाख्यो;
सौ रँग है सिवराज बली, जेहि नौरँग मैं रँग एक न राख्यो।

बिजापूर बिदनूर सूर सर धनुष न संधहिं;
मंगल बिनु मल्लारि नारि धम्मिल नहिं बंधहिं।
गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी चिंजाँ डर;
चालकुंड दलकुंड गोलकुंडा संका उर।
'भूषन' प्रताप सिवराज तव, इमि दच्छिन दिसि संचरहि;
मधुराधरेस धकधकत सो, द्रबिड़ निबिड़ डर दबि डरहि।

अफ़ज़लखान को जिन्होंने मयदान मारा,
बीजापुर, गोलकुंडा मारा जिन आज है;

'भूषन' भनत फरासीस त्यों फिरंगी मारि,
हबसी, तुरुक डारैं उलटि जहाज है ।
देखत में रुसतमखाँ को जिन खाक किया,
साल की सुरति आजु सुनी जो अवाज है ;
चौंकि-चौंकि चकता कहत, चहुँघा ते यारो,
लेत रहौ खबरि, कहाँ लौं सिवराज है ।
फिरँगाने फिकिरि औ हद्द सुनि हबसाने,
'भूषन' भनत कोऊ सोवत न घरी है ;
बीजापुर बिपति बिडरि सुनि भाज्यो सब,
दिल्ली दरगाह बीच परी खरभरी है ।
राजन के राज, सब साहिन के सिरताज,
आज सिवराज पातसाही चित धरी है ;
बलख-बुखारे कसमीर लौं परी पुकार,
धाम-धाम धूम-धाम रूम-साम परी है ।
चकित चकत्ता चौंकि-चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति चित चाहै खरकति है ;
बिलखि बदन बिलखात बिजैपूर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ।
थर-थर काँपत कुतुबसाहि, गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है ;
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति है ।
मालवा उजैन भनि 'भूषन' भेलास ऐन,
सहर सिरोंज लौं परावने परत हैं ;
गोंडवानो, तिलगानो, फिरगानो, करनाट,
रुहिलानो रुहिलन हिए हहरत हैं ।

साहि के सपूत सिवराज, तेरी धाक सुनि,
गढ़पति बीर तेऊ धीर ना धरत हैं ;
बीजापुर, गोलकुंडा, आगरा, दिल्ली के कोट,
बाजे-बाजे दिन दरवाजे उघरत हैं ।
मारि करि पातसाही खाकसाही कीन्ही जिन,
जेर कीन्हो जोर सों लै हद्द सब मारे की ;
खिसि गई सेखी, फिसि गई सूरताई सब,
हिसि गई हिम्मति हजारों लोग सारे की ।
बाजत दमामे लाखों धौंसा आगे घहरात,
गरजत मेघ, ज्यों बरात चढ़े भारे की ;
दूलहो सिवाजी भयो दच्छिनी दमामेवारे,
दिल्ली दुलहिनि भई सहर सितारे की ।
बेद राखे बिदित पुरान राखे सारजुत,
राम-नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं ;
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेउ राख्यो, माला राखी गर मैं ।
मीड़ि राखे मुगल, मरोरि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर मैं ;
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं ।
भुज-भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी-सी,
खेदि-खेदि खातीं दीह दारुन दलन के ;
बखतर पाखरिन बीच धसि जाती मीन
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के ।
रैया-राय चंपति को छत्रसाल महाराज,
'भूषन' सकत को बखानि यों पलन के ;

पच्छी पर छीने ऐसे परे परछीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के।
हैबर हरट्ट साजि, गैबर गरट्ट सम,
पैदर के ठट्ठ फौज जुरी तुरकाने की;
'भूषन' भनत राय चंपति को छत्रसाल
रोप्यो रन ख्याल ह्वै कै ढाल हिंदुवाने की।
कैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे,
रंजक दगनि मानो अगिनि रिसाने की;
सैदअफगन-सैन सगर-सुतन लागी,
कपिल-सराप-लौं तराप तोपखाने की।
चाक चक चमू के अचाक चक चहूँ ओर,
चाक-सी फिरति धाक चंपति के लाल की;
'भूषन' भनत पातसाही मारि जेर कीन्ही,
काहू उमराव न करेरी करवाल की।
सुनि-सुनि रीति बिरदैत के बड़प्पन की,
थप्पन उथप्पन की बानि छत्रसाल की;
जंग जीतिलेवा, ते वै ह्वैकै दंडदेवा भूप,
सेवा लागे करन महेवा-महिपाल की।
कीबे को समान प्रभु ढूँढ़ि देख्यौ आन पै
निदान दान-जुद्ध मैं न कोऊ ठहरात हैं;
पंचम प्रचंड भुजदंड को बखान सुनि,
भागिबे को पच्छी-लौं पठान थहरात हैं।
संका मानि सूखत अमीर दिलीवारे, जब
चंपति के नंद के नगारे घहरात हैं;
चहूँ ओर चकित चकत्ता के दलन पर
छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं।

उलदत मद अनुमद ज्यों जलधि-जल,
बल-हद, भीम कद, काहू के न आह के;
प्रबल प्रचंड, गंड मंडित मधुपवृंद
बिंध्य-से बिलंद सिंधु सातहु के थाह के।
'भूषन' भनत झूल झंपति झपान झुकि,
झूमत झुलत झहराय रथ डाह के;
मेघ-से घमंडित मजेजदार तेजपुंज
गुंजरत कुंजर कुमाऊँ-नरनाह के।
सारस-से सूबा, करवानक-से साहिजादे,
मोर-से सुगुल मीर धीर मैं धचै नहीं;
बगुला-से बंगस, बलूचियौ बतक-ऐसे,
काबिली कुलंग, याते रन में रचै नहीं।
'भूषनजू' खेलत सितारे मैं सिकार संभा,
सिवा को सुवन, जाते दुवन सँचै नहीं;
बाजी सब बाज की चपेटैं चंग चहूँ ओर,
तीतर तुरुक दिल्ली भीतर बचै नहीं।
राखी हिंदुवानी, हिंदुवान को तिलक राख्यौ,
स्मृति औ पुरान राखे बेद-बिधि सुनी मैं;
राखी रजपूती, रजधानी राखी राजन की,
धरा मैं धरम राख्यौ, राख्यौ गुन गुनी मैं।
'भूषन' सुकबि जीति हद मरहट्टन की,
देस-देस कीरति बखानी तव सुनी मैं;
साहि के सपूत सिवराज, समसेर तेरी
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं।
अजौं भूतनाथ मुंड-माल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है;

'भूषन' भनत अजौं काटे करबालन के
कारे कुंजरन परी कठिन कराह है।
सिंह सिवराज सलहेरि के समीप ऐसो
कियो कतलाम दिलीदल को सिपाह है;
नदी रन-मंडल रुहेलन रुधिर अजौं,
अजौं रबि-मंडल रुहेलन की राह है।

सूबन साजि पठावत हैं नित फौज लखे मरहट्टन केरी;
औरँग आपनि दुग्ग जमाति बिलोकत तेरियै फौज दरेरी।
साहि-तनै सिवसाहि भई, भनि 'भूषन' यों तुव धाक घनेरी;
रातिहु-द्यौस दिलीस तकै तुव सैन कि सूरति सूरति घेरी।

बानर, बरार, बाघ, बैहर, बिलार, बिग,
बगरे बराह जानवरन के जोम हैं;
'भूषन' भनत भारे भालुक भयानक हैं,
भीतर भवन भरे लीलगऊ लोम हैं।
ऐंड़ायल गज-गन गैंड़ा गररात गनि,
गेहन मैं गोहन गरूर गहे गोम हैं;
सिवाजी की धाक मिले खलकुल खाक बसे,
खलन के खेरन खबीसन के खोम हैं।

ऐसे बाजिराज देत महाराज सिवराज
'भूषन' जे बाज की समाजैं निदरत हैं;
पौन पायहीन, दृग घूँघट मैं लीन, मीन
जल मैं बिलीन क्यों बराबरी करत हैं।
सबते चलाक चित तेऊ कुलि आलम के,
रहैं उर अंतर मैं, धीर न धरत हैं;
जिन चढ़ि आगे को चलाइयतु तीर, तीर
एक भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं।

× × ×

हाल में काशी की नागरीप्रचारिणी-सभा ने भूषण और मतिराम के समय तथा संबंध पर कुछ संदेह प्रकट किया है। मामला इस प्रकार है कि वृत्तकौमुदी-नामक एक नवीन ग्रंथ नागरीप्रचारिणी-सभा, काशी, की खोज (सन् १९२०-२२) में प्राप्त हुआ है। उसमें लिखा है कि किसी मतिराम ने उसे संवत् १७५८ में रचा। यह मतिराम अपनेको वत्सगोत्री त्रिपाठी, विश्वनाथ का पुत्र, तथा श्रुतिधर का भतीजा बतलाते हैं। भूषण आदि के विषय में आप अपना कोई संबंध प्रकट नहीं करते। वृत्तकौमुदी ग्रंथ समग्र हमने नहीं देखा, केवल कतिपय छप्पय तथा दोहे देखे हैं। छंदोभंग प्रायः प्रत्येक छप्पय में मौजूद है। साहित्य-प्रौढ़ता के विचार से वृत्तकौमुदी के जो छंद हमने देखे हैं, वे रसराज के लेखक की साहित्य-प्रौढ़ता के चतुर्थांश को भी नहीं पाते। इसी प्रकार इन छंदों में ओज-गुण का प्राधान्य तथा प्रसाद-गुण का नितांत शैथिल्य वर्तमान होने से कहना ही पड़ता है कि यह रचना-शैली रसराज के लेखक मतिराम की नहीं है। यद्यपि ललित-ललाम के कुछ छंद ओज-पूर्ण अवश्य हैं, तथापि ललितललाम में प्रसाद-गुण का सौंदर्य विद्यमान है, जो वृत्तकौमुदी के पद्यों में अप्राप्य है। ललितललाम संवत् १७४५ के पूर्व का ग्रंथ है, तथा रसराज संवत् १७६७ के लगभग का माना गया है। उपर्युक्त दोनों ग्रंथों में गुण-विषयक पृथ्वी-आकाश का अंतर है। ललित-ललाम के उत्कृष्ट छंद रसराज के साधारण छंदों के समान हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि मतिराम ने कोई क्रमोन्नति नहीं की, वरन् सं० १७६७ के लगभग उन्होंने एकबारगी प्रचंड कवित्व-शक्ति प्राप्त कर ली थी। वृत्तकौमुदी के छंद हमें ललितललाम के चुने हुए छंदों से हीनतर समझ पड़ते हैं। अतएव यदि रसराज के लेखक का संवत् १७५८ में वृत्तकौमुदी ग्रंथ बनाना माना जाय,

तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह ललितललाम के पीछे तेरह-चौदह वर्ष (अर्थात् संवत् १७५८) पर्यंत उन्नति न करके अवनति की ओर गए, तथा तत्पश्चात् संवत् १७६७ के लगभग उन्होंने अद्वितीय कवित्व-शक्ति प्राप्त कर ली। अतः समझ पड़ता है कि यह वृत्त-कौमुदी, ललितललाम तथा रसराज के लेखक मतिराम की रचना नहीं है। फिर भी समग्र ग्रंथ देखे विना इस विषय में कोई बात ज़ोर देकर नहीं कही जा सकती।

वृत्तकौमुदी के लेखक ने अपना जो परिचय ग्रंथ में दिया है, उसको यदि ग्राह्य मानें, तो विदित होगा कि ये त्रिपाठी-बंधु सगोत्र न थे। केवल सगोत्र न होने ही से भ्रातृभाव की कल्पना नष्ट नहीं होती। प्रथम तो वृत्तकौमुदी का मतिराम-कृत होना दृढ़तापूर्वक निश्चित नहीं है। फिर यदि मान भी लें, तो दोनों का 'त्रिपाठी' उपनाम होने से उपनाम-विषयक कोई अशुद्धि बाक़ी नहीं रहती। प्रश्न कदाचित् यह उठ सकता है कि सगोत्र न होने से बंधु कैसे ? संसार में बंधु-शब्द केवल सहोदर भाइयों के लिये ही नहीं प्रयुक्त होता, वरन् सगे, सौतेले, चचेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसेरे आदि सभी भाई-बंधु कहलाते हैं। अतः ये दोनों ममेरे अथवा मौसेरे भाई हों, और इसी से परस्पर भाई कहकर संसार में प्रसिद्ध हुए हों। संभव है, ये दोनों ऐसे ही भाई रहे हों, और भाई कहलाने से समय के साथ बंधु कहलाने लगे हों। अतः दोनों दशाओं में इनको त्रिपाठी-बंधु कहने में कोई आपत्ति नहीं। सभा के ग्रंथ में लिखा है कि जब मतिराम ने अपने बाप और चाचा का नाम लिखा, तो यदि कोई भी संबंध होता, तो भूषण का भी नाम अवश्य लिखते। संबंध होने पर भी नाम न लिखने के अनेक कारण हो सकते हैं। इसलिये सभा का यह कथन बहुत पुष्ट नहीं समझ पड़ता। सभा के मंत्री महाशय ने 'हस्त-लिखित

हिंदी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नाम से हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में पूर्वोक्त मंतव्य लिखा है । उसमें भूषण के समय तथा शिवाजी के यहाँ राजकवि होने के विषय में भी संदेह प्रकट किया गया है । इसमें शिवराज-भूषण के निर्माण-कालवाले दोहे को ज्योतिष के आधार पर अशुद्ध बताने का उपक्रम किया गया है। सभा द्वारा प्रकाशित भूषण ग्रंथावली में हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि शिवराजभूषण संवत् १७३० में श्रावण-शुक्ला त्रयोदशी, बुधवार को समाप्त हुआ था। शिवराजभूषण के निर्माणकाल-विषयक एक भ्रष्ट पाठवाले दोहे के आधार पर यह कहना कि "शिवराजभूषण ग्रंथ संवत् १७३७ में आषाढ़-बदी तेरस को समाप्त हुआ, जिस रोज़ ज्योतिष-गणना से वस्तुतः रविवार आता है, और दोहे के पाठ में बुधवार है, अतः दोहा कल्पित है।" युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता । उस दोहे में बुधवार लिखा भी नहीं है । दोहे का शुद्ध रूप भूषणग्रंथावली में छपा है, जो विना उचित कारणों के अशुद्ध नहीं माना जा सकता । शिवराजभूषण ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से स्पष्ट होता है कि इस ग्रंथ में भूषण ने केवल संवत् १७१६ से संवत् १७३० तक की ही शिवाजी के संबंध की घटनाएँ लिखी हैं । शिवाजी यद्यपि संवत् १७३० के पश्चात् सात वर्ष और जीते रहे, तथा इन सात वर्षों में भी अनेकानेक महती घटनाएँ संघटित होती रहीं, परंतु उनके विषय में शिवराजभूषण का मौनावलंबन एवं शिवाबावनी में उन घटनाओं का भी प्रचुर कथन साफ़ प्रकट करता है कि प्रथम ग्रंथ संवत् १७३० में ही समाप्त हो चुका था। इसी प्रकार ग्रंथ में शिवाजी-संबंधी वर्तमानकालिक कथन, उनका रायगढ़-वास वर्तमान काल में कहना, अनेक स्थानों पर उनको मंगल-वृद्धि तथा अन्यान्य आशीर्वाद देना भूषण का शिवाजी का राजकवि होना

सिद्ध करता है, न कि साहूजी का। यदि साहू के आदेशानुसार ग्रंथ बनता, तो ऐसा कथन ग्रंथों में अवश्य होता, तथा यत्र-तत्र साहू की शिवाजी के साथ प्रशंसा एवं कथन अवश्य होते। परंतु ग्रंथ में साहू का नाम-निशान तक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि साहूजी के समय में भूषण ने शिवाजी को नायक मानकर ग्रंथ बनाए, तो क्या यह संभव हो सकता है कि भूषण-जैसा महाकवि शिवाजी की मृत्यु के ३४ वर्ष पीछे उनको चिरंजीवी होने तथा मंगल-वृद्धि प्राप्त करने का आशीर्वाद दे?

सभा भूषण का संवत् १७९७ के लगभग तक जीवित रहना कहती है, जिसके प्रमाण में भगवंतराय खींची की मृत्यु पर भूषण का बनाया हुआ एक छंद कहा जाता है। यह छंद यशवंतराय के वर्णन में है, जो भगवंतराय से इतर समझ पड़ते हैं। कारण, उनके जूझने से मध्य-भारत में, न कि संयुक्त प्रांत में, तुर्कों का समूह फैलना छंद बतलाता है। उसमें भगवंतराय खींची का नाम भी नहीं है, वरन् यशवंत का है। यदि भूषण का संवत् १७९७ तक अवस्थित रहना सिद्ध भी हो जाय, तो भी हमारा जन्मकाल मानने से उनकी लगभग १२७ वर्ष की आयु पाना समझ पड़ेगा, जो दुर्घटनीय अवश्य है, किंतु असंभव नहीं। जहाँ तक सभा के ग्रंथ में प्रमाण दिए गए हैं, वहाँ तक भूषण का सं० १७७२ के आगे तक जीवित रहना सिद्ध नहीं होता।
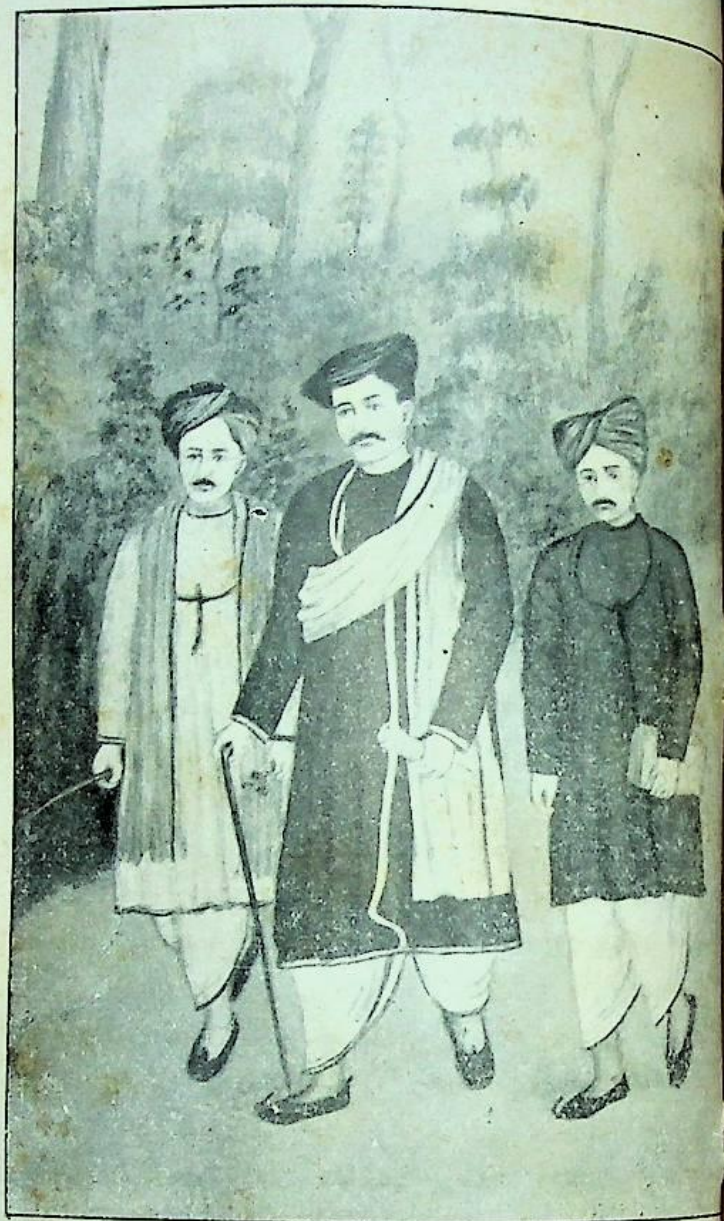
मतिराम

हिंदी-भाषा जिन करी रुचिर माधुरी-धाम,
जात चले सिष्यन-सहित ए तेई मतिराम।

(ख) महाकवि मतिराम त्रिपाठी
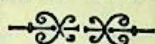
मतिराम तिवारी कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर था। यह महाराज तिकवाँपुर, ज़िला कानपूर के रहनेवाले थे। इनका जन्म संभवतः संवत् १६७३ वि० (सन् १६१६ ईसवी) में हुआ था। मतिराम के किसी ग्रंथ से उनके विषय में प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं होता। परंतु यह महाशय महाकवि भूषण के छोटे भाई हैं, और भूषण की कविता से इनके विषय में बहुत-सी बातें ज्ञात हुई हैं। भूषण की जीवनी लिखने में हम-ने लिखा है कि उनका जन्म सं० १६७२ वि० के लगभग हुआ था। मतिराम उनके छोटे भाई थे। अतः अनुमान से जाना जाता है कि इनका जन्म सं० १६७३ के लगभग हुआ होगा।

मतिराम बूँदी के महाराज राव भाऊसिंह के यहाँ रहते थे। महाराज भाऊसिंह सं० १७१६ वि० में सिंहासनारूढ हुए, और सं० १७४९ वि० तक उन्होंने राज्य किया। उसी समय मतिराम ने अपना ग्रंथ 'ललितललाम' बनाया होगा; क्योंकि 'ललित-ललाम' ख़ासकर राव भाऊसिंह के वास्ते बनाया गया था, और उसमें इन्हीं महाराज की प्रशंसा के प्रायः सौ पद्य हैं। मतिराम महाराजा शंभुनाथ के यहाँ भी रहे, और इन्हीं के नाम से आपने 'छंदसार पिंगल'-नामक एक ग्रंथ बनाया। शिवसिंह सेंगर ने कुमाऊँ-नरेश उद्योतसिंह के यहाँ भी इनका रहना बतलाया है। उन्होंने इनका कोटा में भी रहना कहा है; परंतु यह माननीय नहीं। शिवसिंह समझते थे कि राव भाऊसिंह

कोटा के राजा थे । परंतु वास्तव में वह केवल बूँदी-पति थे। ललितललाम में मतिराम ने राव भाऊसिंह के पूर्वजों का इस प्रकार वंश-वर्णन किया है—

बूँदी-नरेश सुरजन राव के पुत्र भोजसिंह, उनके रतनसिंह और उनके गोपीनाथ हुए । गोपीनाथ के पुत्र छत्रशाल और उनके भाऊसिंह । बूँदी के महाराजा रघुवीरसिंह ने सन् १८९७ ई० में ललितललाम की टीका, गुलाब कवि से, बनवाई । गुलाब कवि ने अपनी टीका की भूमिका में भाऊसिंह के पीछेवाले बूँदी के महाराजों के नाम लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—भाऊसिंह के पुत्र कृष्णसिंह, उनके अनिरुद्धसिंह, उनके राव राजा बुद्धसिंह और उनके उम्मेदसिंह हुए । उम्मेदसिंह के पुत्र अजीतसिंह, उनके विष्णुसिंह, उनके रामसिंह और उनके महाराजा रघुवीरसिंह हुए । हिंदुस्तान में सिवा चित्तौर के और कहीं के नरेश वीरता, राजभक्ति और न्याय में बूँदी-नरेशों से बढ़कर नहीं हुए ।

मतिराम ने ये ग्रंथ रचे हैं—ललितललाम, रसराज, साहित्यसार, लक्षणशृंगार, छंदसार और मतिराम-सतसई ।

ललितललाम अलंकारों का ग्रंथ है । वह एक बूँदी-नरेश की आज्ञा से, संभवतः सन् १६७४ ई० में, बना । दूसरे बूँदी-नरेश की आज्ञा से गुलाब कवि ने, सन् १८९७ ई० में, उसकी टीका रची । इसके छापने में भी ऐसी सावधानता से काम लिया गया है कि इसमें कोई अशुद्धि या दोष नहीं रहा । मतिराम ने भाऊसिंह की प्रशंसा में कितने ही उत्कृष्ट पद्य कहे हैं । उदाहरणार्थ एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

"सूबनि उमँड़ि दिली-दल दलिबे को चमू,
सुभट-समूहनि सिवा की उमहति है ।
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे को संगर मैं,

काहू के न हिम्मति हिए मैं उलहति है।
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब,
गरबी गनीम बरगीन को दहति है;
पति पातसाह की, इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है।"

मतिराम ने भाऊसिंह के हाथियों का वर्णन बहुत किया है। जान पड़ता है, उनके यहाँ हाथी बहुत-से और अच्छे थे। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर ४४४ पद्य हैं। अतः यह भूषण-कृत 'शिवराज-भूषण' से, आकार एवं अलंकारों की संख्या में, कुछ बड़ा है। बहुत ही बढ़िया ग्रंथ है। मतिराम ने 'रसराज' में भी इसके अच्छे-अच्छे पद्य उठाकर रख दिए हैं। यदि कोई मनुष्य बिना गुरु की सहायता के अलंकार पढ़ना चाहे, तो हम उसे 'शिवराज-भूषण' और 'ललितललाम' पढ़ने की सम्मति देंगे। ललितललाम में शृंगार का बाहुल्य नहीं है। यह मतिराम का पहला ग्रंथ है।

रसराज। इसमें मतिराम ने भावों का वर्णन किया है। परंतु नायिका-भेद से ग्रंथ शुरू किया है, और कुल नायिका-भेद कहकर अंत में कह दिया है कि भाव-भेद में यह आलंबन-विभाग में आता है। सिवा भावों के इसमें रसों का वर्णन नहीं हुआ, केवल शृंगार-रस का नाम आ गया है, उसका स्वरूप नहीं दरसाया गया। भावों का वर्णन पूरा हुआ है। मतिराम ने जृंभा को नवाँ सात्त्विक भाव माना है। रसराज मतिराम का प्रसाद-गुण से पूर्ण बहुत ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। नायिका-भेद के ग्रंथों में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। देव के ग्रंथों के अतिरिक्त 'रसराज' से उत्तम भाव-भेद किसी अन्य ग्रंथ में नहीं वर्णित है। इसमें ४२६ पद्य हैं। नायिका-भेद पढ़नेवाले लोग इस ग्रंथ को सबसे पहले पढ़ते हैं। इसमें बहुत सुगम एवं स्पष्ट रीति से नायिका-भेद वर्णित भी है। यह ग्रंथ

संभवतः सं० १७३७ के लगभग बना होगा। उस समय, जान पड़ता है, बूँदी-नरेशों से इनका संबंध टूट चुका था; क्योंकि ललितललाम की भाँति यह ग्रंथ किसी के नाम पर नहीं जान पड़ता। सं० १७६७ के कुछ ही पहले मतिराम के कहने से उनके बड़े भाई भूषण महाराज बूँदी-नरेश के यहाँ जाकर अप्रसन्नता के साथ लौटे थे। जान पड़ता है, उसी समय से मतिराम ने भी बूँदी-दरबार से अपना संबंध तोड़ दिया। १७६७ के बाद मतिराम के जीवित रहने का कोई प्रमाण नहीं है; पर यदि यह भूषण के पहले मरे होते, तो भूषण इनके विषय में कुछ अवश्य लिखते। जान पड़ता है, सं० १७७३ के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ।

छंदसारपिंगल। यह हमारे पास नहीं है। इसके आदि के दो-चार पृष्ठ पंडित युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में हैं, जिनके पढ़ने से विदित होता है कि यह ग्रंथ बहुत बड़ा होगा; क्योंकि इसका उत्थान बड़े विस्तार से हुआ है। जैसी कविता मतिरामजी करते थे, वैसी ही इस ग्रंथ में भी पाई जाती है।

यह ग्रंथ महाराजा शंभुनाथ के नाम पर बनाया गया है। यह महाराज कविता में बड़े पटु थे। इनका बनाया हुआ मुद्रित नखशिख हमारे पास है। काव्य में यह अपना नाम 'नृप शंभु' रखते थे। मतिराम-कृत साहित्यसार-नामक एक और ग्रंथ खोज में मिला है।

मतिराम की भाषा शुद्ध व्रजभाषा है, और वह बहुत ही उत्कृष्ट है। सिवा देव के और कोई भी कवि ऐसी मधुर भाषा लिखने में समर्थ नहीं हुआ। इनकी कविता में संयुक्त वर्ण बहुत ही कम आने पाए हैं। इनको अनुप्रास आदि का इष्ट न था; परंतु उचित रीति पर भाषा-संबंधी प्रायः सभी गुण इन्होंने अपनी कविता में रक्खे हैं। माधुर्य और प्रसाद मानो इन्हीं के वास्ते रचे गए थे। भाषा की इन महाकवि ने ऐसी उन्नति की है कि सभी

लोग मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा करते हैं। हिंदी में सर्व-सम्मति से माधुर्य और लालित्य गुण प्रधान हैं। इन सद्‌गुणों की नींव मतिराम ही के द्वारा पड़ी। हिंदी के आचार्यों में कुछ को छोड़ प्रायः सभी ने अधिकांश संयुक्त अक्षरों को श्रुति-कटु माना है। मधुर अक्षरों का प्रयोग मतिराम ने प्रायः सबसे अच्छा किया है। इनके पृष्ठ-के-पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, फिर भी श्रुति-कटु शब्द का प्रयोग शायद ही कहीं मिले। इनसे पूर्व इनकी-सी भाषा का प्रयोग कोई हिंदी-कवि नहीं कर सका। इनके पीछे भी सिवा देव के और कोई कवि इनकी-सी भाषा नहीं लिख सका। इस गुण में यदि कोई और इनके कुछ समीप पहुँचा, तो वह केवल प्रतापसाह थे। इनके पीछे इन-की देखा-देखी भाषा-संबंधी सभी गुणों में बहुत उन्नति हुई। इस एक ही गुण से यह मनुष्य-जाति के बड़े उपकारक हुए; क्योंकि जातियों की उन्नति पर भाषा बहुत बड़ा प्रभाव डालती है। इनकी भाषा के उदाहरण में यहाँ हम एक पद्य लिखते हैं—

"बेलिन सों लपटाइ रही हैं, तमालन की अवली अति कारी;
कोकिल कूक, कपोतन के कुल केलि करैं अति आनँदवारी।
सोच करै जनि, होहु सुखी, 'मतिराम' प्रबीन सबै नर-नारी;
मंजुल बंजुल-कुंजन के, घन पुंज सखी, ससुरारि तिहारी।"

मतिराम ने उपमाएँ भी कहीं-कहीं बहुत अच्छी रक्खी हैं—

"पिय आयो, नव बाल तन, बाढ़यो हरष-बिलास;
प्रथम बारि-बूँदन उठै, ज्यों बसुमती-सुबास।"

देवजी की भाँति मतिराम ने भी मानुषी प्रकृति के अतिरिक्त सांसारिक प्रकृति पर विशेष ध्यान नहीं दिया। परंतु मानुषी प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। उदाहरण लीजिए—

"ह्याँ मिलि मोहन सों 'मतिराम', सु केलि करी अति आनँदवारी;
तेई लता, द्रुम देखत दुःख चले अँसुआ अँखियानि ते भारी।

आवति हौं जमुना-तट को, नहिं जानि परै बिछुरे गिरिधारी ;
जानति हौं सखि, आवन चाहत, कुंजन ते कढ़ि कुंजविहारी।"

मतिराम ने प्राकृतिक वर्णन को इतना नहीं बढ़ाया कि तसवीर खींच सके हों। फिर भी कहीं-कहीं खूब कहा है—

"अंजन दै निकसै नित नैननि, मंजन कै अति अंग सँवारै ;
रूप-गुमान-भरी मग मैं, पग ही के अँगूठा अनौट सुधारै।
जोबन के मद सों 'मतिराम', भई मतवारिनि, लोग निहारैं ;
जात चली यहि भाँति गली, बिथुरी अलकैं, अचरा न सँभारै।"

मतिराम ने जैसे उत्कृष्ट कवित्त और सवैए कहे हैं, वैसे ही वह दोहे भी बनाने में समर्थ हुए हैं—

"तिय को मिल्यो न प्रानपति, सजल जलद तन मैन ;
सजल जलद लखिकै भए, सजल जलद-से नैन।"

मतिराम ने केवल तीन-चार ग्रंथ बनाए हैं फिर भी इनकी कविता में सैकड़ों बढ़िया छंद हैं। देव की भाँति यह महाकवि भी बहुत ही विशद पद्य बनाने में समर्थ हुए हैं। श्लाघ्य पद्यों को गिनने से जान पड़ेगा कि इनकी कविता में भी देव की भाँति ऐसे पद्यों का बाहुल्य है। उदाहरणार्थ केवल एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

"वैसेई चितै कै मेरे चित्त को चुरावती हौ
　　बोलती हौ वैसियै मधुर, मृदु बानि सों ;
कबि 'मतिराम' अंक भरत मयंक-मुखी,
　　वैसे ही रहत गहि भुजलतिकानि सों।
चूमत कपोल, पान करत अधर-रस,
　　वैसियै निहारी रीति सकल कलानि सों ;
कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी, तेरो
　　मान जानियत रूखी मुख-मुसकानि सों।"

मतिराम की रचना में भाषा के अतिरिक्त अर्थ-गांभीर्य का बहुत

बड़ा गुण है। इनके एक-एक छंद से कितने ही अच्छे काव्यांग निकलत हैं—

"जानत सौति अनीति है, जानत सखी सुनीति;
गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत प्रीति।"

इस एक दोहे से कई अर्थ, चार अलंकार तथा नायिका-भेद के अंग निकलते हैं; और मुख्य भाव की बराबर एक-एक शब्द से पुष्टि होती चली गई है। मतिराम ने जिस छंद में जो भाव उठाया है, उसके एक-एक शब्द से उसी की पुष्टि की है। यह प्रायः कभी भरती के पद या शब्द नहीं रखते थे, बल्कि सदैव मुख्य आशय को दृढ़ करते जाते थे—

"दूसरे की बात सुनि परति न, ऐसी जहाँ
कोकिल, कपोतन की धुनि सरसाति है;
छाइ रहे जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि 'मति-
राम' अलि-कुलनि अँधेरी अधिकाति है।
तखत-से फूलि रहे फूलन के पुंज, घन
कुंजन में होति जहाँ दिनहू मैं राति है;
ता बन की बाट कोऊ संग ना सहेली, कहि
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है?"

यहाँ कवि को सहेट-स्थान के योग्य सूनापन आदि दिखाना अभीष्ट था; सो यह उसने प्रतिभाव से दिखलाया। इतनी कोकिला और कपोत बोलते हैं कि दूसरे की बात नहीं सुन पड़ती। इससे प्रकट हुआ कि वहाँ कोकिला और कपोत निर्विघ्न विहार करते हैं; अर्थात् उन्हें सतानेवाला कोई मनुष्य नहीं है। पेड़ बेलियों से मिले हैं, जिससे अँधेरा रहता और भौंरों से मिलकर वह अंधकार बढ़ जाता है। कुंज बहुत घने हैं, और उनके सब ओर फूल तख़्त-जैसे ऐसे छाए हैं कि दिन में भी रात-सी बनी रहती है। फिर वह

स्थान जंगल के बीच में है ; नायिका के साथ कोई सखी भी नहीं है; कोई दूसरी दधि बेचनेवाली भी नहीं है ; अतः उसे अकेली ही जाना पड़ता है। ऐसे भाव-पूर्ण पद्य बहुत कवियों ने नहीं रचे। मतिराम की कविता में ऐसे ही पद्य भरे पड़े हैं—

"तरुन अरुन एँड़ीन की किरनि समूह उदोत ;
बेनी मंडन मुकुत के पुंज गुंज-दुति होत।"
"पिय-बियोग तिय-दृग-जलधि जल-तरंग अधिकाय ;
बरुनि-मूल-बेला परसि बहुरयो जात बिलाय।"
"बिन देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिं ;
कहौ लाल, इन दृगन के, अँसुआ क्यों ठहराहिं ?"
"पीतम को मनभावती, मिलति बाँह दै कंठ ;
बाँहीं छुटै न कंठ ते, नाहीं छुटै न कंठ।"

इन दोहों में इन कविवर ने कितने ही उत्कृष्ट भाव दिखलाए हैं। बेनी और एँड़ियों के रंग के प्रभाव से मोती घुँघची-सा हो गया। वियोग में आँसुओं का उठना और लज्जा के कारण उनका फिर लुप्त हो जाना मुग्धा के रूप को खूब प्रकट करता है। लक्षिता का उदाहरण भी देखने ही योग्य है—

"आई हौ पाइँ दिवाइ महाउर, कुंजन ते करिकै सुख-सेनी ;
साँवरे आजु सँवारो है अंजन, नैनन को लखि लाजत एनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करती भटू भौंह तनेनी ;
मूँदी न राखति प्रीति अली, यह गूँदी गोपाल के हाथ की बेनी।"

इस छंद में सखी ने महावर, अंजन और बेनी देखकर ताड़ लिया कि ये सब नायक के हाथ की रचना हैं। चतुर कवि ने इन बातों का कारण समझने के लिये पाठक से भी कुछ बुद्धि-बल दिखाने की आशा की है। नायक के लक्षण ही में उसका गुणी होना आता है, अतः उसमें कोई मूर्खता नहीं दिखलाई जा सकती। फिर सखी ने

इन तीनों पदार्थों से नायक के कार्य कैसे जाने ? महावर फैला हुआ है, तो क्या वह अच्छा महावर नहीं लगा सकता था ? अवश्य लगा सकता था ; पर बात यह है कि उसके स्पर्श से नायिका के स्वेद-संचार हुआ, और महावर फैल गया। अंजन कैसा है ? आँख को देखकर मृगी लजाती है। मृगी की आँख के समीप कालिमा फैली रहती है। अतः ज्ञात हुआ कि अंजन नायिका के भी फैला हुआ है। वह अच्छा अंजन लगा सकता था ; परंतु प्रेमाधिक्य के कारण उसे उँगली के आँख में गड़ जाने का भय हुआ, जिससे अंजन फैल गया। बेनी ढीली बँधी है। सखी ज़ोर से कसकर बाँध देती ; परंतु नायक प्रेमाधिक्य के कारण नायिका को इतनी भी पीड़ा नहीं देना चाहता था, जितनी कि बेनी के समुचित प्रकार से कसकर बाँधने में होती। इस छंद में कोमलता, प्रेमाधिक्य और प्रकृति-निरीक्षण के उदाहरण कवि ने दिखलाए हैं।

राव भाऊसिंह की प्रशंसा में भी इन कविवर ने अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं, जिनमें से कुछ इनकी कविता के उदाहरणों में आगे मिलेंगे। आपने अपनी कविता में प्रायः सभी उत्कृष्ट साहित्य-संबंधी गुणों का बहुतायत से प्रयोग किया है। अनेक स्थलों में इन्होंने छंदों में ऐसी तसवीरें खींच दी हैं, जिनसे अच्छे चित्र बन सकते हैं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

कुल बातों पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि मतिराम भाषा के बहुत बड़े कवि थे। सिवा चार-छः परमोत्कृष्ट कवियों के और किसी हिंदी-कवि की रचना आपकी कविता की समता नहीं कर सकती। यदि कोई कवि देवजी के पार्श्ववर्ती होने का अधिकार रखता है, तो वह यही हैं। मतिराम के सवैयों तथा घनाक्षरियों से देव का और दोहों से विहारीलाल का स्मरण हो आता है। शृंगारी कवियों में इनकी वीर-कविता बहुत अच्छी है। ललितललाम में

आपने भूषण का भाई होना सार्थक कर दिखाया है। भाषा-सौंदर्य तथा भाव-गांभीर्य आपकी रचना के प्रधान गुण हैं।

आपकी रचना के उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

रसराज

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई;
आँखिन मैं अलसानि, चितौनि मैं मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहे मुसकानि-मिठाई;
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।

जाल-रंध्र मग ह्वै कढ़त, तिय-तन-दीपति-पुंज;
झिझिया को-सो घट भयो, दिन ही मैं बन-कुंज।

संचि बिरंचि निकाई मनोहर, लाज कि मूरतिवंत बनाई;
ता पर तो बड़ भाग बड़े, 'मतिराम' लसै पति-प्रीति सुहाई।
तेरे सुसील सुभाव भटू, कुल-नारिन को कुल-कानि सिखाई;
नेही जने पति देवत के गुन गौरि सबै गुनगौरि पढ़ाई।

लाल तिहारे संग मैं, खेलै खेल बलाइ;
मूँदत मेरे नैन हौ, करन कपूर लगाइ।
ज्यों-ज्यों परसै लाल तन, त्यों-त्यों राखै गोइ;
नवल बधू डर-लाज ते, इंद्र-बधू-सी होइ।

केलि कै राति अघाने नहीं, दिन हू मैं लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी कोउ पानी दै जाउ, यों भीतर बैठिकै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई;
कान्ह के बोल मैं कान न दीन्हो, सु गेह की देहरी मैं धरि आई।

चित्त मैं बिलोकत ही लाल को बदन बाल,
जीते जेहि कोटि चंद सरद पुनीन के;
मुसक्यात अमल कपोलनि के रुचि बृंद
चमकैं तरयोननि के रुचिर चुनीन के।

पीतम निहार्‌यो बाँह गहत अचानक ही,
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के ;
गाढ़े गही लाज, मैन, कंठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन-बारि बरुनीन के।

केलि-भवन की देहरी, खड़ी बाल छबि नौल ;
काम कलित हिय को लहै, लाज-ललित दृग-कौल।

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम', रहौ तित ही जित ही मन भायो ;
काहे को सौंहैं हजार करौ, तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमैं दुख, यों ही कहा रस-बाद बढ़ायो ;
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय सु मानै मनायो।

बलय पीठि, तरिवन भुजन, उर कुच-कुंकुम-छाप ;
तितै जाहु मनभावते, जितै बिकाने आप।

आवत उठि आदर कियो, बोली बाल रसाल ;
बाँह गहत नँदलाल के, भए बाल-दृग लाल।

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै, मोहन को तन-पानिप पीजै ;
नेकु निहारे कलंक लगै, इहि गाँव बसे कहु कैसेक जीजै ?
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै ;
ह्वै बनमाल हिए लगिए, अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै।

बिछुरत रोवत दुहुँन के, सखि यह रूप लखै न ;
दुख-अँसुआ पिय-नैन हैं, सुख-अँसुआ तिय-नैन।

लाज छुटी, गेहौ छुट्यो, सुख सों छुट्यो सनेह ;
सखि, कहियो वा निठुर सों, रही छूटिबे देह।

कोऊ करै कितेक हू, तजौ न टेक गोपाल ;
निसि औरनि के पग परौ, दिन औरनि के लाल।

पीतम आए प्रभात, प्रिया मुसक्यात उठी, दृग सों दृग जोरे ;
आगे ह्वै, आदर कै 'मतिराम', कहे मृदु बैन सुधा-रस-बोरे।

ऐसे सयान सुभायन ही सों, मिली मनभावन सों मन भोरे;
मान गो जानि तबै छतिया, अँगिया की तनी न छुटी जब छोरे।
रावरे नेह को लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसरायो;
डारि दियो गुरुलोगन को डरु, गाँव चवाई में नाँव धरायो।
हेत कियो हम जेतो कहा, तुम तौ 'मतिराम' सबै बिसरायो;
कोऊ कितेक उपाय करो, कहुँ होत है आपनो पीउ परायो।
पाँयन आइ परे तो परे रहे, केती करी मनुहारि सहेली;
काह कहौं सखि वा निज मान, गुमान मैं सीखी न पीय पहेली।
मान्यो मनायो न मैं 'मतिराम,' गुमान मैं ऐसी भई अलबेली;
आजु तौ ल्याउ मनाइ कन्हाई को, मेरो न लीजियो नाम सहेली।

जो तू कहु तो राधिके, पियहि मनावन जाउँ;
उहाँ कहौंगी जाइकै, सखी तिहारो नाउँ।
जोरत हू सजनी बिपति, तोरत तपत समाज;
नेह कियो बिनु काज ही, तेह कियो बिनु काज।

जाके लये गृह-काज तज्यो, न सिखी सखियान की सीख सिखाई;
बैर कियो सिगरे ब्रज-गाउँ मैं, जाके लये कुल-कानि गँवाई।
जाके लये घर-बाहर हू, 'मतिराम' रहे हँसि लोग चवाई;
ता हरि सों हित एकहि बार, गँवारि मैं तोरत बार न लाई!

सकल सिंगार साजि, संग लै सहेलिन को,
सुंदरि मिलन चली आनंद के कंद को;
कबि 'मतिराम' बाल करति मनोरथनि,
पेख्यो परजंक पै न प्यारे नँदनंद को।
नेह ते लगी है देह दारुन दहन गेह,
बानक बिलोकि द्रुम-बेलिन के बृंद को;
चंद को हँसत तब आयो मुख-चंद, अब
चंद लाग्यो हँसन तिया के मुख-चंद को।

साहस करि कुंजन गई, लख्यो न नंद-किसोर ;
दीप-सिखा-सी थरहरी, लगे बयारि-झकोर ।
मोहिं पठायो कुंज मैं, सठ आयो नहिं आपु ;
आली औरहु मीत को, मेरो मिल्यो मिलापु ।

बीति गई जुग जाम निसा, 'मतिराम' मिटी तम की सरसाई ;
जानति हौं कहुँ और तिया सों, रम्यो रस मैं हँसिकै रसिकाई ।
सोचति सेज परी यों नवेली, सहेली सों जात न बात सुनाई ;
चंद चढ़यो उदयाचल पै, मुख-चंद पै आनि चढ़ी पियराई ।

कत न कंत आयो अली, लाजन बूझि सकै न ;
नवल बाल पलका परी, पलक न लागै नैन ।

पीतम को धरि ध्यान घरीक, करै मन-ही-मन काम-कलोलै ;
पातहु के खरके 'मतिराम,' अचानक ही अँखियाँ पुनि खोलै ।
पीतम ऐहैं अजौं सजनी, अँगिराइ, जम्हाइ घरीकु यों बोलै ;
गावै घरीकु हरे-ई-हरे, अरु गेह के बाग हरे-हरे डोलै ।

मो जुग नैन-चकोरन को, यह रावरो रूप-सुधा ही को नैबो ;
कीजै कहा, कुल-कानि ते आनि, परयो अब आपुनो प्रेम छिपैबो ।
कुंजन मैं 'मतिराम' कहूँ, निसि-द्यौसहु घात परे मिलि जैबो ;
लाल, सयानी अलीन के बीच, निबारिए ह्याँ की गलीन को ऐबो ।

अली चली नवलाहि लै, पिय पै साजि सिंगार ;
ज्यों मतंग अड़दार को, लिए जात गड़दार ।

साँझही सिंगार साजि, प्रानप्यारे पास जाति,
बनिता बनक बनी बेलि-सी अनंद की ;
कबि 'मतिराम' कल किंकिनि की धुनि बाजै,
मंद-मंद चाल ज्यों बिराजति गयंद की ।
केसरि-रँगे दुकूल, हाँसी मैं झरत फूल,
केसन मैं छाई छबि फूलन के बृंद की ;

पाछे-पाछे आवति अँध्यारी-सी भँवर-भीर,
आगे फैलि रही उजियारी मुख-चंद की।
गुच्छन को अवतंस लसै, सिखि-पच्छन अच्छ किरीट बनायो;
पल्लव लाल समेत छरी, करपल्लव मों 'मतिराम' सुहायो।
गुंजन को उर मंजुल हार, निकुंजन ते कढ़ि बाहर आयो;
आजु को रूप लखे ब्रजराज को, आजु ही आँखिन को फल पायो।
मलै को पवन मंद-मंद कै गवन, लाग्यो
फूलन के बृंदन मैं मकरंद ढारने;
कबि 'मतिराम' चित्त चोरे चारों ओर चाहि,
लाग्यो चैत-चंद चारु चाँदनी पसारने।
आलिन की आली आली मैन के-से मंत्र पढ़ि,
लागी मानिनीन के मनन मान भारने;
सुमन-सिंगार साज सेज सुख-साज करौ,
लाज करौ आज ब्रजराज पर वारने।
कत सजनी है अनमनी, अँसुआ भरत ससंक;
बड़े भाग नँदलाल सों, झूठहु लगत कलंक।
गौने के द्यौस कहै 'मतिराम', सहेलिनि को मिलिकै गन आयो;
कंचन के बिछिया पहिरावति, प्यारी सखी परिहास बढ़ायो।
पीतम-स्रौन-समीप सदा बजैं, यों कहिकै पहिले पहिरायो;
कामिनि कंज चलावन को कर ऊँचो कियो, पै चल्यो न चलायो।
प्रभा तरयौना लाल की, परी कपोलन आनि;
कहा छिपावति चतुर तिय, कंत-दंत-छत जानि।
चरन धरै न भूमि, बिहरै तहाँई जहाँ,
फूले-फूले फूलनि बिछायो परजंक है;
भार के डरन सुकुमारि चारु अंगन मैं,
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है।

कबि 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो
आतप, मलिन होत बदन-मयंक है ;
कैसे वह बाल लाल, बाहर बिजन आवै,
बिजन-बयारि लागे लचकति लंक है।

रीझि रही रिझवारि वह, तुम ऊपर ब्रजनाथ ;
ज्यों सिंधुर की इंदिरा, क्यों करि आवै हाथ ?

पाय कुंज एकांत मैं, अंक-भरी ब्रजनाथ ;
रोकन को तिय करति है, कह्यो करत नहिं हाथ।

लाल-बदन लखि बाल के, कुचन कंप-रुचि होति ;
चपल होत चकवा मनौ, चाहि चंद की ज्योति।

छुअति परस्पर हेरिकै राधा, नंदकिसोर ;
सबमैं दो ही होत हैं, चोरमिहींचनि चोर।

मेरे सिर कैसी लगै, यों कहि बाँधी पाग ;
सुंदरि रति बिपरीत मैं, कियो प्रकट अनुराग।

वारने सकल एक रोरि ही की आड़ पर,
हा-हा न पहिरि आभरन और अंग मैं ;
कबि 'मतिराम' जैसे तीच्छन कटाच्छ तेरे,
ऐसे कहाँ सर हैं अनंग के निषंग मैं ?
सहज सरूप, सुघराई रीझो मनु मेरो,
लोभि रह्यो देखि रूप अमल तरंग मैं ;
सेत सारी ही सों सब सौतैं रँगी स्याम रँग,
सेत सारी ही मैं स्याम रँगे लाल रंग मैं।

नथुनी गज-मुकतान की, लसति चारु सिंगार ;
जनि पहिरै सुकुमार तन, और आभरन-भार।

अति आतुर ह्वै चलि भई, अली कौन के भाग ;
उलटी कंचुकि कुचन पर, कहे देत अनुराग।

लालन बाल के द्वै ही दिना मैं, परी मन आइ सनेह की फाँसी;
काम-कलोलनि मैं 'मतिराम', लगी मनो बाँटन मोद की आँसी।
पीतम के उर बीज भयो, दुलही के बिलास मनोज की गाँसी;
सेद बढ्यो तन, कंप उरोजनि, आँखिन आँसु, कपोलन हाँसी।
फूलि रहे द्रुम बेलिन सों मिलि, पूरि रहीं अँखियाँ रतनारी;
मोहिं अकेली बिलोकि इहाँ, कछु औरई-सी भई दीठि तिहारी।
जैसे हुती हमसों तुमसों, अब होयगी ऐसियै प्रीति निहारी;
चाहत जो चित मैं हित तौ जनि बोलिए कुंजन बीच बिहारी।

झूठे ही जग मैं लग्यो, मोहिं कलंक गोपाल;
सपनेहूँ कबहूँ हिए, लगे न तुम नँदलाल।

सोने की-सी बेली अति सुंदरि नबेली बाल,
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ;
'मतिराम' आँखिन सुधा की बरषा-सी भई,
गई तब दीठि वाके मुख-चंद पाहियाँ।
नेकु नीरे जाइ करि, बातनि लगाइ करि,
कछू मन पाइ करि आइ गही बहियाँ;
सैन में चरचि लई, गौन मैं थकित भई,
नैननि मैं चाह रही, बैननि मैं 'नहियाँ'।

मानहुँ आयो है राज कहूँ, चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े;
गुंज गरे, सिर मोर-पखा, 'मतिरामजू' गाय चरावत छोढ़े।
मोतिन को मेरो तोर्‌यो हरा, गहे हाथनि सों रही चूनरी पोढ़े;
ऐसे ही डोलत छैल भए, तुम्हैं लाज न आवति कामरी ओढ़े।

प्रानपियारो पग पर्‌यो, तू न लखति यहि ओर;
ऐसो उर जु कठोर, तौ, न्यायहि उरज कठोर।
बिरी अधर, अंजन नयन, मेंहदी पग अरु पानि;
तन कंचन के आभरन, नीठि, परे पहिंचानि।

सकल सहेलिन के पीछे-पाछे डोलति है,
मंद-मंद गौन आजु हिय को हरतु है;
सनमुख होत सुख होत 'मतिराम' जबै
पौन लागे घूँघट को पट उघरतु है।
जमुना के तट, बंसीबट के निकट, नंद-
लाल पै सकोचनि तैं चाह्यो न परतु है;
तन तौ तिया को बर-भाँवरे भरत,
मन साँवरे बदन पर भाँवरे भरतु है।

रूप साँवरो बदन पर, सुधा-सिंधु मैं खेल,
लखि न सकैं अँखियाँ सखी, परी लाज की जेल।

निरख्यो नेह दुहून की, नई दई यह बात;
सूखति देह दुहून की, त्यों पानी सरसात।

मान जनावति सबन को, मन न मान को ठाट;
बाल मनावन को लखै, लाल, तिहारी बाट।

बहु नायक सों बात मैं, मान भलो न सयान;
दुख-सागर मैं बूड़ि हैं, बाँधि गरे गुरु मान।

चलत लाल के मैं कियो, सजनी, हियो पखानु;
कहा करौं, दरकत नहीं, इते बियोग-कृसानु।

काम कहा कुल-कानि सों, लोक-लाज किन जाय;
कुंजबिहारी कुंज मैं मिलैं मोहिं मुसक्याय।

मोरपखा 'मतिराम' किरीट मैं, कंठ बनी बनमाल सुहाई;
मोहन की मुसक्यानि मनोहर, कुंडल लोलनि मैं छबि छाई।
लोचन लोल, बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई?
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियानि लुनाई।

कहियो सँदेसो प्रानप्यारी सों गवन कीन्हों,
बिभ्रम बिलास जे वे आपने परस के;

चंद कर-बरछीनि छेदि-छेदि हार्‌यो, तीर
तीच्छन मनोज के कछूक करि न सके।
कबि 'मतिराम' या कुलिस-कैसे घाइ कहूँ,
मानत न कोकिल की कूकनि के कसके;
कैसे दरकत, मेरो हियो सदा सहि रह्यो,
तेरे कुच निपट कठोरनि के मसके।

ललितललाम

जंग मैं अंग कठोर महा, मद-नीर झरैं झरना सरसे हैं;
झूलनि रंग घने 'मतिराम', महीरुह फूल प्रभा निकसे हैं।
सुंदर सिंदुर-मंडित कुंभनि, गैरिक सृंग उतंग लसे हैं;
भाऊ दिवान उदार अपार, सजीव पहार करी बकसे हैं।
छाँह करैं छिति-मंडल पै, सब ऊपर यों 'मतिराम' भए हैं;
पानिप को सरसावत हैं, सिगरे जग के मिटि ताप गए हैं।
भूमि-पुरंदर भाऊ के हाथ-पयोदन ही सब काज ठए हैं;
पंथिन के पथ रोकन को, घने बारिद-बृंद बृथा उनए हैं।

सजल जलद जिमि झलकत मद-जल,
छितितल हलत चलत मंद गति मैं;
कहै 'मतिराम' बल बिक्रम बिहद, सानि
गरजनि परैं दिगबारन बिपति मैं।
सता के सपूत भाऊ, तेरे दिए हलकनि,
बरनी उँचाई कबिराजनि की मति मैं;
मधुकर-कुल करटीनि के कपोलनि तैं,
उड़ि-उड़ि पियत अमिय उडु-पति मैं।
बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को,
बारिचर बिरची इलाज जयकाज की;
कबि 'मतिराम' बलवंत जल-जंतु जानि,

दूरि भई हिम्मति दुरद-सिरताज की।
असरन-सरन चरन की सरन तक्यो,
त्यों ही दीनबंधु निज नाम की सु लाज की;
दौरे एते मान अति आतुर गोपाल, मिली
बीच ब्रजराज को गरज गजराज की।
समर के सिंह, सत्रुसाल के सपूत,
सहजहि बकसैया सद सिंदुर मदंध के;
'मतिराम' चारि हू समुद्रनि के कूलनि लौं,
फैलत समूह तेरे सुजस-सुगंध के।
जगत बखानी, चहुवानी सुलतानी, और
नाहीं अवनी मैं अवनीप समकंध के;
तो मैं दोऊ देखिए दिवान भावसिंह,
चहुवान-कुलभानु सुलतान बला बंध के।

मतिराम-सतसई

तिरछी चितवनि स्याम की लसति राधिका ओर;
भोगनाथ को दीजिए वह मन सुख बरजोर।
मेरी मति में राम है कवि मेरे मतिराम;
चित मेरो आराम मैं चित मेरे आराम।
मो मन-तम-तोमहि हरो राधा को मुख चंद;
बढ़ै जाहि लखि सिंधु-लौं नँदनंदन-आनंद।
मुंज गुंज को हार उर मुकुट-मोर-पर-पुंज;
कुंजबिहारी बिहरिए मेरेई मन-कुंज।
सखिन करत उपचार अति परति बिपति उत रोज;
फ़ुरसत ओज मनोज के परस उरोज सरोज।
जागत ओज मनोज के परसि पिया के गात;
पापर होत पुरैनि के चंदन पंकिल पात।

बिरह तचे तिय कुचनि-लौं अँसुआ सकत न आय ;
गिरि उड़गन ज्यों गगन ते बीचहि जात बिलाय।
अँसुअनि के परवाह मैं अति बूड़िबे डेराति ;
कहा करै, नैनानि को नींद नहीं नियराति।
बाल अलप-जीवन भई ग्रीषम-सरित-सरूप ;
अब रस-परिपूरन करौ तुम घनस्याम अनूप।
बैठ्यो आनन-कमल के अरुन अधर-दल आय ;
काटन चाहत भावते, दीजै भौंर उड़ाय।
भली लगै उर भावते, करी भावती आप ;
काम निसेनी-सी बनी यह बेनी की छाप।
बाल लाल मुख सौंति को सुनो नाम परकास ;
बरखै बारिद सैन पर उड़्यो हंस-सम हास।
अनिमिख नैन कहै न कछु, समुझै सुनै न कान ;
निरखे मोर-पखान के भई पखान-समान।
सुनि-सुनि गुन सब गोपिकनि समुझो सरस सवाद ;
कढ़ी अधर की माधुरी ह्वै मुरली को नाद।
अटा ओर नँदलाल उत निरखौ नैक निसंक ;
चपला चपलाई तजी चंदा तज्यो कलंक।
लगी रहै हरि-हिय यहै करि ईरखा बिसाल ;
परिरंभन मैं बल्लवी भली दली बनमाल।
अली, तिहारे अधर मैं सुधा-भोग को साज ;
दुजराजिनि जुत न्योतिए लाल-बदन दुजराज।
करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिए न रोष ;
नाह-सनेह-समुद्र मैं बूड़ि जात सब दोष।

केशवदास

करत राज-सो मान लहि इंद्रजीत के राज,
पहिलो आचारज लखौ केसव कवि-सिरताज।

महाकवि केशवदास

महाकवि केशवदास ने सत्रहवीं शताब्दी में कविता की। इन्हों ने कविप्रिया के द्वितीय प्रभाव में अपने कुल का इस प्रकार वर्णन किया है—

"ब्रह्मा के सनकादि मानसिक पुत्र थे, और सनकादि के मानसिक पुत्र सनाढ्य हुए। परशुराम ने सनाढ्यों के पैर पखार-कर उन्हें बहुत ग्राम दिए। रामचंद्र ने उन्हें मथुरा-मंडल में ७०० ग्राम दिए। श्रीकृष्णचंद्र ने उन्हें फिर वही देश दिया। सनाढ्यों के कुंभवार उद्देश कुल में देवानंद हुए। उनके जयदेव और जयदेव के दिनकर पुत्र हुए। इनसे अलाउद्दीन बादशाह बहुत ख़ुश रहता था। इन्होंने गया-तीर्थ की यात्रा की। दिनकर के पुत्र गया-गदाधर, उनके जयानंद और उनके त्रिविक्रम मिश्र हुए। इन महाराज के गोपाचल क़िले के राजा ने पैर पूजे। त्रिविक्रम के पुत्र भावशर्म और उनके सुरोत्तम मिश्र हुए। इनसे मानसिंह से अनबन थी; परंतु राना ने इन्हें बीस गाँव दिए। इन सुरोत्तम मिश्र के पुत्र हरिहरनाथ हुए। यह महाशय तोमर-पति के यहाँ रहे। हरिहर के पुत्र कृष्णदत्त हुए। महाराज रुद्र ने इनको पुराण की वृत्ति दी। कृष्णदत्त के पुत्र काशिनाथ हुए। इन्हीं काशिनाथ के पुत्र बलभद्र, केशवदास और कल्याणदास थे।"

केशवदास के जन्म का संवत् भली भाँति हमको ज्ञात नहीं। स्वयं ओड़छे में जाकर हमने केशवदास के विषय में सब तरह से पूछ-ताछ की; परंतु शोक है कि वहाँ कोई इनके विषय में प्रायः कुछ भी नहीं जानता। बहुत देर पूछ-ताछ के पीछे लोगों ने एक

इमली दिखाकर कहा कि यहीं केशवदास का मकान था। इससे अधिक उनके विषय में, ओड़छे में, कुछ भी नहीं मालूम हुआ।

केशवदास ने संवत् १६४८ वि० में रसिकप्रिया बनाई। यह एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। केशव ने केवल पाँच-छः ग्रंथ बनाए हैं। इससे विदित होता है, यह महाशय ग्रंथ धीरे-धीरे बनाते थे। इससे विचार यह उठता है कि संभवतः चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने यह ग्रंथ बनाया होगा। केशवदास कवि होने के अतिरिक्त संस्कृत के पूर्ण पंडित भी थे। इनके पिता काशिनाथ ने शीघ्रबोध-नामक ज्योतिष का एक ग्रंथ बनाया। इससे जान पड़ता है, उन्होंने केशवदास को भी ज्योतिष अवश्य पढ़ाया होगा। फिर इनके पितामह को ओड़छे में पुराण की वृत्ति मिली थी। सो वही वृत्ति इनकी भी होगी। अतः यह पुराण भी खूब पढ़े होंगे। केशवदास की कविता से भी प्रकट होता है कि यह संस्कृत के पूर्ण पंडित थे। इंद्रजीतसिंह इनको गुरुवत् समझते थे। इस बात से भी मालूम होता है कि यह महाशय संस्कृत के पूरे पंडित होंगे। विज्ञान-गीता देखने से विदित होता है कि इनको संस्कृत के दर्शन-शास्त्र पर भी प्रगाढ़ अधिकार था। इन सब बातों से ज्ञात हुआ कि केशवदास ने विद्या प्राप्त करने में पूरा श्रम करके तब काव्य करना प्रारंभ किया होगा। अतः अनुमान से जान पड़ता है कि इनका जन्म-संवत् १६०८ वि० (सन् १५५२ ई०) के लगभग होगा। सूरदास की मृत्यु के समय केशवदास की अवस्था बारह वर्ष के लगभग होगी।

भूषण के सिवा किसी भी भाषा-कवि का केवल कविता से, केशव-दास के समान, सत्कार नहीं हुआ। यह महाशय ओड़छे में रहते थे। उस समय से अब तक वहाँ गहरवार-वंशीय क्षत्रिय राज्य करते हैं। ये क्षत्रिय महाराज रामचंद्र के वंश में उत्पन्न हैं। इनके पुरखों

में पंचमसिंह बड़े प्रतापी हुए । पंचम के पुत्र बुंदेल थे, जिनके कारण गहरवार ठाकुर बुँदेला कहलाने लगे । इन्हीं के बसाए हुए देश को बुँदेलखंड कहते हैं, और यहाँ इसी कुल के क्षत्रिय बहुतायत से अब भी राज्य करते हैं । इसी कुल में भारतीचंद बड़े पराक्रमी राजा उत्पन्न हुए । इन्हीं भारतीचंद ने कालिंजर के क़िले पर धावा करते हुए हिंदुस्तान के बादशाह शेरशाह सूर का वध किया । भारतीचंद के कुल में राजा मधुकरशाह ओड़छे के राजा हुए । इन्होंने अकबरशाह के गढ़ छीन लिए, और स्वयं मुरादशाह इनसे लड़कर हार गया । मधुकरशाह के दूलहराम, वीरसिंहदेव, इंद्रजीतसिंह आदि बारह पुत्र हुए । बड़े पुत्र दूलहराम राजा हुए। केशवदास मधुकरशाह के रामसिंह-नामक किसी पुत्र का होना नहीं लिखते ; परंतु यह रामसिंह ही को राजा और इंद्रजीतसिंह का भाई कहते हैं । मधुकरशाह के बड़े पुत्र दूलहराम थे । सो उनका राजा होना अनुमान-सिद्ध है । जान पड़ता है, इन्हीं का उपनाम रामसिंह था ।

जहाँ अकबर के दरबार में और सब राजा खड़े रहते थे, वहाँ उसने रामसिंह को बैठक दी । रामसिंह के राज्य का इंतिज़ाम इंद्रजीत के हाथ में रहता था । उन्होंने इंद्रजीतसिंह को कक्षेवा-कमल-नामक गढ़ दिया । इंद्रजीत के यहाँ संगीत का अखाड़ा था । उनके यहाँ निम्न-लिखित छः पातुरें थीं—रायप्रवीन, नवरँग-राय, विचित्रनयना, तानतरंग, रंगराइ और रंगमूरति ।

रायप्रवीन इंद्रजीत की प्रेमिका थी । गणिका होने पर भी वह पतिव्रता थी । एक बार उसके रूप-लावण्य का वर्णन सुनकर अकबर ने उसे बुला भेजा । उस समय रायप्रवीन ने, जो अच्छी कविता भी करती थी, इंद्रजीतसिंह की सभा में जाकर यह कवित्त पढ़ा—

"आई हौं बूझन मंत्र तुम्हैं निज सासन सों सिगरी मति गोई;
देह तजौं कि तजौं कुल-कानि, हिए न लजौं, लजिहै सब कोई।
स्वारथ औ परमारथ को पथ, चित्त विचारि कहौ अब सोई;
जामें रहै प्रभु की प्रभुता, अरु मोर पतिव्रत-भंग न होई।"

इस बात पर इंद्रजीत ने उसे अकबर के यहाँ न भेजा। तब अकबर ने क्रोध करके उन पर एक करोड़ रुपए का जुरमाना किया। उस समय केशवदास ने आगरे जाकर बीरबल द्वारा यह जुरमाना माफ़ कराया, और रायप्रवीन ने अकबर के यहाँ किसी मौक़े पर निम्न-लिखित दोहा पढ़कर अपना पतिव्रत धर्म बचाया—

"बिनती रायप्रवीन की सुनिए साहि सुजान ;
जूठी पातरि भखत हैं बारी, बायस, स्वान।"

अब हम स्वयं केशवदास का जीवनचरित्र, जहाँ तक हमें उनके काव्य या कहावतों द्वारा ज्ञात हुआ है, नीचे लिखते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उनका जन्म ओड़छे में, सं० १६०८ के आसपास, हुआ था। पहले उन्होंने संस्कृत में पूर्ण पांडित्य प्राप्त किया, और संभवतः ३९ वर्ष की अवस्था में कविता का प्रारंभ किया। उनके जन्मस्थान ओड़छे होकर बेतवै नदी बही है। ओड़छे के राजमहल अब भी दर्शनीय हैं। बेतवै बड़ी ही मनोरम नदी है। हम एक बार आध घंटे तक खड़े-खड़े उसे देखते ही रहे, तो भी हमें तृप्ति नहीं हुई। केशवदास ने ओड़छे और बेतवै का बड़ा विशद वर्णन किया है। उदाहरणार्थ तीन छंद यहाँ दिए जाते हैं—

"नदी बेतवै तीर जहँ तीरथ तुंगारन्य ;
नगर ओड़छो बहु बसै धरनी-तल में धन्य।
केशव तुंगारन्य में नदी बेतवै-तीर ;
नगर ओड़छे बहु बसै पंडित-मंडित भीर।

ओड़छे-तीर तरंगिनि बेतवै, ताहि तरै नर 'केशव' को है ;
अर्जुन-बाहु-प्रबाहु-प्रबोधित, रेवा ज्यों राजन की रज मोहै।
जोति जगै जमुना-सी लगै; जग लाल बिलोचन पाप बियो है ;
सूर-सुता-सुभ-संगम-तुंग-तरंग-तरंगित गंग-सी सोहै।"

सचमुच बेतवै का तरना दुर्गम है। प्रायः चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने रसिकप्रिया-नामक अपना प्रथम ग्रंथ, सं० १६४८ में कार्त्तिक-शुक्ला ७, सोमवार (सन् १५६२ ई०) को समाप्त किया। यह ग्रंथ इंद्रजीत के कहने से बना था। इस समय तक केशवदास का पूर्ण आदर ओड़छे में नहीं हुआ था; पर इन्होंने रसिक-प्रिया में लिखा है—

"तिन कवि केसवदास सों कीन्हों धरम-सनेहु ;
सब सुख दै कै यह कही, रसिक-प्रिया करि देहु।"

इससे प्रकट होता है कि इंद्रजीत इनके इस समय से प्रथम शिष्य हो चुके थे। यहाँ 'तिन' से इंद्रजीत का प्रयोजन है। इसी के कुछ दिन पीछे केशवदास को जुर्माना माफ़ कराने के लिये आगरे जाना पड़ा। वहाँ जाकर यह महाराज बीरबल से मिले, और उनकी प्रशंसा में इन्होंने यह छंद पढ़ा—

"पावक, पंछी, पसू, नर, नाग, नदी, नद, लोक रचे दसचारी ;
'केसव' देव, अदेव रचे, नरदेव रचे, रचना न निवारी।
कै बर बीर बली बलबीर, भयो कृतकृत्य महाव्रतधारी ;
दै करतापन आपन ताहि, दई करतार दुवौ कर तारी।"

इस छंद को सुनकर महाराज बीरबल इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने एक करोड़ का जुर्माना अकबर से माफ़ करा दिया, और छः लाख रुपए की हुंडियाँ जो उनकी जेब में थीं, वे निकालकर

केशवदास को तुरंत दे दीं। तब केशव ने परम प्रसन्न होकर यह छंद पढ़ा—

"केसवदास के भाल लिख्यो बिधि, रंक को अंक बनाय सँवारयो;
छोड़े छुट्यो नहिं धोए धुयो, बहु-तीरथ के जल जाय पखारयो।
ह्वै गयो रंक ते राउ तहीं, जब बीर बली बलबीर निहारयो;
भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो।"

तब बीरबल ने परम प्रसन्न होकर इनसे फिर कहा कि 'माँगु'। इसको केशवदास ने यों कहा है—

"यों ही कह्यो जु बीरबल माँगु जु माँगन होय;
माँग्यो तुव दरबार में मोहिं न रोकै कोय।"

जब केशवदास जुर्माना माफ़ कराकर ओड़छे गए, उसी समय से इनका बड़ा भारी मान होने लगा होगा, और तभी इन्होंने लिखा—

"भूतल को इंद्र इंद्रजीत जीवै जुग-जुग
जाके राज केसौदास राज सो करत है।"

यदि इसके प्रथम इनका इतना मान होता, तो बीरबल के यहाँ यह अपनेको रंक न कहते। शायद इसी समय इंद्रजीत ने इन्हें इक्कीस गाँव दिए, और एक बार प्रयाग में गंगाजी में खड़े होकर इनसे कहा कि जो चाहिए, माँग लीजिए—

"इंद्रजीत तासों कह्यो माँगन मध्य प्रयाग;
माँग्यो सब दिन एकरस कीजै कृपा सभाग।"

इससे विदित होता है कि इस समय इनकी पूरी महिमा थी; अतः इन्होंने केवल उसका स्थिर रहना माँगा। इंद्रजीत के कारण महाराजा रामसिंह भी केशवदास पर बड़ी कृपा करते थे, और इनको मंत्री तथा मित्र की भाँति मानते थे।

केशवदास के माँगने से प्रकट होता है कि इन्होंने वरदान

माँगने में धनादि की तृष्णा कभी नहीं की, और केवल प्रतिष्ठा-वर्द्धक वरदान माँगे। इसी समय महाराजा बीरबल काबुल के युद्ध में मारे गए। तब उनकी उदारता का वर्णन केशवदास ने यों किया—

"पाप के पुंज पखावज 'केसव', सोक के संख सुने सुषमा में
झूठ के झालरि, झाँझ अलीक के, आवझ जूथन जानि जमा में।
भेद के भेरी, बड़े डर के डफ, कौतुक भो कालि के कुरमा में;
जूझत ही बलवीर बजे, बहु दारिद के दरबार दमामें।"

केशवदास ने कविप्रिया में सिवा अमरसिंह और बीरबल के और किसी समकालीन का दान नहीं वर्णन किया, यद्यपि उसमें बहुत-से देवतों का दान वर्णित है।

इससे जान पड़ता है, केशवदास अमरसिंह के यहाँ भी गए होंगे। अमरसिंह का हाल अभी हमें पूरा नहीं मालूम हुआ। एक अमरसिंह महाराणा प्रतापसिंह के पुत्र थे। संभव है, केशवदास उनके यहाँ उदयपुर गए हों; क्योंकि केशव के पूर्व-पुरुषों का भी चित्तौर के महाराणा से संबंध था।

केशवदास सं० १६४८ से १६५८ तक कविप्रिया तथा रामचंद्रिका बनाते रहे, और कार्त्तिक-सुदी ५, संवत् १६५८ वि० को, बुध के दिन, उन्होंने कविप्रिया और बुधवार, कार्त्तिक-सुदी १२, को रामचंद्रिका समाप्त की। फिर संवत् १६६७ (सन् १६१० ई०) में इन्होंने विज्ञानगीता समाप्त की। केशवदास ने कविप्रिया में रामचंद्रिका और विज्ञानगीता के बहुत-से छंद रक्खे हैं। इससे प्रकट होता है कि इन्होंने या तो कविप्रिया समाप्त करने के पीछे भी उसमें छंद बढ़ाए या विज्ञानगीता भी उसी पुस्तक के साथ बनती रही, और समाप्त बहुत दिन पीछे हुई होगी।

हमको सं० १६६७ के पीछे केशवदास के जीते रहने का कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला।

एक किंवदंती है कि इंद्रजीतसिंह के चित्त में यह भावना उठी कि उनका दरबार बहुत ही उत्तम है, परंतु लोगों के मर जाने से वह क्षीण हो जायगा। वह सोचने लगे कि किस प्रकार यह मंडली चिरस्थायिनी हो। इस पर, कहा जाता है, केशवदास ने उनको प्रेत-यज्ञ करने की सलाह दी; क्योंकि प्रेतों की आयु दस हज़ार वर्ष की होती है। कहते हैं, फिर वहाँ प्रेत-यज्ञ किया भी गया, और उसमें सब लोगों के साथ मरकर केशवदास भी प्रेत हो गए। इसी कारण इनको कविजन कभी-कभी "कठिन काव्य के प्रेत" भी कहते हैं। यथा—"एक भए प्रेत, एक चापि मारे हाथी ने।" इसका कारण यह भी है कि इनके प्रेत होने के अतिरिक्त इनका काव्य कठिन भी है। प्रेत-योनि में केशवदास का जी नहीं लगता था। एक बार यह महाशय एक कुएँ में बैठे थे। उसी में गोस्वामी तुलसीदास पानी भरने गए। कहते हैं, केशवदास ने उनका लोटा पकड़ लिया। जब तुलसीदास ने छोड़ने के लिये बहुत कुछ कहा-सुना, तब इन्होंने कहा कि हमें किसी प्रकार प्रेत-योनि से छुड़ाओ, तो हम लोटा छोड़ें। इस पर तुलसीदास ने इनसे कहा कि तुम अपनी बनाई हुई रामचंद्रिका के इक्कीस पाठ कर डालो, तो तुम्हारी प्रेत-योनि छूट जाय। केशवदास को रामचंद्रिका का पहला कवित्त ही नहीं स्मरण आता था। तुलसीदास ने उन्हें वह याद दिलाया, और केशव रामचंद्रिका के इक्कीस पाठ करके मुक्त हुए। इंद्रजीतसिंह का प्रेत-यज्ञ करना किसी इतिहास में नहीं लिखा। अतः यह कथा केवल मनगढ़ंत जान पड़ती है। यह विख्यात बहुत है, इसी कारण हमने लिख दी। इन सब बातों का निष्कर्ष केवल इतना ही है कि केशवदास तुलसीदास के पहले मरे थे। गोस्वामीजी

सं० १६८० में मरे थे *। अतः केशवदास ने सं० १६७४ के लगभग शरीर छोड़ा होगा।

केशवदास के विवाह और पुत्र-पौत्रादि के विषय में हम लोगों को कुछ भी ज्ञात नहीं है। हमारे प्रिय मित्र बाबू राधाकृष्ण-दास ने यह लिखा था कि कविवर विहारीलाल केशवदास के पुत्र थे। उन्होंने इसके बहुत-से प्रमाण भी दिए थे। किंतु कुछ बातें सोच-कर हमारा विचार है कि विहारीलाल के पिता का नाम केशव अवश्य होगा; परंतु वह यह केशवदास नहीं हो सकते। कारण, यदि इन दोनों में पिता-पुत्र का संबंध होता, तो दो में से एक भी तो इस बात को स्पष्ट रूप से अवश्य लिख जाता। फिर जैसे कालिदास, कविंद और दूलह का, एवं ऋषिनाथ, ठाकुर और सेवक का, तथा मतिराम, भूषण आदि का संबंध, किंवदंतियों द्वारा, सब पर प्रकट है, उसी प्रकार इनका भी अवश्य प्रकट होता। केशवदास के विषय में हम लोगों को इतना अवश्य ज्ञात है कि यह महाराज बुड्ढे होकर मरे थे; क्योंकि यह स्वयं कहते हैं—

"केसव केसनि असि करी, जैसी अरि न कराहिं;
चंद्रबदनि, मृगलोचनी, 'बाबा' कहि-कहि जाहिं।

केशवदास पंडित होने पर भी पंडितों की भाँति रूखे न थे; वरन् बुढ़ापे को इस कारण बुरा समझते थे कि चंद्रवदनी स्त्रियाँ इनको नायक की दृष्टि से न देखकर बूढ़े बाबा समझती थीं। फिर, इंद्रजीतसिंह इनको गुरु की भाँति मानते थे; परंतु इन्होंने उनकी गणिकाओं तक का बड़े आदर के साथ वर्णन किया

* संवत सोरह सै असी, असी-गंग के तीर;
सावन-सुकुला सत्तिमी, तुलसी तज्यो सरीर।

है। यहाँ तक कि उनका रायप्रवीन के साथ अनुचित (?) संपर्क तक वर्णन करने से इन्होंने मुँह नहीं मोड़ा। उसी गणिका की इन्होंने रमा, सरस्वती और शिवा तक की समता कहने में कोई दोष न समझा—

"नाचत, गावत, पढ़त सब, सबै बजावत बीन ;
तिनमें करति कबित्त यक रायप्रबीन प्रबीन।
रतनाकर-पालित सदा, परमानंदहि लीन ;
अमल कमल कमनीय कर, रमा कि रायप्रबीन।
रायप्रबीन कि सारदा, सुचि रुचि बासित अंग ;
बीना-पुस्तक-धारिनी, राजहंससुत संग।
वृषभ-बाहिनी अंग उर, बासुकि लसत प्रबीन ;
सिव सँग सोहति सर्बदा, सिवा कि रायप्रबीन।
सबिता जू कबिता दई, ता कहँ परम प्रकास ;
ताके कारने कबिप्रिया कीन्हीं केसवदास।"

रसिक होने के अतिरिक्त केशवदास कोरे भक्त भी न थे। इन्होंने कृष्ण की शनि से उत्प्रेक्षा कही है। यथा—"राहु मनो शनि अंक लिए"—रसिकप्रिया। और, रामचंद्र के विषय में यह संदेह उपस्थित कराया कि "कैधौं कोऊ ठग हौ ठगोरी कीन्हे कैधौं तुम हरि हर श्री हौ शिवा चाहत फिरत हौ।" कोरा भक्त राम की ठग से, कृष्ण की शनि से और एक गणिका की शिवा, रमा तथा शारदा से समता कभी न करता। फिर भी केशवदास को रामचंद्र का इष्ट था। यथा—"केशवदास तहीं कस्यो रामचंद्र जू इष्ट।"—रामचंद्रिका।

केशवदास ने कुल मिलाकर सात ग्रंथ बनाए हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त भी इनके कुछ स्फुट छंद मिलते हैं। रसिकप्रिया, विज्ञानगीता, कविप्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित्र, जहाँगीर-

चंद्रिका और नखशिख-नामक केशव-कृत ग्रंथ अब तक ज्ञात हुए हैं।

रसिकप्रिया। यह ग्रंथ सन् १५९२ ई० (सोमवार, कार्त्तिक-सुदी, संवत् १६४८ वि०) में समाप्त हुआ। यह इंद्रजीतसिंह की इच्छानुसार बनाया गया, जैसा कि इसका नाम प्रकट करता है। इस ग्रंथ में रसिकों को रुचिकर वर्णन हुआ है। यहाँ तक कि वीर, रौद्र, बीभत्स, शांत आदि रसों तक में शृंगार-रस का पीछा नहीं छोड़ा गया है। इन्होंने प्रच्छन्न और प्रकाश प्रायः सभी उदाहरणों में दिखाया है।

नव-रस कथन से मुख्य ग्रंथ का प्रारंभ हुआ है। फिर संयोग और वियोग एवं प्रच्छन्न और प्रकाश शृंगार का वर्णन है। तदनंतर नायिका-जाति (अर्थात् पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी) दिखाकर केशवदास ने चारों प्रकार के नायकों का वर्णन किया है। आपने फिर कर्मानुसार नायिका-भेद कहा है। जैसे अधिकतर कविजनों ने इस कर्म-भेद को कहा है, वैसे विस्तार के साथ केशवदास ने नहीं कहा। फिर चारों प्रकार के दर्शन (साक्षात्, श्रवण, चित्र, स्वप्न) कहकर इन्होंने हाव-भावों का कथन किया है, और इसके पश्चात् वियोग-शृंगार कहकर शेष आठों का शृंगार से मिला हुआ वर्णन किया है। यह बिलकुल अच्छा नहीं है। अंत में चारों वृत्तियों (कैशिकी, भारती, आरभटी, सात्त्विकी) को दिखाकर कवि ने सोलहवाँ अध्याय भी समाप्त कर दिया है। केशवदास ने गणिका को अति निंद्य समझकर उसका वर्णन इस ग्रंथ में नहीं किया। इसमें केशवदास ने कविता के कुल अंगों का वर्णन न करके केवल भाव-भेद और रस-भेद, का किया है, और वह भी विस्तार-पूर्वक नहीं। इसमें जहाँ तक हो सका है, शृंगार-रस का ही अवलंब लिया गया है। आकार में यह पद्माकर-कृत जगद्विनोद

के बराबर होगा। उत्तमता में मतिराम-कृत रसराज से मिलता-जुलता है; परंतु उसके बराबर नहीं पहुँचता। यह केशवदास का प्रथम ग्रंथ है, अतः इसे बहुत उत्कृष्ट पाने की आशा करना उचित नहीं। तो भी यह ख़राब नहीं है, और इनका प्रथम ग्रंथ होने पर भी भाषा के श्रेष्ठ ग्रंथों में इसकी गणना है।

विज्ञानगीता। यह ग्रंथ संवत् १६६७ वि० (१६११ ई०) में बना। समय के अनुसार यह केशवदास का चौथा ग्रंथ है; परंतु शोक है कि उत्तमता में यह उनके अच्छे ग्रंथों में सबसे घटकर है। इसमें इक्कीस अध्याय हैं, जिनमें बारह अध्याय तक महामोह और विवेक की लड़ाई का वर्णन है। शेष नव में ज्ञान कहा गया है। प्रथम अध्याय में कवि-वंश तथा राज-वंश संक्षेप से कहे गए हैं, और एक प्रकार से ग्रंथ की प्रस्तावना भी इसी अध्याय में आ गई है। द्वितीय में काम और रति की बात-चीत होती है। तीसरे में दंभ और अहंकार काशी-विजय का विचार करते हैं। इसमें पेट के दो पद्य अच्छे हैं। चौथे अध्याय में महामोह सेना सजकर चलता है, और सातों द्वीपों (जिनका वर्णन विष्णुपुराण में हुआ है) एवं अवतारों को देखता है। इन अंतिम तीनों अध्यायों की कविता बहुत शिथिल है। पाँचवें अध्याय में कलिनाथ और उसकी रानी की बहस होती है। छठे में कलिनाथ अपनी विजयों और चमू का वर्णन करता है, तथा रानी काशी का माहात्म्य कहती है। सातवें अध्याय में चार्वाक की कलि से बात-चीत हुई है। आठवें में शांति एवं करुणा का वर्णन है। नवें में राजधर्म द्वारा महामोह लड़ाई का उद्योग करता है; परंतु वर्षा-ऋतु के कारण लड़ाई का प्रारंभ नहीं करता। दसवें अध्याय में वर्षा एवं शरद् का अच्छा वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में तीन स्तोत्र, पुराने संस्कृत के कवियों के ढंग पर, बने हैं, जो श्लाघ्य भी हैं। उनकी टेकें निम्न-लिखित हैं—

" प्रबोधो उदो देहि श्रीबिंदुमाधो ।"

" राखि लेहु, राखि लेहु, राखि लेहु विश्वनाथ ।"

" नमो देवि गंगे, नमो देवि गंगे ।"

इन तीनों स्तोत्रों द्वारा विवेक अपने देवतों को प्रसन्न करता है। बारहवें अध्याय में महामोह से विवेक का महाघोर युद्ध हुआ है, जिसमें महामोह पूर्णतया पराजित हो गया। यह युद्ध बहुत ही संक्षिप्त रीति से कहा गया है। इन बारह अध्यायों में प्रथम, दशम और एकादशम को छोड़कर शेष प्रशंसनीय नहीं हैं। इनकी कथा का भाव संस्कृत के प्रबोधचंद्रोदय-नाटक से लिया गया है। तेरहवें अध्याय में माया और चौदहवें में शुकदेवजी के वर्णन हैं। पंद्रहवें में मन, शुद्धि, विवेक तथा पूजा का हाल है। यह अध्याय औरों की अपेक्षा कुछ अच्छा है। सोलहवें में राजा शिखिध्वज और उसकी रानी चुड़ाला की कथा योगवाशिष्ठ से लेकर कही गई है। सत्रहवें में ज्ञान-विज्ञान की भूमिका है। अट्ठारहवें अध्याय में प्रह्लाद की कथा, उन्नीसवें में बलि की कथा एवं विप्रमहिमा और बीसवें में योग की सात भूमिकाएँ लिखी गई हैं। केशवदास ने अपने अंतिम (इक्कीसवें) अध्याय में सीधा-सादा कामकाजी योग कहा है। यह अध्याय भी बहुत ही मनोहर है। उदाहरण-स्वरूप एक छंद नीचे लिखा जाता है—

"निसि-बासर वस्तु-बिचारहि कै मुख साँचु हिए करुना-घनु है ;
अघ-निग्रह, संग्रह धर्म-कथानि, परिग्रह साधुनि को गनु है।
कहि 'केसव' भीतर जोग जगै अति बाहर भोगनि सों तनु है ;
मन हाथ सदा जिनके, तिनको बनुही घरु है, घरु ही बनु है।"

विज्ञानगीता के प्रथमार्द्ध में रूपक द्वारा मनुष्य के मोह और विवेक का युद्ध दिखाया गया है। इसमें विशेष गुण बहुत कम हैं, और इसका मुख्यांश या तो शिथिल काव्य है, या साधारण। उत्कृष्ट

काव्य तीन ही अध्यायों में पाया जाता है। इस ग्रंथ का द्वितीयार्द्ध प्रकाश्य रूप से ज्ञान और वैराग्य का कथन करता है। केशवदास ने संस्कृत के ज्ञान-संबंधी मुख्य-मुख्य भेदों को सूक्ष्मतया कहा है; परंतु पूर्णतया किसी विभाग का वर्णन नहीं किया। इसमें साफ़-साफ़ और क्रमबद्ध रीति से न तो गीता का ज्ञान कहा गया है, और न योगवाशिष्ठ का। कहना पड़ता है कि श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ने में जो अकथनीय और अलौकिक आनंद प्राप्त होता है, उसका चतुर्थांश आनंद भी विज्ञानगीता में नहीं मिलता। यह कहा जा सकता है कि इस विज्ञानगीता द्वारा संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों को लाभ हो सकता है; परंतु केशवदास-जैसे पंडित को ज्ञान का अधिक क्रम-बद्ध वर्णन करना चाहिए था। इनकी गीता पढ़ने से यही ध्यान में आता है कि व्यासदेव और केशवदास की कवित्व-शक्ति में पृथ्वी और आकाश का अंतर है। यदि केशवदास ने केवल विज्ञानगीता बनाई होती, तो हम उन्हें दूसरे दर्जे का कवि कहते। भगवद्गीता पढ़ने में ज्ञान के साथ-साथ काव्य का भी पूरा आनंद आता है। फिर भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि विज्ञानगीता में सदोष काव्य नहीं है।

कविप्रिया। यह ग्रंथ संवत् १६५८ वि० की कार्त्तिक-सुदी ५, बुधवार, को समाप्त हुआ। इसमें केशवदास ने अपने कुल एवं राजकुल का पूरा वर्णन दिया है। यह इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। यह विचारणीय विषय है कि रामचंद्रिका इनके सब ग्रंथों में उत्तम है, या कविप्रिया? ये दोनों ही ग्रंथ उत्कृष्ट हैं; परंतु हम रामचंद्रिका को कविप्रिया से श्रेष्ठ समझते हैं। कविप्रिया में सत्रह अध्याय हैं। इसमें केशवदास ने कविता के दूषण, कवियों के गुण-दोष, कविता की जाँच, अलंकार, बारहमासा, नखशिख और चित्र-काव्य लिखा है।

प्रथम अध्याय में राज-वंश और द्वितीय में कवि-वंश कहा गया है। तृतीय अध्याय में दोषों का वर्णन है। इन्होंने लिखा है कि—

"बिप्र न नेगी कीजिए, मूढ़ न कीजै मित्त।
प्रभु न कृतघ्नी सेइए, दोषन-सहित कवित्त।"

केशवदास ने पाँच मुख्य और बारह असुख्य दूषण कहे हैं। पाँच मुख्य दूषणों में अंध (पंथविरोधी), बधिर (शब्दविरोधी), पंगु (छंदविरोधी), नग्न (अलंकारहीन) और मृतक (अर्थहीन) की गणना है। द्वादश साधारण दोष ये हैं—

अगण, हीनरस, यतिभंग, व्यर्थ (अर्थविरोध), अपार्थ (मतवालों अथवा बच्चों की-सी निरर्थक बात), कर्णकटु, पुनरुक्ति, देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, लोकविरुद्ध, न्यायविरुद्ध और आगमविरुद्ध।

चतुर्थ अध्याय में केशवदास ने काव्य को तीन प्रकार का कहा है—उत्तम, मध्यम और अधम। इन्होंने देवकाव्य को उत्तम, नरकाव्य को मध्यम और सदोष को अधम कहा है।

केशव ने सत्य-भाषिणी, असत्य-भाषिणी और सत्यासत्य-भाषिणी तीन प्रकार की कविमति स्थिर की है। फिर इन्होंने कविता के नियम कहे हैं। पंचम अध्याय से अलंकारों का वर्णन आरंभ हुआ है। इन्होंने अलंकारों के सामान्य और विशिष्ट, दो भेद किए हैं। सामान्य अलंकारों में आपने रंग, चित्र, गति और राजश्री का वर्णन किया है। इन सामान्य अलंकारों एवं समस्त कविप्रिया में इन्होंने अपना आचार्यत्व प्रकट किया है। सफ़ेद बालों के तीन छंद उत्कृष्ट हैं। छठे अध्याय में सीता के मुख की प्रशंसा में तीन भावों में घटित होनेवाला निम्न-लिखित छंद बहुत ही बढ़िया है—

"हरि-कर-मंडन, सकल दुख-खंडन,
मुकुर महि-मंडल को कहत अखंड मति;

परम सुबास, पुनि पीउष-निबास,
परिपूरन प्रकास, 'केसौदास' भू-अकास गति ।
बदन मदन-कैसो, श्रीजू को सदन जिहि
सोदर सुभोदर दिनेसजू को मीत अति ;
सीताजू के मुख-सुषमा की उपमा को
कहि कोमल न कमल, अमल न रजनिपति ।"

सातवें अध्याय में समुद्र, नगर, सूर्योदय, षट् ऋतु आदि के बहुत-से प्रकृष्ट वर्णन हैं । आठवें में राजश्री का समीचीन वर्णन किया गया है । इससे जान पड़ता है, यह राजों के बीच रहे हैं ।

नवें अध्याय से विशिष्ट अलंकारों का प्रारंभ होता है । प्रायः सभी कवियों ने अलंकारों के कथन में इसी विशिष्ट विभाग का वर्णन किया है । केशवदास ने अलंकारों में अन्य कवियों की भाँति क्रम नहीं कहा, और न सब अलंकार ही कहे हैं । तेरहवें अध्याय तक अलंकारों का वर्णन हुआ है । इसमें, बहुत स्थानों में, एक-एक अलंकार को बहुत बढ़ाकर कहा है, और उसके साथ कितने ही अलंकारों का नाम ही नहीं लिया गया । बहुत-से अलंकारों में अन्य कवियों के कहे हुए नामों के प्रतिकूल नाम इन्होंने कहे हैं। दशम अध्याय में, आक्षेपालंकार में, बारहमासा भी कहा है। पंद्रहवें अध्याय में नखशिख और सोलहवें में यमक है । इनका नखशिख बहुत विशद बना है । सत्रहवें अध्याय में केशवदास ने चित्र-काव्य लिखा और उसको बड़े परिश्रम से बनाया है । कवि-प्रिया केशवदास का बहुत श्लाघ्य ग्रंथ है, और इन्होंने उसे वैसा ही माना भी है । आपने कहा है—

"सगुन पदारथ, अरथजुत, सुबरनमय सुभ साज ;
कंठमाल ज्यों कबिप्रिया कंठ करौ कबिराज ।

सुबरन-जटित पदारथनि भूषन-भूषित मानि ;
कविप्रिया है कविप्रिया कवि-संजीवनि जानि ।"

केशवदास ने अपने किसी और ग्रंथ की इतनी प्रशंसा नहीं की। जैसे रसिकप्रिया वास्तव में रसिकप्रिया है, वैसे ही कविप्रिया भी सचमुच कविप्रिया है। केशवदास ने अपना पूरा आचार्यत्व इस ग्रंथ में समाप्त कर दिया है। इसको पढ़ने से मनुष्य कविता का विषय बहुत कुछ जान सकता है। कविता के जिज्ञासुओं को काव्य सीखने में यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी है। यह ग्रंथ इंद्रजीत की गणिका रायप्रवीण के लिये बना है। इसमें शृंगार-रस को कवि ने बहुत कम रक्खा है, और बहुत-से विषयों पर कविता की है। फिर भी इसे प्रधानतः अलंकारों का ग्रंथ कहना चाहिए; क्योंकि अलंकारों के अतिरिक्त इसमें गुण-दोष, षट् ऋतु और नखशिख के सिवा कुछ नहीं कहा गया। यह ग्रंथ कुल मिलाकर बहुत विशद बना है, और इसी से केशवदास को भाषा-काव्य में आचार्य की पदवी मिली है।

रामचंद्रिका। इस ग्रंथ को केशवदास ने सं० १६५८ वि०, कार्तिक-सुदी १२, बुधवार को समाप्त किया। इसे इंद्रजीतसिंह ने बनवाया था। कविप्रिया की भाँति रामचंद्रिका भी केशवदास का बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें इन्होंने रामचंद्र की कथा कही है। यह ग्रंथ उंतालीस अध्यायों में समाप्त हुआ है। केशवदास ने रामचंद्र की उत्पत्ति के उपरांत कथा का आरंभ किया है। इन्होंने राम की बाल-लीला बिलकुल नहीं कही। केशवदास को वाल्मीकि ने स्वप्न में राम-यशोगान करने का उपदेश दिया था। उसी समय से इन्होंने रामचंद्र को इष्टदेव माना। विश्वामित्र के अयोध्या-प्रवेश के साथ केशवदास ने अयोध्या का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। इसको पढ़ने से जान पड़ता है कि राजों की सभा कैसी

होती है। तुलसीदास ने महाराजा और साधारण राजा की सभा में बहुत कम अंतर रक्खा है। परंतु केशवदास नित्य सभाएँ देखते थे। वह इसमें ग़लती कैसे करते? इन्होंने विमति से सीता-स्वयंवर में एक शंका उठवाई है; परंतु उसका कोई उत्तर नहीं दिया—

"रावन, बान महाबली, जानत सब संसार;
जो दोऊ धनु कर्षिहैं ताको कहा बिचार?"

यह शंका उठनी न चाहिए थी; क्योंकि जो व्यक्ति पहले धनुष चढ़ाता, जनक के प्रण के अनुसार, उसी को जानकीजी व्याह दी जातीं, और प्रण पूर्ण हो जाता। फिर उसके पीछे चाहे सैकड़ों मनुष्य धनुष चढ़ाया करते, परंतु उनसे और राजा जनक के प्रण से कोई संबंध न होता। रावण के धनुष न उठा सकने पर उसका बाण से यह बहाना करना कि "मैं तो इसे आज़मा चुका, और पल-भर में उठा लूँगा, अब कुछ आप भी तो उठाकर देखिए।", बड़ा ही अच्छा है। वैसे ही बाण का बहाना भी देखने योग्य है। केशवदास कथा के अमुख्य वर्णनों के लिये न ठहरकर तुरंत मुख्य कथा का वर्णन करने लगते हैं। यह इनमें बड़ा गुण है। इन्होंने जेवनार में गाली बड़ी ही चटकीली गवाई हैं; परशुराम से राम के झगड़े के समय महादेव को बुलाकर बहुत अच्छा निबटारा करा दिया है; और जब भरत राम को वन से फेरने गए, उस समय भरत को भागीरथी से समझवा दिया है। यह भी झगड़ा मिटाने का अच्छा ढँग है, यद्यपि इस स्थान पर तुलसीदास का काव्य अपूर्व आनंद देता है। केशवदास ने विभीषण की कठोर बातों पर रावण को क्रोधित कराया है। जब अंगद रावण से बसीठी करने गए थे, उस समय रावण ने उन्हें मिला लेने का पूरा प्रयत्न किया। रावण के योद्धाओं का बड़ा अच्छा परिचय दिया गया है। जब रावण ने कुंभकर्ण से कठोर बात कही, तब मंदोदरी ने अपने तीनों लड़कों को

पुकारकर कहा कि "तुम्हारे पिता भाइयों से भिड़ते हैं। तुम उन्हें क्यों नहीं समझाते ?" इसके पीछे उसने कुंभकर्ण की बड़ी प्रशंसा की। यह वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक और मनोरम है। मंदोदरी का वानरों से डरकर चित्रशाला में भागना तथा अंगद द्वारा उसकी दुर्गति होने पर रावण का यज्ञ छोड़ देना परम स्वाभाविक है। इन सब वर्णनों की उत्तमता देखकर केशवदास की अपूर्व कवित्व-शक्ति की जितनी बड़ाई की जाय, थोड़ी है। सीता का अग्नि के अंक में रामचंद्र के पास जाना भी खूब बढ़िया है। रामचंद्र ने वानरों इत्यादि का वशिष्ठ से परिचय कराने में भी बहुत विशद रीति का अनुगमन किया है। हनुमान् के विषय में रामचंद्र ने कहा—

"सीता पाई, रिपु हत्यो, देख्यो तुम अरु गेहु ;
रामायण जय-सिद्धि को कपि-सिर टीका देहु।"

इसके पीछे रामचंद्रिका की कविता कुछ शिथिल पड़ गई है। रामचंद्र ने दो अध्यायों में राजश्री की निंदा की है। इसके पीछे राम का राज्याभिषेक हुआ। ऐसे समय राजश्री की निंदा अयुक्त जान पड़ती है। अभिषेक में केशवदास ने राजसी ठाट अच्छा दिखाया है। अभिषेक के पीछे अंगद ने रामचंद्र से कहा कि "अब म रघुवंशियों से लड़कर अपने बाप का बदला लेना चाहता हूँ।" रामचंद्र ने कहा—

"कोऊ मेरे वंस में तोसों करि है जुद्ध ;
तब तेरो मन होइगो अंगद मोसों सुद्ध।"

फिर जब रामचंद्र ने लव-कुश को युद्धोन्मुख देखा, तब अंगद से कहा—

"अंगद जीति इन्हैं गहि ल्याओ ;
कै अपने बल मारि भगाओ।

वेगि बुझावहु चित्त-चिता को ;
आजु तिलोदक देहु पिता को।"

अंगद की मनःकामना भी बड़ी ही स्वाभाविक थी। इसी प्रकार गुरुगोविंदसिंह को पितृहंता समझकर उनके दो मुसलमान विश्वास-पात्र-सैनिकों ने उन पर प्रहार किया था।

केशवदास ने भी गोसाईंजी की भाँति भरत का स्वभाव एवं उनका पद बहुत ऊँचा दिखलाया है। चौगान का वर्णन अच्छा है। केशवदास ने ओड़छे के नौचौकिया-महल के मुक़ाबिले में रामचंद्र के यहाँ पाँच चौकें लिखी हैं। राजप्रासाद के वर्णन में भी इन्होंने दिखा दिया है कि कवि ऐसे-ऐसे पदार्थ देखता रहा है। केशव की कविता में राम के राजर्षी गुण खूब प्रकट हुए हैं। जल-केलि, उपवन आदि के वर्णन एवं दूत की कटु बात का साफ़-साफ़ न कहलाना अच्छा हुआ। श्वान की फ़र्याद में मठपतियों की निंदा है। सीता-त्याग से कथा और कविता फिर बहुत उत्कृष्ट हो गई है। इसके पीछे लवणासुर का वध कहा गया है। वह ब्राह्मणों को सताता था। शत्रुघ्न ने उसे युद्ध-घोषणा के प्रथम अंतिम संदेश यह कहला भेजा—

"महाराज श्रीराम हैं कुद्ध तोसों ;
तजौ देश को, कै सजौ जुद्ध मोसों।"

जब लव-कुश लक्ष्मण तक को जीत चुके, और हनुमान् भरत के साथ युद्ध को गए, तब उन्होंने बड़ा ही स्वाभाविक आश्चर्य प्रकट किया कि—

"नाम-बरन लघु, बेष लघु, कहत रीझि हनुमंत ;
इतो बड़ो बिक्रम कियो, जीत्यो समर अनंत।"

यहाँ शत्रु पर भी हनुमान् का रीझना बड़ा ही स्वाभाविक है। क्योंकि सच्चा शूर ही सच्चे शूर के विक्रम पर रीझ सकता है, और वह अवश्य रीझेगा, उसका चाहे जितना बड़ा अपकार हो गया हो।

शायद बिना विभीषण की लताड़बाज़ी के कोई रामायण पूर्ण नहीं की जा सकती; परंतु खेद है कि हमारे यहाँ केशव के सिवा संस्कृत तक के कवियों को यह न सूझा कि विभीषण ने कोई बुरा काम भी किया, या नहीं। सब कवियों ने उसकी इसी कारण बड़ी भारी प्रशंसा की कि वह रामचंद्र का भक्त था; परंतु शोक है कि उसके प्रचंड दोष पर कवियों ने ध्यान न दिया। यह सत्य है कि यदि कोई उसके राक्षसी कर्म की तीव्र आलोचना करता, तो शायद थानेश्वर और पानीपत में पृथ्वीराज और राणा साँगा को अपने अनुयायियों के उसी राक्षसी व्यवहार के कारण पराजय का असह्य और घातक दुःख न सहना पड़ता। जब आर्यों और अनार्यों का घोर युद्ध होने को था, उस समय यह क्षुद्र-हृदय विभीषण रावण के थोड़े-से अनादर से न केवल रावण को, बरन् सब राक्षसों के पक्ष को छोड़कर उन्हीं के मूलोच्छेद में प्रवृत्त हुआ! फिर अपने सगे भाई और भतीजों को अपने सम्मुख मरवा डालने में भी इस राक्षस को तनिक पश्चात्ताप न आया। यह बराबर उनके मारे जाने की तरकीबें रामचंद्र को बताता गया। केशवदास राजों में रहते थे, और प्रत्येक मनुष्य के अपने देश तथा अपने कुल की रक्षा के कर्तव्य एवं धर्म को खूब समझते थे। अतः इन्होंने लव द्वारा विभीषण का इन शब्दों में उपहास कराया—

"तब दौरिकै बान बिभीषन लीन्हो;
लव ताहि बिलोकत ही हँसि दीन्हो।
लव—आउ बिभीषन तू रन-दूषन;
एक तुही कुल को कुलभूषन।
जूझि जुरे, जे भले भए जी के;
सत्रुहि आइ मिले तुम नीके।
देवबधू जब हीं हरि ल्यायो;

क्यों तब हीं तजि ताहि न आयो ?
यों अपने जिय के डर आए ;
छुद्र, सबै कुल-छिद्र बताए ।
जेठो भैया, अन्नदा, राजा, पिता समान ;
ताकी तैं पतनी करी पतनी मातु-समान ।
को जानै कै बार तू कही न ह्वै है माय ;
सो तैंने पतनी करी सुनु पापिन को राय ।
सिगरे जग माँझ हँसावत है ;
रघुबंसिन पाप नसावत है ।
धिक तो कहँ तू अजहूँ जु जियै ;
खल, जाय हलाहल क्यों न पियै ?
कछु है अब तो कहँ लाज हिए ;
कहि कौन विचार हथ्यार लिए ?
अब जाइकै रोप कि आगि जरौ ;
गर बाँधिकै सागर बूड़ि मरौ ।
कहा कहौं हौं भरत को, जानत है सब कोइ ;
तो-सो पापी संग में, क्यों न पराजय होइ ?"

अंत में राम ने आठों पुत्रों और भतीजों को अपना सब राज बाँटकर उनको नीति का उपदेश दिया । केशवदास ने रामचंद्र की स्वर्ग-यात्रा का वर्णन नहीं किया । रामचंद्रिका वास्तव में महाकाव्य है, और उसके लक्षण भी उसमें मिलते हैं ।

केशवदास ने पात्रों के शील-स्वभाव का भी अच्छा वर्णन किया है । इन्होंने भरत को बिलकुल दब्बू भाई नहीं दिखलाया। जैसे सब छोटों में वह बड़े थे, वैसे ही उनका महत्त्व भी अच्छा दिखाया गया है । सब राम ने भरत से सीता के तईं छोड़ आने को कहा, तब उन्होंने स्वयं रामचंद्र से यह कहा—

"वै माता, वैसे पिता तुम-सो भैया पाइ,
भरत भए अपवाद को भाजन भूतल आइ।"

जब लव, कुश ने उनके दो भाइयों को मार डाला, तब भरत ने कहा—

"बालक रावन के न सहायक;
ना लवनासुर के हित लायक।
हैं निज पातक-बृच्छन के फल;
मोहत हैं रघुबंसिन के दल।
सत्रुघ्न तज्यो तन सोदर लाजनि;
पूत भए तजि पाप-समाजनि।
हम हूँ तेहि तीरथ जाइ मरैंगे;
सतसंगति दोष अशेष हरैंगे।"

रामचंद्रिका ग्रंथ भाषा-काव्य का शृंगार है। भाषा-साहित्य में तुलसी-कृत रामायण के सिवा ऐसा रोचक ग्रंथ एक भी नहीं है। इस ग्रंथ में, गणना में, कविप्रिया से अधिक प्रकृष्ट छंद नहीं हैं; परंतु इसमें एक पूज्य कथा भी वर्णित है, इसी कारण इसकी रोचकता बहुत बढ़ गई है। इसे एक बार उठा लेने से रामचंद्र के लंका जीतकर अयोध्या लौटने तक का हाल पढ़ लिए बिना पुस्तक रखने को चित्त ही नहीं चाहता। इस ग्रंथ में केशवदास छंद इतनी शीघ्रता से बदलते गए हैं कि वे कहीं अरुचिकर नहीं होते।

भाषा-साहित्य में कथा-प्रसंग-वर्णन करने की, छंदोनुसार, दो प्रणालियाँ हैं। एक तो गोसाईंजी की भाँति दोहे-चौपाइयोंवाली, और दूसरी केशवदास की भाँति विविध छंदोंवाली। प्रथम प्रकार में काव्य बहुत उत्कृष्ट न होने पर वर्णन रोचक नहीं रहता; परंतु द्वितीय प्रथा में, साहित्य की विशेष उत्तमता न होने पर भी, कथा

उतनी शीघ्र अरुचिकर नहीं होती। यह द्वितीय प्रथा केशवदास ने इसी ग्रंथ द्वारा चलाई है।

केशवदास भाषा-कविता के प्रायः अरुणोदय-काल में हुए हैं, अतः इन्होंने एक रीति-ग्रंथ भी बनाया। अब रीति-ग्रंथ बनाने की भी परिपाटी-सी चल पड़ी है।

कथा-वर्णन करने की भी दो प्रथाएँ हैं। एक तो संस्कृत के कवियों की भाँति, दूसरी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति। इन दोनों प्रथाओं का अंतर हम एक उदाहरण द्वारा दिखलावेंगे। संस्कृत के कवि यदि भुजा का कथन करेंगे, तो वे उसकी लंबाई का, बजुल्ले का, कलाई की गठन का और अँगूठियों का वर्णन करके उसे छोड़ देंगे; किंतु यदि गोसाईंजी भुजा का वर्णन करेंगे, तो शायद इन बातों का कथन न हो; परंतु बाहु-मूल से लगाकर उँगलियों के नखों तक का, बिना उपमा-रूपक आदि के, सीधा-सादा रूप, एक-एक रोमपर्यंत, दिखा देंगे। संस्कृत के कवि मुख्य कथा को छोड़कर रूपकों, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं आदि पर विशेष ध्यान देंगे; सूर्योदय, समुद्र और गंगा की तरंगों आदि पर अधिक रुझान रक्खेंगे; नायकों के काव्य-संबंधी चुटीले भाव सुझाने वाले छोटे-छोटे कर्मों तथा भावों को कहकर उनके सहारे काव्य की छटा दिखावेंगे; और सूक्ष्म रीति पर कथा का भी सूत्र लिए रहेंगे। इधर गोस्वामीजी इन बातों पर विशेष ध्यान न देंगे; किंतु मुख्य कथा को सांगोपांग, बड़े विस्तार से, कहेंगे। यदि नैषध पढ़िए, तो कहीं-कहीं यह भूल जाता है कि हम कोई कथा पढ़ रहे हैं। जान पड़ता है, यह कोरा काव्य है। परंतु तुलसीदास की कृति में यह कहीं नहीं भूलता कि हम कथा पढ़ रहे हैं। जिस प्रथा को हम तुलसीदासवाली अथवा भाषा की प्रथा कह रहे हैं, वह वास्तव में महर्षि वाल्मीकि और वेदव्यास की प्रथा है। संक्षेपतः हम इ

दोनों प्रथाओं को काव्य-संबंधी प्रथा और कथा-संबंधी प्रथा कहेंगे। महाकवि केशवदास ने इसी काव्य-प्रथा में रामचंद्रिका कही है। ये दोनों प्रथाएँ भाषा में भी स्थिर हैं, और अपने-अपने ढंग पर दोनों अच्छी हैं।

केशवदास का बनाया हुआ वीरसिंहदेव पर भी एक ग्रंथ है। जहाँगीरचंद्रिका और नखशिख, ये इनके और दो ग्रंथ हैं।

इधर वीरसिंहदेव-चरित्र देखा गया, तो प्रायः दोहे-चौपाइयों में कथा-प्रणाली का ग्रंथ पाया गया। इसकी रचना उत्तमता में साधारण है। यह प्रकाशित भी हो चुका है।

अब हम यथाशक्ति केशवदास की कविता के गुण-दोष दिखाने का प्रयत्न करते हैं—

केशवदास गोस्वामी तुलसीदासजी के समकालीन कवि थे। उस समय तक भाषा-साहित्य स्थिर नहीं हुआ था। इसी कारण पंडित-समाज में इसकी कविता आदर की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। अतः ये दोनों कवि (हिंदी) 'भाषा' में काव्य करते कुछ हिच-कते या शरमाते-से थे। गोस्वामीजी ने लिखा है—

"भाषा भनिति मोरि मति थोरी ; हँसिबे-जोग, हँसे नहिं खोरी।"

इसी प्रकार केशवदास ने कहा है—

"उपज्यों तेहि कुल मंदमति सठ कबि केसवदास ;
रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकास।
भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास ;
भाषा-कवि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास।"

शायद इसी भाषा-कवि होने की ग्लानि के कारण इन दोनों कवियों ने यत्र-तत्र श्लोक भी बनाए हैं। केशवदास की भाषा व्रज-भाषा थी ; परंतु कहीं-कहीं बुँदेलखंडी शब्द भी इसमें मिल गए हैं।

केशवदास की कविता में संस्कृत के शब्द बहुतायत से आते थे। इसी कारण उसमें कहीं-कहीं श्रुति-कटु शब्द भी आ गए हैं। संस्कृत-शब्दों में मिलित वर्ण बहुत-से होते हैं; किंतु हिंदी में अधिकतर ऐसे ही वर्ण श्रुति-कटु समझे जाते हैं। केशवदास शब्दों की योजना में कर्ण-कटु नहीं मानते। इनके मत में जब अर्थ-योजना ऐसी हो कि वह कहने में अच्छी न लगे, तब कर्ण-कटु दूषण होता है। यथा—

"कहत न नीको लागई सो कहिए कटु-कर्न;
केसवदास कबित्त में भूलि न ताको वर्न।
बारन बन्यो बनावतनि सुबरन बली बिसालु;
चढ़िए राज मँगाइ कै, मानौ राजत कालु।"

इस उदाहरण में एक भी शब्द कर्ण-कटु नहीं है: परंतु अर्थ में श्रुति-कटु दोष अवश्य है।

इस बात के होते हुए भी केशवदास की भाषा बहुत श्लाघ्य है। दो-चार चुने-चुने आचार्यों को छोड़कर और किसी की भी भाषा इनसे श्रेष्ठ नहीं है। बहुत लोग समझते हैं कि इनकी कविता में ओज गुण अधिकता से है। परंतु इनकी प्रायः समस्त कविता पढ़कर हम यही कहेंगे कि उसमें माधुर्य और प्रसाद गुणों की ही प्रधानता है। इनकी भाषा के उदाहरण-स्वरूप एक छंद हम नीचे देते हैं—

"सोभित मंचन की अवली गज-दंत मई छबि उज्वल छाई;
ईस मनौ बसुधा में सुधारि सुधाधर-मंडल मंडि जुन्हाई।
ता महँ 'केसवदास' बिराजत राजकुमार सबै सुखदाई;
देवन सों मिलि देव-सभा जनु सीय-स्वयंबर देखन आई।"

केशवदास ने अपने कथावाले ग्रंथों में छंद बहुत शीघ्र बदले हैं। इस कारण इनकी रामचंद्रिका और भी सुहावनी हो गई है।

अपने रीति और रस-ग्रंथों में इन्होंने प्रायः लक्षण आदि दोहों में और उदाहरण सवैयों अथवा दंडकों में कहे हैं। यह रीति इन्हीं की चलाई हुई है। बाद को भाषा के प्रायः सभी कवियों ने इनका अनुकरण किया है। केवल कथा-प्रसंगवाले कवियों में से बहुतों ने गोस्वामी तुलसीदास के मार्ग पर चलकर दोहे-चौपाइयों में ही कविता की है।

केशवदास ने तुकांत में बड़ी कड़ाई नहीं रक्खी। कई स्थानों पर सवैए के दो पदों में एक प्रकार के तुकांत रक्खे हैं, और शेष दो में बिलकुल दूसरे प्रकार के (रामचंद्रिका, अध्याय सातवाँ छंद चौंतीसवाँ, अध्याय चौबीसवाँ छंद बाईसवाँ, अध्याय उंतालीसवाँ छंद छत्तीसवाँ देखिए)। विज्ञानगीता में भी एक स्थान पर 'साधु' का दूसरा तुकांत 'करालु' रक्खा है (पृष्ठ १९वाँ देखिए)। इसी प्रकार कई स्थानों में किया है। इससे प्रकट होता है कि आप तुकांत को अधिक नहीं मानते थे। परंतु, शोक है कि इनके पीछे कवियों ने इस स्वच्छंदता को स्थिर नहीं रक्खा। भाषा में तुकांत-हीन छंद लिखने में कोई दोष नहीं; परंतु अभी इसे बहुत कम लोग मानते हैं।

केशवदास को अनुप्रास का इष्ट न था, जैसा कि इनके बनाए हुए पूर्वोक्त छंदों से प्रकट होगा। परंतु कभी-कभी एकआध अनुप्रास-पूर्ण पद्य भी यह लिख देते थे। यथा—

"सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी;
निघटी रुचि मीचु घटी हू घटी, जग जीव जतीन की छूटी तटी।
अघ-ओघ कि बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रगटी गुरु ज्ञान गटी;
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी, गुन धूरजटी जटी पंचबटी।"

इस छंद को इन्होंने 'एषा पंचबटी' इत्यादि श्लोक देखकर बना दिया होगा। इसी प्रकार बहुत स्थानों पर इन्होंने संस्कृत के भाव

ले लिए हैं। यहाँ तक कि कितने ही स्थानों पर प्रसन्नराघव-नाटक आदि के पुराने श्लोकों का उल्था भी कर दिया है।

केशवदास की कविता में अलंकार बहुतायत-से आए हैं। परंतु पूर्ण रसों के उदाहरण इनकी या बहुत-से कवियों की कविता में अधिकता से नहीं पाए जाते। इन्होंने परिसंख्यालंकार बहुत स्थानों पर लिखा है ('मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय' इत्यादि)। रामराज्य का वर्णन विशेषकर परिसंख्यालंकार ही में हुआ है। उपमा, रूपक और दृष्टांत भी अधिकता से इनके काव्य में पाए जाते हैं। विज्ञानगीता में रसों और अलंकारों के उदाहरण बहुत कम आए हैं।

केशवदास की कविता में उत्तमोत्तम छंदों का बाहुल्य है। प्रायः प्रत्येक विषय पर इन्होंने उत्कृष्ट कविता की है, और वह हर-एक विषय पर सराहनीय है। केशवदास को भाषा का 'मिल्टन' कहना चाहिए। इन दोनों कवियों का पांडित्य और काव्य अत्यंत सराहनीय है; परंतु शेक्सपियर और तुलसीदास एवं सूरदास की कविता के बराबर इनकी कविता नहीं पहुँचती। जहाँ केशवदास ने प्रत्येक विषय पर विशद काव्य किया है, वहाँ यह भी कहना पड़ता है कि इनकी कविता किसी स्थान पर ऐसी नहीं है कि वैसी रचना कोई दूसरा कवि न बना सका हो। कोई भी विना तन्मय हुई अद्वितीय काव्य नहीं बना सकता। हमारे कवियों में सूरदास, तुलसीदास, देव, विहारीलाल, भूषण आदि एक-एक विषय में आसक्त थे। अतः उस-उस विषय पर उन्होंने ऐसी उत्तम रुची कविता की है, जैसी किसी भाषा का कोई भी कवि उस विषय पर नहीं लिख सका। केशवदास किसी विषय में तल्लीन होकर आत्मविस्मरण नहीं कर सकते थे, अतः इनकी कविता ऐसी कहीं नहीं हुई, जिससे जान पड़े कि मानो कवि

तन्मय कर हो कह रहा है। यह महाशय बड़े पंडित और बुद्धिमान् थे; परंतु स्वभाव-कवि न थे। तो भी, अद्वितीय न होने पर भी, इनकी कविता ऊँचे दरजे की है, और हम सूरदास, तुलसीदास, भूषण, विहारी और देव के अतिरिक्त इनको किसी हिंदी-कवि से नीचा पद नहीं दे सकते।

केशवदास ने बहुत बातों के बड़े ही हृदयग्राही वर्णन किए हैं। निम्न-लिखित विषयों के वर्णन विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं—

अयोध्या, स्वयंवर, सूर्योदय, राम-विवाह, परशुराम और राम का संवाद, भरत की सेना, वर्षा, लंकादाह, उपवन, रामाश्वमेध की चमू (रामचंद्रिका में) तथा वर्षा और शरद् का वर्णन (विज्ञान-गीता में)।

केशवदास सदैव महाराजों में रहे, अतः इन्होंने बड़े आदमियों की बात-चीत और उनके साज-सामान का बहुत ही ठीक, यथा-योग्य, वर्णन किया है। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित वार्तालाप देखिए—

विश्वामित्र और दशरथ का, विश्वामित्र और जनक का, सीता और रावण का (इसमें स्त्रियों के ऊँचे पद का पूरा विचार रहा है), सीता और हनुमान् का इत्यादि। केशवदास ने केवल रावणांगद-संवाद ऐसा कराया है, जैसा राजों की सभाओं में होना असंभव है। इस विषय में वाल्मीकिजी की कविता दर्शनीय है। केशवदास ऋषियों और राजों की बात-चीत में ऋषियों के मान पर सदैव ध्यान रखते थे।

इन्होंने कहीं-कहीं अनुपयुक्त कथन भी कह दिए हैं।

रावण का दूत रामचंद्र से कुछ कहने के लिये उनके पास भेजा गया था। उसने लौटकर रावण से रामचंद्र का वर्णन निम्न-लिखित दंडक द्वारा किया—

"भूतल के इंद्र भूमि बैठे हुते रामचंद्र
मारिच-कनक-मृगछालहि बिछाए जू ;
कुंभहर कुंभकर्न-नासाहर गोद सीस
चरन अकंप-अच्छ-अरि-उर लाए जू।
देवांतक, नरांतक त्यों हीं मुसक्यात बीर
बिभीषन बैन तन कान रुख बाए जू ;
मेघनाद-मकराच्छ-महोदर-प्रानहर
बान त्यों बिलोकत परम सुख पाए जू।"

यह छंद सुनकर केशवदास के रावण को कुछ भी क्रोध नहीं आया। ऐसे कटु वाक्य केशवदास भले ही कहें, परंतु स्वयं रावण का दूत रावण ही से ऐसा कहकर अपने प्राण गँवाए बिना कभी न बचता। ऐसी-ऐसी बातें हमारे कवियों ने भक्ति-भाव के कारण, रावण को ज़लील करने के लिये, कहलाई हैं ; परंतु उन्होंने यह नहीं सोचा कि ये बातें संभव और संगत भी हैं या नहीं।

केशवदास ने जहाँ तक हो सका है, सनाढ्यों की बड़ी बड़ाई की है। ये बातें इनके-से कवि के मुख से शोभा नहीं पातीं।

केशवदास ने सीता के छोड़े जाने के कुछ ही पहले जो सीता और राम का वार्तालाप कराया है, उसमें काल-विरुद्ध दूषण है। वह ऐसी ही बात-चीत है, जैसी आजकल की यहाँ की स्त्रियाँ अपने पतियों से करती हैं। परंतु उस समय स्त्रियों का पद यहाँ भी वैसा ही था, जैसा आजकल योरप में है। इस विषय में भवभूति-कृत उत्तररामचरित्र देखने योग्य है।

केशवदास ने कविप्रिया में पृथ्वी को त्रिकोण कहा है (छठा अध्याय)। वास्तव में यह आकार भारत का है, जैसा कि सब जानते हैं। पृथ्वी गोल है। इससे अनुमान होता है कि केशवदास ज्योतिष अच्छी तरह नहीं जानते थे।

महर्षि विश्वामित्र का राक्षसों द्वारा यज्ञ में विघ्नकरने से पीड़ित होना एक आश्चर्य की बात है। यह संदेह उठता है कि ऋषि लोग तो शाप से ही अपना काम चला लेते थे, तब विश्वामित्र शाप से काम न लेकर अयोध्या क्यों दौड़े आए? इसका उत्तर वाल्मीकि ने दे दिया है। विश्वामित्र ने कई बार क्रोध करके अपनी तपस्या का फल खो दिया था, अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि क्रोध न करेंगे। बिना क्रोध के शाप भी नहीं दिया जा सकता, इस कारण वह शाप भी नहीं दे सकते थे। गोस्वामी तुलसीदास ने इस बात को बचाकर विश्वामित्र को क्रोध के वश नहीं कराया। परंतु केशवदास ने कह दिया—

"जान्यो बिस्वामित्र के क्रोध बस्यो उर आय;
राजा दसरथ सों कह्यो बचन बसिष्ठ बनाय।"

आजकल हमारे यहाँ तीर्थ-स्थान और प्रतिमा बहुत माननीय हैं। परंतु केशवदास संभवतः इन दोनों बातों के कुछ प्रतिकूल थे। उन्होंने गोदावरी के विषय में लिखा है—

"रीति मनों अबिबेक कि थापी; साधुन की गति पावत पापी।"

इन्होंने रामचंद्रिका में गंगासागर से सत्संग को बड़ा बतलाया है, और विज्ञानगीता में लिखा है—

"चित्त न तजत बिकार न्हात जद्यपि नर गंगा।"

फिर इसी ग्रंथ में कहा है कि प्रतिमा-पूजन शूद्र को करना चाहिए। इन्होंने मठपतियों की इतनी निंदा की है कि उनके छूने में भी पाप बतलाया है। केशवदास ने असली देव की व्याख्या रामचंद्रिका के पचीसवें अध्याय में रामचंद्र से इस प्रकार कराई है—

"राम रमापति देव नहिं रंग न रूप न भेव;
देव कहत ऋषि कौन को सिखऊँ जाकी सेव?
सत चित प्रकास प्रभेव; तेहि बेद मानत देव।

तेहि पूजि ऋषि रुचि मंडि ; सब प्राकृतन को छंडि ।"

इसी प्रकार विज्ञानगीता के पंद्रहवें अध्याय में लिखा है—

"अजन्मु है, अमर्नु है ; असेष अंतु सर्नु है ।
अनादि, अंत-हीनु है ; जु नित्य ही नवीनु है ।
अरूप है, अमेय है ; अमाप है, अमेय है ।
निरीह, निर्बिकार है ; सुमध्य अध्यहार है ।
अकृत्य है, अखंडित्वै ; असेष जीव मंडित्वै ।
समस्त सक्ति-जुक्त है ; सु देवदेव मुक्त है ।
ताकी पूजा करहु ऋषि, कृत्रिम देवन छंडि ;
मनसा बाचा कर्मना, निपट कपट को खंडि ।"

इसी अध्याय में इन्होंने कहा है कि वासना छोड़कर प्राणायाम साधना अच्छा है । इन कथनों से प्रकट है कि केशवदास भी सूर-दास की भाँति केवल एक परमेश्वर को मानते और शेष देवतों को कृत्रिम समझते थे ।

वासना छोड़ना एवं प्राणायाम साधना गीता का आशय है । विज्ञानगीता का, उदाहरण-स्वरूप, जो छंद ऊपर कहा गया है, वह भी गीता के आशय पर है, और उसी के आशय पर विज्ञानगीता-वाला जीवन्मुक्त का यह लक्षण भी है—

"लोक करैं सुख-दुःखनि के जनि राग बिरागनि या महँ आनैं ;
डारैं उपारि समूल अहंतरु, कंचन काँच न जो पहिचानैं ।
बालक ज्यों भँवैं भूतल में, भव आपुन से जड़-जंगम जानैं ;
'केसव' वेद पुरान प्रमान तिन्हैं सब जीवनमुक्त बखानैं ।"

इन्होंने विज्ञानगीता के इस दोहे में अद्वैत मत का बड़ा ही हृदयग्राही उदाहरण दिया है—

"देव अरूप, अमेय है कहे निरीह प्रकास ;
सर्वजीवमंडित कहौ कैसे 'केशवदास' ?

ज्यों अकास घट-घटनि में पूरन लीन न होइ ;
यों पूरन संदेह में रहै कहैं मुनि लोइ।"

केशवदास कहते हैं कि मनुष्य नित्यप्रति लौट-लौटकर वही कर्म करता है, परंतु आश्चर्य कि इससे वह ऊबता नहीं। इनके मत में संसार और स्वर्ग-नरक के लक्षण यों हैं—

"जोही जानौ कर्म सब सबै जगत के कंत ;
आदि सरस, मध्यम बिरह, अति नीरस है अंत।
जोई करै सु भोगवै यह समुझौ नृपनाथ ;
स्वर्ग-नरक, बंधन-मुकुत, मानो मन की गाथ।"

इस प्रकार गूढ़ ज्ञान कहकर इन्होंने साधारण मनुष्यों के लिये स्थूल ज्ञान भी कहा है।

केशवदास ने दान दो प्रकार के कहे हैं—एक सुपात्रों को और द्वितीय कुपात्रों को।

इनके मत में कुपात्रों को दान देने से दानी को पुण्य के बदले घोर पाप होता है। सुपात्रों को दान तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजस और तामस—

"पूजिए द्विज आपने कर नारिसंजुत जानिए ;
देवदेवहि थापिकै पुनि बेद-मंत्र बखानिए।
हाथ लै कुस, गोत्र उच्चरि, स्वर्नजुक्त प्रमानिए ;
दान दै कछु और दीजहि दान सात्त्विक जानिए।"

"देत नहीं अपने कर दानै ; औरन हाथ जु मंगल जानै।
दानहि देत जु आरसु आवै ; सो वह राजस दान कहावै।"
"बिप्रन दीजत हीन बिधानै ; सो वह जानहु तामस दानै।"

"द्विज धाम देहिं जु जाय ; बहु भाँति पूजि सुराय।
कछु नाहिनै परिमान ; कहिए सु उत्तम दान।"
"द्विज कौ जु देत बुलाय ; कहिए सु मध्यम राय।"

"गुनि जाँचना मिस दानु ; अति हीन ता कहँ जानु ।"

दानपात्रों का क्रम इन्होंने यों कहा है—

"पहिले निज बर्त्तिन देहु अवै ; फिरि पावहिं नागर लोग सबै ।
फिरि देहु सबै निज देसिन को ; उबरो धनु देहु बिदेसिन को ।"

दान सकाम तथा अकाम एवं दक्षिण (धर्मनिमित्त) और बाम (धर्म-विरुद्ध) भी होते हैं ।

केशवदास ने भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ माना है । इन्होंने दानपात्र ब्राह्मणों को ही माना है, और उन्हीं में न्यूनाधिक गुणों के कारण उत्तमता की न्यूनाधिकता कर दी है । इन्होंने भूखों, कंगालों आदि का दान से अधिक संबंध नहीं माना, और न देशहितकारक दानों का वर्णन किया है ।

केशवदास ने हर स्थान पर ब्राह्मणों की महिमा गाई है । उदाहरणार्थ दो-चार छंद नीचे लिखे जाते हैं—

"द्विज दोषी न बिचारिए, कहा पुरुष, कह नारि ;
राम, बिराम न कीजिए, बाम ताड़ुका तारि ।"

× × ×

"ब्रह्म-दोष के अग्निकण सब समूल जरि जात ।"

× × ×

"ज्यों द्विज-दोष ते संतति नासति, त्यों गुन भाजत लोभ के आगे ।"

× × ×

"बिप्र न जानहु ये जग-रूपै, जानहु ये सब बिष्णु-स्वरूपै ।"

"साचारो वा निराचारो साधुर्वाऽसाधुरेव च ;
अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः ।"

× × ×

"जिनके पूजे तुम भए अंतर्जामी श्रीप ;
तिनकी बात हमैं कहा बूझत त्रिभुवन-दीप ।"

× × ×

"गाय, द्विजराज, तिय काज न पुकार लागै
भोगवै नरक घोर चोर को अभय दानि।"

परंतु इसके साथ ही केशवदास शत्रु पर आनेवाली दया को भी निंद्य समझते थे—

"दया धिक अरि पै आवै।"

अंत में केशवदास ने सब धर्मों का सार निम्न-लिखित कलि-धर्म कहा है—

"जब बेद पुरान नसैहैं; जप तीरथ मध्य बसैहैं।
उपदेस जु मारि किंवारे; कलि केवल नाम उधारे।"

स्त्रियों के वास्ते केशवदास ने केवल पतिभक्ति धर्म कहा है—

"कुबजे, कलही, काहली, कुटिल, कृतघ्न, कुरूप;
सपने हू न तजै तरुनि कोढ़ी हू पति भूप।
नारी तजै न आपनो सपने हू भरतार;
पंगु, गुंग, बौरा, वधिर, अंध, अनाथ अपार।"

केशवदास ने अपने सब ग्रंथों में अन्य ग्रंथों के छंद बराबर लिखे हैं। इनकी कविता कुछ कठिन भी होती है। यहाँ तक कि कवियों में यह बात प्रसिद्ध है—

"कवि कहँ दीन न चहै बिदाई। पूछै केसव की कविताई।"

केशवदास सर्वव्यापिनी दृष्टि के कवि (poet of general vision) थे। इन्होंने रामचंद्रिका में रामचंद्र की ठग से भी समता कराई है। इसका यह प्रयोजन नहीं है कि कवि उन्हें ठग कहता है, वरन् जंगल में ऐसे लोग भी मिलते थे, जो उन्हें ठग समझ बैठते थे। इसी भाँति इन्होंने हनुमान् के विषय में विभीषण से रावण को यह सलाह दिलवाई कि—

"एक रंक मारि क्यों बड़ो कलंक लीजई;
बुंद सोकिगो कहा महासमुद्र छीजई?"

केशवदास ने एक महाकाव्य भी बनाया है, क्योंकि रामचंद्रिका वास्तव में महाकाव्य है, और महाकाव्य के लक्षण भी इसमें मिलते हैं। केशवदास के मतानुसार भी यह उत्तम काव्य है।

केशवदास भाषा-काव्य के एक बड़े भारी कवि थे, और देवजी आदि ने भी इनको महाकवि माना है। यथा 'केशव आदि महाकविन' इत्यादि। ये महाशय भाषा के भाम-मम्मट के समान थे।

हम अब इस प्रबंध को केशवदास-कृत रचना के कुछ उदाहरणों के साथ समाप्त करते हैं। हिंदी के अनेक रसिक सूर तथा तुलसी के अतिरिक्त केशव को ही सर्वश्रेष्ठ कवि समझते हैं। हमारी समझ में इनका नंबर छठा है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

उदाहरण—

रामचंद्रिका

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सबै काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को;
बिपति हरत हठि पद्मिनि-पात सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुष को।
दूरि कै कलंक अंक भव-सीस-ससि-सम,
राखत हैं 'केसौदास' दास के बपुष को;
साँकरे की साँकरनि सनमुख होत ही तो
दसमुख मुख जोवै गजमुख मुख को।
बानी जगरानी की उदारता बखानी जाइ,
ऐसी मति कहौ धौं उदार कौन की भई?
देवता, प्रसिद्ध सिद्ध, ऋषिराज तप-वृद्ध,
कहि-कहि हारे सब, कहि न केहूँ लई।
भावी, भूत बर्तमान जगत बखानत है,
'केसौदास' कहूँ न बखानी काहू पै गई;

पति कहै चारि मुख, पूत कहै पाँच मुख,
नाती कहै षटमुख तदपि नई नई।
पूरन पुरान अरु पुरुष पुरान परि-
पूरन बतावैं न बतावैं और उक्ति को;
दरसन देत जिन्हैं दरसन समुझै न,
नेति-नेति कहैं बेद छाँड़ि भेद जुक्ति को।
जानि यह 'केसौदास' अनुदिन राम-राम,
रटत रहत, न डरत पुनरुक्ति को;
रूप देहि अनिमाहि, गुन देहि गरिमाहि,
भक्ति देहि महिमाहि, नाम देहि मुक्ति को।

बोलि न बोल्यो बोल, दयो फिरि ताहि न दीन्हो;
मारि न मार्‍यो शत्रु, क्रोध मन बृथा न कीन्हो।
जुरि न मुरे संग्राम, लोक की लीक न लोपी;
दान, सत्य, सनमान, सुजस दिसि-बिदिसा ओपी।
मन लोभ, मोह, मद, कामबस भयो न 'केसवदास' भनि;
सोइ परब्रह्म श्रीराम हैं, अवतारी अवतारमनि।

गाधिराज को पुत्र साधि सब मित्र सत्रु-बल;
दान-कृपान-विधान बस्य कीन्हो भुवमंडल।
कै मन अपने हाथ, जीति जग इंद्रियगन अति;
तप-बल याही देह भए छत्रिय ते ऋषिपति।
तेहि पुर प्रसिद्ध 'केसव' सुमति काल अतीतागतनि गुनि;
तहँ अद्भुत गति पगु धारियो बिस्वामित्र पवित्र मुनि।

पुनि आए सरजू सरित तीर;
तहँ देखे उज्जल अमल नीर।
नव निरखि-निरखि दुति गति गँभीर;
कछु बरनन लागे सुमति धीर।

अति निपट कुटिल गति जदपि आप ;
वह देत सुद्ध गति छुवत आप।
कछु आपुन अध-अध गति चलंत ;
फल पतितन कहँ ऊरध फलंत।
मदमत्त जदपि मातंग संग ;
अति तदपि पतित-पावन तरंग।
बहु न्हाइ-न्हाइ जेहि जल सनेह ;
सब जात स्वर्ग सूकर सदेह।

देखी बन बारी, चंचल भारी, तदपि तपोधन मानी ;
अति तपमय लेखी, गृह-थित पेखी, जगत दिगंबर जानी।
जग जदपि दिगंबर, पुष्पवती नर, निरखि-निरखि मन मोहै ;
पुनि पुष्पवती तन, अति-अति पावन, गर्भ-सहित सब सोहै।
पुनि गर्भ सँजोगी, रति रस-भोगी, जग जनलीन कहावै ;
गुनि जग जनलीना, नगर प्रबीना, अति पति के चित भावै।
अति पतिहि रमावै, चित्त भ्रमावै, सौतिन प्रेम बढ़ावै ;
अब यों दिन-रातिन, अद्भुत भाँतिन, कबि-कुल-कीरति गावै।

मूलन ही की जहाँ अधोगति 'केसव' गाइय ;
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय।
दुर्गति दुर्गन ही, जु कुटिल गति सरितन ही मैं ;
श्रीफल को अभिलाष प्रकट कबिकुल के जी मैं।

अति चंचल जहँ चलदलै, बिधवा बनी न नारि ;
मन मोह्यो ऋषिराज को अद्भुत नगर निहारि।

जिन हाथन हठि हरषि हनत हरिनी नृपनंदनि ;
तिन न करत संहार कहा मदमत्त गयंदनि ?
जिन बेधत सुख लच्छ-लच्छ नृपकुँअर, कुँअरमनि ;
तिन बानानि बाराह, बाघ मारत नहिं सिंहनि ?

नृप-नाथ नाथ दसरथ, सुनिय, अकथ कथा यह मानिए;
मृगराज-राज-कुल-कलस अब बालक बृद्ध न जानिए।
तरु तालीस, तमाल, ताल, हिंताल मनोहर;
मंजुल बंजुल, तिलक, लकुच-कुल, नारिकेर बर।
एला, ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै;
सारो, सुक-कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै;
सुभ राजहंस, कलहंस-कुल नाचत मत्त मयूरगन;
अति प्रफुलित, फलित सदा रहै 'केसवदास' बिचित्र बन।
सोभित मंचन की अवली गजदंतमयी छबि उज्ज्वल छाई;
ईस मनो बसुधा मैं सुधारि सुधाधरमंडल मंडि जुन्हाई।
तामहँ 'केसवदास' बिराजत राजकुमार सबै सुखदाई;
देवन सों जनु देव-सभा मिलि सीयस्वयंबर देखन आई।
कुंडल परसन मिस कहत, कहौ कौन यह राज;
संभु-सरासन-गुन करौं करनालंबित आज?

रावण—

बज्र को अखर्ब गर्ब गंज्यो ज्यहि पर्वतारि,
जीत्यो है सुपर्ब सर्ब भाजे लै लै अँगना;
खंडित अखंड आसु कीन्हो है जलेस-पासु,
चंदन सों चंद्रिका सों कीन्ही चंद-बंदना।
दंडक में कीन्हो कालदंड हू को मान खंड,
मानो कीन्ही काल ही की कला खंड-खंडना;
'केसव' कोदंड बिस-दंड ऐसे खंडै अब
मेरे भुज-दंडन की बड़ी है बिडंबना।

बाण—

हौं जब-हीं-जब पूजन जात पिता-पद पावन पाप-प्रनासी;

देखि फिरौं तब-हीं-तब रावन, सातौ रसातल के जे बिलासी।
लै अपने भुजदंड अखंड करौं छिति-मंडल छत्र-प्रभा-सी;
जानै को 'केसव' केतिक बार मैं सेस के सीसन दीनी उसासी।
कैटभ-सो, नरकासुर-सो पल में मधु-सो, मुर-सो ज्यहि मार्‌यो;
लोक चतुर्दस-रच्छक 'केसव' पूरन बेद-पुरान बिचार्‌यो।
श्री-कमला-कुच-कुंकुम-मंडित पंडित देव-अदेव निहार्‌यो;
सो कन माँगन को बलि पै करतारहु ने कर तार पसार्‌यो।

रावण—

भौंर ज्यों भँवत भूत बासुकी-गनेस-जुत,
मानौ मकरंद बुंद माल गंगजल की;
उड़त पराग पट-नाल-सी बिसाल बाहु,
कहा कहौं 'केसौदास' सोभा पल-पल की।
आयुध सघन सर्बमंगलासमेत सर्ब,
पर्बत उठाय गति कीन्हीं है कमल की;
जानत सकल लोक, लोकपाल, दिगपाल,
जानत न बान, बात मेरे बाहु-बल की?

खंडित मान भयो सबको नृप-मंडल हारि रह्यो जगती को;
ब्याकुल बाहु, निराकुल बुद्धि, थक्यो बल बिक्रम लंकपती को।
कोटि उपाव किए कहि 'केसव' केहू न छाँड़त भूमि रती को;
भूरि बिभूति प्रभाव सुभावहि ज्यों न चलै चित जोगि-जती को।
ब्योम में मुनि देखिए रबि लाल श्री सुख साजहीं;
सिंधु में बड़वागि की तनु ज्वाल-माल बिराजहीं।
पद्मरागनि की किधौं दिवि धूरि पूरित सोहई;
सूर बाजन की खुरी अति तिच्छता तिनकी हई।
चढ़्यो गगन-तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख;

कीन्ह्यो झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन।
सातहु दीपन के अवनीपति हारि रहे जिय मैं जब जाने;
बीस बिसे ब्रत भंग भयो सु कहौ अब 'केसव' को धनु ताने ?
सोक कि आगि लगी परिपूरन, आइ गए घनस्याम बिहाने;
जानकी के, जनकादिक के सब फूलि उठे तरु-पुन्य पुराने।
सब छत्रिन आदि दै काहू छुई न, छुए बिजनादिक बात डगै;
न घटै न बढ़ै निसि-बासर 'केसव' लोकन को तम तेज भगै।
भवभूपन भूषित होत नहीं, मदमत्त गजादि-मषी न लगै;
जल हू थल हू परिपूरन श्री निमि के कुल अद्भुत ज्योति जगै।
आपने-आपने ठौरनि तौ भुवपाल सबै भुव पालैं सदाई;
केवल नाम ही के भुवपाल कहावत हैं, भुव पालि न जाई।
भूपन की तुम ही धरि देह विदेहन मैं कल कीरति गाई;
'केसव' भूषन की भव-भूषन भू-तन तें तनया उपजाई।
एक सुखी यहि लोक बिलोकिए, हैं वहि लोक निरै पगुधारी;
एक इहाँ दुख देखत 'केसव', होत उहाँ सुरलोकबिहारी।
एक इहाँ-ऊ-उहाँ अति दीन, सु देत दुहूँ दिसि के जन गारी;
एकहि भाँति सदा सब लोकन है प्रभुता मिथिलेस, तिहारी।
बर बान सिखीन असेष समुद्रहि सोखि सखा सुख ही तरिहौं;
पुनि लंकहि औटि कलंकित कै फिरि पंक कलंकहि की भरिहौं।
भल भूँजिकै राकस खाकस कै दुख दीरघ देवन को हरिहौं;
सितिकंठ के कंठन को कठुला दसकंठ के कंठन को करिहौं।

प्रचंड हैहयादि राज दंड मान जानिए;
अखंड कीर्ति लेय भूमि देय मान मानिए।
अदेव, देव जे अभीत रच्छमान लेखिए;
अमेय तेज भर्ग भग्न भार्गवेस देखिए।
टूटै टूटनहार तरु बायुहि दीजत दोष;

त्यों अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष।
हम पर कीजत रोष, काल-गति जानि न जाई;
होनहार ह्वै रहै मिटै मेटे न मिटाई।
होनहार ह्वै रहै मोह-मद सबको छूटै;
होइ तिनूका बज्र, बज्र तिनुका ह्वै टूटै।

'केसव' हैहयराज को मास हलाहल कौरन खाइ लियो रे;
ता लगि मेद महीपन को घृत घोरि दियो, न सिरानो हियो रे।
खीर षड़ानन को मद पूरन, सो पल मैं करि पान लियो रे;
तौ लौं नहीं सुख जौ लौं न तू रघुबंस को सोनु-सुधा न पियो रे।

कंठ कुठार जसै अब हार कि फूलो असोक ससोक समूरो;
कै चितसारी चढ़ै कि चिता तन चंदन-चित्र कि पावक पूरो।
लोक मैं लोक बड़ो अपलोक सु 'केसवदास' जु होउ सु होऊ;
विप्रन के कुल को भृगुनंदन, सूरज के कुल सूर न कोऊ।

सुनि सकल लोकगुरु जामदग्नि;
तप बिसिख असेषन की जु अग्नि।
सब बिसिख छाँड़ि सहिहौं अखंड;
हर-धनुष कस्यो जिन खंड-खंड।

भगन भयो हर-धनुष साल तुमको अब सालै;
वृथा होइ बिधि-सृष्टि, ईस आसन ते चालै।
सकल लोक संहरहु, सेष सिर ते धर डारो;
सप्तसिंधु मिलि जाहिं, होहि सब ही तन भारो।
अति अमल जोति नारायनी कहि 'केसव' बुझि जाहि बरु;
भृगुनंद, सँभारु कुठार, मैं कियो सरासनजुक्त सरु।

वासों मृग अंग कहैं, तासों मृगनैनी सब,
वह सुधाधरु, तुहूँ सुधाधर मानिए;
वह द्विजराज, तेरे द्विजराज राजैं, वह

कलानिधि, तुहूँ कला-कलित बखानिए ।
रत्नाकर के हैं दोऊ 'केसव' प्रकास कर
अंबर बिलास, कुवलय-हित मानिए ;
वह अति सतिकर, तुहूँ सीता सीतकर,
चंद्रमा-सी चंद्रमुखी सब जग जानिए ।
सब सारस हंस भए खग खेचर बारिद ज्यों बहु बारन गाजे ;
बन के नर, बानर, किन्नर बालक लै मृग ज्यों मृगनायक भाजे ।
तजि सिद्ध समाधिन 'केसव' दीरघ दौरि दरीन में आलन साजे ;
सब भूतल भूधर हाले अचानक आए भरत्थ के दुंदुभि बाजे ।
जुद्ध को आजु भरत्थ चढ़े धुनि दुंदुभि की दसहूँ दिसि धाई ;
प्रात चली चतुरंग चमू बरनी सु न 'केसव' कैसहुँ जाई ।
यों सबके तनत्रानानि पै झलकी अरुनोदय की अरुनाई,
अंतर ते जनु रंजन को रजपूतनि की रज ऊपर आई ।
उठिकै धर-धूरि अकास चली ;
बहु चंचल बाजि खुरीन दली ।
भुव हालति जानि अकास हिए ;
जनु थंभित ठौरहिठौर किए ।
रन राजकुमार अरूझहिंगे जू ;
बहु सम्मुख घायनि जूझहिंगे जू ।
जनु ठौरनि-ठौरनि भूमि नबीने ;
तिनके चढ़िबे कहँ मारग कीने ।
रहि पूरि बिमाननि व्योमथली ;
तिनको जनु टारन धूरि चली ।
परिपूरि अकासहि धूरि रही ;
सु गयो मिटि सूर-प्रकास सही ।
अपने कुल को कलह क्यों देखहिं रबि भगवंत,

यहै जानि अंतर कियो मानो मही अनंत।
बहु तामहँ दीह पताक लसैं;
जनु धूम में अग्नि की ज्वाल बसैं।
रसना किधौं काल कराल घनी;
किधौं मीचु नचै चहुँ ओर बनी।
देखि भरत की चल धुजा धूरिन मैं सुख देति;
जुद्ध जुरन को मनहुँ प्रति जोधन बोले लेति।
कच स्वेत बिराजैं, कीरति राजैं, जनु 'केसव' तप-बल की;
तनु बलित पलित जनु सकल बासना निकरि गईं थल-थल की।
कंपित सुभ ग्रीवा, सब अँग सींवा, देखत चित्त भुलाहीं;
जनु अपने मन प्रति, यह उपदेसति, या जग मैं कछु नाहीं।
सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी;
निघटी रुचि मीचु घटी हू घटी जग जीव जतीन की छूटी तटी।
अघ-ओघ की बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रगटी गुरु-ज्ञान-गटी;
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी गुन धूरजटी जटी पंचबटी।
हिमांसु सूर-सो लगै सु बात बज्र-सी बहै;
दिसा लगैं कृसानु ज्यों बिलेप अंग को दहै।
बिसेष कालराति सी कराल राति मानिए;
बियोग सीय को न, काल लोकहार जानिए।
पतिनी पति बिनु दीन अति पति पतिनी बिनु मंद;
चंद बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिन जामिनि चंद।
कहूँ किन्नरी किंगरी लै बजावैं;
सुरी, आसुरी बाँसुरी गीत गावैं।
कहूँ जच्छिनी पच्छिनी लै पढ़ावैं;
नगीकन्यका पन्नगी को नचावैं।
पियैं एक हाला, गुहैं एक माला;

बनी एक बाला नचै चित्रसाला।
कहूँ कोकिला कोक की कारिका को,
पढ़ावैं सुआ लै सुकी सारिका को।
फिस्यो देखि कै राजसाला सभा को;
रह्यो रीझि कै बाटिका की प्रभा को।
फिस्यो बीर चौहूँ चितै सुद्ध गीता;
बिलोकी भली सिंसिपा-मूल सीता।
आँसु बरषि, हियरे हरषि, सीता सुखद सुभाइ;
निरखि-निरखि पिय-मुद्रिकहि बरनति हैं बहु भाइ।
यह सूर-किरन तम दुःख-हारि;
ससि-कला किधौं उर सीतकारि।
कल कीरति-सी सुभ सहित नाम;
कै राज-सिरी यह तजी राम।
कै नारायन उर सम लसंति;
सुभ अंकन ऊपर श्री बसंति।
बर बिद्या-सी आनंद दानि;
जुत अष्टापद मनु सिवा मानि।
जनु माया अच्छर सहित देखि;
कै पत्री निश्चयदानि लेखि।
प्रिय-प्रतीहारिनी-सी निहारि;
'श्रीरामोजय' उच्चारकारि।
पिय पठई मानौ सखि सुजान;
जगभूपन को भूषन-निधान।
निजु आई हमको सीख देन;
यह किधौं हमारो मरमु लेन।
सुखदा, सिखदा, अर्थदा जसदा रसदातारि;

रामचंद्र की मुद्रिका किधौं परम गुरुनारि।
बहुबरना, सहजप्रिया, तमगुनहरा प्रमान ;
जग मारग दरसावनी सूरजकिरन समान।
श्रीपुर मैं, बन मध्य हौं, तू मग करी अनीति ;
कहि मुँदरी, अब तियन की को करिहै परतीति ?
कहि कुसल मुद्रिके, रामगात ;
पुनि लछिमन सहित समान तात ;
यह उत्तर देति न बुद्धिवंत ;
केहि कारन धौं हनुमंत संत ?
तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम ;
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।
दीरघ दरीन बसैं 'केसौदास' केसरी ज्यों,
केसरी को देखि बन-करी ज्यों कँपत हैं ;
बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चंद चितै चौगुनो चपत हैं।
केका सुनि ब्याल ज्यों बिलात जात घनस्याम,
घनन के घोरन जवासे ज्यों तपत हैं ;
भौंर ज्यों भँवत बन, जोगी ज्यों जगत रैनि,
साकत ज्यों राम नाम तेरोई जपत हैं।
जटी अग्नि-ज्वाला अटा स्वेत हैं यों ;
सरत्काल के मेघ संध्यासमै ज्यों।
लगी ज्वाल-धूमावली नील राजैं ;
मनो स्वर्न की किंकिनी नाग साजैं।
लसैं पीत छत्री मढ़ी ज्वाल मानौ ;
ढके ओढ़नी लंक बच्छोज जानौ।
जरैं जूह नारी चढ़ी चित्रसारी ;

मनौ चेति कामैं सती सत्यधारी।
कहूँ रैनिचारी गहे ज्योति गाढ़े;
मनो ईस-रोषाग्नि में काम डाढ़े।
कहूँ कामिनी ज्वाल-मालानि भोरैं;
तजैं लाल सारी, अलंकार तोरैं।
कहूँ भौन राते रचे धूमछाहीं;
ससी, सूर मानौ लसैं मेघ माहीं।
जरैं सस्त्रसाला मिली गंधमाला;
मलै-अद्रि मानो लगी दाव-ज्वाला।
चली भागि चौहूँ दिसा राजधानी;
मिली ज्वालमाला फिरैं दुःखदानी।
मनो ईसबानावली लाल लोलैं;
सबै दैत्य-जायान के संग डोलैं।
लंक लगाइ दई हनुमान बिमान बचे अति उच्चरुखी ह्वै;
पावि फटैं उचटैं बहुधा मनि, रानी रटैं बहु-पानी दुखी ह्वै।
कंचन को पघिल्यो पुर पूर, पयोनिधि मैं पसरेति सुखी ह्वै;
गंग हजारमुखी गुनि 'केसौ' गिरा मिली मानो अपारमुखी ह्वै।
भार के उतारिबे को औतरे हौ रामचंद्र,
किधौं 'केसौदास' भूरि भारत प्रबल दल;
टूटत हैं तरुबर, गिरे गन गिरिबर,
सूखे सब सरबर, सरिता सकल जल।
उचकि चलत हरि दचकनि दचकत,
मंच ऐसे मचकत भूतल के थल-थल;
लचकि-लचकि जात सेष के असेष फन,
भागि गई भोगवती अतल-बितल-तल।
दीनदयालु कहावत केसव, हौं अति दीन दसा गहि गाढ़ो;

रावन के अघ-ओघ में 'केसव' बूड़त हौं बरही गहि काढ़ो।
ज्यों गज की, पहलाद की कीरति, त्यों हीं बिभीषन को जस बाढ़ो;
आरत-बंधु पुकार सुनो किन, आरत हौं तौ पुकारत ठाढ़ो।
'केसव' आपु सदा ही सह्यो दुख, दासन देखि सके न दुखारे;
जाको भयो जेहि भाँति जहाँ दुख त्यों हीं तहाँ तिहि भाँति पधारे।
मेरियै बार अबार कहा, कहुँ नाहिंन दास के दोष बिचारे;
बूड़त हौं महामोह-समुद्र मैं, राखत काहे न राखनहारे।

इनको बिलगु न मानिए कहि 'केसव' पल आधु ;
पानी, पावक, पौन, प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु।

महामीचुदासी सदा पाइँ धोवै ;
प्रतीहार ह्वैकै सदा सूर सोवै ।
छपानाथ लीन्हे रहै छत्र जाको ;
करैगो कहा सत्रु सुग्रीव ताको ?
सका मेघमाला, सिखी पाककारी ;
करै कोतवाली महादंडधारी ।
पढ़ै बेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके ;
कहा बापुरो सत्रु सुग्रीव ताके ?

पेट चढ़्यो, पलना, पलिका चढ़ि पालकि हू चढ़ि मोद मढ़्यो रे;
चौक चढ़्यो, चितसारी चढ़्यो, गज-बाजि चढ़्यो, गढ़ गर्ब चढ़्यो रे।
ब्योम बिमान चढ़्योई रहै, कहि 'केसव' सो कबहूँ न पढ़्यो रे;
चेतत नाहिं रह्यो चढ़ि चित्त, सु चाहत मूढ़ चिता हू चढ़्यो रे।

जाके रथाग्र पर सर्प-ध्वजा बिराजै ;
श्रीसूर्य-मंडल-बिडंबन जोति साजै।
आखंडलीय बपु जो तनत्रानधारी ;
देवांतकै सु सुरलोक बिपत्तिकारी।
जो हंसकेतु, भुजदंड बिषंगधारी ;

संग्राम सिंधु बहुधा अवगाहकारी।
लीन्हीं छँड़ाइ जेहि देव-अदेव-बामा,
सोई खरात्मज बली मकराच्छ-नामा।
हन्यो बिघ्नकारी बली बीर बामै;
गयो सीघ्रगामी गए एक जामै।
चल्यो लै सबै पर्वतै कै प्रनामै;
न जान्यो बिसल्यौषधी कौन तामै।
लसैं औषधी चारु भो व्योम-चारी;
कहैं देखि यों देवदेवाधिकारी।
पुरी भौम की-सी लिए सीस राजै;
महामंगलार्थी हनूमंत गाजै।
किधौं प्रात ही काल जी मैं बिचार्‌यो;
चल्यो अंसु लै अंसुमाली सँहार्‌यो।
किधौं जात ज्वालामुखी जोर लीन्हे;
महामृत्यु जामें मिटै होम कीन्हे।
भगी देखिकै संकि लंकेस-बाला;
दुरी दौरि मंदोदरी चित्रसाला।
तहाँ दौरि गो बालि को पूत फूल्यो;
सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यो।
गहै दौरि जाको, तजै ताकि ताको;
तजै जा दिसा को, भजै बाम ताको।
भली कै निहारी सबै चित्रसारी;
लहै सुंदरी* क्यों दरी को बिहारी?
तजै दृष्टि को चित्र की सृष्टि धन्या;
हँसी एक ताको तहीं देव-कन्या।
तहीं हाँस ही देव-कन्या दिखाई;

गही संकिकै लंक-रानी बताई।
सु आनी गहे केस लंकेसरानी ;
तम-श्री मनो सूर सोभानिसानी।
गहे बाँह ऐंचै चहूँ ओर ताको ;
मनौ हंस लीन्हे मृनाली-लता को।
छुटी कंठमाला, लरैं हार टूटे ;
खसैं फूल फूले, लसैं केस छूटे।
फटी कंचुकी, किंकिनी चारु छूटी ;
पुरी काम की-सी मनौ रुद्र लूटी।
बिना कंचुकी स्वच्छ बच्छोज राजैं;
किधौं साँच हू श्रीफलै सोभ साजैं।
किधौं स्वर्न के कुंभ लावन्य-पूरे ;
बसीकर्न के चूर्न संपूर्न रूरे।
मनो इष्टदेवै सदा इष्ट ही के ;
किधौं गुच्छ द्वै काम-संजीवनी के।
किधौं चित्त-चौगान के मूल सोहैं ;
हिए हेम के हाल गोला बिमोहैं।
सुनी लंक-रानीन की दीन बानी ;
तहीं छाँड़ि दीन्हों महामौन मानी।
उठ्यो सो गदा लै जदा लंक-बासी ,
गए भागिकै सर्ब साखा-बिलासी।
जुद्ध जोई जहाँ भाँति जैसी करै, ताहि ताही दिसा रोकि राखै तहीं;
आपने अस्त्र लै सस्त्र काढ़ै सबै ताहि केहू कहूँ घाव लागै नहीं।
दौरि सौमित्रि लै बान कोदंड ज्यों खंड खंडी धुजा धीर-छत्रावली;
सैल-संगावली छोड़ि मानौ उड़ी एक ही बेर कै हंस-बंसावली।
लच्छन सुभ-लच्छन बुद्धि-बिचच्छन रावन सों रिस छोड़ि दई ;

बहु बाननि छंडै जे सिर खंडै ते फिरि मंडैं सोभंनई।
जद्यपि नर पंडित गुन-गन मंडित रिपुबल-खंडित भूलि रहे;
तजि मन-बच-कायक सूर-सहायक रघुनायक सों बचन कहे।
ठाढ़ो रन गाजत केहुँ न भाजत तन-मन लाजत सब लायक;
सुनि श्रीरघुनंदन मुनि-जनबंदन दुष्ट-निकंदन सुखदायक।
अब टरै न टार्‌यो मरै न मार्‌यो हौं हठि हार्‌यो धरि सायक;
रावन नहिं मारत, देव पुकारत ह्वै अति आरत जगनायक।

जेहि सर मधु, मुर मरदि महासुर मर्दन कीन्हेउ;
मारेहु कर्कस नरक, संख हति संख जु लीन्हेउ।
निष्कंटक सुर-कटक कर्‌यो, कैटभ-बपु खंड्यो;
खर, दूषन, त्रिसिरा, कबंध, तरु-खंड बिहंड्यो।
सह कुंभकर्न ज्यहि संहर्‌यो, पल न प्रतिज्ञा ते टर्‌यो;
तेहि बान प्रान दसकंठ के कंठ दसौ खंडित कर्‌यो।

सिगरे तन भूषन भूषित कीने;
धरिकै कुसुमावलि अंग नबीने।
द्विज, देवनि बंदि पढ़ी सुभ गीता;
तब पावक अंक चली चढ़ि सीता।
सबस्त्रा सबै अंग सिंगार सोहैं;
बिलोके रमा देव देबी बिमोहैं।
पिता-अंक ज्यों कन्यका सुभ्र गीता;
लसै अग्नि के अंक त्यों सुद्ध सीता।
महादेव के नेत्र की पुत्रिका-सी;
कि संग्राम की भूमि में चंडिका-सी।
मनो रत्न-सिंहासनस्था सची है;
किधौं रागिनी राग पूरे रची है।
गिरा-पूर में है पयो-देवता-सी;

किधौं कंज की मंजु सोभा प्रकासी ।
किधौं पद्म ही में सिफाकंद सोहै ;
किधौं पद्म के कोस पद्मा बिमोहै ।
कि सिंदूर-सैलाग्र मैं सिद्ध-कन्या ;
किधौं पद्मिनी सूर-संजुक्त धन्या ।
सरोजासना है मनौ चारु बानी ;
जपा-पुष्प के बीच बैठी भवानी ।
मनौ ओषधी-बृंद में रोहिनी-सी ;
कि दिग्दाह में देखिए जोगिनी-सी ।
धरा-पुत्र ज्यों स्वर्न-माला प्रकासै ;
मनौ ज्योति-सी तच्छकाभोग भासै ।
आसावरी मानिक-कुंभ सोभै,
असोक-लग्ना बन-देवता-सी ;
पालास-माला-कुसुमालिमध्ये,
बसंत-लच्छमी सुभ-लच्छना-सी ।
आरक्त-पत्रा सुभचित्र-पुत्री,
मनौ बिराजै अति चारु-बेखा ;
संपूर्न सिंदूर प्रभास कैधौं,
गणेस-भाल-स्थल चंद्र-रेखा ।

राघव की चतुरंग चमू चय धूरि उठी जल हू थल छाई ;
मानौ प्रताप-हुतासन-धूम सु 'केसवदास' अकास न माई ।
मेटि कै पंच-प्रभूत किधौं बिधि रेनुमई नव रीति चलाई ;
दुःख-निवेदन को भव-भार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई ।

विज्ञानगीता

लोग लगे सिगरे अपमारग, पोच भलो-बुरो जानि न जाई ;
चंचल हस्तिन को सुखदा अचला बिच दामिनि को दुखदाई ।

हंस, कलानिधि, सूर प्रभा हत, खंड सिखंडनि की अधिकाई ;
'केसव' पावसकाल, किधौं अबिबेक महीपति की ठकुराई ।

कविप्रिया

रतनाकर लालित सदा, परमानंदहि लीन ;
अमल कमल कमनीय कर रमा कि रायप्रबीन ।
रायप्रबीन कि सारदा सुचि रुचि-रंजित अंग ;
बीना-पुस्तक-धारिनी राजहंससुत संग ।
बृषभ-बाहिनी अंग जुत, बासुकि लसत प्रबीन ;
सिव सँग सोहति सर्बदा सिवा कि रायप्रबीन ।
नारायन कीन्ही मनि उर अवदात गनि,
कमला की बानी भनि सोभा सुभ सारु है ;
'केसव' सुरभि केस सारदा सुबेस बेस,
नारद को उपदेस बिसद बिचारु है ।
सौनक ऋषि बिसेषि सरिष सिखानि लेखि,
गंगा की तरंग देखि बिमल बिहारु है ;
राजा दसरथसुत सुनो राजा रामचंद्र,
रावरो सुजस सब जग को सिंगारु है ।
सीतल समीर टारु, चंद्र-चंद्रिका नेवारु,
ऐसे ही तौ 'केसौदास' हरष हेरातु है ;
फूलनि फैलाइ झारि डारु घनसारु चट,
चंदन को ढारु चित चौगुनो पिरातु है ।
नीर-हीन मीन मुरझाइ जीवै नीर ही ते,
छीर के छिरीके कहा धीरज धिरातु है ;
पाइहै तो पीर किधौं यौं हीं उपचारु करै,
आगि ही को डाढ़ो अंग आगि ही सिरातु है ।
को है दमयंती, इंदुमती, रति राति-दिन

होहि न छबीली छिन इन जो सिंगारिए;
'केसव' लजात जलजात जातबेद ओंऽब
जातरूप बापुरो बिरूप-सो निहारिए।
मदन निरूपम निरूपननिरूप भयो
चंद बहुरूप अनरूपक बिचारिए;
सीताजू के रूप पर देवता कुरूप को हैं,
रूप हू को रूप सो लै वारि-वारि डारिए।

खारिका खात न माखन दाखन दाड़िम हू सह मेटि इठाई;
'केसव' ऊख, मयूखहु दूखत आई हौं तो पहँ छोड़ि जिठाई।
तो रदनच्छद को रस रंचक चाखि गए करि केहूँ ढिठाई;
ता दिन तें उन राखी उठाइ समेत सुधा बसुधा की मिठाई।

बालि बध्यो, बलिराउ बँध्यो, कर सूली के सूल कपाल थली है;
काम जस्यो जग काम पस्यो बाँधि सेष धस्यो बिष हालाहली है।
सिंधु बँध्यो, किल काली नथ्यो कहि 'केसव' इंद्र कुचालि चली है;
राम हू की हरी रावन बाम, तिहूँ पुर एक अदृष्ट बली है।

पाप के पुंज पखावज 'केसव', सोक के संख सुने सुखमा में;
झूठ के झालर, झाँझ अलीक के, कौतुक भो कलि के कुरमा में।
भेद की भेरी, बड़े डर के डफ, आवझ जूथ न जानी जमा में;
जूझत ही बरबीर बजे बहु दारिद के दरबार दमामें।

'केसौदास' ओरछे के आस-पास तीस कोस,
तुंगारन्य नाम बन बैरी को अजीत है;
बिधि-कैसो बंधु बरबारन बलित बाघ,
बानर, बराहु बहु झिल्ल को अभीत है।
जम की जमाति-सो कि जामवंत-कैसो दल,
महिषसुखद स्वच्छ रिच्छनि को मीत है;
अचल अनलवंत सिंधु-सो सरितजुत,

संभु-कैसो जटाजूट परम पुनीत है।

भूति बिभूति पियूषहु की बिषाईस सरीस की पाप बियो है;
है किधौं 'केसव' कस्यप को घरु देव-अदेवनि के मन मोहै।
संत हियो की बसैं हरि संतत सोभ अनंत कहै कबि को है;
चंदन-नीर-तरंग-तरंगित नागर कोउ कि सागर सोहै।

नीके कै किंवार देहौं द्वार-द्वार 'केसौदास',
मेरे घर आस-पास सूरजौ न छ्वैगो;
छिन में छवाय लैहौं ऊपर अटानि आज
आँगन पटाय लैहौं जैसे मोहिं भावैगो।
न्यारे-न्यारे नापदान मूँदिहौं झरोखा-जाल,
पायहै न पैंड़ो पौन आवन न पावैगो;
माधव, तिहारे पीछे मोपहिं मरन मूढ़,
आवन कहत, सु तो कौन पैंड़े आवैगो?

'केसव' सरिता सकल मिलत सागर मन मोहै;
ललित लता लपटानि तरुन तन तरुबर सोहै।
रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन;
मनभावन कहँ भेंटि भूमि कूजत मिस मोरन।
इहि रीति रमन रमनीन सों रमन लगे मनभावने;
पिय, गमन करन की को कहै, गमन न सुनियत सावने।

धिक मंगन बिनु गुनहिं, गुनहिं धिक सुनत न रीझिय;
रीझबु धिक बिनु मौज, मौज धिक देत जु खीझिय।
दीबो धिक बिनु साँचु, साँचु धिक धर्म न भावै;
धर्म सु धिक बिनु दया, दया धिक अरि पहँ आवै।
अरि धिक चित्त न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति;
मति धिक 'केसव' ज्ञान बिनु, ज्ञान सु धिक बिनु हरि-भगति।

कर्न-से दुष्ट ते पुष्ट हुते भट पाय सपुष्टन सासन टारें;

सोदर सेन दुसासन-से सब साथ समर्थ भुजा उसकारे।
हाथी हजारन के बल 'केसव' खैंचि थके पट को डर डारे;
द्रौपदी को दुरजोधन पै तिल अंग तऊ उघस्यो न उघारे।

रसिकप्रिया

बन में बृषभान-कुमारि मुरारि रमैं रुचि सों रस-रूप पिए;
कल कूजित पूजित काम-कला बिपरीत रची रति केलि किए।
मनिसोभित स्याम जराइ जरी अति चौकी चलै चल चारु हिए;
मखतूल के झूल झुलावत 'केसव' भानु मनौ सनि अंक लिए।
'केसव' एक समै हरि, राधिका आसन एक लसे रस-भीने;
आनँद सों तिय-आनन की दुति देखत दर्पन त्यौं दुति दीने।
बाल के भाल में लाल बिलोकत ही भरि लोचन लालन लीने;
सासन पीय सबासन सीय हुतासन में मनो आसन कीने।

कानन के रँगे रंग, नैनन के डोलौ संग,
　　नासाअग्र रसना के रस ही समाने हौ;
और कहा कहौं गूढ़ मूढ़ हौ जू जानि जाहु,
　　'केसौदास' प्रौढ़ रूढ़ नीके करि जाने हौ।
तन आन, मन आन, कपट-निधान कान्ह,
　　साँची कहौ मेरी आन काहे को डराने हौ;
वे तो हैं बिकानी हाथ मेरे, हौं तुम्हारे हाथ,
　　तुम ब्रजनाथ, हाथ कौन के बिकाने हौ?
चंचल न हूजै नाथ, अंचल न खैंचो हाथ,
　　सोवै नीके सारिकाऊ सुक तो सोवायो जू;
मंद करौ दीप-दुति, चंद मुख देखियतु,
　　दौरिकै दुराय आऊँ द्वार ते दिखायो जू।
मृगज, मराल-बाल बाहिरै बिडारि देउ,
　　भायो तुम्हैं 'केसव' सु मोहूँ मन-भायो जू;

छल के निवास ऐसे बचन-बिलास सुनि,
सौगुनो सुरति हू ते स्याम सुख पायो जू।
तोरि तनी, टकटोरि कपोलन, जोरि रहे कर हौं न रहौंगी ;
पान खवाइ, पिआइ सुधा-रस, पाइँ गहे तस हौं न गहौंगी।
'केसव' चूक सबै बकसी, मुख चूमि चले यह पै न सहौंगी ;
कै मुख चूमन दे फिरि मोहिं, कै आपनी धाइ सों जाइ कहौंगी।
पहिले तजि आरसु आरसी देखि घरीक घस्यो घनसारहि लै ;
पुनि पोंछि गुलाब तिलोंछि फुलेल अँगौछे में आछे अँगौछनि कै।
कहि 'केसव' मेद-जवादि लै माँजिय ते पर आँजे मैं आँजन दै ;
बहुरो दुरि देखौं तौ देखौं कहा सखि, लाज तो नैनन लागियै है।
भाल गुही गुन लाल लटैं लटटी लर मोतिन की सुख-देनी ;
ताहि बिलोकति आरसी लै कर आरस सों यक सारस-नैनी।
'केसव' स्याम दुरे दरसी परसी उपमा मुख की अति पैनी ;
सूरज-मंडल मैं ससि-मंडल मद्धि धसी मनो धार त्रिबैनी।
सौंह दिवाइ सखी इकबारक कानन कानन आनि बसाए ;
जानै को 'केसव' कानन तैं कित ह्वै कब नैनन माँहि सिधाए।
लाज के साज धरेई रहे सब, नैनन लै मन को सु मिलाए ;
कैसी करौं अब, क्यों निकसै, यों हरे-ई-हरे हियरे हरि आए।
जिन न निहारे ते निहारत निहारिबे को
काहू न निहारे जिन कैसे कै निहारे हैं ;
सुर नर नाग नव कन्यन के प्रानपति
पतिदेवतानि हू के हिय मैं बिहारे हैं।
याही बिधि 'केसौराय' रावरे असेष अंग
उपमा न उपजे, बिरंचि पचि हारे हैं ;
मान-मद-मोचन मदन मन मोचन को
तिय-ब्रत-मोचन को लोचन तिहारे हैं।

भाँति भली वृषभान-लली जब सों अँखिया अँखियान सों जोरी ;
भौंह चढ़ाइ कछू डरपाइ बोलाइ लई हँसिकै इत भोरी।
'केसव' क्यों हूँ सु ता दिन ते रुचि कै न निहारत केतो निहोरी ;
लीलत है सब ही के सिंगार अँगारन ज्यों बिन चंद चकोरी।
है तरुनाई तरंगिनि पूर अपूरब पूरब राग रँगे पय ;
'केसवदास' जहाज मनोरथ संभ्रम बिभ्रम भूरि भरे भय।
ताके तरंग तरंगति तुंग तिमिंगिल सूल बिसालन के चय ;
कान्ह कछू करुनामय हे, सखि, तैं ही किए करुना-बरुनालय।

सिखै हारी सखी, डरपाइ हारी सेवकिनि,
दामिनि दिखाइ हारी निसि अधरात की ;
कूकि-कूकि हारी रति, मारि-मारि हार्‌यो मार,
हारी उर कीरति बिगत सम बात की।
दई निरदई, दई वाहि कहा ऐसी मति,
जरत ज्यों रैनि-दिन ऐसे सम गात की ;
कैसेहू न मानति मनाइ हारी 'केसौदास'
बोलि हारी कोकिला, बोलाइ हारी चातकी।

ब्रज की कुमारिका वै लीने सुक-सारिका
पढ़ावैं कोक-कारिकानि 'केसव' सबै निबाहि ;
गोरी-गोरी भोरी-भोरी थोरी-थोरी बैसन की
फिरैं देवता-सी दौरी-दौरी चोराचोरी चाहि।
बिन गुन तेरी आनि भृकुटी कमान तानि
कुटिल कटाच्छ-बान यहै अचरजु आहि ;
एते मान ईठ ढीठ मरे को अडीठ मनु
पीठि दै-दै मारति सो चूकति न एकौ ताहि।

महात्मा कबीरदासजी

करन सुघर करघा सध्यो, ज्ञान-ध्यान मन लीन ;
निरभय सुकवि कबीर धनि, सत्य कथन-पन पीन ।

(७)

महात्मा कबीरदासजी
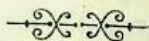
महात्मा कबीरदास का जन्म-काल एवं मृत्यु-काल विविध ग्रंथों में अनेक प्रकार से लिखा हुआ है। कबीर-कसौटी में ये काल संवत् १४५५ तथा १५७५ माने गए हैं; भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद में संवत् १४५१ तथा १५५२, और कबीर-संप्रदाय में संवत् १२०५ तथा १५०५। डॉ० हंटर ने जन्म-काल संवत् १४३७ माना है, और विल्सन ने मृत्यु-काल संवत् १५०५ बतलाया है। वेस्कट महाशय ने 'कबीर ऐंड दि कबीर-पंथ' में ये काल संवत् १४५७ और १५७५ लिखे हैं। पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने जन्म-काल कबीर-कसौटी का माना है, और मृत्यु-काल भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद का। कबीर साहब बादशाह सिकंदर लोदी के समय में थे। इनकी अवस्था कहीं-कहीं १२० वर्ष की मानी गई है। हमको उपाध्याय महाशय का मत ग्राह्य समझ पड़ता है। कबीर-कसौटी में जन्म-काल साफ़-साफ़ संवत् १४५५ की ज्येष्ठ-शुक्ला पूर्णिमा लिखा है, और भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद में उसी प्रकार साफ़-साफ़ लिखा है कि "श्रीकबीरजी संवत् १५४६ में मगहर गए। वहीं से संवत् १५५२ की अगहन-सुदी एकादशी को परमधाम पहुँचे।" इस हिसाब से कबीर साहब की अवस्था क़रीब ९७ वर्ष की निकलती है।

आपकी माता और पिता के नाम नीमा और नीरू थे। वे जाति के जुलाहे थे, और काशीधाम में रहते थे। किसी-किसी का यह भी कथन है कि नीमा और नीरू कबीर साहब के पालक-मात्र थे,

और इनका जन्म एक हिंदू (ब्राह्मणी) विधवा के उदर से हुआ था, जिसने लोक-लाज के भय से इन्हें लहरतारा के तालाब के पास डाल दिया था। नीमा और नीरू ने इन्हें वहाँ से उठाकर पाला। हमको समझ पड़ता है, यह कथा मनगढ़ंत है। कबीर साहब वास्तव में नीमा और नीरू के ही पुत्र थे। इन्होंने अपनेको काशी का जुलाहा बार-बार कहा, किंतु ब्राह्मणी का मातृत्व कहीं नहीं वर्णन किया। यथा—

"तूँ बाम्हन मैं कासी क जुलहा बूझौ मोर गियाना।"
"काशी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए।"

इन तथा ऐसे-ही-ऐसे सैकड़ों पदों से कबीर साहब वास्तविक जुलाहे समझ पड़ते हैं। आप लड़कपन से ही धार्मिक थे, और उपदेश सुनने का चाव रखते थे। आप तिलक इत्यादि लगाकर राम-नाम जपा करते थे। कहते हैं, लोगों ने इनसे कहा कि जब तक तुम निगुरे रहोगे, तब तक तिलक-जाप आदि से पूरा फल न होगा। इसी विचार से आपने प्रसिद्ध महर्षि स्वामी रामानंद को अपना गुरु बताया। एक जुलाहे को शिष्य बनाने से स्वामीजी की महानुभावता प्रकट होती है।

कबीर साहब के धार्मिक सिद्धांतों में बहुत-सी बातें ऐसी भी निकलती हैं, जिनसे प्रकट होता है कि आपको सूफ़ी-मत का अच्छा ज्ञान था। इसलिये, अथवा अन्य कारणों से, मौलवी गुलाम सरवर ने ख़ज़ीनतुल असफ़िया में आपको झूँसीवाले शेख़ तक़ी का शिष्य कहा है। यह महाशय सूफ़ी-मत के पूर्ण ज्ञाता थे। सरवर महाशय का कथन है कि कबीर साहब को हिंदू लोग "भगत कबीर" और मुसलमान "पीर कबीर" कहते थे। कबीर महाशय ने अपनी कविता में शेख़ तक़ी का नाम अवश्य लिया है; किंतु उन्हें अपना गुरु नहीं कहा। इधर कबीर साहब ने स्वामी

रामानंद को कई बार साफ़-साफ़ गुरु कहा है। इससे शैख़ तक़ी का गुरुपन अग्राह्य है। स्वामी रामानंद का पांडित्य अगाध था, और उनका सूफ़ियों से प्रायः वाद हुआ करता था। इसलिये उनके शिष्य कबीर का सूफ़ी-सिद्धांत जानना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। स्वामी रामानंद महात्मा रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में थे। महात्माजी वैष्णव थे। उन्होंने द्विज-मात्र को अपने शिष्यत्व में लिया; किंतु शूद्रों को रामानुजीय संप्रदाय में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं दिया। स्वामी रामानंद ने यह त्रुटि दूर करके शूद्रों को भी शिष्य बनाया, और इस प्रकार रामानुजीय संप्रदाय के अंतर्गत रामानंदी-शाखा-संप्रदाय चलाया। आपने रैदास-नामक प्रसिद्ध चमार भक्त को भी अपना शिष्य बना लिया। इतना करने पर भी स्वामी रामानंद एक जुलाहे मुसलमान को शिष्य बनाने पर तैयार न थे, और इधर कबीरदास को उन्हीं का शिष्य होने की लौ लगी थी। इसलिये आपने स्वामीजी का शिष्य बनने की एक अनोखी युक्ति निकाली। स्वामी रामानंद सूर्योदय के पूर्व मणिकर्णिका-घाट पर नित्य स्नान करने जाया करते थे। एक दिन कबीरदास उनके मार्ग की सीढ़ी पर लेट गए, और उनका पैर इनके सिर पर पड़ गया। बेचारे स्वामीजी 'राम-राम' कहकर अलग हो गए; किंतु कबीर ने तुरंत उठकर कहा—"आपने मेरे सिर पर पैर रखकर मुझे राम-नाम का मंत्र दिया है, अतः मैं आपका शिष्य हो गया।" स्वामीजी ने कबीर के शिष्यत्व पर ऐसी भक्ति देखकर उन्हें हृदय से लगाया, और अपना शिष्य भी मान लिया। इस प्रकार कबीर साहब महात्मा रामानंद के शिष्य हुए।

कबीर साहब अशिक्षित थे। आपने जितनी कविता बनाई है, वह मौखिक थी। बीजक में आप स्वयं लिखते हैं—

"मसि कागज छूवो नहीं, कलम गहो नहिं हाथ ;
चारिउ जुग का महातम कबिरा मुखहिं जनाई बात।"

हज़ारों पद बनाने और अविचल भक्त होने पर भी आपने कपड़ा बुनने का अपना पैतृक व्यवसाय कभी नहीं छोड़ा, यद्यपि सुना जाता है कि वह यह भी कहा करते थे—

"कासी को मैं बासी बाँभन, नाम मेरा परबीना ;
एक बार हरि-नाम बिसारा पकरि जोलाहा कीना।"
"भाई, मेरे कौन बिनैगो ताना।"

रचना में भी आपने बार-बार जुलाहेपन की बातों का उल्लेख किया है, जिसके उदाहरण आगे दिए जायँगे। आपका विवाह बनखंडी बैरागी की पालिता कन्या लोई के साथ हुआ था, जिससे आपके कमाल और कमाली-नामक पुत्र और कन्या उत्पन्न हुईं। लोई बड़ी सुंदरी थी, और उसने कबीर के सद्गुणों पर रीझकर इनका साथ पसंद किया था। कबीर साहब संत-संग को बहुत पसंद करते थे। एक बार इनके यहाँ कुछ संत ऐसे समय में आए, जब आतिथ्य करने को इनके पास कुछ भी न था। इस पर यह बड़े संकट में पड़े। तब लोई ने कहा—यदि आपकी इच्छा हो, तो एक साहूकार के उस बेटे से धन लाऊँ, जो मुझ पर मोहित है। कबीर ने संत-समादर के विचार से यह भी स्वीकार कर लिया, और लोई ने रात को उसके पास जाने का वचन देकर धन प्राप्त किया, जिससे संतों का आतिथ्य हुआ। रात को जाने के समय बड़े ज़ोर से पानी बरसने लगा। तब भी कबीर साहब वचन रखने के लिये अपने कंधे पर चढ़ाकर लोई को साहूकार के पुत्र के यहाँ ले गए। जब उसने यह जाना, तब कबीर साहब के पैरों पर गिरकर क्षमा माँगी, और इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। ऐसी माता और पिता पाकर भी

कमाल उच्चतम आचरण न प्राप्त कर सका। उसके विषय में स्वयं कबीरदास लिखते हैं—

"बूड़ा वंस कबीर का उपजे पूत कमाल;
हरि का सुमिरन छोड़िके घर ले आया माल।"

कबीर साहब जो कपड़ा बनाकर बाज़ार में बेचने ले जाते थे, उसे कभी-कभी बेचने के स्थान पर साधुओं को दे देते और ख़ाली हाथ घर लौट आते थे। ऐसे पुरुष को पुत्र की धन पर आसक्ति बुरी लगा ही चाहे।

कबीर साहब ने देश-देश घूमकर लौकिक ज्ञान का उपार्जन किया था। आप बलख़ तक गए थे। आप सत्य के इतने पक्षपाती थे कि जो बात आपको असत्य जँचती थी, उसकी तीव्र शब्दों में आलोचना अवश्य करते थे, चाहे इनके मत से उससे थोड़ा ही-सा अंतर क्यों न हो। आप स्वयं संत और योगी थे; किंतु गृह-त्याग को पसंद न करने के कारण ऐसे लोगों की आपने निम्न-लिखित शब्दों द्वारा निंदा की है—

"कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलै दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैलै बकरा;
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलै काम जराय जोगी बनि गैलै हिजरा।"

इसी भाँति हिंदू और मुसलमानों के सैकड़ों धार्मिक आचार-विचारों पर आपने शुद्ध भाव से तीव्र कटाक्ष किए हैं। "झूठा रोज़ा झूठी ईद"-जैसे वाक्य आपके मुख पर सदैव रहते थे। इन कारणों से बादशाह सिकंदर लोदी तक आपकी शिकायत पहुँची, और उसने इन्हें ज़ंजीरों से बँधवाकर गंगाजी में फिकवा दिया; किंतु यह किसी प्रकार बच गए। आपने स्वयं लिखा है—

"गंग-लहर मेरी टूटी जँजीर; मृगछाला पर बैठ कबीर।
कहु कबीर कोउ संग न साथ; जल-थल राखत हैं रघुनाथ।"

इनके माहात्म्य-विषयक बहुत-से अन्य उपाख्यान भी प्रचलित

हैं, जिनमें अप्राकृतिक घटनाओं का कथन है। उनका यहाँ समावेश नहीं किया जाता। धार्मिक विरोध से ही समझ पड़ता है कि अंत में आपको अपने जन्म-स्थान तथा आजन्म के निवास-स्थान काशी को छोड़ना पड़ा, यद्यपि आपके काशी छोड़ने का एक कारण यह भी था कि आप वहाँ मरने के कारण स्वर्ग प्राप्त करना निंद्य समझते थे। कहते हैं, काशी में मरने से मनुष्य स्वर्ग को अवश्य जाता है, और मगह में शरीर छोड़ने से नरक को। इसी से कबीर साहब यह कहकर काशी से मगहर चले गए कि "जो कबिरा कासी मरै, तौ रामै कौन निहोर?" भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद का कथन है कि आपने संवत् १५४९ में मगहर पधारकर तीन वर्ष के अनंतर शरीर छोड़ा। कबीर-कसौटी में इस घटना का वर्णन निम्न-लिखित है—

"पंद्रह सौ पचहत्तर किय मगहर को गौन ;
माघ-सुदी एकादशी रहो पौन में पौन।"
(कबीर-कसौटी)

इनका शरीरांत होने पर इनके हिंदू तथा मुसलमान शिष्यों में इनके अंतिम संस्कार के विषय में झगड़ा होने लगा ; किंतु जब शव पर से चद्दर उठाई गई, तब शव के स्थान पर फूलों का ढेर मिला। इस पर फूलों के दो भाग करके एक भाग से हिंदुओं ने काशी में कबीर-चौरा बनाया, और दूसरा भाग मुसलमानों ने गाड़-कर मगहर में क़ब्र बनाई, जो अब तक मौजूद है। ये दोनों स्थान अब भी आपके पंथवालों के द्वारा पूजे जाते हैं। शव के स्थान पर फूलोंवाली कथा महात्मा नानक तथा चित्तौर के बाप्पा रावल के विषय में भी प्रचलित है। महात्मा कबीरदास सिद्ध योगी थे। आपके धार्मिक विचार बहुत ऊँचे थे। इन बातों का कथन कुछ विस्तार के साथ आपके गुण-प्रदर्शन में किया जायगा।

कबीर साहब के बहुत-से शिष्य उनके जीवन-काल ही में हो गए

थे। उनके पीछे कबीर-पंथ अब तक चल रहा है। भारत में अब भी आठ-नव लाख मनुष्य कबीर-पंथी हैं। इनमें मुसलमान बहुत थोड़े हैं, और हिंदू बहुत अधिक। कबीर साहब का मान रीवाँ-नरेश ने बहुत किया था। रीवाँ-नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह ने बीजक की टीका भी रची। कबीरदास के पीछे उनके मत की बारह शाखाएँ स्थापित हुईं, जिनके नेता निम्न-लिखित थे—श्रुतगोपाल, भग्गूदास, नारायणदास, चूड़ामणिदास, जग्गूदास, जीवनदास, कमाल, टाकशाली, ज्ञानी, साहबदास, नित्यानंद और कमलानंद। कबीर-पंथियों में त्यागी और गृहस्थ, दोनों हैं। इनका कोई दूसरा धर्म नहीं है, वरन् हिंदू कबीर-पंथी हिंदू हैं, और मुसलमान कबीर-पंथी मुसलमान हैं। कबीर-पंथ उनका विश्वास-मात्र है। हिंदू कबीर-पंथी अधिकतर नीच जातियों के हैं, और इस पंथ के कई गुरु भी ऐसे ही हैं। वास्तव में तो कोई नीच जाति है ही नहीं, और सब हिंदू बराबर हैं; किंतु जैसा लोग प्रायः समझते हैं, उन विचारों से समझने-भर को हिंदुओं में यहाँ ऊँची-नीची जातियों के कथन किए गए हैं।

कबीरदास ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, वरन् केवल मुख से भाखे। इनके शिष्यों ने उन्हें लिपि-बद्ध किया। ऐसी दशा में उनमें बहुत कुछ अदल-बदल हो जाना संभव है। बीजक-ग्रंथ को भग्गूदास लेकर भागे थे। तभी से उनका नाम भगवानदास से भग्गूदास हो गया। विचार किया जाता है कि जब भग्गूदास ग्रंथ को लकर भागे थे, तब उन्होंने उसमें बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया होगा। वेस्कट महाशय का विचार है कि इस बात पर विश्वास करने के लिये दलीलें हैं कि कबीर की अधिकतर शिक्षाएँ धीरे-धीरे हिंदू-धर्म के साँचे में ढल गई हैं। हमको समझ पड़ता है कि कुछ घटाने-बढ़ाने से इन महात्मा के उपदेशों में अंतर डालना कठिन था। आपने एक ही विचार को सैकड़ों प्रकार से कहा है, और

सबमें एक ही भाव प्रतिध्वनित होता है । आप राम-नाम की महिमा गाते थे, एक ही ईश्वर को मानते थे, कर्मकांड के घोर विरोधी और सखीभाव के अविचल भक्त थे। अवतार, मूर्ति, रोज़ा, ईद, मसजिद, मंदिर आदि को यह नहीं मानते थे । अहिंसा, मनुष्य-मात्र की समता तथा संसार की असारता को इन्होंने बार-बार गाया है। यह उपनिषदों के विचारवाले ईश्वर को मानते थे, और साफ़ कहते थे कि वही शुद्ध ईश्वर है, चाहे उसे राम कहो या अल्ला। ऐसी दशा में शिष्यों द्वारा पाठ-परिवर्तन से इनकी शिक्षाओं का प्रभाव उलटा नहीं जा सकता था । इनकी शिक्षाओं को उलटने के लिये इनके पूरे ग्रंथ लुप्त कर देने पड़ेंगे, और नए ग्रंथ बनाने पड़ेंगे।

थोड़ा-सा उलट-पुलट करने से केवल इतना फल हो सकता था कि राम-नाम अधिक न होकर सत्य-नाम अधिक हो। यह निश्चित बात है कि यह राम-नाम और सत्य-नाम, दोनों को भजनों में रखते थे । इन शब्दों के व्यवहार की मात्राओं में थोड़ा-सा घट-बढ़ हो जाने से शिक्षा उलट नहीं सकती । इसी प्रकार कुछ बदलने से दो-चार स्थानों पर प्रतिकूल शिक्षाएँ दिखाई जा सकेंगी; किंतु और कोई अंतर न पड़ेगा । प्रतिमा-पूजन इन्होंने निंदनीय माना है। अवतारों का विचार इन्होंने सदा त्याज्य लिखा है। दो-चार स्थानों पर कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनसे अवतार महिमा व्यक्त होती है। वे हमारी समझ में अवश्य प्रक्षिप्त हैं। कबीर साहब के मुख्य विचार उनके ग्रंथों से सूर्यवत् चमक रहे हैं। उन्हें कोई बदल नहीं सकता । असली विरोध हमको केवल आवागमन-सिद्धांत पर समझ पड़ता है, और यह नहीं जान पड़ता कि इस विषय में वह हिंदू-मत को मानते थे कि मुसलमानी मत को। अन्य बातों पर कोई वास्तविक विरोध कबीर की शिक्षाओं में नहीं देख पड़ता । इसलिये हमको समझ पड़ता है कि उन

लोगों के विचारों में कोई सार नहीं, जो समझते हैं कि लिपि-बद्ध न होने के कारण कबीरदास की वास्तविक शिक्षाएँ हमको उपलब्ध नहीं हैं। हमको समझ पड़ता है कि जब तक इन महात्मा का एक भी ग्रंथ विद्यमान है, तब तक इनकी वास्तविक शिक्षाएँ संसार से हट नहीं सकतीं। आपने अपनी वास्तविक शिक्षाएँ अपने प्रत्येक ग्रंथ में सौ-सौ बार दुहराकर कही हैं।

महात्मा कबीरदास के ग्रंथ बहुत-से मिलते हैं। जो ७५ ग्रंथ अब तक खोज से प्राप्त हुए हैं, उनके नाम नीचे लिखे जाते हैं—(१) अमरमूल, (२) अनुरागसागर, (३) उग्रज्ञानमूल-सिद्धांत, (४) ब्रह्मनिरूपण, (५) हंसमुक्तावली, (६) कबीर-परिचय की साखी, (७) शब्दावली, (८) पद, (९) साखियाँ, (१०) दोहे, (११) सुखनिधान, (१२) गोरखनाथ की गोष्ठी, (१३) कबीरपंजी, (१४) बलक की रमैनी, (१५) विवेक-सागर, (१६) विचारमाला, (१७) कायापंजी, (१८) रामरक्षा, (१९) अठपहरा, (२०) निर्भयज्ञान, (२१) कबीर और धर्मदास की गोष्ठी, (२२) रामानंद की गोष्ठी, (२३) आनंदराम, (२४) सागरमंगल, (२५) अनाथमंगल, (२६) अक्षरभेद की रमैनी, (२७) अक्षरखंड की रमैनी, (२८) अलिफ़नामा, (२९) अर्ज़नामा, (३०) आरती, (३१) भक्ति का अंग, (३२) छप्पय, (३३) चौकाघर की रमैनी, (३४) ज्ञान-गूदरी, (३५) ज्ञान-सागर, (३६) ज्ञान-स्वरोदय, (३७) कबीराष्टक, (३८) करमखंड की रमैनी, (३९) मुहम्मदबोध-नाम-माहात्म्य, (४०) पिया पहिचानबे को अंग, (४१) पुकार कबीर-कृत; (४२) शब्द अलहटुक, (४३) साधु को अंग, (४४) सतसंग को अंग, (४५) स्वाँसगुंजार, (४६) तसिा-जंत्र, (४७) जन्मबोध, (४८) ज्ञानसंबोध, (४९) मख-

होम, (५०) निर्भयज्ञान, (५१) सतनाम या सतकबीर, (५२) बानी, (५३) ज्ञान-स्तोत्र, (५४) सतकबीर बंदीछोरो, (५५) शब्दवंशावली, (५६) उग्रगीता, (५७) वसंत, (५८) होली, (५९) रेखता, (६०) झूलना, (६१) खसरा, (६२) हिंडोला, (६३) बारहमासा, (६४) चाँचरा, (६५) चौंतीसा, (६६) रमैनी, (६७) बीजक, (६८) आगम, (६९) रामसार, (७०) सोरठा, (७१) कबीरजी को कृत, (७२) शब्दपारखा, (७३) आदि ग्रंथ, (७४) ज्ञान-बत्तीसी और (७५) ज्ञान-तिलक । उपर्युक्त ग्रंथों में बहुत-से संदिग्ध भी हैं। कई ऐसे भी नाम हैं, जो अन्य ग्रंथों के भाग-मात्र समझ पड़ते हैं। हमने खोज में मिले हुए ग्रंथों के नाम यहाँ लिखे हैं। खोज से इतर दो ही चार नाम उपर्युक्त नामावली में हैं । आपके मुख्य ग्रंथ बीजक और आदि ग्रंथ हैं । इनके सभी ग्रंथों में प्रायः वे ही धार्मिक विचार प्रस्तुत हैं । इस लेख के लिखते समय हमने बेलवेडियर-प्रेस की छपी हुई चारों भाग शब्दावली, अखरावती, ज्ञानगुदड़ी, रेखते और झूलने देखे हैं । इनके अतिरिक्त महात्मा पूर्णदास-कृत, टीका-सहित बीजक तथा मनोरंजन-पुस्तकमाला की कबीर-वचनावली भी देखी गई हैं । पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने वचनावली को ऐसे परिश्रम और चातुरी से संगृहीत किया है कि यदि इसमें कुछ उलटबाँसी और कठिन पद भी लिखे गए होते, तो पाठकों को इस एक ही ग्रंथ से कबीरदास की पूरी कविता का अच्छा परिचय मिल जाता । इन दो बातों के न लिखने से भी संग्रह बहुत ही अनमोल है, और उपाध्यायजी की गुणग्राहकता का साक्षी देता है । बीजक में ८४ रमैनी, ११५ शब्द, ३५३ दोहों की साखी तथा ज्ञानचौंतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, वसंत, चाँचर, बेलि बिरहुली और हिंडोला सम्मिलित हैं । उपर्युक्त तीन भागों के अतिरिक्त शेष भाग बहुत छोटे-छोटे हैं । कबीर साहब

के जो ग्रंथ हमने देखे हैं, उन सबका विषय एक ही-सा है। किसी में कोई कथा-प्रसंग नहीं है, और सबमें मुक्तकों द्वारा कबीर के सिद्धांतों का कथन है। सबमें नए-नए छंदों द्वारा वे ही विचार सैकड़ों बार दुहराकर आए हैं। अतः जो पाठक केवल धार्मिक विचार जानने अथवा काव्यानंद के लिये इनके ग्रंथ पढ़ेंगे, उनके लिये इन सबका पढ़ना बड़े धैर्य का काम होगा। इसीलिये इनके सब ग्रंथों से पढ़ने योग्य छंदों को उठाकर एक संग्रह-ग्रंथ बनाना इनके और लोक के साथ बड़ा उपकार करना है।

ऐसा ही ग्रंथ बनाकर पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय धन्यवादार्ह हुए हैं। कबीर महाशय के बहुत-से छंद नानक-पंथ के ग्रंथ साहब में संगृहीत हैं। अब हम इन महात्मा के विचारों को इन्हीं के शब्दों में कहकर उनके विषय में अपने विचार लिखेंगे।

ईश्वर

कबीरसाहब ने अपने ग्रंथों में सबसे अधिक ईश्वर का वर्णन किया है। इसलिये इनके ईश्वर-संबंधी विचार-प्रदर्शक कुछ छंद यहाँ लिखे जाते हैं—

(१) मोको कहाँ ढूँढ़ता बंदे, मैं तो तेरे पास में ;
ना मैं छगरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरा-गँड़ास में।
नहीं खाल में, नहीं पूछ में, ना हड्डी ना मांस में ;
न मैं देवालय, ना मैं मसजिद, ना काबे-कैलास में।
ना तो कौनो क्रिया-कर्म में नहीं जोग-बैराग में ;
खोजी होय तो तुर्तै मिलिहौं पल-भर की तालास में।
मैं तो रहौं सहर के बाहर मेरी पुरी मवास में ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो सब साँसों की साँस में।

(२) कहाँ उस देस की बतियाँ ; जहाँ नहिं होत दिन रतियाँ।
नहीं रबि चंद औ तारा ; नहीं उजियार अँधियारा।

नहीं तहँ पौन औ पानी ; गए वहि देस जिन जानी।
नहीं तहँ धरनि आकासा ; करे कोइ संत तहँ बासा।
वहाँ गम काल की नाहीं ; तहाँ नहिं धूप औ छाहीं।
न जोगी जोग से ध्यावै ; न तपसी देह जरवावै।
सहज में ध्यान से पावै ; सुरत का खेल जेहिं आवै।
सुहंग नाद नहिं भाई ; न बाजे संख-सहनाई।
निहच्छर जाप तहँ जापै ; उठत धुन सुन्न से आपै।
मंदिर में दीप बहु बारी ; नयन बिन भई अँधियारी।
'कबीरा' देस है न्यारा ; लखै कोइ नाम का प्यारा।

(३) ताकर कौन रूप औ रेखा ; दूसर कौन आइ जो देखा।
ओ ओंकार आदि नहिं बेदा ; ताकर कहूँ कौन कुल भेदा।
सुन्न सहज मन सुमिर ते प्रगट भई एक जोत ;
ताहि पुरुष की मैं बलिहारी निरालंब जो होत।
तहिया होत पवन नहिं पानी ; तहिया सृष्टि कौन उतपानी।
तहिया होत कली नहिं फूला ; तहिया होत गर्भ नहिं भूला।
तहिया होत बिद्या नहिं बेदा ; तहिया हुते सब्द नहिं स्वादा।
तहिया हुते पिंड नहिं बासू ; नहिं घर, धरनि, न पवन अकासू।
तहिया होत गुरू नहिं चेला ; गम्य, अगम्य न पंथ दुहेला।
अबिगति की क्या गति कहौं, जाके गाँव न ठाँव ;
गुनो बिहूना पेखना, का कहि लीजे नाँव।

(४) साहब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय ;
दूजा साहब जो कहूँ, साहब खरा रिसाय।
एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि ;
है जैसा तैसा रहै कहै 'कबीर' बिचारि।
चार भुजा के भजन में भूलि परे सब संत ;
'कबिरा' सुमिरे ताहि को जेहि की भुजा अनंत

सरगुन की सेवा करो निरगुन का करु ज्ञान ;
निरगुन सरगुन के परे रहै हमारा ध्यान।
साहिब सों सब होत है, बंदे ते कछु नाहिं ;
राई ते परबत करे, परबत राई माहिं।
जाको राखै साँइयाँ, मारि सकै नहिं कोय ;
बारु न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय।
भूला-भूला क्या फिरै सिर पर बँधि गइ बेल ;
तेरा साँई तुज्झमें ज्यों तिल्ल माहीं तेल।
मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ;
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर।
साधू मोरे सब बड़े अपनी-अपनी ठौर ;
सब्द बिबेकी पारखी सो माथे को मौर।
समझा का घर और है अनसमझा का और ;
जा घर में साहब बसै बिरला जानै ठौर।
अक्षर घट में ऊपजे ब्याकुल संसय-सूल ;
किन अंडा निर्मायिया, कहा अंड का मूल।
पानी हूँ ते पातला, धूवाँ हू ते झीन ;
तिन हूँ ते अति ऊतला, दोस्त 'कबीरा' कीन।
गुरू झरोखे बैठि कै सबका मुजरा लेय ;
जैसी जाकी चाकरी, तैसा ताको देय।
भवसागर जल बिख भरा मन नहिं बाँधे धीर ;
सबद सनेही पिउ मिला उतरा पार 'कबीर'।

(५) मेरी नज़र में मोती आया है ;

कोइ कहे हलका, कोइ कहे भारी, दोनों भूल भुलाया है।
ब्रह्मा, बिष्णु, महेश्वर थाके तिनहूँ खोज न पाया है ;
सेस, सारदा पढ़ि रटि हारे, संकर बहु गुन गाया है।

है तिल के तिल के तिल भीतर, बिरले साधू पाया है;
चहुँ दल कमल तिरपुटी साजे ओंकार दरसाया है।
ररंकार पद सेत सुभ्र मध खटदल कमल बताया है;
पारब्रह्म महँ सुभ मंझारा सोइ निहिअच्छर रहाया है।
भँवर गुफा में सोऽहं राजै मुरली अधिक बजाया है;
सत्तलोक सतपुरुष बिराजै अलख अगम दोउ भाया है।
पुरुष अनामी सब पर स्वामी ब्रह्महुँ पार जो गाया है;
यह सब बातैं देही मंदिर प्रतिबिंब अंड जु पाया है।
प्रतिबिंब पिंड ब्रह्मंड है नकली असली पार बताया है;
कहै 'कबीर' सत लोक सार है पुरुष नियारा पाया है।

(६) संतो बीजक मत परमाना ;

कैयक खोजी खोजि थके कोइ बिरला जन पहिंचाना।
चारिउ जुग औ निगम चार औ गावैं ग्रंथ अपारा ;
बिष्णु, बिरंचि, रुद्र, ऋषि गावैं, सेस न पावैं पारा।
कोइ निरगुन सरगुन ठहरावै, कोई जोति बतावै ;
नाम धनी का सब ठहरावै, रूप को नहीं लखावै।
कोउ सूछम असथूल बतावै, कोउ अच्छर निज साँचा ;
सतगुरु कहै बिरला पहिंचानै, भूला फिरै असाँचा।
लोभ के भक्ति सरै नहिं कामा, साहिब परम सयाना ;
अगम, अगोचर धाम धनी का, सबै कहैं ह्वाँ जाना।
दिखै न पंथ, मिलै नहिं पंथी, ढूँढ़त ठौर ठिकाना ;
कोउ ठहरावै सून्यक कीन्हाँ जोति एक परमाना।
कोउ कह रूप-रेख नहिं वाके, धरत कौन को ध्याना ;
रोम रोम में परगट करता, काहे भरम भुलाना।
पच्छ, अपच्छ सबै पचि हारे, करता कोइ न बिचारा ;
कौन रूप है साँचा साहब नहिं कोई बिस्तारा।

बहु परचय परतीति दृढ़ावै, साँचे को बिसरावै ;
कलपत कोटि जनम जुग बागे, दरसन कतहुँ न पावै।
परमदयालु, परमपुरुषोत्तम, तेहि चीन्है ना कोई ;
ततपर हाल निहाल करत है रीझत है निज सोई।
बधिक कर्म करि भक्ति दृढ़ावै, नाना मत का ज्ञानी ;
बीजक-मत कोइ बिरला जानै, भूलि फिरै अभिमानी।
कहु 'कबीर' करता में सब हैं, करता सकल समाना।
भेद बिना सब भरम परे, कोउ बूझै संत सुजाना।

उपर्युक्त दोनों पदों में कबीरदास ने थोड़े में बहुत कुछ कहा है। चहुँदल कमल, तिरकुटी, सेत, सुन्न, षट्दलकमल, भँवरगुफा, मुरली (अनहद नाद), प्रतिबिंब (जीव), पिंड (शरीर), पार (परे परब्रह्म) आदि योग तथा वेदांत-संबंधी शब्द हैं, जो कबीर का इन शास्त्रों का ज्ञान प्रकट करते हैं। ररंकार से रम्-रम्-आकार अर्थात् राम-राम का प्रयोजन है। इससे योग-संबंधी नाद-वाले विचार भी आ जाते हैं। निर्गुण, सगुण, ज्योति, सूक्ष्म, स्थूल, अक्षर (अविनाशी), अगम, अगोचर, रेख, रूप आदि भी ईश्वर-संबंधी पक्षापक्ष-विचारों में आए हैं। इनमें बहुत-से अभावात्मक विचार हैं, और उनके संबंध में भावात्मक शब्द पक्षापक्ष विचार दिखाए गए हैं। मुख्यता अभावात्मक (negative) विचारों की ही रही है। परमदयालु, परमपुरुषोत्तम से सगुण-वाद चल पड़ता है। कर्ता में सबका होना और सबमें कर्ता का होना अद्वैत विचार दिखलाता है। इन शब्दों से कबीरदास की बहुज्ञता प्रकट होती है। साहित्य-गौरव में भी ये दोनों पद बहुत अच्छे हैं।

(७) एकै काल सकल संसारा ; एक नाम है जगत पियारा।
त्रिया पुरुष कछु कहो न जाई ; सर्बरूप जग रहा समाई

रूप, अरूप जाइ नहिं बोली ; हलुका, गरुआ जाय न तोली।
भूख न तृखा, धूप नहिं छाहीं; दुख-सुख रहित रहै तेहि माहीं।
अरस-परस कछु रूप गुन, नहिं तहँ संख्या आहि ;
कहै 'कबीर' पुकारि कै अद्भुत कहिए ताहि।
कुसलै-कुसल कहति जग बिनसै कुसल काल की फाँसी हो ;
कह 'कबीर' सब दुनिया बिनसत, रहल राम अबिनासी हो।
बाबा अगम अगोचर कैसा ;
ताते कहि समझाऊँ ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है, सो कहा न जाई ;
सैना-बैना कहि समझाऊँ गूँगे का गुर भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै बिनसै नाहिं नियारा ;
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे पंडित करौ बिचारा।
बिन देखे परतीति न आवै, कहे न कोउ पतियाना ;
समझा होइ सो सब दै चीन्है, अचरज होय अयाना।
कोई ध्यावै निराकार को, कोइ ध्यावै आकारा ;
वह तौ इन दोउन ते न्यारा, जानै जाननहारा।
काजी कथै कतेब कुराना, पंडित बेद-पुराना ;
वह अच्छर तौ लखो न जाई मात्रा लगै न काना।
नादी बादी पढ़ना गुनना बहु चतुराई थीना ;
कह 'कबीर' सो परै न परलै, नाम-भक्ति जिन चीना।
अबधू कुदरत की गति न्यारी ;
रंक निवाज करै वह राजा भूपति करै भिखारी।
एते लवँगे फल नहिं लागै, चंदन फूल न फूलै ;
मच्छ सिकारी रमै जँगल में, सिंध समुद्रहिं भूलै।
रेंड़ा रूख भया मलयागिरि, चहुँ दिसि फूटी बासा ;
तीनि लोक ब्रह्मंड-खंड में देखै अंध तमासा।

पंगुरु मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै ;
गूँगा ज्ञान-विज्ञान प्रकासै, अनहद बानी बोलै ।

(८) रूप सरूप कछू तहँ नाहीं, ठौर-ठाँव कछु दीसै नाहीं ;
अरज तूल कछु दृष्टि न आई, कैसे कहूँ सुमारा है ।
नहिं निरगुन, नहिं सरगुन भाई, नहिं सूछम-अस्थूल ;
नहिं अच्छर, नहिं अबिगत भाई, ये सब जग की भूल ।
जहाँ पुरुष तहवाँ कछु नाहीं, कह 'कबीर' हम जाना ;
हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरबाना ।
सहज कमल में झिलमिल दरसै, आपुइ बसत अपारा ;
जोति-सरूप, सकल जग व्यापी, अघट पुरुष है पारा ।
सुन्न सहर में बास हमारा, जहँ सरबंगी जावै ;
साहब 'कबिर' सदा के संगी, सब्द महल लै आवै ।
किंगरी, सारँग बजै सितारा, अच्छर ब्रह्म सुन्न दरबारा,
द्वादस भानु उए उँजियारा, खटदल कँवल गँभार शब्द ररंकारा है ।
कोटिन भानु उदय जो होई, एते ही पुन चंद्र लखोई,
पुरुष रोम सम एक न होई, ऐस पुरुष दीदारा है ।
प्रथम एक जो आपै आप, निराकार, निरगुन, निरजाप ;
नहिं तब भूमि, पवन, आकासा; नहिं तब पावक नीर निवासा ।

कहै 'कबीर' बिचारि कै, जाके बर्न न गाँव ;
निराकार औ निर्गुना, है पूरन सब ठाँव ।

आगे सून्य, स्वरूप अलख नहिं लखि परै ;
तत्त्व निरंजन जान, भरम जनि चित धरै ।
जाके दरसन साहब दरसैं अनहद सबद सुनावै ;
माया के सुख दुख करि जानै, सरगुन सुपन चलावै ।

पूरि रह्यो असमान, धरनि में, जित देखो, तित साहब मेरा ;
तसबी एक दिया मेरे साहब, दास 'कबीर' दिल हि बिच फेरा ।

अनहद नाद (ईश्वर-संबंधी)

पाँच तत्त्व कर पूतरा, जुक्ति रची मैं कीव ;
मैं तोहिं पूछौं पंडिता, सब्द बड़ा की जीव ।
सत्त सब्द परमान, अनहद बानी जो हढ़ै ;
और झूठ सब ज्ञान, कहै 'कबीर' बिचारि कै ।
सत्रह संख्या पर अधर दीप जहँ सब्दातीत बिराजै ;
निरतै सखी बहु बिधि सोभा, अनहद बाजा बाजै ।
सहस औ द्वादसै रूह है संग में, करत कल्लोल अनहद बजाई ।
वह तीनलोक ते भिन्नराज ; तहँ अनहद धुनि चहुँ पास बाज ।
मुरली बजत अखंड सदा ये तहँ सोऽहं झनकारा है ।
खोड़स भानु हंस को रूप ; बीनासम धुनि बजै अनूप ।
सबद-भेद जो जानही सो पूरा कँड़हार ;
कह 'कबीर' धूमच्छ है सोऽहं सबदहिं पार ।
येहि घट चंदा, येहि घट सूर ; येहि घट गाजै अनहद तूर ।
येहि घट बाजै तबल निसान ; बहिरा सबद सुनै नहिं कान ।

अद्वैत (ईश्वर-संबंधी)

तत्त्वमसी इनके उपदेसा ; ई उपनिषद कहैं संदेसा ।
साधो एक रूप सब माहीं ;
अपने मनहिं बिचारि कै देखो, और दूसरा नाहीं ।
एकै तुचा, रुधिर पुनि एकै, बिप्र, सूद्र के माहीं ;
कहीं नारि, कहिं नर होइ बोलैं, गैब पुरुष वह आहीं ।
आप गुरु होइ मंत्र देत हैं, सिष होइ सबै सुनाहीं ;
जो जस गहै, लहै तस मारग, तिनके सतगुरु आहीं ।
सब्द पुकार सत्त मैं भाषौं, अंतर राखौं नाहीं ;
कहै 'कबीर' ज्ञान जेहि निर्मल, बिरले ताहि लखाहीं ।
दया कौन पर कीजिए का पर निर्दय होय ;

साँईं के सब जीव हैं, कीरी, कुंजर दोय।

बीज मध्य ज्यों बृच्छा दरसै, बृच्छा मद्धे छाया;
परमातम में आतम तैसे, आतम मद्धे माया।
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिए, सुन्न अंड आकारा;
निहअच्छर ते अच्छर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा।
ज्यों रबि मद्धे किरन देखिए, किरन मध्य परकासा;
परमातम में बीज ब्रह्म इमि, जीव मध्य तिमि स्वासा।
स्वासा मद्धे सबद देखिए, अर्थ सबद के माहीं;
ब्रह्म ते जीव, जीव ते मन इमि, न्यारा मिला सदाहीं।
आपहि बीज, बृच्छ, अंकूरा, आप फूल, फल, छाया;
आपहि सूर, किरन, परकासा, आप ब्रह्म, जिव, माया।
अंडाकार सुन्न नभ आपै, स्वास सबद अरथाया;
निहअच्छर अच्छर छर आपै, मन जिव ब्रह्म समाया।
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाँईं;
झाँईं में परछाईं दरसै, लखै 'कबीरा' साँईं।

ज्ञान के कारन करम कमाय; होय ज्ञान तब करम नसाय।
फल-कारन फूलै बनराय; फल लागे पर फूल सुखाय।
मिरग पास कस्तूरी बास; आपु न खोजै, खोजै घास।
पावै पिंड मीन लै खाई; कहैं 'कबीर' लोग बौराई।

साधो एक आपु जग माहीं;
दूजा करम भरम है किरतिम, ज्यों दरपन में छाहीं।
जल-तरंग जिमि जल ते उपजै, फिरि जल माहिं रहाई;
काया झाईं पाँच तत्त्व की बिनसे कहाँ समाई।

आप ही भक्त, भगवंत है आप ही, और नहिं दूसरा, अर्ज सुनेरी।
मुक्त होवै छुटै बँधन सेती तबै कौन मरै तिसै कौन मारै;
अहँकार तजै, भय-रहित होवै तबै, कौन तरै तिसै कौन तारै।

हुब्बाब तो है उठनेहि में जी है बैठने में मतलब्ब खुदा;
हुब्बाब दरियाव 'कबीर' है जो दुजा नाम बोलै सोइ बुदबुदा।
सुन्न का बुदबुदा, सुन्न उतपत भया, सुन्नहीं माहिं फिरि गुप्त होई;
जाप अजपा जपो, अलख आपै लखो, बाहरे भीतरे एक सोई।
चोट कापै करौ, उलटि आपै डरौ, जहाँ देखो तहाँ प्रान मेरा।

भजूँ, तो को है भजन को, तजूँ, तो को है आन;
भजन-तजन के मध्य में सो 'कबीर' मन मान।
यह तत यह तत एक हैं, एक प्रान दुइ गात;
अपने जिय से जानिए मेरे जिय की बात।

उपर्युक्त छंदों में महात्मा कबीर के ईश्वर-संबंधी विचारों का सारांश लिखा गया है। इन पर विचार करने के पूर्व इस विषय से मिलते-जुलते, उपनिषदों में लिखित, हिंदू-सिद्धांतों का कुछ कथन आवश्यक समझ पड़ता है। ईश्वर की पूजा एक साकार रूपादि-संबंधी है, और दूसरी निराकार अलख की। इन्हें दार्शनिक शब्दों में व्यक्त और अव्यक्त-मार्ग कहते हैं। उपासक मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जो केवल ज्ञान से काम लेते हैं, और दूसरे वे, जो प्रेम की प्रधानता रखते हैं। ये दो शुद्ध तार्किक विभाग हैं। वास्तव में, प्रत्येक मनुष्य ज्ञान और प्रेम, दोनों रखता है। उपासक लोगों में अंतर इतना ही रहता है कि बुद्धि तथा प्रेम की मात्राएँ उनमें घट-बढ़ रहती हैं; अर्थात् किसी में प्रेम की न्यूनाधिक प्रधानता रहती है, और किसी में बुद्धि की। ऋषियों ने पृथक्-पृथक् स्वभाव-वाले मनुष्यों के योग्य पृथक्-पृथक् विद्याएँ रची हैं, जिन्हें उपासना भी कहते हैं। ये निर्गुणात्मिका तथा सगुणात्मिका होती हैं। इनके दो-दो भाग हैं, सात्त्विक तथा राजस।

राजस में कुछ-न-कुछ स्वार्थ लगा ही रहता है; किंतु सात्त्विक में नहीं। इसीलिये उपनिषदें राजसिक विद्याओं का वर्णन न करके

सात्त्विक विद्याओं का करती हैं । सात्त्विक उपासना दो प्रकार की होती है—अहंग्रह और प्रतीक । प्रतीक शब्द प्रतिमा से संबंध रखता है, और अहंग्रह आत्मा से । अद्वैत-वाद का मूलाधार "तत्त्वमसि" (अर्थात् वह तू है) है । यहाँ वह से प्रयोजन ईश्वर का है, और तू से जीवात्मा का । इस वाक्य का लक्ष्य ब्रह्म है । अद्वैत-वाद दोनों को एक मानता है, और ऐसा मत प्रकट करता है कि जीवात्मा का अविद्या-जन्य अहंकार ही उसे दिखलाने-भर को परमात्मा से पृथक् करते हुए समझ पड़ता है । अद्वैत-वाद में प्रकृति या जीवात्मा सत् नहीं है । जो है, सो परमात्मा-ही-परमात्मा है । यह वाद उपनिषदों से निकलता है ; किंतु शंकराचार्य ने इसे पुष्ट किया है । विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत-नामक चार और प्रधान मत हैं, जो ईश्वर के अतिरिक्त जीवात्मा तथा प्रकृति को न्यूनाधिक रीति से सत् अथवा सत् के समान मानते हैं । मनुष्य-शरीर में सोलह चक्र माने गए हैं, जिनका योग-शास्त्र से संबंध है । योग में अभ्यास की प्रधानता है । अभ्यास ही से योगी की अधिकाधिक वृद्धि होती है । योगी समाधि में जो कुछ देखता या सुनता है, उससे इस वृद्धि की जाँच करता है । इसी देखने और सुनने का संबंध ईश्वर-संबंधी ज्योति और अनहद नाद से है । जब समाधि की अवस्था में योगी की चौदहों इंद्रियाँ निश्चल हो जाती हैं, अर्थात् वह पाँचों ज्ञानेंद्रियों, पाँचों कर्मेंद्रियों, और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) से कुछ काम नहीं लेता, तब उसको त्रिकुटी (भौंहों के बीच का स्थान) में एक ज्योति देख पड़ती है । अभ्यास के साथ यह ज्योति क्रमशः १६ रूपों में देख पड़ती है, जिनके प्रथम नव रूप निम्न-लिखित हैं— नीहार (ओस), धूम्र, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), तड़ित् (बिजली), स्फटिक और चंद्र । ये नाम केवल समता-प्रदर्शन के लिये कहे गए

हैं। ज्योति के इनसे ऊँचे जो और सात रूप हैं, वे केवल योगियों को ज्ञात हैं; सर्वसाधारण को नहीं बतलाए जा सकते। सुनने से संबंध शब्द (अर्थात् अनहद नाद) का है। ओऽम् की सोलह कलाएँ अथवा मात्राएँ होती हैं। इन सोलहों पर क्रमशः पूर्ण अधिकार करने पर योगी प्रणव को समझता है। प्रणव ईश्वर का वाचक है। इसी को नाद भी कहते हैं। संसार की सब शक्तियों का मिलकर जो स्फुरण होता है, वही प्रणव या नाद है। यह नाद निरंतर हुआ करता है, इसीलिये इसे अनहद (अनाहत) कहते हैं। इसी को दशनादम् भी कहा है, जिन्हें योगी लोग सुनते हैं। नादबिंदु-उपनिषत् में ११ नाद कहे गए हैं, जिनकी उपमा इन नादों से दी गई है—१. जलधि-तरंग, २. घन-गरज, ३. भेरी, ४. निर्झर (पहाड़ी नदी), ५. मृदंग, ६. घंटा, ७. वेणु, ८. किंकिणी, ९. वंशी, १०. वीणा, ११. भ्रमर।

जो-जो पदार्थ यहाँ लिखे गए हैं, उनके शब्दों से प्रयोजन है। इस ध्वनि-संबंधी उन्नति की तीन कक्षाएँ हैं। उपर्युक्त पहली चार ध्वनियाँ प्रथम कक्षा से संबंध रखती हैं। इसी तरह नंबर ५ से ७ तक दूसरी कक्षा से, और अंतिम चार तीसरी कक्षा से संबंध रखती हैं। इनके आगे भी अन्य ध्वनियाँ सुन पड़ती हैं, जिनका कथन शब्दों में नहीं हो सकता। सात शब्द नीचे-लिखे प्रकार के माने गए हैं, तथा इनसे ऊपर कुछ और उच्च प्रकार के शब्द कहे गए हैं। जैसे दर्शन-संबंधी १६ प्रकार ऊपर दिखलाए गए हैं, वैसे ही श्रवण-संबंधी १८ शब्द समझ पड़ते हैं। षोडश-कलायुक्त पुरुष ब्रह्म है। जब ब्रह्म का पूर्ण विचार होता है, तब कलाओं का विचार नहीं होता, और वे कलाएँ मिली हुई समझी जाती हैं। ऐसी दशा में ईश्वर को निष्कल कहते हैं। जब कलाओं पर

ध्यान रखकर ईश्वर पर विचार होता है, तब उसको सकल कहते हैं। परब्रह्म निष्कल है, और अपरब्रह्म सकल। इन सोलहों कलाओं की उपमा चंद्रमा की सोलहों कलाओं से दी जाती है। यहाँ तक कि ईश्वरीय और चांद्र कलाओं के नाम भी एक ही हैं। यथा—अमृत, मानत, पूष, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिना, चंद्रिका, कांति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्ण और पूर्णामृत। इसी उपासना को षोड़शकल-पुरुष-विद्या कहते हैं, जिसमें निर्गुण-ध्यान और सगुणोपासना, दोनों सम्मिलित हैं।

अवतारों, पैग़ंबरों, सिद्धों आदि के प्रति पूजन अथवा मान प्रतीक-उपासना से ही संबंध रखता है; क्योंकि मनुष्य एक प्रकार की प्रतिमा-मात्र है। अहंग्रह-उपासना प्रतीक-उपासना से ऊँची है; किंतु उसमें भी सगुणत्व एवं प्रतीकत्व लगा हुआ है। सो वह भी बुद्धि की अपेक्षा प्रधानतः प्रेम-मार्ग से ही संबंध रखती है। सबसे पहले प्रतीक-उपासना का दर्जा है। उससे बढ़कर अहंग्रह-उपासना की पात्रता आती है, और उससे भी आगे निर्गुण का पद है, जो प्रेम से विशेष संबंध न रखकर प्रधानतः निर्विशेष ज्ञान का विषय है। निर्विशेष ज्ञान को ही प्रेमी लोग तल्लीनता कहते हैं। इसीलिये स्थूल प्रकार से सगुण की उपासना तथा निर्गुण का ज्ञान कहा गया है। वास्तविक ईश्वर इन दोनों से ऊपर है। ये दोनों सिखलाने-भर को हैं। जब रेखागणित सिखलाया जाता है, तब यह पढ़ाया जाता है कि रेखा में लंबाई है, किंतु चौड़ाई बिलकुल नहीं। यह बतलाने को बोर्ड पर एक रेखा भी खींची जाती है। किंतु वह स्वयं अशुद्ध है; क्योंकि बिना चौड़ाई के रेखा सोची तो जा सकती है, पर खींची नहीं जा सकती। फिर भी बिना इसके रेखागणित समझ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान देने को निर्गुण और सगुण-विचार साधन-मात्र हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोज़ा ने

कहा है कि ईश्वर को निर्गुण बतलाने ही में हम उसमें एक गुण स्थापित करते हैं, अर्थात् यह कहते हैं कि उसमें अमुक बात का अभाव है। यह भी एक गुण ही है, यद्यपि भावात्मक न होकर अभावात्मक है। इसीलिये कहा गया है कि ईश्वर का विचार पूर्णतया शब्दों में कहा नहीं जा सकता; वरन् इशारे से समझाया जा सकता है। अतएव कहते हैं कि ईश्वर का असली भाव सगुण और निर्गुण, दोनों से ऊपर है। उपासना और ज्ञान, निर्गुण और सगुण, दोनों ही में होते हैं। दार्शनिकों का विचार है कि योग द्वारा जो ज्योति और शब्द का ज्ञान होता है, (जिसका कथन ऊपर हो चुका है), वह एक प्रकार से अप्राकृतिक है। वैज्ञानिकों का कथन है कि अनहद नाद और ज्योति के ज्ञान जो समाधि से प्राप्त होते हैं, वे भी अप्राकृतिक न होकर प्राकृतिक-मात्र हैं, और जैसा साधारण शब्दों तथा रूपों का ईश्वर से संबंध है, वैसा ही उनका भी; उनसे विशेष कुछ भी नहीं। अर्थात् उन ज्योतियों तथा नादों में कोई विशेष ईश्वरीय सत्ता नहीं है; जो कुछ है, वह साधारण सत्ता-मात्र है। उनका विचार है कि कर्णेंद्रिय को सदैव काम करने का अभ्यास है; अतः जब हम उससे कोई भी काम नहीं लेना चाहते, जैसा कि समाधि की अवस्था में होता है, तब वह ऐसे शब्दों को पकड़ती है, जो हमारी इच्छा-शक्ति की जाग्रत् अवस्था में कर्णेंद्रिय के लिये अति सूक्ष्म होने के कारण सुन नहीं पड़ते। ज्यों-ज्यों इसका अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि समाधिस्थ मनुष्य अंत में ऐसे-ऐसे शब्द सुनने लगता है, जो उसे अप्राकृतिक और ईश्वरीय समझ पड़ते हैं। इसी प्रकार नेत्र बंद करके समाधि लगाने से आँख में जो देखने के स्नायु हैं, उनका प्राकृतिक स्फुरण होने से उन्हें त्रिपुटी में ज्योति देख पड़ने लगती है, जिसके रूप,

अभ्यास-वृद्धि के साथ, बदलते जाते हैं। इन्हीं रूपों को योगी ईश्वरीय ज्योति का साक्षी मानने लगता है, यद्यपि सूक्ष्मता का विचार छोड़ देने से इनमें साधारण पदार्थों के देखने से बढ़कर कोई भी मुख्य ईश्वरीयता नहीं है। यहाँ पर यह भी कह देना चाहिए कि दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों में इस विषय पर कोई वास्तविक भेद है भी नहीं; क्योंकि दार्शनिक भी इन्हें वास्तव में अप्राकृतिक नहीं मानते। वे केवल इनकी सूक्ष्मता पर ज़ोर देते हैं। इस विषय पर अपनेको मत-प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना हर तरह से मानना पड़ता है कि योगी जो ज्योति देखता और शब्द सुनता है, उसके आकार-प्रकार साधारण ज्ञान से सूक्ष्मतर हैं। जब सभी बातों में ईश्वरीय शक्ति है, तब सूक्ष्म बातों में उसकी कुछ अधिकता अवश्यमेव होगी।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होगा कि हिंदू-मत में ईश्वरीय विचार बहुत ही ऊँचा है। अब हम कबीर साहब के ईश्वर-संबंधी कथनों पर विचार करते हैं। आपने कहा है कि ईश्वर में सब शक्तियाँ हैं, और वह सभी कुछ कर सकता है; किंतु बंदा (आदमी) नहीं कर सकता। इससे ईश्वर ही में शक्ति है, ऐसा निष्कर्ष निकलता है। कबीर ने उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी आदि माना है, और एकेश्वर-वाद पर बहुत बड़ा ज़ोर दिया है। "सैना बैना" से "गूँगे के गुड़" की भाँति समझाने में आपने शून्य, ज्योति, और शब्द या अनहद नाद इन तीन बातों पर विशेष ज़ोर दिया है। शून्य-वाद अनीश्वर-वाद को कहते हैं, और ईश्वर-वाद में भी शून्य का वर्णन आता है। ईश्वर को बार-बार शून्य शहर का वासी आदि कहकर कबीर साहब ने यह व्यक्त किया है कि अद्वैत-वाद सत्य है; अर्थात् ईश्वर के अतिरिक्त प्रकृति, जीवात्मा आदि कुछ भी सत् नहीं हैं; क्योंकि यदि वे सत् होते, तो ईश्वर के अतिरिक्त और भी पदार्थ होते, और

वह शून्य का निवासी न होता। योग में इंद्रियों के शून्यप्राय कर देने से ही ज्योति का दर्शन होता है। इससे कबीर साहब ने शून्य का अधिक वर्णन करके यह भी दिखलाया है कि इंद्रियों की अकर्मण्यता अर्थात् लय द्वारा ज्योति-दर्शन होने का योग का विचार सत्य है।

इस प्रकार 'शून्य' के कथन द्वारा कबीर साहब ने, हमारी समझ में, अद्वैत मत, योग की ज्योति एवं शब्द-संबंधी विचारों को पुष्ट किया है। शब्द, नाद आदि से आपका प्रयोजन अनहद नाद से है, जैसा कि आपने कहा भी है। आपने अनहद ढोल, अनहद घंट और नाद, इन तीनों बातों का इस संबंध में विशेष कथन किया है। ये सब बातें योग-शास्त्र के विचारों तथा अनुभवों से पूरी-पूरी मिल जाती हैं, जैसा कि ऊपर वर्णित है। शब्द को आप रंकार-मूलक मानकर राम-नाम को पूज्य समझते हैं। इतनी ही पोपलीला (?) आपके कथनों में है, या यों कहें कि समझ पड़ती है। योग के चार स्थूल विभाग हैं—राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग और लययोग। कबीर साहब का सिद्धांत प्रधानतः लययोग समझ पड़ता है।

ईश्वर के संबंध में आपका विचार बहुत ही ऊँचा है। इससे ऊँचा विचार आज तक शायद किसी ने नहीं प्रकट किया। आपने साफ़ कह दिया है कि ईश्वरीय विचार सगुण और निर्गुण, दोनों से ऊँचा है। यह भी प्रकट रूप से कहा गया है कि भक्ति सगुण ईश्वर की करे, और ज्ञान के लिये निर्गुण ईश्वर पर विचार करे। किंतु ये दोनों बातें समझाने भर को हैं; क्योंकि असली ईश्वर इन दोनों से परे है। प्रतीक-उपासना की आपने पूरे बल के साथ निंदा की है। प्रतिमा, अवतार, पैग़ंबर, मुल्ला, क़ाज़ी, ब्राह्मण आदि में से आप किसी को पूज्य नहीं मानते और सद्गुण पर ही ज़ोर देते हैं।

यह महात्मा उपनिषदों की सच्ची संतान थे। इन्होंने सिवा सच्चे, चोखे ज्ञान के और कुछ भी नहीं कहा, और समझाने-बुझाने आदि के लिये किसी प्रकार ईश्वरीय विचार की सत्यता में तिल-मात्र असत्यता नहीं घुसने दी। सत्य-कथन का इन महात्मा को इतना चाव था कि चाहे भद्दापन भी आ जाय, विरोध हो जाय, स्त्री का सतीत्व तक भ्रष्ट हो जाय, किंतु मुख से असत्य बात न निकले, और कर्मों में असत्यता का आवेश न हो। हिंदू दार्शनिक सिद्धांतों में आपने अद्वैत-वाद को पूर्ण बल के साथ अपनाया; किंतु, फिर भी, उसमें कहे हुए प्रत्येक विचार को नहीं माना। अद्वैत में आपने ईश्वर की अद्वैतता-मात्र पर ज़ोर दिया है। इतना और कहना पड़ता है कि यद्यपि कबीर साहब ने भक्ति के लिये सगुण ईश्वर की उपासना ठीक कही है, तो भी इनकी रचना में उसका बहुत कम समावेश है। भक्ति का उपदेश आप अवश्य करते हैं; किंतु ईश्वर में तार्किक सत्यता स्थिर रखने के लिये उसके सगुण-वर्णन को दृढ़ नहीं करते, जिससे भक्ति के लिये कोई अवलंब कम मिलता है। ईश्वर की भक्ति क्यों की जाय? इस प्रश्न का उत्तर जो आपने दिया है, वह बहुत चित्ताकर्षक नहीं है। ईश्वर की दयालुता, कोमलता आदि के भाव आपकी रचना में कम आए हैं। आप निर्वाण आदि के ही लिये भक्ति का उपदेश करते हैं; यह कम दिखलाते हैं कि दुःखों का दमन ईश्वर ने किया, अथवा वह हमारे लिये बड़ा उत्सुक है, या हमारे कष्टों, दुःखों, दुराचरणों आदि के हटाने में तत्पर है। आपकी रचना में आत्मा की उत्सुकता परमात्मा की ओर विशेष है; किंतु परमात्मा की उत्सुकता बहुत कम है; बल्कि कुछ भी नहीं है। जो थोड़ी-सी है, वह पर्याप्त नहीं। यह नहीं समझ पड़ता कि आत्मा परमात्मा के लिये क्यों इतना उत्सुक हो? केवल मुक्ति की चाट यथेष्ट नहीं है। प्रेम

करने के योग्य बहुत-सी बातें कबीर के ईश्वर में नहीं मिलतीं। इनके ईश्वर के संबंध में उदासीन भाव से भक्ति ठीक या योग्य समझ पड़ती है (उदासीन भाव से भक्ति शांत भाव के अंतर्गत कही जा सकती है)। इसका कारण तार्किक शुद्धता ही दिखाई देती है। ईश्वरीय विचार जितना शुद्ध कबीर साहब ने कहा है, उतना हमारे किसी अन्य भारी भाषा-कवि ने नहीं कहा। स्वामी दयानंद तक ने सब कुछ छोड़कर वेदों का सहारा अवश्य ढूँढ़ा; किंतु कबीर ने कोई सहारा नहीं लिया, केवल सच्चा सीधा ईश्वर कहा। इसीलिये उसमें कुछ शुष्कता आ गई है।

"चरित राम के सगुन भवानी, तरकि न जायँ बुद्धि, बल, बानी।
यह बिचारि जे चतुर बिरागी, रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी।"

महात्मा तुलसीदास को अनन्य भक्त होकर भी ऊपर-लिखी बात कहनी पड़ी। जब आप राम-भक्ति को तर्क-हीन बतलाते हैं, तब औरों के लिये उसके न मानने का ही प्रच्छन्न उपदेश प्रकट होता है। इतना होने पर भी संशय न होने का उपदेश करना एवं "संशयात्मा विनश्यति" का कथन बहुत ठीक नहीं बैठता। कबीरदास के कथनों में संशयात्मक के लिये ठौर ही नहीं है। वह कहते ही नहीं कि अमुक पुस्तक ईश्वर की आज्ञा है। फिर संशय क्या किया जाय? वह ईश्वरीय कृपाओं के उदाहरण ही नहीं देते कि कोई उन पर संदेह प्रकट करे। वेद, कुरान, बाइबिल आदि का अधिकार उन ग्रंथों के ईश्वरीय संबंध पर ही अवलंबित है। यदि कोई इस संबंध को न मान सके, तो उन पुस्तकों पर विश्वास कैसे करे? कबीरदास के कथनों में ऐसे विश्वासों की आवश्यकता ही नहीं है। अन्य बहुतेरे उपदेशक कहते हैं कि हमारे कथन अमुक ग्रंथ में कथित होने, हमसे ईश्वर का अमुक संबंध होने एवं ऐसे-

ही-ऐसे अन्य कारणों से मान्य हैं ; किंतु महात्मा गौतम बुद्ध की भाँति कबीर साहब मानो यही कहते हैं कि हमारे कथन ठीक होने के कारण ठीक हैं ; जो उनमें भूल निकाल सकें, वे निकालें। वह स्वयं सबकी भूलें निकालने का बीड़ा उठाए बैठे थे। उनके कथनों में कोई भूल न निकाल सका। योगियों के कथन होते हैं कि हमने अमुक बात योग-बल से देखी है, इसलिये तुम्हें माननी चाहिए। यदि संदेह हो, तो "संशयात्मा विनश्यति" की धमकी रक्खी हुई है। परंतु बाबा, सारे प्राकृतिक नियमों और अध्ययनों के फलों को किस कोने में ठूँसें, जो अंध-विश्वास के अनुयायी बनें? उत्तर यही मिलेगा कि कौन अंध-विश्वास करने को कहता है? खुद योग-साधन कर देख न लो। पर साठ बरस तक श्रम करने को समय किसके पास है? फल यह है कि आप अपना योग-बल लिए बैठे रहिए, और हम अपने अविश्वास पर दृढ़ रहें। कबीर के कथनों में ऐसी बातों की आवश्यकता नहीं। आपके छंदों तथा जीवन के चरित्रों से जान पड़ता है कि आप योगी, सिद्ध, ब्रह्मानंदी और समाधिस्थ थे। आपकी गणना पैग़ंबरों और मिस्टिक (mystic) महापुरुषों में हो सकती है। फिर भी आपने किसी को अपने ऊपर अनुचित विश्वास करने का उपदेश नहीं दिया, और सारी चितावनियाँ तथा विचार बुद्धि-ग्राह्य लिखे। इसलिये यदि इनका ईश्वर-प्रेम योग्य न हो, तो भी सत्यता की मात्रा विशेष होने से हम उसको योग्य समझते हैं, और इन्हें बहुत भारी धर्मोपदेशक मानते हैं।

उदासीन भक्ति का यह प्रयोजन हमने माना है कि ईश्वर की महत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार करें, उसके नियमों को दयामय समझें ; किंतु नियमातिरिक्त दया को न्याय के प्रतिकूल मानकर असाधारण व्यक्तिगत दया की आशा उससे न करें। ऐसी भक्ति

का मुख्य अंग कर्तव्य-पालन है। ईश्वर से कोई विशिष्ट व्यक्तिगत संबंध असंभव है।

अवतार

(१) तेहि साहब के लागौ साथा ; दुइ कुल मेटिकै होहु सनाथा।
दसरथकुल अवतरि नहिं आया; नहीं लंक के राय सताया।
नहिं देवकि के गरभहि आया; नहीं जसोदा गोद खेलाया।
पृथिवी रमन दमन नहिं करिया; पैठि पताल नहीं बलि छरिया।
नहिं बलि राय सों माड़ी रारी; ना हरनाकुस बधल पछारी।
रूप बराह धरनि नहिं धरिया; छत्री मारि निछत्र न करिया।
गंडक सालग्राम न सीला; मच्छ-कच्छ ह्वै नहिं जल हीला।
द्वारावती सरीर न छाड़ा; लै जगनाथ पिंड नहिं गाड़ा।

(२) संतो आवै-जाय सो माया ;
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहिं गया, न आया।
क्या मकसूद मच्छ-कछ होना, संखासुर न सँहारा ;
अहै दयालु, द्रोह नहिं वाके, कहौ कौन को मारा।
वे करता, न बराह कहावैं, धरनि धरैं नहिं भारा ;
ई सब काम नहीं साहेब के, झूठ कहै संसारा।
खंभ फारि जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई ;
हिरनाकुस नख उदर बिदारै, सो नहिं करता होई।
बावनरूप न बलि को जाँचै, जो जाँचै सो माया ;
बिना विवेक सकल जग जहँ है, माया जग भरमाया।
परसुराम छत्री नहिं मारा, ई छल माया कीन्हा ;
सतगुरु भक्ति भई नहिं जानै जीव सु मिथ्या दीन्हा।
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल पखान नहिं बंधा ;
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा।
गोप, ग्वाल, गोकुल नहिं आए, कर ते कंस न मारा ;

मेहरबान है सबका साहेब, नहिं जीता, नहिं हारा।
वे करता नहिं बौध कहावैं, नहीं असुर को मारा;
ज्ञान-हीन करता सब भरमे, माया जग संहारा।
वे करता नहिं भए कलंकी नहीं कलिंगहि मारा;
ई छल-बल सब माये कीन्हा जतिन सतिन सब टारा।
दस अवतार ईस्वरी माया करता कै जिन पूजा;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, उपजै खपै सो दूजा।

माया

ई माया रघुनाथ कि बैरिनि, खेलन चली अहेरा हो;
चतुर चिकनिया चुनि-चुनि मारे, कोइ न राखा नेरा हो।
मौनी, बीर, दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो;
जंगल में के जंगम मारे, माया किनहु न भोगी हो।
बेद पढ़ंते बेदुवा मारे, पुजा करंते स्वामी हो;
अर्थ बिचारत पंडित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो।
सृंगी ऋषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो;
नाथ मुछंदर चले पीठि दै, सिंगल हू में बोरी हो।
साकठ के घर करता-धरता हरि भक्ताँ के चेरी हो;
कहहि 'कबीर' सुनो हो संतौ, ज्यों आवै त्यों फेरी हो।

माया महा ठगिनि हम जानी;
निरगुन फाँस लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी;
पंडा के मूरति ह्वै बैठी तीरथ में भइ पानी।
जोगी के जोगिनि ह्वै बैठी, राजा के घर रानी;
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहु के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी;
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ, यह सब अकथ कहानी।

अवतार तथा माया-संबंधी उपर्युक्त छंदों से प्रकट हुआ होगा कि कबीर साहब अवतार, देवी, देवता आदि को माया के अंग समझकर नहीं मानते थे।

कर्म-गति

करम-गति टारी नाहिं टरी।

मुनि बसिष्ठ-से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी;
सीता-हरन, मरन दसरथ को, बन में बिपति परी।
कहँ वह फंद, कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी;
सीता को हरि लैगो रावन सुबरन लंक जरी।
नीच हाथ हरिचंद बिकाने, बलि पाताल धरी;
कोटि गाय नित पुन्न करत नृग गिरगिट-जोनि परी।
पँडवार्जुन के आप सारथी, तिन पर बिपति परी;
दुरजोधन को गरब घटायो, जदु-कुल-नास करी।
राहु, केतु औ भानु, चंद्रमा बिधि संजोग परी;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो होनी ह्वै के रही।

यह पद सूरदास के ऐसे ही एक पद से बहुत कुछ मिलता है। संभव है, उन्हीं का पद कबीर साहब के शिष्यों ने इनकी रचना में रख दिया हो; क्योंकि यह इनके सिद्धांतों से भी बहुत कुछ नहीं मिलता, जैसा कि नीचे के वर्णन से प्रकट होगा।

आवागमन

इस सिद्धांत पर हिंदुओं और मुसलमानों के विचारों में बहुत बड़ा अंतर है। हिंदुओं का सिद्धांत है कि प्रत्येक मनुष्य, बल्कि देहधारी, जीवन में जैसे कार्य करता है, तदनुसार भविष्य में अन्य योनियाँ प्राप्त करके संसार में काम करता है। उधर मुसलमानों का मत है कि जीवात्मा एक ही बार मनुष्य-योनि पाकर फिर उसमें कभी नहीं पाता। कबीर साहब की रचना पढ़कर इस

प्रश्न पर भ्रम-सा होता है; क्योंकि आप इन दोनों विरुद्ध सिद्धांतों के समर्थन में स्थान-स्थान पर छंद लिखते हैं। इसीलिये यह निश्चय नहीं होता कि कर्मों के सिद्धांत पर इनका दृढ़ मत क्या था। उदाहरण—

हिंदू-विचार

निर्गुन नाम बिना पछितैहौ फिरि-फिरि यहि नगरी।
कहत 'कबीर' बसा है हंसा आवागमन मिटावै।
दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहौ।
पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ;
काँटा पर के पानी पैहौ प्यासन ही मरि जैहौ।
दूजा जनम सुवा का पैहौ बाग बसेरा लैहौ;
टूटे पंख, बाज मँड़राने, अधफड़ प्रान गँवैहौ।
बाजीगर के बंदर ह्वैहौ, लकरिन नाच नचैहौ;
ऊँच-नीच के हाथ पसरिहौ, माँगे भीख न पैहौ।
सत्त नाम की टेर न करिहौ, मन-ही-मन पछितैहौ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधौ, नरक-निसानी पैहौ।
अष्ट कमल से ऊपजै, लीला अगम अपार;
कह 'कबीर' चित चेतिकै आवागमन निवार।

मुसलमानी विचार

सोच समझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी;
कह 'कबीर' धरि राखु जतन से, फेरि हाथ नहिं आनी।
जियरा ऐसा पाहुना मिलै न दूजी बार।
मनुष-जन्म दुर्लभ अहै बहुरि न दूजी बार;
पका फल जो गिरि परै, बहुरि न लागै डार।

राम

राम को कबीर साहब दशरथ-नंदन अथवा अवतार समझकर

नहीं जपते थे ; वरन् ईश्वरीय शब्द रंकार के सिलसिले में पवित्र मानते थे। इनके गुरु स्वामी रामानंद ने जो इन्हें राम का मंत्र दिया था, उससे उनका प्रयोजन अवतार ही का था। फिर भी कबीर की रचना में सैकड़ों स्थानों पर राम-नाम होते हुए भी उससे अवतार का संबंध कभी नहीं बैठता। इससे जान पड़ता है कि शिष्य होने के बहुत दिन पीछे, अपने विचार दृढ़ कर लेने पर, कबीर साहब ने इन छंदों की रचना की थी। इन्होंने यद्यपि गुरु-मंत्र का भाव छोड़ दिया, तथापि उसके शब्दों से श्रद्धा नहीं हटाई। उदाहरण—

रमै घट-घटन में आपु न्यारा रहै पूर्न आनंद है राम सोई।
पाँच पचीस गुन सील में रहित है कौन-सी दृष्टि से राम देखा ;
दसरथ सुत तिहुँ लोकहि जाना ; राम-नाम का मर्म है आना।
अब सुनि लेहु जवाहिर मोदी खरा, खोट नहिं बूझा ;
सिव, गोरख अस जोगी नाहीं, उनहूँ को नहिं सूझा।
बड़-बड़ साधू बाँधे छोरे, राम भाग दुइ कीन्हा ;
'रा-रा' अच्छर पारख लीन्हा, 'मा' हि भरम तजि दीन्हा।
राम के नाम ते पिंड ब्रह्मंड सब, राम को नाम सुनि भर्म बानी ;
निर्गुन निरँकार के पार परब्रह्म है तासु को नाम रंकार जानी।
रसना राम-राम गुन पीजै ; गुनातीत निर्मूलक लीजै।
निर्गुन ब्रह्म जपौ रे भाई ; जेहि सुमिरत सुधि बुधि सब पाई।
कहै 'कब्बीर' वह शख़्स तहक़ीक़ कर राम का नाम जो पृथी लाय।

ज्ञान

ज्यों अँधरे को हाथिया सब काहू को ज्ञान ;
अपनी-अपनी कहत हैं, काको धरिए ध्यान।
ज्ञानी से कहिए कहा कहत 'कबीर' लजाय ;
अंधे आगे नाचते कला अकारथ जाय।

ज्ञानी भूले ज्ञान कथि निकट रह्यौ निज रूप;
बाहर खोजैं बापुरे, भीतर बस्तु अनूप।
जौलौं तारा जगमगैं, तौलौं उगै न सूर;
तौलौं जिय जग कर्म बस, जौलौं ज्ञान न पूर।

उपर्युक्त प्रथम तीन दोहों में झूठे ज्ञान की निंदा की गई है, सच्चे की नहीं। तीसरे दोहे में बुद्धि की निंदा और प्रतिभा की स्तुति हुई है। चौथे में सच्चे ज्ञान की महिमा गाई गई है।

भक्ति और प्रेम

अर्ब-खर्ब लौं दर्बि है, उदय-अस्त लौं राज;
भक्ति-महातम ना तुलै, ये सब कौने काज।
और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति-कर्म निष्कर्म;
कहै 'कबीर' पुकारिकै भक्ति करौ तजि भर्म।
जो जन बिरही नाम के, सदा मगन मन माहिं;
ज्यों दर्पन की सुंदरी किनहूँ पकरी नाहिं।
बिरह बान जिहि लागिया, औषध लगत न ताहि।
सुसकि-सुसकि मरि-मरि जियै उठै कराहि-कराहि।
सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय;
आँखि न खोलूँ डरपता मति सपना ह्वै जाय।
सब ही तरु तर जायकै, सब फल लीन्हों चीखि;
फिरि-फिरि 'कबिरा' माँगता दरसन ही की भीखि।
यह तौ घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं;
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठै घर माहिं।
हिरदै में महबूब है, हरदम का प्याला;
पीएगा कोइ जौहरी, गुरु-मुख मतवाला।
पियत पियाला प्रेम का सुधरे सब साथी;
आठ पहर झूमत रहै जस मैगल हाथी।

बंधन काटे मोह के बैठा निरसंका ;
वाके नजर न आवता, क्या राजा रंका।
धरती तो आसन किया तंबू असमाना ;
चोला पहिरा खाक का रह पाक समाना।
गही टेक छोड़ै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय ;
ऐसो तप्त अँगार है ताहि चकोर चबाय।

उपर्युक्त छंदों से प्रकट है कि कबीर के चित्त में भक्ति एवं ईश्वरीय प्रेम की मात्रा अथाह थी।

जप

अजपा जाप जपौ मन लाई ; जाके जपे मिटै दुचिताई।
लूटि सकै तौ लूटिए सत्तनाम की लूटि ;
पाछे फिरि पछिताहुगे प्रान जाहिं जब छूटि।
दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोय ;
जो सुख में सुमिरन करै, तौ दुख काहे होय।

यत्न

द्वार धनी के परि रहै, धका धनी का खाय ;
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छाँड़ि न जाय।
जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहिरे पानी पैठि ;
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठि।

जप और यत्न को सभी संत लोग पसंद करते हैं। इन्हें कबीर साहब ने भी अच्छा कहा है। उक्त पाँचों छंद ऐसे लोकप्रिय हुए हैं कि कहावतों में परिणत हो गए। महात्मा कबीरदास का प्रभाव उत्तरी और मध्य भारत में बहुत अधिक पड़ा है। सिवा गोस्वामी तुलसीदास के और किसी का प्रभाव इन प्रांतों में कबीर साहब से बढ़कर नहीं पड़ा। लेखकों का विचार है कि गोस्वामीजी तथा कबीरदास के बराबर किसी अन्य महात्मा का प्रभाव इन दोनों

प्रांतों में नहीं पड़ा। इस कथन का प्रयोजन स्वामी शंकराचार्य से पीछेवाले महात्माओं से है।

गुरु

गुरु दयाल कब करिहौ दाया;
काम, क्रोध, हंकार बियापै, नाहीं छूटै माया।
जौ लगि उत्पति बिंदु रचो है साँच कबूँ नहिं पाया;
पाँच चोर सँग लाय दियो है, इन सँग जन्म गँवाया;
तन-मन डस्यो भुवंगम भारी, लहरै वार न पारा;
गुरु गारुड़ी मिल्यो नहिं कबहीं, बिष पसर्‌यो बिकरारा।
कह 'कबीर' दुख कासों कहिए, कोई दरद न जानै;
देहु दिदार दूर करि परदा, तब मेरो मन मानै।

चकई बिछुरी रैनि की आय मिली परभात;
सतगुरु से जे बीछुरे मिलैं दिवस नहिं रात।
गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय;
बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दिया बताय।
'कबिरा' ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और;
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिं ठौर।

उपर्युक्त छंदों से प्रकट है कि कबीर साहब गुरु का मान बहुत अधिक करते थे। ईश्वर के पीछे आप गुरु को ही मानते थे।

सखी-संप्रदाय से आत्मा का वर्णन

कबीर साहब ने आत्मा को स्त्री मानकर ईश्वर में प्रायः पति-भाव स्थापित किया है। रूपक की भाँति इन दोनों के विवाहों के भी अनेक बार अनेक प्रकार से वर्णन किए हैं। आपकी भक्ति सखी-संप्रदाय की थी। इनकी रचनाओं में शृंगार-पूर्ण वर्णन इस संबंध में बहुत आया है। किंतु उनमें भी शृंगार का आभास-मात्र है। प्रत्येक स्थान पर पाठक को भासित होता जाता है कि शृंगार

कहने ही-भर को है, वास्तविक वर्णन जीवात्मा तथा परमात्मा ही का है। इन कारणों से आपका शृंगार-वर्णन अरुचिकर हो गया है, और उसे पढ़कर अधिकतर स्थानों में काव्यानंद नहीं आता। ऐसे थोड़े ही इस प्रकार के छंद हैं, जिनमें काव्य का स्वाद मिलता है। कई स्थानों पर भावों में जीवात्मा और परमात्मा का विचार इतना दृढ़ है कि उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के ऊपरी कथन को सत्य मानने से स्त्री के काम इतने उन्मत्तता-पूर्ण हो गए हैं कि कोई कुलटा भी उतनी निर्लज्जता न दिखलावेगी। ऐसे स्थानों पर जीवात्मा एवं परमात्मा का ही विचार मानने से वर्णन ठीक बैठता है, और ऊपरी स्त्रीवाला कथन मिलाने से रूप बिलकुल बिगड़ जाता है। स्त्री पति से मिलने को इतनी उत्सुक है कि ऊँचे रपटीले रास्ते में चढ़ती चली जाती है। रास्ता विकट है; पैर आगे नहीं पड़ता। वह गिर-गिर पड़ती है; किंतु चली ही जाती है। पति महाशय ऊपर बैठे हैं। उनको इसकी रत्ती-भर भी पर्वा नहीं कि ऐसे स्थान पर पहुँचने में उनकी स्त्री की क्या दशा होगी? ऐसे अधिकतर वर्णनों में पति की ओर से पूर्ण उदासीनता देख पड़ती है; किंतु स्त्री को इतना प्रेम है कि मिलने के लिये उसका प्राण ही निकला जाता है। अपने पिता से कहती है कि बाबा मेरा विवाह कोई अच्छा वर ढूँढ़कर करा दो, और जब तक ऐसा वर न मिले, तब तक तुम्हीं वर का काम करो। यहाँ पिता से गुरु का प्रयोजन है, और पति से ईश्वर का। मतलब यह कि जब तक ईश्वर से पूरी लगन लग न सके, तब तक उसके स्थान पर गुरु को ही मानना चाहिए। इतना ही आध्यात्मिक विचार सीधे ढंग से बहुत अच्छा बैठता है। किंतु पुत्री द्वारा पिता से यह कहलाना बड़ा ही गर्हित है। रूपक सच्चा वह है, जिसमें उसके दोनों पक्षों में भाव ठीक उतर जायँ। जब तक वर्णन दोनों पक्षों को न निबाहे, तब तक उसका

रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के रूप में कथन ही वृथा है। कबीर साहब के अधिकांश शृंगार-पूर्ण कथन इस कसौटी पर कसने से ओछे बैठते हैं। इसीलिये इनकी रचना में आध्यात्मिक विषय तो बहुत अच्छा, ऊँचा और आनंदप्रद है, किंतु उसमें साहित्यिक मज़ा वैसा नहीं आता। इनके होली, चाँचरा, विवाह आदि के वर्णन इन्हीं विचारों से ओछे पड़ते हैं। कहते तो हैं कि होली खेलो, किंतु पिचकारी मारते हैं ज्ञान की, जिसका प्रयोजन यह निकलता है कि होली न खेलकर उससे बिलकुल विपरीत आचरण द्वारा ज्ञानोपार्जन करो। यदि ऐसी शिक्षा देनी है, तो दीजिए, हम बड़ी प्रसन्नता से सुनने को तैयार हैं; किंतु मिथ्या आशा न दिलाइए। ऐसी दशा में साहित्यानंद का पूर्ण अभाव हो जाता है। जो कहना हो, वही ठीक-ठीक कहिए; किंतु और का और न हो। यदि अन्योक्ति आदि में वर्णन करना हो, तो ऐसा मौक़ा निकालिए, जिसमें अन्योक्ति आदि की आवश्यकता जान पड़े। यथा—

"वहि सज्जा अरजा रहति यहि हौं चाहति सैन;
हे रतौंधि, यह बात मम सैन समै बिसरै न।"
(दासकवि)

यहाँ कथन तो रतौंधी से किया जा रहा है; किंतु प्रयोजन है नायक के चेताने का। साफ़ कहने से साथवाले जान जाते, इससे रतौंधी को संबोधन करके बात कही गई। मौक़ा अन्योक्ति के लिये अच्छा है, अतः काव्यानंद आता है। इसी प्रकार बहुत स्थानों पर कबीर साहब ने भी अन्योक्तियाँ, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि से गर्भित कथन अच्छे भी किए हैं; किंतु आपके अधिकतर ऐसे कथन फीके हो गए हैं। उदाहरण—

(१) दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना;
बहियाँ पकरि पिय लै चले, तब उजुर न करना।

इक अँधियारी कोठरी, दूजे दिया न बाती
देहिं उतारि ताहीं घरौं, जहँ संग न साथी
इक अँधियारी कूइयाँ, दूजे लेजुर टूटी ;
नैन हमारे अस ढुरैं, मानो गागर फूटी ।
लगन सुनत गवने कै, मुँह कुम्हिलाइन हो ;
लै रे उतारिन तेहि घर, जहँ दिस न दुवार हो ।

(२) यार बुलावै भाव से, मो पै गया न जाय ;
धन मैली, प्यू ऊजला, लागि न सकूँ पाँय ।
जहाँ गैल सिलसिली चढ़ौं गिरि-गिरि परौं ;
उठहुँ सँभारि-सँभारि चरन आगे धरौं ।
समझ-सोच पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय ;
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नाहिं ठहराय ।
अधर भूम जहँ महल पिया का हम पै चढ़ो न जाय ;
दूती सद्‌गुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय ।

(३) दुलहिनी गाओ मंगलचार, हमारे घर आए राम भरतार ।
तन रति कर मैं मन रति कर हों, पाँचो तत्त्व बराती ;
रामदेव मोहिं ब्याहन आए, मैं जोबन-मद-माती ।
सरिर सरोवर बेंदी करिहौं, ब्रह्मा बेद उचारा ;
रामदेव सँग भाँवरि लैहौं, धन-धन भाग हमारा ।
सुर तैंतीसौ कौतुक आए, मुनिबर सहस अठासी ;
कह 'कबीर' मोहिं ब्याहि चले हैं पुरुष एक अबिनासी ।

बालम आओ हमारे गेहरे, तुम बिन दुखिया देह रे ।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी, मोको यह संदेह रे ;
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तबलग कैसो नेह रे ।
अन्न न भावै, नींद न आवै, गृह बन धरै न धीर रे ;
ज्यौं कामी को कामिनि प्यारी, ज्यौं प्यासे को नीर रे ।

है कोई ऐसा पर-उपकारी, पिय सों कहै सुनाय रे ;
अब तो बेहाल 'कबीर' भए हैं, बिन देखे जिउ जाय रे ।
सेजरिया बैरिन भइ हमको जागत रैन बिहाय ।
हम तो तुम्हारी दासी सजना, तुम हमरे भरतार ;
दीनदयाल, दया करि आओ समरथ सिरजनहार ।
कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपनी करि लेव ;
दास 'कबीर' बिरह अति बाढ़ेव, हमको दरसन देव ।

(४) खेलि ले नैहरवा दिन चारि ।
पहिली पठौनी तिन जन आए नौवा, बाम्हन, बारि ;
बाबुलजी, मैं पैयाँ तोरी लागौं अब की गवन दे टारि।
दुसरी पठौनी आपै आए लैकै डुलिया कहार ;
धरि बहियाँ डुलिया बैठारिन, कोऊ न लागै गुहार ।
लै डुलिया जाइ बन माँ उतारिन, कोइ न संगी हमार ;
कहैं 'कबीर' सुनो भइ साधो, इक घर हैं दस द्वार ।

उपर्युक्त छंदों के विषय में हम अपना मत ऊपर लिख आए हैं। छंदावली नंबर ३ में स्त्री का पद पुरुष की अपेक्षा बहुत ही नीचा और आश्रित है । जीवात्मा और परमात्मा के विचार में सब ठीक है। नंबर ४ में पति यमराज ही हो गया है । स्त्रियों के विषय में कबीर साहब का मत यों भी उनकी उचित महिमा के प्रतिकूल था। आपने लिखा है कि—

साँप बीछि को मंत्र है, माहुर झारे जात ;
विकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात ।

अन्योक्ति

हे गुनवंती बेलरी, तुव गुन बरनि न जाय ;
जर काटे ते हरिअरी, सींचे ते कुम्हिलाय ।
बेलि कुढंगी, फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय ;

मूल बिना सो तूमरी, सरोपात करुवाय।
हम जान्यो कुलहंस हौ, ताते कीन्हों संग ;
जो जनत्यौं बक-बरन हौ, छुवन न देत्यौं अंग।

रूपक

कुबुधि कमानी चढ़ि रही, कुटिल बचन का तीर ;
भरि-भरि मारै कान लौं, सालै सकल सरीर।

झीनी-झीनी खीनी चदरिया।
काहे का ताना, काहे कि भरनी, कौन तार से हीनी चदरिया ;
इँगला-पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल, दस चरखा डोलैं, पाँच तत्त्व, गुन तीनी चदरिया ;
साईं को सियत मास दस लागै, ठोंकि-ठोंकि के लीनी चदरिया।
सो चादर सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया ;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया।

उपर्युक्त चद्दर का रूपक बहुत ही अच्छा बना है। इसमें योग-संबंधी शब्द भी अच्छे हैं। आपने रूपक बहुत कहे हैं।

उलटवाँसी और सांकेतिक पद

कबीर साहब ने उलटवाँसी बहुत-सी कही हैं। इनमें देखने को तो उलटा कथन किया जाता है, किंतु आध्यात्मिक अर्थ लगाने से वह ठीक बैठ जाता है। इसीलिये इन्हें उलटवाँसी कहते हैं। इन्हीं से मिलते हुए बहुत-से ऐसे कथन हैं, जो संकेत में किए गए हैं, और जिनका अर्थ साधारण पाठक कठिनता से लगा सकते हैं। "पाँच पचीस को दमन करो" एक ऐसा ही वाक्य है। इसी प्रकार के बहुत-से कथन ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं। वैदिक साहित्य का कुछ स्वाद इन महात्मा की रचना में कहीं-कहीं मिलता है। उदाहरण—

(१) बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता।

यहाँ अष्ट से योग, कष्ट से ज्ञान, नौ से नवधा भक्ति और सूत से जीव का प्रयोजन है ।

(२) चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय ;
आवागम की गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय ।

यहाँ चिउँटी से बानी का प्रयोजन लिया गया है, और राई से बुद्धि का ।

(३) संतो जगत नींद ना कीजै ;
काल न खाय, कलप नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै ।
उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससि औ सूरहि ग्रासै ;
नौ ग्रह मारि रोगिया बैठो, जल में बिंब प्रकासै ।
बिनु चरनन को दुहुँ दिसि धावै, बिनु लोचन जग सूझै ;
संसय उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज कोइ बूझै ।
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़ै, सीधे सों जल भरिया ;
जेहि कारन नर भिन्न-भिन्न करैं, गुरू प्रसादे तरिया ।
बैठि गुफा में सब जग देखे, बाहर कछू न सूझै ;
उलटा बान पारधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै ।
गायन करै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै ;
नटबट बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढ़ावै ।
कथनी बदनी निजु कै जोवै, ई सब अकथ कहानी ;
धरती उलटि अकासहि बेधै, ई पुरुखन की बानी ।
बिना पियाला के अमिरित अँचवै, नदी नीर भरि राखै ;
कहै 'कबीर' सो जुग-जुग जीवै, राम-सुधा-रस चाखै ।

इसका अर्थ पूर्णदास ने लिखा है । यहाँ सब लिखना अनावश्यक है ।

(४) तेहि पानी दुइ परबत दरिया लहर समानी ।

(५) संतो, अचरज यक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी ।

पिताहि के सँग भई बावरी, कन्या रहल कुमारी ;
खसमहिं छाँड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु बिचारी।
भाई के सँग ससुरे गवनी, सासुहि सावन दीन्हा ;
ननद-भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा।
समधी के सँग नाहीं आई, सहज भई घरवारी ;
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, पुरुष जनम भो नारी।

ऐसे-ऐसे उलटे कथनों से भी सीधे अर्थ निकलते हैं। जिसे अर्थ देखना हो, वह टीका पढ़े।

(६) पहले जनम पुत्र का भयऊ, बाप जन्मिया पाछे ;
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज कोइ काछे।
दुंदुर राजा टीका बैठे, बिषहर करै खवासी ;
स्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घर में दासी।
कार दुकार कार करि आगे, बैल करै पटवारी ;
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, भैंसे न्याव निबेरी।

(७) जो चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै ;
कातूँ सूत हजार चरखुला जिन जरै।
बाबा मोरा ब्याहु कराओ अच्छा बरहितकाय ;
जौलौं अच्छा (बर) ना मिलै तौलौं तुमहि बिहाय।
प्रथमै नगर पहूँचतै परि गौ सोक सँताप ;
एक अचंभा देखिया, बिटिया ब्याहिल बाप।

(८) माटि क कोट, पषान को ताला; सोइके बन सोई रखवाला।
भूकि-भूकि कूकुर मरि गयऊ, काज न एक सियार से भयऊ।
मूस बिलारी एक सँग, कहु कैसे रहि जाय ;
अचरज यह देखा हो संतो हस्ती सिंहहि खाय।

(९) माई मैं तो दोनों कुल उजियारी।
सासु-ससुर को लातन मारी, जेठ कि मूछ उखारी ;

राँधि परोसिन कीन्हि कलेवा, धरि बुढ़िया महतारी।
पाँच पूत कोखिया के खाए, छठए ननद दुलारी ;
स्वामी हमरे सेज बिछावैं, सूतब गोड़ पसारी।
पाँच खसम नैहर में कीन्हे, सोरह किय ससुरारी ;
वा मुंडो का मूड़ मुड़ाऊँ, जो सरबरि करै हमारी।
कहै 'कबीर' सुनो भाई साधो, आपै करौ बिचारी ;
आदि-अंत कोइ जानत नाहीं, नाहक जनम खोवारी।

इन सब कथनों से आध्यात्मिक अर्थ न केवल निकाले गए हैं, वरन् कबीर साहब ने जान-बूझकर उपदेशों को भड़कीला बनाने के विचार से उलटे कथनों द्वारा भी गूढ़ धार्मिक अर्थ निकालने की विधि रक्खी है।

उपमा और तत्तुल्य अन्य अलंकार

इनका समावेश भी कबीर साहब की रचना में जहाँ-तहाँ पाया जाता है।

पतिबरता पति को भजै और न आन सुहाय ;
सिंह बचा जो लंघना, तो भी घास न खाय।
संत न छाँड़ैं संतई, कोटिक मिलैं असंत ;
मलय भुजंग न बेधिया सीतलता न तजंत।
'कबिरा' संगति साधु की, ज्यों गंधी का बास ;
जो कुछ गंधी दे नहीं, तो भी मिलै सुबास।
मधुर बचन है ओषधी, कटुक बचन हैं तीर ;
स्रवन द्वार ह्वै संचरै, सालै सकल सरीर।
मूरुख को समुझावते, ज्ञान गाँठि को जाय ;
कोइला होय न ऊजरो, ना मन साबुन लाय।
मूरुख सों क्या बोलिए, सठ सों कहा बसाय ;
पाहन में क्या मारिए, चोखा तीर नसाय।

जब दिल मिला दयाल सों तब कुछ अंतर नाहिं।
पाला गलि पानी भया यों हरि जन, हरि माहिं।

कर्मकांड

कबीर साहब ने कर्मकांड पर सदैव घोर अश्रद्धा प्रकट की है—

मूड़ मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेइ मुड़ाय;
बार-बार के मूड़तें, भेड़ न बैकुंठ जाय।
पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का-सा खेल;
जब लग पिउ परसे नहीं, तब लग संसय मेल।
आचारी सब जग मिला, मिला बिचारि न कोय;
कोटि अचारी वारिए, एक विचारि जो होय।
जहँ गाहक तहँ हौं नहीं, हौं जहँ गाहक नाहिं;
बिनु बिबेक भटकत फिरैं, पकरि सब्द की छाहिं।
'कबिरा' सोई पीर है, जो जानै पर-पीर;
जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।
नेति-नेति जेहिं बेद कह, जहाँ न मन ठहराय;
मन बानी को गम नहीं, ब्रह्म कहा किन आय।
पद गावै लवलीन ह्वै, कटै न संसय-फाँस;
सबै पछोरे थोथरा एक बिना बिसवास।
अनजाने को नरक सरग है हरि जाने को नाहीं।
कर्ता एक और सब बाजी; ना कोई पीर, मसायख, काजी।
बाजी ब्रह्मा, बिष्णु, महेसा; बाजी इंदर, चंद, गनेसा।
बाजी जलचर सकल जहाना; बाजी जान जमी, असमाना।
बाजी बरनौ इस्मृति बेदा; बाजीगर का लखै न भेदा।
जिन दुनिया में रची मसीद; झूठा रोजा, झूठी ईद।
कहु दोभिस्त कहाँ ते आई; किसके हित तुम छुरी चलाई?
कर्ता किरतिम बाजी लाई; हिंदु, तुरुक दुइ राह चलाई।

साँच एक अल्ला का नाम ; ताको झुक-झुक करो सलाम।
कह 'कबीर' कछु आन न कीजै ; राम-नाम जपि लाहा लीजै।

अहिंसा

अहिंसा का आपने सदा प्रतिपादन किया है। मुसलमान होकर भी कबीर साहब ने हिंसा से पूर्ण घृणा दिखलाई है, जिससे एवं अन्य बातों से जान पड़ता है कि आप चित्त से हिंदू थे—

मैं तुहिं पूछौं मुसलमाना ; लाल जर्द का नाना बाना।
काजी, काज करौ तुम कैसा ; घर-घर जबै कराओ वैसा।
बकरी, मुरगी किन कर माया; किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दर्द न जानैं, पीर कहावैं ; वैता पढ़ि-पढ़ि जग समुझावैं।
कह 'कबीर' सैयद कहलावैं ; आप सरीखा जगत भुलावैं।

दिन-भर रोजा धरत हौ, राति हनत हौ गाय ;
एक खून, एक बंदगी, कैसे खुसी खुदाय।

उपदेश

कबीर साहब ने उपदेश और चेतावनियाँ भी बहुत अच्छी कही हैं—

और के छिए लेत हौ सींचा ; तुम सों कहहु कौन है नीचा।
जासु नाम है गर्ब-प्रहारी ; सो कस गर्बहि सकै सहारी।

जो तूँ साँचा बानिया, साँची हाट लगाव ;
अंदर झाडू देइ कै, कूरा दूरि बहाव।
अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप ;
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।
मोर तोर के जेवरी बटि बाँधा संसार ;
दास 'कबीरा' क्यों बँधै, जाके नाम अधार ;
मन मथुरा, दिल द्वारका, काया कासी जानु ;

दस द्वारे का देहरा, तामें जोति पिछानु।
बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूरि;
पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूरि।
प्रभुता को सब कोउ भजै, प्रभु को भज न कोय;
कह 'कबीर' प्रभु को भजै प्रभुता चेरी होय।
जहँ आपा तहँ आपदा, जहँ संसा तहँ सोग;
कह 'कबीर' कैसे मिटैं चारौ दीरघ रोग।
निंदक एकहु मति मिलै, पापी मिलैं हजार;
इक निंदक के सीस पर कोटि पाप को भार।
चलौ-चलौ सब कोइ कहै, पहुँचै बिरला कोय;
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय।
मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय;
तन-मद, मन-मद, जाति-मद, माया-मद सब लोय।
बिद्या-मद अरु गुनहु मद राज-मद उनमद;
इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद।
सुख का सागर सील है, कोइ न पावै थाह;
सब्द बिना साधू नहीं, द्रब्य बिना नहिं साह।
जो जल बाढ़ै नाउ में, घर में बाढ़ै दाम;
दोऊ हाथ उलीचिए, यह सज्जन को काम।
माँगन गे सो मरि रहे, मरे सो माँगन जाहिं;
तिनसे पहिले वे मरे, होत कहत जे नाहिं।
गोधन, गज-धन, बाजि-धन, और रतन-धन-खान;
जब आवै संतोष-धन सब धन धूरि समान।
नीचे-नीचे सब तरे जेते बहुत अधीन;
चढ़ि बोहित अभिमान की बूड़े ऊँच कुलीन।
सबते लघुताई भली, लघुता से सब होय;

जस दुतिया को चंद्रमा, सीस नवै सब कोय।
रूखा-सूखा खायकै ठंढा पानी पीव;
देखि बिरानी चूपरी मति ललचावै जीव।
'कबिरा' साईं मुज्झ को रूखी रोटी देय;
चुपरी माँगत मैं डरूँ रूखिहु छीनि न लेय।
आधी औ रूखी भली, सारी सों संताप;
जो चाहैगा चूपरी बहुत करैगा पाप।
'कबिरा' वैरी सबल हैं एक जीव रिपु पाँच;
अपने-अपने स्वाद को बहुत नचावैं नाच।
हिरदै भीतर आरसी मुख देखा नहिं भाय;
मुख तौ तब ही देखती दिल को दुबिधा जाय।
जूवा, चोरी, मुखबिरी, ब्याधि, घूस, परनारि;
जो चाहै दीदार को एती बस्तु निवारि।
'कबिरा' मैं तो तब डरौं जो मुझ ही में होय;
मीचु, बुढ़ापा, आपदा सब काहू में सोय।
लंबा मारग, दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार;
कह 'कबीर' कस पाइए दुरलभ गुरुदीदार।
एक कर्म है बोवना, उपजै बीज बहूत;
एक कर्म है भूँजना, उदै न अंकुर सूत।
करु बहियाँ बल आपनी, छाँड़ु बिरानी आस;
जाके आँगन है नदी सो कस मरै पियास।
ऊपर की दोऊ गईं, हिय की गईं हेराय;
कह 'कबीर' चारिउ गईं, तासों कहा बसाय?
रचनहार को चीन्हि ले, खाने को क्या रोय;
दिल-मंदिर में पैठि करि तानि पिछौरा सोय।
सबसे आछी मधुकरी भाँति-भाँति का नाज;

दावा काहू का नहीं बिना बिलायत राज।
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय ;
जो दिल खोजूँ आपना मुझ-सा बुरा न होय।
प्रेम-प्रीति का चोलना पहिरि कबीरा नाच ;
तन-मन तापर वारहूँ, जो कोइ बोलै साँच।

चेतावनी

ऐसी गति संसार की ज्यों गाड़र की ठाट ;
एक पड़ी जेहि गाड़ में सबै जायँ तेहि बाट।
चलती चक्की देखिकै दिया 'कबीरा' रोय ;
दुइ पट भीतर आयकै साबुत गया न कोय।
काम, क्रोध, मद, लोभ की जब लग घट में खान ;
कहा मूर्ख, कह पंडिता, दोनों एक समान।
माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिं जाय ;
मान बड़े मुनिवर मिले, मान सबन को खाय।

मन

मन के विषय में भी इन महात्मा ने अच्छे-अच्छे छंद कहे हैं—

केसन कहा बिगारिया जो, मूड़ौ सौ बार ;
मन को क्यों नहिं मूड़िए, जामें बिषय-बिकार।
मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक ;
जो मन पर असवार है, सो साधू कोइ एक।
मन-मुरीद संसार है, गुरु-मुरीद कोइ साधु ;
जो मानै गुरु-बचन को, ताको मता अगाधु।
'कबिरा' मन तौ एक है, भावै तहाँ लगाय ;
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै बिषय कमाय।
मन के बहुतक रंग हैं, छिन-छिन बदलै सोय ;
एकै रँग में जो रहै, ऐसा बिरला कोय।

मनुवा तौ पंछी भया, उड़िकै चला अकास ;
ऊपर ही ते गिरि परा, या माया के पास।
मन कुंजर महमंत था, फिरता गहिर गँभीर ;
दोहरी, तेहरी, चौहरी परि गइ प्रेम-जँजीर।
'कबिरा' मनहि गयंद है आँकुस दै-दै राखु ;
बिस की बेली परिहरौ, अमिरित का फल चाखु।
मन माया तौ एक है, माया मनहि समाय ;
तीनि लोक संसै परा, काहि कहूँ समुझाय।
मन सागर, मनसा लहरि, बूड़े-बहे अनेक ;
कह 'कबीर' ते बाँचिहैं, जिनके हृदय बिबेक।
नैनन आगे मन बसै रलि-पिलि करै जो दौर ;
तीनि लोक मन भूप है, मन-पूजा सब ठौर।
तन बोहित, मन काग है, लख जोजन उड़ि जाय ;
कबहीं दरिया अगह बहि, कबहीं गगन समाय।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ;
कह 'कबीर' प्यो पाइए मन ही की परतीत।
तीन लोक टींड़ी भई उड़िया मन के साथ ;
हरिजन हरि जाने बिना परे काल के हाथ।
बाजीगर का बंदरा ऐसा जिउ मन साथ ;
नाना नाच नचाय कै राखै अपने हाथ।
मन गयंद मानै नहीं, चलै सुरति के साथ ;
दीन महावत क्या करै, अंकुस नाहीं हाथ।
मन स्वारथ आपहि रसिक बिषय लहरि फहराय ;
मन के चलते तन चलै, ताते सरबसु जाय।
देस-देस हम बागिया ग्राम-ग्राम की खोरि ;
ऐसा जियरा ना मिला, जो ले फटकि पछोरि।

मेरा तेरा मनुवा कैसे एक होय रे ।
मैं कहता हूँ आँखिन-देखी, तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राखा उरझोय रे।
मैं कहता तू जागत रहना, तू रहता है सोय रे;
मैं कहता निरमोही रहियो, तू जाता है मोय रे।
जुगन-जुगन समुझावत हारा, कहा न मानत कोय रे;
तू तो रंडी फिरै बिहंडी सब धन डारे खोय रे।
सतगुरु धारा निरमल बाहै, वामें कायर धोय रे;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, तबही वैसा होय रे।

नीति

सिंहों के लेहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँति;
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति।
लघुता ते प्रभुता मिलै, प्रभुता ते प्रभु दूरि;
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि।
नवन-नवन बहु अंतरा, नवन-नवन बहु बान;
ये तीनों बहुतै नवैं चीता, चोर, कमान।
'कबिरा' सीप समुद्र की खारा जल नहिं लेय।
पानी पावै स्वाति का सोभा सागर देय।
ऊँची जाति पपीहरा, पियै न नीचा नीर;
कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर।
हंसा, बक यकरँग लखिय, चरैं एक ही ताल;
छीर, नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल।
गुनिया तो गुन को गहै, निरगुन गुनहि घिनाय;
बैलहि दीजै जायफर, क्या बूझै, क्या खाय।
बना-बनाया मानवा बिना बुद्धि बेतूल;
कहा लाल लै कीजिए बिना बास का फूल।

प्रेम-प्रीति सों जो मिलै, तासों मिलिए धाय ;
अंतर राखे जो मिलै, तासों मिलै बलाय ।
खुलि खेलौ संसार में, बाँधि न सकै कोय ;
घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होय ।
सब काहू का लीजिए साँचा सब्द निहारि ;
पच्छपात नहिं कीजिए कहै 'कबीर' बिचारि ।

तीव्र आलोचना

कबीर साहब सत्य-प्रिय तथा भारी उपदेशक होने के कारण अनुचित बातों की तीव्र आलोचना करने से कभी नहीं चूकते थे—

बावन रूप छल्यो बलि राजा ; ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा ।
ब्राह्मण ही सब कीन्ही चोरी ; ब्राह्मण ही को लागल होरी ।
अंध सो दर्पन बेद-पुराना ; दरबी कहा महारस जाना ।
संतौ पाँड़े निपुन कसाई ।
कहै 'कबीर' सुनौ हो संतौ कलि माँ ब्राह्मण खोंटे ।
फूटी आँखि बिबेक की लखै न संत असंत ;
जाके सँग दस-बीस हैं, ताको नाम महंत ।

तीव्र आलोचना के बहुत-से उदाहरण अन्य प्रसंगों में ऊपर आ चुके हैं, और आगे भी आवेंगे ।

मृत्यु

अन्य उपदेशकों की भाँति आप भी श्रोताओं को मृत्यु की याद प्रायः दिलाया करते हैं—

कौनौ ठगवा नगरिया लूटल हो ।
चंदन-काठ कै बनल खटोलना, ता पर दुलहिन सूतल हो ।
उठौ री सखी, मोरि माँग सँवारौ, दुलहा मोसे रूसल हो ;
आए जमराज, पलँग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो ।

चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धूधू ऊठल हो ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, जग से नाता छूटल हो।
साधो ई मुरदन के गावँ ।
पीर मरे, पैगंबर मरिगे, मरिगे जिंदा जोगी ;
राजा मरिगे, परजा मरिगे, मरिगे बैद औ रोगी ।
चंदौ मरिहैं, सुरजौ मरिहैं, मरिहैं धरनि-अकासा ;
चौदह भुवन चौधरी मरिहैं, इनहुन कै का आसा ।
नौ हू मरिगे, दस हू मरिगे, मरिगे सहस अठासी ;
तैंतिस कोटि देवता मरिगे, परिगे काल कि फाँसी ।
नाम अनाम रहै जो सद ही, दूजा तत्त न होई ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, भटकि मरै मति कोई ।
नाथ मुछंदर नहिं बचे, गोरख, दत्त औ व्यास ;
कहैं 'कबीर' पुकारि सब परे काल की फाँस ।
पानी केरा बुदबुदा, असि मानुस की जात ;
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ।
जुआ, जरा, बालापन बीत्यो, चौथि अवस्था आई ;
जस मुसवा को तकै बिलैया तासि जम घात लगाई ।
जंत्र बजावत हौं सुना टूटि गए सब तार ;
जंत्र बिचारा क्या करै, गया बजावन हार ।

कहावतें

इन्होंने ऐसी विलक्षण रचना की है कि इनके सैकड़ों पद कहावतों के रूप में आज सब छोटे-बड़ों की जिह्वा पर हैं—

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहिरे पानी पैठि ;
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठि ।
संत नाम कड़ुवा लगै, मीठा लागै दाम ;
दुबिधा में दोऊ गए, माया मिली न राम ।

साध कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर ;
चढ़ै तो चाखै प्रेम-रस, गिरै तो चकनाचूर।
आछे दिन पाछे गए, गुरु से किया न हेत ;
अब पछितावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गईं खेत।
कालिह करन सो आजु कर, आजु करै सो अब्ब ;
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब।
माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूँदै मोहिं ;
यक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँदूँगी तोहिं।
आया है सो जायगा, राजा, रंक, फकीर ;
इक सिंहासन चढ़ि चला, इक बँधि जात जँजीर।
आसपास जोधा खड़े, सबै बजावैं गाल ;
माँझ महल से लै चला, ऐसा काल कराल।
माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकार,
फूली-फूली चुनि लईं, कालिह हमारी बार।
दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन ;
रहिबे को आचरज है, गए अचंभा कौन।
जो तोको काँटा बवै, ताहि बोय तू फूल ;
तोहि फूल-के-फूल हैं, वाको हैं तिरसूल।
दुरबल को न सताइए, जाकी मोटी हाय ;
बिना जीव की साँस से सार भसम ह्वै जाय।
पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ;
ढाईं अच्छर प्रेम के पढ़ै, सो पंडित होय।
परनारी पैनी छुरी, मति कोउ लाओ अंग ;
रावन के दस सिर गए परनारी के संग।
छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटेन को उतपात ;
कहा बिष्णु को घटि गयो जो भृगु मारी लात ?

मरि जाऊँ माँगूँ नहीं अपने तन के काज ;
परमारथ के कारनै मोहिं न आवै लाज।
बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल ;
जो नर बकरी खात हैं, तिनके कौन हवाल।
देह धरे का दंड है, सब काहू को होय ;
ज्ञानी भुगतै ज्ञान ते, मूरख भुगतै रोय।
फुलवा भार न लै सकै, कहै सखिन सों रोय ;
ज्यों-ज्यों भींजै कामरी, त्यों-त्यों भारी होय।
एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ;
जो तू सेवै मूल को, फूलै-फलै अघाय।
कैसे दिन कटिहैं, जतन बताए जैयो।
यहि पार गंगा, वहि पार जमुना, बिचवा मड़ैया हमका छवाए जैयो।
मुखड़ा क्या देखै दरपन में ; तेरे दया-धरम नहिं तन में।
आम कि डार कोयलिया बोलै सुवना बोलै मन में।
ऐंठी धोती, पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में ;
कहै 'कबीर' सुनो भइ साधो, वे क्या चढ़िहैं रन में।
तोहिं मोरि लगन लगाए रे फकिरवा।
सोवत ही मैं अपने मंदिर में, सबदन मारि जगाए रे फकिरवा ;
बूड़त ही भव के सागर में, बहियाँ पकरि समुझाए रे फकिरवा।
एकै बचन बचन नहिं दूजा, मोसों बंद छोड़ाए रे फकिरवा ;
कहै 'कबीर' सुनो भई साधो, सत्त नाम-गुन गाए रे फकिरवा।

संतों के नाम

कबीरदास के जो ग्रंथ हमने देखे हैं, उनमें रामानंद, गोरख, मुछंदर, तकी और रैदास के नाम आए हैं—

साधन माँ रैदास संत हैं, सुपच रिषी से भगिया।
घट-घट है अविनासी सुनौ तकी तुम सेख।

कहत कबीर सुनौ हो गोरख तरै सहित परिवारा।
कासी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए।
दसौ दिसा ते क्रोध की उठी अपरबल आगि ;
सीतल संगति साध की, तहाँ उबरिए भागि।

हिंदुआनी और मुसलमानी मतों पर विचार

आदम आदिहि सुधि नहिं पाई ; मामा हौवा कहँ ते आई।
तब नहिं होते तुरुक औ हिंदू ; माय के रुधिर, पिता के बिंदू।
तब नहिं होते गाय कसाई ; तब बिसमिल्ला किन फरमाई।
तब नहिं होते कुल औ जाती ; दोजख-भिस्त कौन उतपाती।
मन मसले की सुधि नहिं जाना ; मति भुलान दुइ-दीन बखाना।
जो खुदाय मसजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा ;
तीरथ मूरत राम निवासी, दुइ माँ किनहु न हेरा।
पूरब दिसा हरी को बासा, पच्छिम अलह मुकामा।
दिल में खोजि दिलहि मा खोजे, इहै करीमा रामा।
चौदह तबक किया निरवारा, अब नीचे का सुनो बिचारा ;
सात तबक में छा रखवारा, भिन-भिन सुनो पसारा है।
सेस, धवल, बाराह कहाई, मीन, कच्छ, औ कुरम रहाई ;
सो छा रहे सात के माहीं, यह पाताल पसारा है।
पेटहिं काहु न बेद पढ़ाया; सुनति कराय तुरक नहिं आया।
जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाए; और राह तुम काहे न आए?
जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया; पेटै काहे न सुनति कराया?
कारी, पीरी दूहो गाई; ताकर दूध देहु बिलगाई।
छाँड़ु कपट नर अधिक सयानी; कह 'कबीर' भजु सारँगपानी।
दुइ जगदीस कहाँ ते आए, कहु कौने भरमाया?
अल्ला, राम, करिम, केसव, हरि, हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गहना, तामें भाव न दूजा ;

कहन-सुनन को दुइ करि थापे, यक नेवाज, यक पूजा।
वही महादेव, वही मुहम्मद, ब्रह्मा, आदम कहिए;
कोई हिंदू, कोई तुरुक कहावै, एक जमी पर रहिए।
बेद-किताब पढ़ें, वै कुतबा, वै मुलना, वै पाँड़े;
बिगत-बिगत कै नाम धरायो यक माटी के भाँड़े।
कह 'कबीर' वे दोनों भूले, रामहिं किनहुँ न पाया;
वे खसिया, वे गाय कटावैं, बादे जन्म गँवाया।
गुप्त प्रगट है एकै मुद्रा; काको कहिए बाँभन-सुद्रा।
झूठ गरब भूलै मति कोई; हिंदू, तुरुक झूठ कुल दोई।

बहुरि नहिं आवना या देस।

जो-जो गए बहुरि नहिं आए, पठवत नाहिं सँदेस;
सुर, नर, मुनि औ पीर, औलिया, देबी, देव, गनेस।
धरि-धरि जनम सबै भरमे हैं, ब्रह्मा, बिष्णु महेस;
जोगी, जंगम औ संन्यासी दीगंबर, दरबेस।
चुंडित, मुंडित, पंडित लोई सरग, रसातल, सेस;
कोइ रहीम, कोइ राम बखानै, कोइ कहै आदेस।
नाना भेख बनाय सबै मिलि ढूँढ़ि फिरे चहु देस;
कहै 'कबीर' अंत ना पैहो बिन सतगुरु-उपदेस।

ना जानें तेरा साहिब कैसा है।

महजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहिरा है;
चींटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहब सुनता है।
साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना;
आतम मारि पषानहि पूजैं, उनमें कछू न ज्ञाना।
बहुतै देखे पीर-औलिया, पढ़ैं किताब-कुराना;
कह हिंदू मोहिं राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना।
हिंदु, तुरुक की एक राह है, सदगुरु इहै बताई;

कहै 'कबीर' सुनौ हो संतो, राम न कहेउ खोदाई।
जिन दुनिया में रची मसीद; झूठा रोजा, झूठी ईद।
साँच एक अल्ला का नाम; ताको नय-नय करौ सलाम।
कहु धौं भिस्त कहाँ ते आई; किसके हित तुम छुरी चलाई?
करता किरतिम बाजी लाई; हिंदु, तुरुक दुइ राह चलाई।
अरे इन दोउन राह न पाई।
हिंदू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई;
बेस्या के पाँयन तर सोवै, यह देखो हिंदुआई।
मुसलमान के पीर-औलिया, मुरगी-मुरगा खाई;
खाला केरी बेटी ब्याहै, घर हि में करै सगाई।
बाहर से यक मुर्दा लाए, धोय-धोय चढ़वाई;
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठीं, घर-भर करै बड़ाई।
हिंदुन की हिंदुआई देखौ, तुरुकन की तुरुकाई;
कहै 'कबीर' सुनौ भइ साधो, कौन राह ह्वै जाई।

मुसलमानी विचारों का प्रभाव

तासु के बदन की कौन महिमा, कहौं भासती देह अति नूर छाई।
सून्य के बीच में बिमल बैठक, जहाँ सहज असथान है गैबकेरा।
छोड़ि ना सूल मलकूत जबरूत हो और लाहूत हाहूत बाजी;
जाय जाहूत में खुदा खाविंद जहँ, वहीं मकान साकेत साजी।

(यहाँ मुसलमानी स्थान मलकूत, जबरूत, लाहूत आदि को लिखते हुए कवि ने वहीं साकेत का कथन कर दिया, जो विष्णु का स्थान है)

मुरसिद नैनों बीच नबी है।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।
सत्त पुरुष इक बस पच्छिम दिस तासों करौ निहोर।

हिंदूपन का प्रभाव

खाला केरी बेटी ब्याहैं, घर ही करैं सगाई।

सुनति कराय तुरुक जो होना, औरत को क्या कहिए।
अरध सरीरी नारि बखानी, ताते हिंदू रहिए।

इन कथनों से प्रकट है कि कबीर साहब के विचार बहुत ऊँचे थे। आप हिंदू-मुसलमानों के अंतर को बिलकुल नापसंद करते थे, और दोनों को एक करना चाहते थे। आपकी रचना में नूर, ग़ैब, मलकूत, जबरूत, लाहूत, ख़ुदा, अल्ला, क़ाज़ी, मशायख़ (शेख़ की जमा), मुरशिद, दीदार, नबी, किताब आदि के कथन आने से आपके चित्त पर मुसलमानों का प्रभाव प्रकट होता है। इसी विचार से आपने पश्चिम में ईश्वर का स्थान बतलाया है। ख़ाला की संतानों का आपस में विवाह अनुचित समझना तथा सुन्नत से मुसलमान होने को न मानना एवं उपनिषदों के सिद्धांतों का समादर करना आपके ऊपर हिंदू-प्रभाव प्रकट करते हैं। उक्त सैकड़ों छंदों से प्रकट है कि आपकी रचना और विचारों पर हिंदू-प्रभाव बहुत अधिक था। आपके ईश्वर-संबंधी विचार हिंदुओं के हैं। इसी प्रकार उपदेश आदि में भी हिंदू विचार ही हैं। कहा जा सकता है कि आप मुसलमाननुमा हिंदू थे; अर्थात् कहने को तो मुसलमान थे, किंतु थे वास्तव में हिंदू। मुसलमानी विचारों से नबी हिदायत करनेवाले को कहते हैं। कहा जाता है, १,२४,००० नबी हो गए हैं। नबियों से बढ़कर दर्जा पैग़ंबरों का है, जिनमें चार प्रधान हैं। पैग़ंबर ईश्वर के बसीठी को कहते हैं। चारों मुख्य पैग़ंबरों के नाम हैं मूसा, दाऊद, ईसा और मुहम्मद। इनकी किताबें क्रम से तौरीत, ज़ुबूर, इंजील और क़ुरआन हैं। इनके अनुयायियों को क्रम से यहूदी, बनी इस-राईल, ईसाई और मुसलमान कहते हैं। मुसलमानों का विचार है कि इन चार पैग़ंबरों में से किसी को भी माननेवाला किताबी है; क्योंकि वह किसी-न-किसी ईश्वरीय किताब को मानता है।

इनके विचार से हिंदू किताबी नहीं, मुशरिक हैं, अर्थात् ईश्वर का शरीकदार (साझी) मानते हैं। यह मुसलमानी विचार अशुद्ध है; क्योंकि हिंदू भी एकेश्वरवादी हैं।

कबीर साहब के विषय में कुछ अन्य साधारण कथन

आपने प्रायः सब मुक्तक पद्य लिखे हैं। आप ५ तत्त्व और २५ प्रकृतियों का प्रायः कथन करते हैं (पाँच तत्त पचीस प्रकिरती तीनों गुनन मिलावै)। रूपक आपने बहुत कहे हैं। जीव सीव ऐसा कथन बहुत आया है। सीव से ईश्वर का प्रयोजन लगाया गया है, यद्यपि शिव को आप ईश्वर नहीं मानते। आपने अवतारों, प्रतिमाओं तथा त्रिमूर्ति की प्रायः निंदा की है; किंतु जो ग्रंथ हमारे देखने में आए हैं, उनमें पैग़ंबरों की खुली-खुली निंदा नहीं है, यद्यपि आप उन्हें मानते नहीं हैं। रोज़ा, ईद, मसजिद, शेख़, सैयद आदि की आपने खुली-खुली निंदा की है। उस समय ऐसे कथन करने में बड़े साहस की आवश्यकता थी। उस समय इतनी स्वतंत्रता न थी, जितनी अब है। मनुष्य अपने नए विचारों के कारण प्राण-दंड तक पा सकता था, जैसा कि मंसूर का हाल हुआ। इसलिये कबीर साहब के निर्भीक वाक्य उनके भारी साहस के भी साक्षी हैं। आपके छंदों में अपने ही विचार अधिकता से हैं। अन्यों के विचारों को आप अपने शब्दों में कम कहते थे; किंतु कहीं-कहीं ऐसा भी हो गया है। यथा—

बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी बसका रे;
बिरध भया कफ-बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे।

ये पद मोह-मुद्गर के—

"बालस्तावत्क्रीडासक्तः तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः;
वृद्धस्तावच्चिंतामग्नः पारे ब्रह्मणि कोपि न लग्नः।"

के आधार पर हैं।

कबीर साहब दुःखवादी समझ पड़ते हैं । यथा—

जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा ;
उदै-अस्त की बात कहत हौं, ताकर करौ बिबेखा ।
बाटे-बाटे सब कोउ दुखिया, क्या गिरही, बैरागी ;
सुकाचार्य दुख ही के कारन, गरभै माया त्यागी ।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना ;
आसा-तृष्णा सब घट व्यापै, कोइ महल नहिं सूना ।
साँच कहौं तौ सब जग खीझै, झूठ कहा नहिं जाई ;
कह 'कबीर' तेई भे दुखिया, जिन यह राह चलाई ।
यह संसार कगद की पुड़िया, बूँद परे घुल जाना है ;
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ-पुलझ मर जाना है ।
यह संसार झाड़ औ झाँखर, आगि लगे बरि जाना है ;
कहत 'कबीर' सुनौ भइ साधो, सतगुरु-नाम ठिकाना है ।

कबीर साहब होली, वसंत, चाँचरा आदि के वर्णन करने में उन विषयों पर बहुत कम कहकर मुख्य कथन अपने प्रिय सिद्धांतों का करते हैं, जैसे कि गोस्वामी तुलसीदास मिथिला, दंडक आदि सभी विषयों के सहारे केवल राम का कथन करते हैं ।

कबीर साहब ने अपने अधिकांश छंद संतों को संबोधित करके कहे हैं । "कहै कबीर सुनौ भइ साधो" इस प्रकार कहकर शेष पद में उस भजन के उपयुक्त कथन किए हैं । आप प्रतीकोपासना और कर्मकांड को निंद्य कहकर एकेश्वर-वाद, अहिंसा, गुरु, जप, भक्ति, सदाचार, सद्विचार और सत्य पर ज़ोर दिया करते हैं । सब बातों पर विचार करने से आप बहुत बड़े उपदेशक समझ पड़ते हैं, और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गोस्वामी तुलसीदास के पीछे उत्तरी और मध्य भारत पर गत बारह सौ वर्षों में आप ही का प्रभाव जनता पर सबसे अधिक पड़ा है ।

साहित्य-संबंधी विचार

आपने तुकांत-हीन कविता भी लिखी है। यथा—

सतगुरु की परतीति, सत्तनाम निज सार है;
सोई मुक्ति सँदेस सुनो साध सत भाव से।

रीतियों, नियमों आदि का मान आपने किसी बात में नहीं किया। तब साहित्य-संबंधी नियमों को ही क्यों मान देते?

आपकी रचना में छंदोभंग बहुत पाए जाते हैं। संभव है, यह त्रुटि लिखनेवालों की भूल से आ गई हो; क्योंकि आपने हाथ से क़लम छुआ ही नहीं।

यद्यपि आपने पढ़ने-लिखने पर कभी ध्यान नहीं दिया, और लेखनी तक हाथ से नहीं छुई, तथापि आपकी रचनाओं से पांडित्य का पूरा पता लगता है। आपने उस काल के अद्वितीय विद्वान् स्वामी रामानंद का शिष्य होना दिखला दिया है। आपकी रचना में अनेकानेक स्थानों पर योग, अद्वैतवाद आदि से संबंध रखनेवाले शब्द बहुत आए हैं, जो आपके पांडित्य को प्रकट करते हैं। इसके उदाहरण-स्वरूप केवल एक पद यहाँ लिखा जाता है—

सबका साखी मेरा साईं।
ब्रह्मा, बिष्णु, रुद्र, ईश्वर लौं औ अव्याकृत नाईं।
सुमति पचीस पाँच से कर ले यह सब जग भरमाया;
अकर, उकार, मकार मातरा इनके परे बताया।
जाग्रत, सुपन, सुषुप्ति, तुरीया, इनते न्यारा होई;
राजस, तामस, सात्त्विक निरगुन, इनते आगे सोई।
सुछम, थूल कारन महँ कारन, इन मिलि भोग बखाना;
तेजस, बिश्व, पराग आतमा, इनमें सार न जाना।

परा, पसंती, मधमा, बैखरि चौबानी ना मानी ;
पाँच कोष नीचे कर देखो, इनमें सार न जानी।
पाँच ज्ञान औ पाँच कर्म की, ये दस इंद्री जानो ;
चित लोइ अंतःकरन बखानो इनमें सार न मानो।
कुरम, सेस, किरकिला, धनंजय, देवदत्त कहँ देखो ;
चौदह इंद्री, चौदह इंद्रा इनमें अलख न पेखो।
ततृपद त्वंपद और असीपद बाच-लक्ष्य पहिचाने ;
जहदलच्छना अजहद कहते अजहद-जहद बखाने।
सतगुरु मिलि सत-सब्द लखावै, सार-सब्द बिलगावै ;
कहत 'कबीर' सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावै।

यहाँ ईश्वर का वर्णन है। अव्याकृत सांख्य का शब्द है, जिससे अप्रकट का प्रयोजन है। २५ की संख्या सांख्य-शास्त्र की २४ पदार्थ-संख्या तथा २५वाँ साक्षी पुरुष मिलाकर पूरी होती है। पंच से विकार (काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार) पंच-प्राण, पंचेंद्रिय, पंचतन्मात्राएँ (क्षिति, जलादि के मूल) आदि का प्रयोजन लिया जा सकता है। ओऽम् हमारे यहाँ बहुत पुनीत है। अकार, उकार, मकार मात्रा से उसी ओऽम् का प्रयोजन है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, राजस, तामस, सात्विक, सूक्ष्म, स्थूल, कारण-शरीर, तैजस, विश्व, प्राज्ञ, आत्मा आदि अद्वैत-मत से संबंध रखते हैं। परा, पश्यंती, मध्यमा और बैखरी चौबानी (चार वाणी) योग तथा निरुक्त से संबंध रखते हैं। पंच कोषों का संबंध वेदांत से है। कूर्म, शेष, किरकिला, धनंजय, देवदत्त आदि दश प्राणों के भेद हैं। १४ इंद्रियाँ पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को मिलाने से होती हैं। चौदह इंद्रा का मतलब प्रत्येक इंद्रिय का देवता है। ततृपद, त्वंपद, असी-पद से तत्त्वमसि का प्रयोजन

है, जो अद्वैत-मत का मूल-मंत्र है। वाचक, लक्ष्य, जहद्, अजहद्-लक्षणा का वर्णन काव्य, वेदांत और न्याय में आता है। इन बातों से प्रकट है कि इस एक पद में इन महात्मा ने हिंदू-शास्त्रों का अपना विस्तृत ज्ञान दिखला दिया है।

कबीर साहब ने खड़ी बोली में भी रचना की है। कुछ ग़ज़लें भी कही हैं। साधारणतः आपकी भाषा बनारस की है—

हमन है इश्क़ मस्ताना हमन को होशियारी क्या;
रहैं आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दरबदर फिरते;
हमारा यार है हममें, हमन को इंतिज़ारी क्या।
ख़लक़ सब नाम अपने को बहुत कर सर पटकता है;
हमन गुरु नाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़ें पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से;
उन्हीं से नेह लागा है, हमन को बेक़रारी क्या।
'कबीरा' इश्क़ का माता, दुई को दूर कर दिल से;
जो चलना राह नाज़ुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या।

कोइ कुच्छ कहै कोइ कुच्छ कहै, हम अटके हैं जहँ अटके हैं;
नित सुरत कमल पर अमल किया महबूब नाम से मटके हैं।
संसार बिचार के छोड़ दिया, हम इसी बात पर सटके हैं;
इस दास 'कबीर' के झूलने में सब पंडित, काजी फटके हैं।

अपने विषय में कथन

कबीर साहब ने अपने को पैग़ंबर ज़ोर देकर तो नहीं कहा, किंतु कहीं-कहीं इसकी ध्वनि अवश्य निकलती है। वह ऊँचे थे, और अपनेको वैसा ही समझते भी थे। उनका विचार था कि संसार उनके सिद्धांतों पर चलकर लाभ उठा सकता और मुक्त हो सकता है। इतना होने पर भी आपने यावज्जन्म अपना कपड़ा बनाने का

काम नहीं छोड़ा, और कविता में भी अपना जुलाहापन अनेक स्थानों पर दरसाया है। आपको जुलाहा होने की ग्लानि न थी; बरन् उसे आप अच्छा समझते थे।

उदाहरण—

बसीठीपन-संबंधी

साधु संत तेई जना जिन मानल बचन हमार;
आदि, अंत, उत्पति, प्रलय देखहु दृष्टि पसार।
अंध भया सब डोलता कोइ न करै बिचार;
कहा मोर मानै नहीं, कैसे छुटै भ्रमजार।
कासी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए;
समरथ का परवाना लाए, हंस उबारन आए।
घर-घर हम सब सों कही, सब्द न सुनैं हमार;
ते भवसागर डूबहीं लख चौरासी धार।
सुर, नर, मुनिजन, औलिया ये सब उरली तीर;
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया 'कबीर'।
अठवें चकरि अनुरोध बखाना, तहाँ जोलहदी ताना ताना;
जाका नाम कबीर बखाना, सो संतन सिर धारा है।
जोग जुगति सों रंगमहल में पिय पायो अनमोल रे;
कहै 'कबीर' अनंद भयो है बाजत अनहद ढोल रे।
ब्रह्मा, बिष्णु, महेस न सेसवा; जोगिन, जंगम, मुनि दरबेसवा।
आदि न अंत, न काल कलेसवा; दास 'कबीर' ले आए सँदेसवा।
सार सब्द गहि चलु वहि देसवा।
सो चादरि सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़िकै मैली कीनी चदरिया;
दास 'कबीर' जतन ते ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया।
एक नाम है अगम गँभीरा; तहवाँ अस्थिर दास कबीरा।
छाँड़े लोक अमृत की काया, जग में जोलह कहलाया;

चौरासी की बंदि छोड़ाया, निरअच्छर बतलाया।
साधु सबै मिलि आरति गावैं, सुकिरिति भोग लगाया;
कहै 'कबीर' सब्द टकसारा, जम सों जीव छोड़ाया।

जुलाहेपन से संबंध रखनेवाले

अस जोलहा कोइ मर्म न जाना; जिन जग आनि पसारेनि ताना।
कहैं 'कबीर' राम रस माते जोलहा-जाति कबीरा हो।
मन दीया कहिं और ही, तन साधन के संग;
कह 'कबीर' कोरी गजी, कैसे लागै रंग।
कहैं कबीर सूत भल काता; रहँट न होय मुक्ति कर दाता।

उपसंहार

महात्मा कबीरदास के विषय में हमें जो कुछ कहना था, वह हम ऊपर कह चुके। हिंदी-नवरत्न के अन्य कवियों की रचनाओं के उदाहरण हमने समालोचना-विभाग में थोड़े ही देकर अंत में कुछ विशेषता से लिखे हैं। महात्मा कबीरदास की रचनाओं के उदाहरण हम समालोचना के भीतर ही बहुत-से देते गए हैं। इसीलिये अंत में उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं रह गई। कहा जा सकता है कि इनके उदाहरण कुछ अधिकता से आए हैं। इनकी रचना ऐसी समझ पड़ी कि हमें कुछ अधिक उदाहरण देना अच्छा लगा। जितने उदाहरण दिए गए हैं, वे या तो काव्य-गौरव के कारण, या उनमें विशेष विचार होने के कारण। भरसक ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं दिया गया, जिसमें इन दोनों में से एक भी बात न हो।

कबीरदास को हमने पहले सेनापति की श्रेणी में रक्खा था। यह हमारी सभी श्रेणियों से उच्चतम श्रेणी है, और इसके कवि नवरत्नवालों के सिवा और सबसे अच्छे हैं। इधर हिंदी-नवरत्न की द्वितीयावृत्ति निकालने में विचार उठा कि इस ग्रंथ में कबीरदास

को न रखना ठीक नहीं है । परंतु, जिन कवियों को एक बार नवरत्न में लिख चुके हैं, उनमें से किसी को निकालना भी हमें अच्छा नहीं लगा । उधर कठिनता यह हुई कि कवियों के नव स्थान पर दस कवि अलग-अलग आने से ग्रंथ ही "नवरत्न" कैसे रह जायगा ? इसीलिये पुराने नवों कवियों को रखकर इन्हें भी स्थान देना आवश्यक जान पड़ा । आप वास्तव में पैग़ंबर (ईश्वर के बसीठी), मिस्टिक, सिद्ध, योगी, ब्रह्मानंदी, समाधिस्थ आदि पहले हैं, और कवि पीछे । इसीलिये हमने हिंदी के नवरत्नों में आपको सातवाँ नंबर दिया है, और मतिरामजी को त्रिपाठी-बंधु (ख) में रख दिया है ।

कबीरजी ने अपनी रचना साहित्यानंद-प्रदान के लिये न करके उपदेशार्थ की है । जो पैग़ंबर आदि की उपाधियाँ यहाँ लिखी गई हैं, वे यों ही उदाहरणार्थ नहीं लिखी गईं, वरन् हमारे कबीर साहब उन गुणों से वास्तव में भूषित समझ भी पड़ते हैं । ब्रह्मानंदी कवि भी होता है, या नहीं, यह प्रश्न कठिन है । हमें तो समझ पड़ता है कि वह कवि भी है ; और ऊँचे दर्जे का साहित्य ऐसे ही लोग रच सकते हैं । ब्रह्मानंद का उद्गार कविता में अच्छा होगा ; क्योंकि यह उसका अच्छा माध्यम है । यह निर्विवाद समझ पड़ता है कि जितने लोगों ने हिंदी-रचना की है, उनमें गोरखनाथ, कबीर, तुलसी, सूर, नानक आदि सर्वोत्कृष्ट पुरुष हैं । ईश्वर-संबंधी भाव कबीरदास ने प्रायः सबसे ऊँचे कहे हैं । विचार-पूर्वक पढ़ने से प्रकट होगा कि हिंदी का कोई भी भारी कवि इस विषय में इनकी बराबरी नहीं कर सका है । हिंदी-नवरत्न में ईश्वरीय विचार से आप सबसे ऊँचे मनुष्य हैं, इसमें हमें संदेह नहीं । संभव है, कोई अन्य महाशय गोस्वामी तुलसीदास तथा महात्मा सूरदास को इनसे बढ़कर या इनके बराबर बतलावें ।

हमारी समझ में ये महात्मा लोग कबीरदास की ईश्वर-संबंधी धार्मिक उच्चता को नहीं पहुँचे। इसमें हिंदू-मुसलमान का विचार करना भूल की बात है। फिर, वास्तव में, कबीरदासजी के ईश्वरीय विचार उपनिषदों पर ही अवलंबित हैं।

व्यक्तित्व में बहुत ऊँचा कहने के पीछे जब कविता के विषय में कथन करना पड़ता है, तब लेखनी कुछ रुकने लगती है। यह निर्विवाद है कि कबीर साहब उच्च कोटि के कवि भी हैं। स्वयं वर्तमान भारत के कवि-सिरमौर श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने इन्हें सत्कवि मानकर इनके बहुत-से पदों का अँगरेज़ी में अनुवाद किया है। उस अनुवाद-ग्रंथ के देखने से भी कबीर साहब का साहित्यिक गौरव ऊँचा जान पड़ता है। इनके मूल पदों में अव्वल दर्जे का साहित्य-गौरव मिलता है। पर इनकी रचना बहुत विस्तृत है, और चुने हुए छंदों को छोड़कर सब कहीं उसमें वैसा आनंद नहीं आता। ख़ास-ख़ास मौक़ों को छोड़कर, काव्य-दृष्टि से, वह अवश्य फीकी लगती है। फिर भी हमारा दृढ़ सिद्धांत है कि फीके छंदों के कारण किसी के अच्छे छंदों का मान न घटना चाहिए। कवि का मान सर्वोच्च छंदों से है, साधारण से नहीं। यदि साधारण छंदों को छोड़कर केवल उच्च छंदों से कोई कवि उच्च स्थान का अधिकारी हो, तो हम साधारण छंदों को इतना तक भुला देंगे कि मानो उसने उन्हें रचा ही नहीं। महात्मा कबीरदास के ग्रंथों में कम-से-कम प्रायः १०० पृष्ठ ऐसे निकल सकते हैं, जिनमें उच्च कोटि की कविता है। शेष भागों में उन्हीं विचारों के बार-बार आने तथा किसी विशेष चमत्कार के न होने से वैसा काव्यानंद नहीं मिलता। यदि उन भागों को छोड़ दें, तो ये सौ पृष्ठ अवश्य उत्तम मिलते हैं। इनमें ईश्वर-संबंधी उच्चातिउच्च विचार हैं। मनोरंजकता की मात्रा भी कम नहीं है। इन्हें हिंदी-नवरत्न के

कवियों की रचनाओं से मिलाने पर हमें केवल काव्य की दृष्टि से इन महाकवि का स्थान केशवदास और मतिराम के बीच में समझ पड़ता है। ऐसा कथन साहस से ख़ाली नहीं है; क्योंकि इतने बड़े महात्मा को किसी भी दृष्टि से तुलसी और सूर को छोड़कर और किसी से कम कहना सुननेवालों को अच्छा नहीं लगेगा, ऐसा भय है। विशेष करके कबीर साहब एक पंथ के भी प्रवर्तक थे। इन विचारों से हम आपको हिंदी-साहित्यकारों में तुलसी और सूर के पीछे प्रायः सर्वोत्कृष्ट मानते हैं; किंतु केवल साहित्य की दृष्टि से केशवदास के पीछे समझते हैं। आशा है, पाठक लोग हमें क्षमा करेंगे; और यदि कोई मतभेद हो, तो हमारा यह कथन हठवाद न समझेंगे; क्योंकि संसार रुचि-प्रधान है। एक को जो वस्तु अच्छी लगती है, वही दूसरे को ख़राब।

यदि कबीर साहब साहित्य की दृष्टि से ग्रंथ बनाते, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस कोटि की इनकी रचना है, उससे बहुत श्रेष्ठतर लिख सकते। आपमें सत्कवि होने के सब गुण थे; केवल इच्छा न थी। आपने सत्कवि होना चाहा ही नहीं। आप तो उपदेशक और धर्म-प्रचारक थे। आप काव्य, कवि होने को न करके, धर्म-प्रचारार्थ करते थे। जहाँ तक हमें स्मरण है, आपने अपनेको कवि कहा भी नहीं। लोक-प्रियता में आपकी रचना केवल गोस्वामी तुलसीदास के पीछे है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। आपकी रचना में उद्दंडता अच्छी है। हम उसमें धर्मोपदेशक और गुरु के ओजस्वी वाक्य प्रचुरता से पाते हैं। मित्र कवि की मीठी मनोमोहिनी वाणी कम मिलती है। गुरु-पद के अधिकारी होने से आप उच्च शिक्षा कर्कश शब्दों तक में देते हैं; किंतु मित्र न होने से मधुरता का समावेश रचना में नहीं कर सके। मृदुलता-पूर्ण हास्य,

शृंगार, वीर आदि रसों का आस्वादन आप कम कराते हैं। अद्भुत रस, भयानक रस, शांत रस, बीभत्स रस आदि के लिये आपके छंद देखने योग्य हैं।

आपका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ, जब हिंदी अपनी पूर्व-प्रारंभिक दशा में थी। आपके पहले सत्कवियों में केवल चंद बरदाई और विद्यापति ठाकुर की गणना है। ऐसे समय में उत्पन्न होकर अनेकानेक ग्रंथों द्वारा आपने हिंदी-साहित्य का बड़ा उपकार भी किया। संसार में आपका मान अच्छा हुआ। रीवाँ के तत्कालीन महाराजा वीरसिंहदेव इनके शिष्य थे। इनके विषय में मिश्रबंधु-विनोद में हमने निम्न-लिखित सम्मति प्रकट की थी—

"इन्होंने खरी बातें बहुत उत्तम और साफ़-साफ़ कही हैं, और इनकी कविता में हर जगह सचाई की झलक देख पड़ती है। इनके-से बेधड़क कहनेवाले कवि बहुत कम देखने में आते हैं। कबीरजी का अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था, और दृष्टि अत्यंत पैनी थी। कहीं-कहीं इनकी भाषा में कुछ गँवारूपन आ जाता है; पर उसमें उद्दंडता की मात्रा अधिक होती है। आपने प्रायः साधारण बातों ही में ज्ञान कहा है। इनके कथन देखने में तो साधारण समझ पड़ते हैं, पर उनमें गूढ़ आशय छिपे रहते हैं। इन्होंने रूपकों, दृष्टांतों और उत्प्रेक्षाओं आदि में धर्म-संबंधी ऊँचे विचारों एवं सिद्धांतों को सफलता-पूर्वक व्यक्त किया है। साधारण भजनों में प्रायः कबीरदास ने संसार की असारता दिखलाई है।"

उक्त कथन को हम अब भी ठीक मानते हैं। आपकी रचना तथा जीवन की सर्वोत्कृष्ट बातें सिद्धता और हिंदू-मुसलमानों को मिलाने के प्रयत्न हैं। आपका जीवन तथा काव्य धन्य है।

---

(८)

महाकवि चंद बरदाई
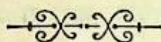
महाकवि चंद बरदाई वास्तव में हिंदी के प्रथम कवि हैं। इनके पहले भी भुवाल, पुषी आदि कवि हो गए हैं; परंतु नाम सुनने के अतिरिक्त उन सबकी रचना आदि पढ़ने का हम लोगों को सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। चंद बरदाई की कविता से प्रकट होता है कि वह प्रौढ़ रचना है, और छंद आदि की रीतियों पर उसमें ऐसा अनुगमन हुआ है कि जान पड़ता है, यह महाशय दृढ़ रीतियों पर चलते थे, और स्वयं इन्हीं ने हिंदी-काव्य-रचना की नींव नहीं डाली। उस समय वंदीजन, चारण आदि राजों-महाराजों के यहाँ प्रायः रहा करते थे, और उनका यह काम ही था कि हिंदी-कविता में राजा का यशोगान करें। स्वयं कवि चंद ने लिखा है कि गुजरात में एक बार राजा भोरा भीमंग के राजकवि से उनसे वाद हुआ था। इससे भी उस समय दरबारों में कवियों के उपस्थित रहने का प्रमाण मिलता है। कवियों की उस समय इतनी चाह थी कि चित्तौर के रावल समरसिंह का ब्याह जब पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि से हुआ, तब उन्होंने कलेवा करने के समय दायज में कवि चंद के पुत्र जल्ह कवि को ले लिया, तब भोजन किया। यह हाल रासो में लिखा है। रासो के समाप्त करने के पहले ही कवि चंद का शरीर-पात हो गया। तब उनके इसी पुत्र (जल्ह) ने उसका अंतिम भाग लिखकर ग्रंथ समाप्त किया। इन सब बातों से प्रकट है कि उस समय

चंद

दुरद-चढ़े, सुखमा मढ़े, लिए प्रबल दल साथ,
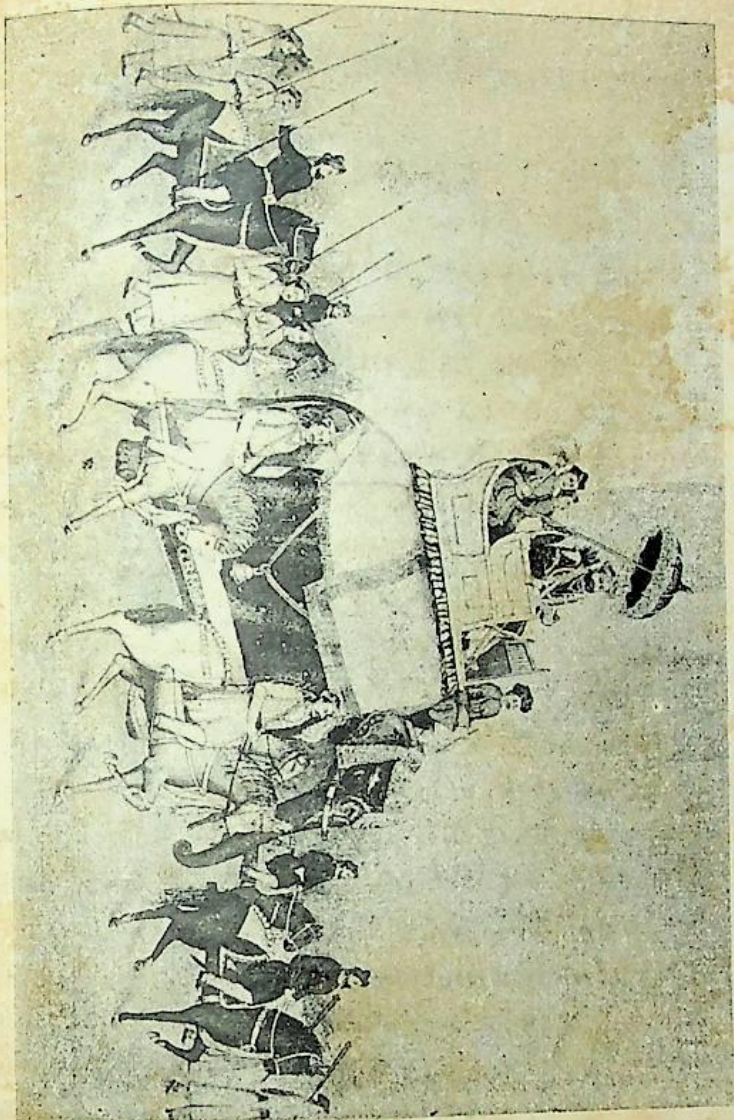
हिंदी-कविता का अच्छा प्रचार था ; पर तत्कालीन अन्य कवियों के कोई ग्रंथ ऐसे उत्कृष्ट न थे कि आठ सौ वर्षों के पीछे भी अब तक जीवित रहते, उनका प्रचार रहता। उस समय के और उसके पहले के ग्रंथों में काल के कुचक्र ने केवल इस एक ग्रंथ-रत्न के अतिरिक्त कुछ को ही सजीव रक्खा। कराल काल ने शेष सब ग्रंथों को निगलकर अपने उदर-समुद्र में सदा के लिये लीन कर लिया, जहाँ से अब उनका निकलना ऐसा ही दुःसाध्य है, जैसा स्थिर महासागर में फेंके गए लोहे के एक छोटे-से टुकड़े का। अतः यद्यपि वास्तव में कवि चंद हिंदी के प्रथम कवि न थे, तथापि वह हिंदी के प्रथम उत्कृष्ट कवि अवश्य थे। काल ने अब दो-चार को छोड़ अन्य सभी कवियों के यशों को चर्वित करके चंद ही को हिंदी का प्रायः प्रथम कवि बना भी दिया है।

कवि चंद ने अपने जन्मादि के विषय में कुछ वर्णन नहीं किया, और पृथ्वीराज इत्यादि के विषय में संवत् लिखते हुए भी अपने विषय में कुछ सन्-संवत् नहीं लिखा। हम लोग इतना अवश्य जानते हैं कि आप जगात-गोत्र के भाट थे, और आपका जन्म लाहौर में हुआ था। पर इससे अधिक—आपके जन्म, पूर्व-पुरुष आदि के विषय में—निश्चयात्मक रीति पर कुछ नहीं जानते। चंद के कथनानुसार पृथ्वीराज का जन्म संवत् १२०५ वि० में हुआ। अनुमान से जान पड़ता है कि यह पृथ्वीराज से अवस्था में कुछ बड़े थे; क्योंकि एक तो पृथ्वीराज इनकी सलाहों को आदर से सुनते थे, दूसरे एक स्थान पर उनके अपनी सलाह न मानने पर आपने लिखा है कि राजा ने धन और वय से मत्त होकर मेरी सम्मति नहीं मानी। यदि यह राजा से बड़े न होते, तो ऐसा लिखने का इन्हें साहस ही न होता। फिर यदि यह ऐसा लिखते भी, तो राजा इन पर अवश्य रुष्ट हो जाते। पर पृथ्वीराज का इनसे रुष्ट

होना पाया नहीं जाता। ऐसा लिखने के पीछे भी इनका पूर्ववत् मान बना रहा। इसके सिवा पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि के विवाह के समय इनका पुत्र जल्ह ऐसा गुणी हो चुका था कि रावल समरसिंह ने उसे हठ करके दायज में माँग लिया। वह उस समय संभवतः २५ वर्ष का होगा, और चंद शायद ४५ साल के हों। इसके पीछे संवत् १२२८ में पृथ्वीराज ने एक ख़ज़ाना पृथ्वी के नीचे खुदवाकर पाया था, जिसका वर्णन रासो के ७३८वें पृष्ठ में है। पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् १२४८ में, ४३ वर्ष की अवस्था में, हुई थी। उसी समय चंद की भी मृत्यु हुई; क्योंकि वह राजा के साथ ही मारे गए थे। १२४८ वि० में चंद की अवस्था संभवतः ६५ वर्ष की होगी। अतः उनका जन्म-काल ११८३ वि० अथवा सन् ११२६ ई० के लगभग समझ पड़ता है। इनकी अवस्था इससे बहुत अधिक भी नहीं जान पड़ती; क्योंकि यदि अधिक बुड्ढे होते, तो मृत्यु-पर्यंत युद्धों में न सम्मिलित रह सकते। इस दूसरे हिसाब से भी उनकी अवस्था पृथ्वीराज से प्रायः २८ वर्ष अधिक निकलती है, जो कि प्रथम अनुमान से भी मिलती है। चंद की मृत्यु पृथ्वीराज के साथ ही हुई, यह बात प्रसिद्ध है। अतः चंद सन् ११९३ ई० में मरे। कहते हैं, जब शहाबुद्दीन ग़ोरी पृथ्वीराज को पकड़ ले गया, तब चंद राजा को छुड़ाने के विचार से ग़ोर-देश को गए, और वहीं मारे गए।

चंद के पिता राव बेनू थे। चंद लाहौर में उत्पन्न हुए, और अजमेर में उनका पालन-पोषण हुआ। वह पृथ्वीराज के पिता, सोमेश्वर, की राजधानी थी। यहीं चंद पृथ्वीराज के साथ रहने लगे, और यहीं आप पृथ्वीराज के तीन प्रधान मंत्रियों में से एक हो गए। पृथ्वीराज के शेष दोनों मंत्रियों के नाम कैमास और गुरुराम पुरोहित थे। कैमास तीनों में प्रधान था।

चंद अजमेर से लेकर मृत्यु-पर्यंत सदैव पृथ्वीराज के साथ रहे, और युद्धों में भी लड़ते रहे। जो हाल रासो में वर्णित है, उसमें एक प्रकार से चंद की भी जीवनी है। इनकी स्त्री बड़ी गुणवती थी, और रासो उसी से कहा गया है। बीच-बीच में उसने बहुत-से प्रश्न भी किए हैं। चंद का पुत्र जल्ह बड़ा गुणी था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रावल समरसिंह उसे दहेज में ले गए, और वह उसी समय से चित्तौर में रहने लगा। यह रावल समरसिंह चित्तौर-नरेश और वर्तमान उदयपुर के महाराणा के पूर्व-पुरुष थे। एक बार कैमास पृथ्वीराज की ओर से गुजरात के राजा भोरा भीमंग से लड़ने गया; पर भीमंग की भेजी हुई एक खत्रानी पर ऐसा आसक्त हो गया कि पृथ्वीराज को छोड़ भीमंग से मिल गया, और नागौर पर भीमंग का अधिकार करा दिया। यह दशा देख चंद बरदाई एक सेनासहित नागौर जाने लगे। मार्ग में भीमंग के दल से युद्ध भी हुआ; पर उस दल को घोर समर में पराजित करके यह वीर कवि जान पर खेलकर कैमास के पास जा पहुँचा। इसे देखकर कैमास को ऐसी लज्जा लगी कि वह सिर न उठाता था। तब चंद ने उसे समझाया कि भूल सबसे हो जाती है; पर भूल का न सुधारना ही मुख्य रूप से निंद्य है। इस पर चंद और कैमास ने मिलकर युद्ध में भोरा भीमंग के दल को पराजित कर नागौर पर फिर पृथ्वीराज का अधिकार कराया। फिर दोनों दिल्ली को लौट आए। इस वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि चंद बरदाई कोरे कवि ही नहीं, प्रचंड युद्धकर्ता भी थे।

पृथ्वीराज के यहाँ चंद की ऐसी प्रतिष्ठा थी, जैसी ख़ास राजा के भाई की हो। एक बार चंद द्वारका पुरी को दर्शनार्थ गए। उस समय इनके साथ बहुत-से हाथी, सैकड़ों घोड़े और हज़ारों पैदल गए। मार्ग में आप चित्तौर के समीप भी ठहरे। उस समय

पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि स्वयं इनके डेरे पर इनसे मिलने आईं। तब यह कवि चित्तौर जाकर महारानी के भाई की भाँति दो-चार दिन पहुनई में वहाँ रहे। महारानी पृथाकुँअरि रावल समरसिंह की पटरानी थीं। यह हाल भी रासो में लिखा है। इससे इन कविरत्न के सम्मान का हाल स्पष्ट प्रकट होता है। द्वारका से पलटते समय चंद कवि पृथ्वीराज के शत्रु भोरा भीमंग के यहाँ गए थे। वहाँ भी आपने पृथ्वीराज का यशोगान किया। इसी अवसर पर चंद ने बाद को वहाँ के राजकवि को हराया। क़न्नौज के महाराजा जयचंद के भतीजे का विवाह एक परम सुंदरी राजकुमारी से हो रहा था। बारात भी जा चुकी थी। पर राजकुमारी की इच्छा पृथ्वीराज के साथ विवाह करने की थी। यह सुनकर पृथ्वीराज ने सेना लेकर वहाँ जाने का विचार किया। यही झगड़ा जयचंद से फिर शत्रुता के उभड़ने का प्रधान कारण हुआ। चंद ने इस अवसर पर पृथ्वीराज को ऐसा करने से बहुत रोका; पर उन्होंने न माना। इसी पर चंद ने लिखा है कि धन-वयोमत्त राजा ने उनकी सम्मति का आदर न किया। यदि चंद की सम्मति मानी जाती, तो पृथ्वीराज का जयचंद से झगड़ा और वैर न बढ़ता, और न शिहाबुद्दीन ग़ोरी पृथ्वीराज को पराजित कर सकता।

चंद बरदाई का एक-मात्र ग्रंथ पृथ्वीराज-रासो है। परंतु इसी एक ग्रंथ में २४०० से ऊपर पृष्ठ हैं। यह ग्रंथ मानो वर्तमान काल का प्राचीन इतिहास है। यह अपने समय का बड़ा मनोहर और ऐसा इतिहास बतलाता है, जो अन्यत्र विस्तार से अप्राप्य है। रासो अपने समय के परम दुष्प्राप्य सजीव इतिहास का ज्ञान कराता है। इस ग्रंथरत्न में पृथ्वीराज के समकालीन प्रायः सभी भारत-वर्षीय राजों का सविस्तर वर्णन मिलता है। दुर्भाग्यवश यह ग्रंथ

अप्राप्य हो गया था। यह देखकर काशी की नागरीप्रचारिणी-सभा ने साहस-पूर्वक, यथेष्ट धन ख़र्च करके, इसे प्रकाशित किया। पंडितवर मोहनलाल-विष्णुलालजी पंड्या ने रासो पर बहुत अधिक और परम प्रशंसनीय श्रम किया, और इसके विषय में बहुत-सी बातें खोज करके निकालीं। उनके साथ मित्रवर बाबू राधाकृष्णदास एवं श्यामसुंदरदासजी ने भी इसके विषय में प्रचुर श्रम किया। यह ग्रंथ इन्हीं तीनों सज्जनों की संपादकता में प्रकाशित हुआ। दो भागों के पीछे बाबू राधाकृष्णदास की अकाल-मृत्यु हो गई। शेष भागों का संपादन पूर्वोक्त दो ही महाशय करते थे। इधर पंड्या-जी का भी पीछा हो गया है। संपादकों ने रासो में, फ़ुटनोट में, अर्थ-पाठांतर आदि भी दिए हैं, जो संतोषदायक हैं। सं० १६४० के लगभग मेवाड़-निवासी किसी अमरसिंह ने चंद की रचनाओं को एकत्र किया। कहा जाता है, समय-समय पर रासो के तीन संपादन हुए हैं, और इसमें बहुत कुछ घट-बढ़ गया है। फिर भी रासो का प्राचीन भाग असली अवश्य है। घटने-बढ़ने का फल यही हुआ कि इसमें बहुत-से नवीन भाग मिल गए, और कुछ ऐतिहासिक अशुद्धियाँ आ गईं।

रासो की रचना से प्रकट होता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ होती गईं, वैसे-ही-वैसे उसकी रचना भी हुई। ऐसा नहीं हुआ कि सब घटनाओं के पीछे वह एकसाथ बनाया गया हो। इसी कारण, जैसे कविगण किसी घटना के वर्णन में प्रायः कह दिया करते हैं कि इस घटना से आगे चलकर बहुत उपद्रव अथवा लाभ हुए हैं, जो आगे लिखे जायँगे, वैसे कथन रासो में नहीं पाए जाते, और रासो में प्रत्येक घटना का बड़ा ही सजीव, पूर्ण एवं भव्य वर्णन है। प्रत्येक घटना में मंत्रियों से जैसी-जैसी सलाहें ली गईं, और जिस-जिस मंत्री ने जो-जो कहा, वह सब

रासो में लिखा है, चाहे वे अनुमतियाँ नितांत साधारण ही क्यों न हों। इसी प्रकार युद्धों में जितने दिनों तक जो युद्ध रहा, जिसमें जो जैसा लड़ा, और जिस प्रकार अपनी अथवा शत्रु की चमू रक्खी गई, सो सब अत्यंत परिपूर्णता के साथ कहा गया है। प्रायः सभी युद्धों में चंद ने अपनी तथा शत्रु की सेना की शोभा का वर्णन प्रायः सदैव भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। इसी प्रकार चंद ने न-जाने कितने युद्धों के वर्णन दिए हैं; परंतु उन सबमें पार्थक्य वर्तमान है। इससे भी प्रकट होता है कि चंद ने घटनाओं के साथ-ही-साथ रासो को बनाया है; नहीं तो एक ही प्रकार की घटनाएँ लिखने में एक ही-से वर्णन हो जाते, उनमें वैचित्र्य बहुत कम रहता।

इन बातों के रहते हुए भी पंडितवर, महामहोपाध्याय, कविराज श्यामलदानजी को रासो के असली ग्रंथ होने में संदेह हो गया। उनका यह मत है कि रासो को किसी ने सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में, चंद के नाम से, बनाया है। इस संदेह की पुष्टि में दो प्रधान कारण दिए जाते हैं। एक तो यह कि रासो में प्रति सैकड़े १० के लगभग अरबी-फ़ारसी आदि के शब्द हैं; और, दूसरे, इसमें लिखी हुई घटनाओं के सब संवत् अशुद्ध हैं। कहा जाता है, चंद के समय में, हिंदी में, इतने विदेशी शब्दों का होना असंभव है। कारण, मुसलमानों के आने के पीछे ही उनके शब्द हिंदी में आ सकते थे।

विदेशी शब्दों के विषय में पंडितवर मोहनलाल-विष्णुलालजी पंड्या का यह मत है कि रासो में इतने अधिक विदेशी शब्द नहीं हैं; और थोड़े-बहुत ऐसे शब्दों का होना शंका का कारण नहीं हो सकता। बाबू श्यामसुंदरदास का मत है कि रासो में सैकड़े-पीछे १० ऐसे शब्द हैं। अतः इसके कारण कोई संदेह न होना

चाहिए। भारत में शिहाबुद्दीन के साथ ही यवनों का प्रवेश नहीं हुआ। उसके प्रायः दो सौ वर्ष पहले से ही महमूद ग़ज़नवी की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं, और पंजाब का एक बड़ा भाग मुसलमानों के अधिकार में चला गया था। महमूद से भी पहले सिंध तथा मुलतान के देशों पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। अतः पंजाबी-भाषा में मुसलमानी शब्दों का मिलना स्वाभाविक ही था। फिर, चंद बरदाई का जन्म लाहौर में हुआ था, जहाँ उस समय मुसलमानों ही का अधिकार था। चंद ने अपना बाल्य-काल इसी स्थान पर बिताया था। स्वयं पृथ्वीराज के यहाँ शिहा-बुद्दीन का भाई हुसैन और उसका पुत्र, दोनों रहते थे। उन्हें जागीर भी मिली थी। पृथ्वीराज के राज्य की सीमा मुसलमानी राज्य से मिली हुई थी। ऐसी दशा में, व्यापारिक संबंध से भी मुसलमानों का यातायात हिंदुओं के बीच अवश्य रहता होगा। इन सब कारणों से चंद की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक था, और इन शब्दों को देखकर हम रासो के असली होने के विषय में कोई संदेह नहीं उठा सकते।

सन्-संवतों की गड़बड़ अधिक संदेह का कारण हो सकती थी। पर, सौभाग्यवश, विचार करने से, वह भी निर्मूल ठहरती है। चंद के दिए हुए संवतों में घटनाओं का काल अटकलपच्चू नहीं लिखा गया। इतिहास द्वारा विदित समय से चंद के कहे हुए संवत् सदा ६० वर्ष कम होते हैं, और यही अंतर एक-दो नहीं, प्रत्येक घटना के संवत् में देख पड़ता है। यदि चंद के किसी संवत् में ६० जोड़ दें, तो इतिहास से सिद्ध यथार्थ संवत् निकल आता है। चंद ने पृथ्वीराज के जन्म, उनके दिल्ली में गोद जाने, क़न्नौज जाने, तथा अंतिम युद्ध के क्रमशः १११५, ११२२, ११५१ और ११५८ संवत् दिए हैं। इनमें ६० जोड़ देने से प्रत्येक घटना का यथार्थ

संवत् निकल आता है (पृथ्वीराज-रासो, पृष्ठ १४० देखिए)। प्रत्येक घटना में केवल ९० साल का अंतर होने से प्रकट है कि कवि इन घटनाओं के संवतों से अनभिज्ञ न था ; नहीं तो किसी में ९० वर्षों का अंतर पड़ता, तो किसी में इससे कम या ज़्यादा का । यदि यह कहें कि यह अशुद्धता इस कारण हुई कि रासो सोलहवीं शताब्दी में बना, और उसका रचयिता वास्तविक संवतों से अनभिज्ञ था, तो आश्चर्य-सागर में डूबना पड़ता है । जो कवि पृथ्वीराज के समय की छोटी-छोटी घटनाओं तक के जानने का श्रम उठावेगा, वह क्या इतना भी न जान लेगा कि शिहाबुद्दीन ने किस संवत् में भारत पर विजय पाई थी ? मुसलमानी राजत्व-काल में इतना जानना कुछ कठिन भी न था। अतः अन्य चाहे जिस घटना का संवत् वह अशुद्ध लिखता, पर इस घटना का नहीं लिख सकता था । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि रासो में साधारण विक्रमीय संवत् का प्रयोग नहीं हुआ । उसमें किसी ऐसे संवत् का प्रयोग हुआ है, जो वर्तमान काल के प्रचलित विक्रमीय संवत् से ९० वर्ष पीछे था । अब देखना चाहिए कि चंद ने इस विभिन्नता का कुछ संकेत भी दिया है कि नहीं । रासो के १३८वें पृष्ठ पर ये दो दोहे मिलते हैं—

"एकादस से पंचदह बिक्रम साक अनंद ;
तेहि रिपु जयपुर हरन को भय पृथिराज नरिंद ।"
"एकादस सै पंचदह बिक्रम जिमि ध्रम सुत्त ;
त्रतिय साक पृथिराज को लिख्यो बिप्र गुन गुप्त ।"

इससे प्रकट है कि चंद कवि ११११ विक्रम-अनंद संवत् में पृथ्वीराज का जन्म बताता है । अतः वह साधारण संवत् न लिखकर 'अनंद' संवत् लिखता है । अनंद का अर्थ साधारणतः आनंद भी कहा जा सकता है; पर इस स्थान पर आनंद का अर्थ लगाने

से ठीक अर्थ नहीं बैठता। यदि आनंद शब्द होता, तो आनंद-वाला अर्थ बैठ सकता था। अतः प्रकट होता है कि चंद अनंद-संज्ञा का कोई विक्रमीय संवत् लिखता है। यह अनंद संवत्, जान पड़ता है, साधारण संवत् से ९० वर्ष पीछे था। पंडितवर पंड्याजी ने लिखा है कि तत्कालीन चित्तौर-नरेश समरसिंह और उनकी महारानी पृथा के कुछ पट्टे-परवाने आदि भी मिले हैं, जो असली जान पड़ते हैं। इनमें भी इसी अनंद संवत् में समय दिया गया है, जो साधारण संवत् से ९० वर्ष पीछे है। उन्होंने यह भी कहा है कि बाप्पा रावल आदि के भी समय इसी संवत् से मिलाए जा सकते हैं। नागरीप्रचारिणी-सभा की खोज में जो पुराने आज्ञा-पत्र (पृथ्वीराज, समरसिंह आदि के) मिले हैं, उनमें भी इसी संवत् का प्रयोग हुआ है। अतः, जान पड़ता है, उस समय राजों के यहाँ यही अनंद संवत् प्रचलित था।

अनंद संवत् किस प्रकार चला, और साधारण संवत् से वह ९० वर्ष पीछे क्यों है, इसके विषय में पंड्याजी ने कई तर्क दिए हैं। पर दुर्भाग्यवश उनमें से किसी पर हमारा मत नहीं जमता। बाबू श्यामसुंदरदास ने भी एक कारण बतलाया है। पर वह भी हमें ठीक नहीं जान पड़ता।

अब हम क्रमशः पंडितवर पंड्याजी की दलीलों पर विचार करते हैं। पंड्याजी की दलीलें इस प्रकार हैं—

दलील (१)—अनंद-शब्द 'अ' और 'नंद' से बना है। अ का अर्थ अभाव है, जो गणनाक्रम में शून्य माना जाता है। और नव नंद हुए थे (जिन्होंने चंद्रगुप्त के प्रथम राज्य किया था)। इसी से नंद को ९ की संख्या का सूचक उसी प्रकार मानते हैं, जैसे चंद्रमा को १ का, नेत्र को २ का, राम को ३ का, वेद को ४ का, बाण को ५ का, शास्त्र को ६ का, ऋषि को ७

का और वसु को ८ का बोधक मानते हैं । इस प्रकार अनंद का अर्थ हुआ ९० ।

उत्तर—यह यथार्थ है ; पर अनंद का ९० अर्थ उपर्युक्त दोहे में लगाने से प्रसंग नहीं बैठता । उसका अर्थ यही आता है कि विक्रम संवत् ९० । पर ९० से हीन ऐसा नहीं आता । यदि दोहे में 'बिना अनंद' होता, तो अनंद से ९० का अर्थ निकालने से कुछ प्रयोजन निकलता ।

दलील (२)— यदि विक्रमादित्य का वर्तमान में प्रचलित संवत् माना जाय, तो मरण-काल में विक्रम की अवस्था १६० वर्ष की ठहरती है, जो असंभव जान पड़ती है । अतः यह संभव है कि ७० वर्ष की उचित आयु मानकर उससे ९० वर्ष निकाल अनंद संवत् डाला गया हो ।

उत्तर—यह केवल अनुमान-ही-अनुमान है ; इसका कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है । जिसकी अवस्था १६० वर्ष की निकलती हो, उसे केवल ७० वर्ष का अल्पजीवी मानना युक्तियुक्त नहीं । उसे कम-से-कम ९० या ९५ वर्ष का तो मानना ही चाहिए । ऐसी दशा में, उसे केवल ७० वर्ष का मानकर उसके संवत् से ९० वर्ष निकाल डालना तो यही अर्थ रखता है कि ९० वर्षों की हमें आवश्यकता है, सो किसी-न-किसी प्रकार उन्हें लाना चाहिए ।

दलील (३)—पंड्याजी लिखते हैं कि जब अन्य बातों में गड़बड़ प्रमाण मान लिए जाते हैं, तो इसी में क्यों न माने जायँ ?

उत्तर—ऐसा करनेवाले औचित्य छोड़ देते हैं । किसी भी बात में गड़बड़ प्रमाण न मानना चाहिए । वर्तमान विक्रमीय संवत् के चलने का कारण यही नियम है कि जब किसी कारण से कोई संवत् चल पड़ता है, तो विना पूर्ण प्रमाण के वह बदला भी नहीं जा सकता ।

दलील (४)—नंदवंशी चंद्रगुप्त और उसकी अकुलीन संतानों ने भारत में प्रायः ९० वर्ष राज्य किया। चंद्रगुप्त महाराज नंद का—एक मुरा नाम की नाइन के गर्भ से उत्पन्न—पुत्र था। मुरा की संतति होने ही से वह और उसके वंश के लोग मौर्य कहलाए। संभव है, चंद ने इस अकुलीन राज्यकाल को विक्रम-संवत् से निकालकर अनंद संवत् लिखा हो, और इसी कारण यह साधारण संवत् से ९० वर्ष पीछे रह गया हो।

उत्तर—पर ऐसी दशा में इसे अनंद संवत् न कहकर चंद 'अमौर्य' संवत् कहता। कुछ नंद का राज्यकाल तो निकाला नहीं गया था? फिर उसका नाम इस संवत् में क्यों आता? दूसरे, चंद्रगुप्त और उसके वंशज सब अकुलीन राजे विक्रम के पहले हुए थे। अतः विक्रम संवत् में उनका राजत्व-काल था ही नहीं। फिर वह उससे निकाला क्या जाता?

दलील (५)—ऊपर लिखे गए दूसरे दोहे का अर्थ वह (पंड्याजी) यों करते हैं कि युधिष्ठिर (धर्म-सुत) का संवत् जैसे ११०० या १११५ (विक्रम के प्रथम) पर था, उसी प्रकार पृथ्वीराज का संवत् ११०० या १११५ (विक्रम के पीछे) है। यों ११०० या १११५ तक युधिष्ठिर का प्रथम साका रहा। इसी काल तक विक्रम का द्वितीय साका भी रहा, और अब पृथ्वीराज का तृतीय साका शुरू होता है।

उत्तर—यह अर्थ करने से भी अनंद संवत् की उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं जान पड़ता। अतः संवतों की गड़बड़ मिटाने में यह दोहा सहायक नहीं है।

मित्रवर बाबू श्यामसुंदरदास ने हमें लिख भेजा है कि "मदन-पाल से लेकर जयचंद तक क़न्नौज के राजों का राजत्व-काल प्रायः ९० वर्ष होता है। संभव है, पृथ्वीराज के कवि ने यह समय

विक्रम के संवत् से निकालकर नया संवत् लिखा हो।" पर इस काल के निकालने से तो स्वयं पृथ्वीराज का, और उसके पिता सोमेश्वर तथा नाना अनंगपाल का भी, समय निकल जाता है। पृथ्वीराज ने अनंगपाल ही का दिया दिल्ली का राज्य पाया था। अतः चंद अपने संवत् से राठौरों का काल नहीं निकाल सकता था।

इन बातों से विदित होता है कि अभी तक हम लोगों को अनंद संवत् के चलने तथा उसके ९० वर्ष पीछे रहने का कारण ज्ञात नहीं है। पर इतना ज़रूर जान पड़ता है कि अनंद संवत् का चलन अवश्य था, और वह साधारण संवत् से ९० या ९१ वर्ष पीछे भी था। उसके प्रचलित होने का कारण अज्ञात होना उसके अस्तित्व में संदेह नहीं डाल सकता। भारत के प्राचीन इतिहास में निश्चित रूप से बहुत कम बातें ज्ञात हैं; इधर प्राचीन शिला-लेखों, ताम्र-पत्रों आदि से नित्य नई बातें ज्ञात होती जाती हैं। महाराज कनिष्क के वंश में अब तक केवल हुविष्क तथा वसुदेव नाम के राजों का नाम ज्ञात था। पर अभी कल की बात है, गोस्वामी राधाचरणदासजी ने एक शिला-लेख पाया, और उससे वशिष्क-नामक एक और कनिष्क-वंशी राजा का नाम जाना गया। ऐसी दशा में, किसी दिन अनंद संवत् के चलने का कारण भी ज्ञात हो सकता है। यह पंड्याजी के प्रयत्नों का ही फल है कि हम लोगों को अनंद संवत् का हाल ज्ञात हुआ, और उससे चंद के संवतों का झगड़ा सुलझ गया।

इन कारणों से प्रकट है कि रासो जाली नहीं है। पृथ्वीराज के समय में ही चंद ने इसे बनाया था। इसके अकृत्रिम होने का एक यह भी कारण समझ पड़ता है कि यदि कोई मनुष्य सोलहवीं शताब्दी आदि में इसे बनाता, तो वह स्वयं अपना नाम न लिखकर

ऐसा भारी (२५०० पृष्ठों का), बढ़िया महाकाव्य चंद को क्यों समर्पित कर देता ? कितने ही पंडितों ने पुराण-ग्रंथ बनाकर, अपना नाम न लिखकर, व्यासदेव को अवश्य अर्पण कर दिए हैं, पर उन्होंने ऐसा इस कारण किया कि उनके ग्रंथ पुराणों की भाँति पूजे जायँ। रासो के रचयिता को यह भी लालच न था। अतः वह अपना ऐसा अमूल्य ग्रंथ चंद को कभी न देता।

यह बड़ा भारी ग्रंथ लगभग २५०० पृष्ठों का है, और इसमें कई प्रकार के वर्णन आए हैं, जिनमें युद्ध और शृंगार प्रधान हैं। मंगलाचरण में कवि ने एक छंद में आदि-देव, गुरु आदि की स्तुति करके फिर तीन षट्पदों में (जिन्हें वह कवित्त कहते हैं) धर्म, कर्म, एवं मुक्ति की स्तुति की है। इसके पीछे वह पुराने कवियों की स्तुति करते हैं, जिनमें व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, डंडमाली और जयदेव का उल्लेख हुआ है। इनमें सब कवि संस्कृत के हैं ; पर शायद डंडमाली भाषा का कवि हो। चंद ने कहा है कि इसने गंगा नदी का वर्णन किया है। यथा—

"सतं डंडमाली उलाली कवित्तं। जिनै बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं।"

तदनंतर चंद की स्त्री चंद से प्रश्न करती है, और तब वह ईश्वर-प्रभाव एवं पुराणादि का वर्णन करते हैं। ईश्वर के संबंध में चंद ने प्रथम तो एक निराकार, निर्गुण ब्रह्म का वर्णन किया, पर अंत में ब्रह्मा की उत्पत्ति कहकर अन्य देवतों की भी चर्चा कर दी है। आपने यहाँ विष्णु और शिव का वर्णन नहीं किया। ईश्वरवर्णन १८५ पृष्ठ पर उत्तम है। उक्त वंदना से, उदाहरण-स्वरूप, दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं—

"साटक (शार्दूलविक्रीडित छंद)

आदीदेव प्रनम्य नम्य गुरयं बानीय बंदे पयं,

सिष्टं धारन धारयं बसुमती लच्छीस चर्नाश्रयं,

तंगु तिष्ठति ईस दुष्ट दहनं सुर्नाथ सिद्धि श्रयं,
थिर्चर्जंगम जीव चंद नमयं सर्वेस बर्दामयं।"

यह रासो का प्रथम छंद है।

"कवित्त (छप्पय)

सम बनिता बर बंदि चंद जंपिय कोमल कल,
सबद ब्रह्म इह सत्ति अपर पावन कहि निर्मल।
जिहित सबद नहिं रूप रेख आकार ब्रन्न नहिं;
अकल अगाध अपार पार पावन त्रयपुर महिं।
तिहिं सबद ब्रह्म रचना करौं गुरु प्रसाद सरसे प्रसन;
जद्यपि सु उक्कुति चूकौं जु गति कमल बदनि कबि तहँ हसन।"

अष्टादशपुराण कहने के बाद चंद महाशय अपनी लघुता बताते और फिर खल-स्वभाव कहकर सरस्वती, शिव तथा गणेश की स्तुति करते हैं। इस प्रकार १४ छंदों में वंदना तथा भूमिका कहकर क्रमशः परीक्षित, वशिष्ठ, आबूगिरि-उत्पत्ति, ऋषियों के यज्ञ, चहुवान-उत्पत्ति तथा क्षत्रियों के ३६ वंशों की उत्पत्ति आदि की कथाएँ कही हैं। इसके पीछे चहुवानों के वंश का वर्णन किया है। बीसलदेव की उत्पत्ति कहकर आना की उत्पत्ति कही है। आना ने अपनी माता से सुना कि बीसलदेव ने खूब मृगया खेली, और फिर वह नपुंसक हो गया। परंतु पुनः पुरुषत्व प्राप्त करके उसने अनुचित आचरण किया। बीसलदेव ने बालुकाराय से युद्ध किया, और फिर गौरी वेश्या का सतीत्व नष्ट कर डाला। वेश्या ने उसे शाप दिया, जिसके अनुसार सर्प ने उसे डस लिया, और वह मर गया। तदनंतर उसकी चिता से ढूँढा-नामक राक्षस उत्पन्न हुआ। ढूँढा ने बीसलदेव के पुत्र सारंगदेव को मारकर अजमेर उजाड़ दिया। यह सुन सारंगदेव का पुत्र आना ढूँढा के पास गया। ढूँढा ने प्रार्थना से प्रसन्न होकर उसे अजमेर दे

दिया, और वह स्वयं हारिफ ऋषि से उपदेश ग्रहण कर महात्मा हो गया। आनाजी ने आनासागर बनवाया, जो अब तक एक प्रसिद्ध तालाब है। आनाजी का प्रपौत्र सोमेश्वर था, जो पृथ्वीराज का पिता हुआ। आनाजी के पीछे उनका पुत्र जयसिंह राजा हुआ, और उसके पीछे उसका पुत्र आनंददेव गद्दी पर बैठा। इन्हीं के पुत्र महाराजा सोमेश्वर हुए। दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री पृथ्वीराज की माता थी। चंद ने पृथ्वीराज की कथा अपनी स्त्री की इच्छा के अनुसार कही। मंगलाचरण में, प्रायः साठ पृष्ठों में, दशावतार की कथा कही गई है, जो उत्कृष्ट है। ये सब उपर्युक्त वर्णन २५४ पृष्ठों में समाप्त हो गए हैं। शेष ग्रंथ में पृथ्वीराज की कथा, विस्तार-पूर्वक, वर्णित है। पृथ्वीराज का शत्रुओं से प्रायः युद्ध हुआ करता था। रासो में अधिकतर पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों एवं मृगयाओं के ही वर्णन हैं। अतः, विस्तार-भय से, अधिक न कहकर, हम यहाँ पृथ्वीराज के शत्रुओं, शत्रुता के कारणों और युद्धों का दिग्दर्शन कराए देते हैं।

शत्रु	शत्रुता के कारण तथा परिणाम
(१) भोरा भीमंग (गुजरात का राजा)	पृथ्वीराज के सामंत कन्ह ने एक बार इसके भाइयों को कहा-सुनी में मार डाला। यह सलष की कन्या इंछिनी को चाहता था; पर पृथ्वीराज ने उससे विवाह कर लिया। इसने पृथ्वीराज के पिता को एक युद्ध में मारा। अंत को, कई युद्धों के बाद, पृथ्वीराज ने इसे मार डाला।
(२) नाहरराय (मंडोवर का राजा)	एक विवाह के कारण इससे युद्ध हुआ। इसने प्रथम अपनी कन्या पृथ्वीराज से ब्याहने को कहा था; पीछे नट गया। पर

अंत को यह पराजित हुआ और विवाह संपन्न हुआ।

(३) ज़ियाउद्दीन मुद्गलराय मेवाती

इसने कर नहीं दिया था; पर इसे पराजित होना पड़ा।

(४) शिहाबुद्दीन ग़ोरी

इसकी चित्ररेखा नाम की एक परम सुंदरी वेश्या थी। इसका भाई हुसैन उससे फस गया। इस पर इन दोनों में खटपट हुई, और हुसैन पृथ्वीराज की शरण आया। इसी पर ग़ोरी से बहुत बार युद्ध हुए, और सदा वह हारा। कई बार पकड़ा भी गया, पर दुर्भाग्यवश पृथ्वीराज ने उसे दंड लेकर हर बार छोड़ दिया। पृथ्वीराज ने अपनी बहन पृथाकुअँरि का विवाह जब रावल समरसिंह से किया, तब इनके सब सामंतों के साथ शिहाबुद्दीन ने भी रावल को दहेज दिया था। बस, इससे प्रकट है कि वह उस समय अपनेको पृथ्वीराज के अधीन या उनका दबैल समझता था। पर अंत को, ११९३ ई० में, उसने राजा को युद्ध में पकड़ लिया, और मार डाला। उसके बाद वह भारत का बादशाह हो गया। फिर पश्चिम के घक्करों ने उसे भी मार डाला; पर उसके दास कुतबुद्दीन के हाथ से भारत का राज्य नहीं छूटा।

(५) कुमोदमनि (कमाऊँ का राजा)

यादवराज विजयपाल की पुत्री पद्मावती का इससे विवाह होता था; पर पृथ्वीराज

ने इसे पराजित करके पद्मावती से अपना विवाह किया।

(६) जयचंद (क़न्नौज का राजा)

यह भी वैसे ही अनंगपाल का दौहित्र था, जैसे कि पृथ्वीराज ; पर अनंगपाल ने राज्य पृथ्वीराज ही को दिया। देवगिरि के राजा यादवराज की कन्या शशिव्रता से इसके भतीजे का विवाह होता था ; पर पृथ्वीराज ने शशिव्रता को हरकर उससे अपना विवाह किया। इन दोनों बातों से, विशेषकर अंतिम बात से, कुढ़कर जयचंद ने एक यज्ञ में पृथ्वीराज की मूर्ति का अपमान किया। इस पर पृथ्वीराज ने यज्ञ-विध्वंस कर डाला, और उसकी पुत्री संयोगिता को हरकर उससे विवाह किया। इन्हीं कारणों से जयचंद ने शिहाबुद्दीन से मिलकर, अदूरदर्शिता से, पृथ्वीराज का सर्वनाश करवा डाला। पर दूसरे ही साल, ११९४ ई० में, शिहाबुद्दीन ने इसे मारकर क़न्नौज का भी राज्य ले लिया।

(७) अनंगपाल

यह पृथ्वीराज का नाना था। इसने दिल्ली का विशाल राज्य प्रसन्नता-पूर्वक पृथ्वीराज को देकर बदरीनाथ की यात्रा की। पर इसके वंशधर तोंबर राजपूतों ने पृथ्वीराज से अप्रसन्न होकर इसे बहकाया, और पृथ्वीराज से लड़ा दिया। इसके पराजित होने

पर पृथ्वीराज इसके पैरों पर गिर पड़ा, और उसने इसे बहुत प्रसन्न किया। अंत में यह फिर बदरीनारायण को चला गया।

(८) कर्नाटक-युद्ध — पृथ्वीराज ने विजय-लालसा से यह युद्ध ठाना था। अंत को कर्नाटकी नाम की एक रूपवती वेश्या पाकर यह वहाँ से प्रसन्नता-पूर्वक लौट आया।

(९) गज्जरराय — यह भीम का साथी था। इसने पृथ्वीराज के बहनोई समरसिंह की राजधानी चित्तौर पर धावा किया था। पर पृथ्वीराज ने इसे भी हराया।

(१०) भीम (उज्जैन का राजा) — इसने पहले अपनी कन्या इंद्रावती का विवाह पृथ्वीराज से करने का वचन दिया, पर पीछे से नट गया। युद्ध में इसे हराकर पृथ्वीराज ने यह विवाह किया।

(११) भान (काँगरा का राजा) — इसने पृथ्वीराज के दूत का अनादर किया। यह पराजित हुआ, और अपनी कन्या पृथ्वीराज को ब्याह दी।

(१२) पंचाइन (चँदेरी का राजा) — यह रणथंभौर के राजा भान की कन्या हंसावती से विवाह करना चाहता था; पर भान ने अपनी कन्या पृथ्वीराज को ब्याह दी। इसी पर पंचाइन से युद्ध हुआ, और वह पराजित हुआ।

(१३) बालुकाराय — यह जयचंद का आश्रित राजा था, और जयचंद ही के कारण पृथ्वीराज से दो बार लड़ा, और अंत को मारा गया।

(१४) परिमाल (महोबे का राजा) कन्नौज से संयोगिता-हरणवाले युद्ध से पलटते समय पृथ्वीराज के कुछ सामंत राह भूलकर महोबे चले गए, और कुछ का झगड़ा होने पर परिमाल ने वध कर डाला। इस पर पृथ्वीराज ने प्रचंड कोप करके परिमाल के हितू मलिखान को सिरसा में मारा, और महोबे पहुँचकर, आल्हा, ऊदन आदि को पराजित करके, परिमाल को जीतकर, महोबा खोद डाला। इस युद्ध में पृथ्वीराज की सेना की भी बड़ी हानि हुई।

इस वर्णन से विदित होता है कि पृथ्वीराज के चौदह प्रधान शत्रुओं में नव से शत्रुता का कारण पृथ्वीराज के ब्याह थे। यदि इन्हें विवाह करने का इतना भारी शौक़ न होता, तो ४३ वर्ष की ही अल्पावस्था में ऐसा पराक्रमी राजा शिहाबुद्दीन से हारकर काल-कवलित न होता, और भारत उस समय यवनों के अधिकार में न जाता। पृथ्वीराज जितने पराक्रमी, शूर तथा उदार थे, उतने ही अदूरदर्शी तथा हठी भी थे। इन्हीं कारणों से ही यह बड़े-बड़े सामंत और बृहत् सेना रखने पर भी एक क्षुद्र शत्रु से हारकर राजपाट और जीवन तक खो बैठे। पृथ्वीराज ने दस विवाह किए, और एक वेश्या को रक्खा। रासो के देखने से प्रकट होता है कि पृथ्वीराज के प्रायः तीन ही काम थे—विवाह, आखेट और युद्ध।

ऊपर कहा जा चुका है कि रासो का प्रथम संपादन सं० १६५० के लगभग हुआ, और कुल तीन संपादन हुए; इसमें क्षेपक बहुत मिल गए, और ग्रंथ में छानबीन, चढ़ाव-उतार प्रचुरता से हुए। ऐसी दशा

में कुछ ऐतिहासिक अशुद्धियों का आ जाना स्वाभाविक था। अतएव रासो में लिखे हुए उपर्युक्त कथनों को जब ऐतिहासिक घटनाओं से मिलाया जाता है, तब कुछ गड़बड़ पड़ती ही है। हमने अपने भारतीय इतिहास के द्वितीय भाग में, पृष्ठ २६६ से ३७२ पर्यंत, चौहानों के वंश का हाल लिखा है। उसके देखने से विदित होगा कि महाराजा पृथ्वीराज के निकटवाले पूर्व-पुरुषों के विषय में भी ऐतिहासिकों में मतभेद है, और उनका वर्णन, विविध आधारों में, अनेक प्रकार से है। टाड साहब राजपूताने के हिंदू ऐतिहासिकों के आधार पर चलकर इस प्रकार पृथ्वीराज की वंशावली लिखते हैं—बीसलदेव—सारंगदेव—आनाजी—सोमेश्वर—पृथ्वीराज (चर्महरदेव भाई)—रैनसी। यह वंशावली चंद के वर्णन से बहुत कुछ मिलती हुई है। उधर चित्तौर में एक शिला-लेख मिला है, जिसके अनुसार अजय के पुत्र आना सं० ११९० वि० में जीवित थे। बीसलदेव इन्हीं आना के पुत्र कहे गए, जिनके पौत्र पृथ्वीराज थे। स्मिथ महाशय किसी कारमीरी ग्रंथ के आधार पर पृथ्वीराज को बीसलदेव का भतीजा मानते हैं। डफ़ महाशय ने अजमेर के चौहान-राजों की जो वंशावली लिखी है, उसमें चार विग्रहराज लिखे हुए हैं, जो नरेश नंबर २,१२,१८ तथा २२ थे। इन्हीं में एक बीसलदेव था। तीसरे विग्रहराज के पुत्र प्रथम पृथ्वीराज लिखे हैं, जिनके पुत्र अजयराज या सल्हण थे। कहीं-कहीं आनाजी के पुत्र जयसिंह भी अजयराज लिखे हैं। अजयराज के पुत्र अरुणराज थे, जिनके पुत्र चौथे विग्रहराज तथा दूसरे पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर लिखे हुए हैं। आपने अजयराज का संवत् ११८७, अरुणराज का १२०७ एवं दूसरे पृथ्वीराज का १२२७ लिखकर चौथे विग्रहराज तथा सोमेश्वर के बीच पृथ्वी-भट नाम का एक और राजा लिखा है। जान पड़ता है,

स्मिथ महाशय ने चौथे विग्रहराज को असली बीसलदेव मान कर पृथ्वीराज को बीसलदेव का भतीजा लिखा है। वास्तव में, तीसरे विग्रहराज बीसलदेव थे। यदि उनके पुत्र पहले पृथ्वीराज का उपनाम आनाजी मानें, तो चंद के अनुसार भी वंशावली प्रायः मिल जाती है ; क्योंकि ऐसी दशा में आनाजी के पुत्र अजयराज मिलते हैं, और उनके अरुणराज, जिनका दूसरा नाम आनंददेव हो सकता था। इन्हीं के पुत्र सोमेश्वर थे, जो पृथ्वीराज के पिता थे। इस हिसाब से केवल इतना भेद पड़ता है कि चंद ने आनाजी को बीसलदेव का पौत्र लिखा है, और डफ़ ने पुत्र। बीसलदेव के पुत्र सारंगदेव ने बहुत कम समय तक राज्य किया, और वे ढूँढा द्वारा मारे गए। उन्हीं के पुत्र आनाजी थे। संभव है, थोड़े ही काल तक राज्य करने के कारण उनका नाम डफ़ की नामावली से छूट गया हो, और उनके स्थान पर उनका पुत्र बीसलदेव का पौत्र न लिखा जाकर पुत्र लिख दिया गया हो। हर हालत में अंतर यदि है भी, तो बहुत थोड़ा। बीसलदेव के पूर्व की वंशावली में चंद ने, पूरे नाम लिखने का प्रयत्न न करके, केवल कुछ विशेष नाम-मात्र गिना दिए हैं। अतएव, हमारी समझ में, ऐतिहासिक विचारों से चंद-कृत पृथ्वीराज की वंशावली प्रायः पूरी-पूरी मिल जाती है।

अब पृथ्वीराज-संबंधी घटनाओं के विषय में चंद ने जो लिखा तथा उनके समसामयिक लोगों का जो कथन किया है, उस पर विचार करना शेष है। चंद बरदाई ने पृथ्वीराज द्वारा शिहाबुद्दीन का कई बार पकड़ा जाना लिखा है ; किंतु इतिहास में ऐसा होना एक ही बार माना गया है। हमारी समझ में, कविता-संबंधिनी अत्युक्ति के विचार से, चंद के कथन में ऐतिहासिक भ्रम नहीं माना जा सकता। फिर इतिहास बहुत करके मुसलमानों के कथनों

पर बने हैं, जिनमें अपना अपमान बचाने को मुसलमानों की हार कम लिखा जाना संभव है।

हो सकता है, पृथ्वीराज ने उसे दो-तीन बार पकड़ा हो, जिसे घटाकर मुसलमानी ऐतिहासिकों ने एक ही बार रक्खा हो, और चंद ने बढ़ाकर कई बार कह दिया हो। एक यह अंतर अवश्य पड़ता है कि चंद ने शिहाबुद्दीन को सुल्तान कहा है; किंतु जब तक उसने पृथ्वीराज को जीता था, तब तक वह सुल्तान का भाई था। उस सुल्तान के मरने पर शिहाबुद्दीन पीछे से सुल्तान हुआ था। यह अवश्य है कि वह शिहाबुद्दीन को बहुत अधिक मानता था, जिससे संभव है, उस काल के हिंदुओं को उसके सुल्तान ही होने का भ्रम हो गया हो। संभव है, शत्रुओं पर आतंक जमाने को उसके सैनिक उसके सुल्तान न होने पर भी उसे सुल्तान ही कहते हों, जिससे चंद को भ्रम हो गया हो।

पृथ्वीराज के समसामयिक जिन १४ लोगों के नाम ऊपर दिए हैं, उनमें से गुजरात-नरेश भीम, मंडोवर के नाहरराय, शिहाबुद्दीन ग़ोरी, क़न्नौज के जयचंद, अनंगपाल और महोबे के राजा परिमाल ऐतहासिक पुरुष हैं। कुमाऊँ-पति कुमोदभानु, चंदेरी के पंचाइन, उज्जैनपति भीम, काँगरापति भान और बालुकाराय की चर्चा इतिहास में नहीं है। किंतु इतिहास से यह भी सिद्ध नहीं होता कि रासो के ये कथन मिथ्या हैं। मुद्गलराय मेवाती और गज्जरराय साधारण पुरुष-मात्र थे। पृथ्वीराज के ससुर आबूपति सलष का पता इतिहास में मिलता है। इतिहास बनारस को जयचंद की राजधानी बतलाता है, न कि क़न्नौज को; किंतु समझ पड़ता है कि क़न्नौज उसकी दूसरी राजधानी थी। चंद कवि ने पृथ्वीराज का वर्णन विशेषकर दिल्ली के संबंध में किया है; किंतु इतिहास का कथन है कि पृथ्वीराज अजमेर में राज्य करते थे, और उनकी ओर से उनके

भाई गोविंदराय दिल्ली का शासन-चक्र चलाते थे। चंद ने महाराजा सोमेश्वर के समय में दिल्ली में पृथ्वीराज का विशेष वर्णन किया है। आपने यह भी लिखा है कि पिता के पीछे पृथ्वीराज दिल्ली तथा अजमेर, दोनों के स्वामी हुए। इसलिये इन कथनों में इतिहास से कोई विशेष प्रतिकूलता नहीं है। इतिहास में पृथ्वीराज-कृत कर्नाटक-युद्ध का उल्लेख नहीं है; पर वह इस घटना के प्रतिकूल भी कुछ नहीं कहता।

उक्त कथनों से कुछ पाठकों को यह भी समझ पड़ सकता है कि यहाँ किसी प्रकार, कष्ट-कल्पना से, इतिहास से भेद मिटाने का प्रयत्न किया गया है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। चंद के वर्णन तथा इतिहास में भेद बहुत ही थोड़ा है। चंद के कथन ऐसे स्वाभाविक और सजीव हैं, और रासो को जाली न मानने के अन्य कारण ऐसे पुष्ट हैं कि इतिहास से कहने-भर को उसका कुछ थोड़ा-सा भेद बहुत दृढ़ न होने पर पुष्ट नहीं माना जा सकता। फिर उपर्युक्त विचारों के अनुसार वास्तव में कोई भेद देख भी नहीं पड़ता।

रासो प्रायः संवत् १२२९ से १२४८ तक बनता रहा। यह वह समय था, जब प्राकृत-भाषा का अंत हो रहा था, और हिंदी का प्रचार। प्राकृत का अंतिम व्याकरण-कर्त्ता हेमचंद्र हुआ है, जिसकी मृत्यु संवत् १२२६ में हुई। अपने समयानुसार रासो में प्राकृत-मिश्रित भाषा है; पर चंद कवि शब्दों को प्रायः शुद्ध रूप में लिखते थे। अपनी भाषा के विषय में उन्होंने यह श्लोक कहा है—

"उक्तिधर्मविशालस्य राजनीतिं नवं रसम्;
षट् भाषाश्च पुराणञ्च कुरानं कथितं मया॥"

(रासो, पृष्ठ २३)

चंद की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद की मात्रा कम तथा ओज की विशेष है। प्राकृत-मिश्रित भाषा लिखने के कारण चंद ने अनुस्वार से द्वितीया के स्थान पर प्रथमा का भी काम ले लिया है। इनकी भाषा से इनका अगाध पांडित्य प्रकट होता है। इन्होंने संस्कृत के अच्छे-अच्छे शब्द लिखे तथा पुराणों की कथाओं का अच्छा ज्ञान दिखाया है, यद्यपि संस्कृत के ग्रंथ उस समय अनुवादित नहीं हुए थे। इनकी भाषा ऐसी कठिन है कि एकाएक पूरी तौर से समझ में नहीं आती। इनके कठिन छंदों का प्रायः आशय-मात्र समझ में आता है। पूर्णतया समझने को परिश्रम की कुछ आवश्यकता है। इनकी भाषा में कई भाषाओं का मिश्रण एवं प्राकृत प्रधान होने के कारण वह वर्तमान हिंदी से बहुत भिन्न है, और मिलित वर्णों तथा अनुस्वारों का बाहुल्य एवं चंदह, नरिंदह आदि शब्दों के प्राचीन रूपों का प्रयोग होने से, पढ़ने में, एक प्रकार की दूसरी ही भाषा जान पड़ती है। परंतु, फिर भी, ध्यान-पूर्वक देखने पर, वह वर्तमान हिंदी से बहुत कुछ मिलती-जुलती भी है। चंद ने उस समय की प्रचलित हिंदी लिखी है, और हम लोग आजकल की हिंदी लिखते हैं। यह मानना ही पड़ेगा कि उस समय के देखते वर्तमान हिंदी ने बड़ी उन्नति कर ली है; पर चंद की हिंदी अब भी अपने बालकपन से ही एक अलौकिक आनंद देती है। जन्म-ग्रहण करते ही हिंदी ने जो रूप पाया, उसका प्रत्यक्ष ऐतिहासिक प्रमाण चंद की हिंदी है। आपकी भाषा में डिंगल की प्रधानता है। उसी समय के अन्य कवियों ने तुलसीदास की भाषा से मिलती-जुलती भाषा लिखी है। वे कवि युक्त-प्रांत के थे। चंद ने शौरसेनी एवं गुजराती ढरों को लेकर रचना की है। परंतु माध्यमिक समय में व्रजभाषा का ही विशेष आदर रहा। आजकल नवीन प्रथा के कविजनों की रुचि खड़ी

बोली की ओर झुक रही है । यह खड़ी बोली उर्दू से पूर्णतया मिलती है । बस, केवल फ़ारसी-अरबी शब्दों के स्थान पर संस्कृत के शब्द रखती है ।

चंद ने संस्कृत-काल की कविता के कुछ ही पीछे कविता की । यह कवि संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष के समकालिक थे । अतः छंदों में इन्होंने श्लोकों से मिलते हुए कई प्रकार के छंद कहे हैं । आपके साटक एक प्रकार से हिंदी के श्लोक हैं । इनकी मात्रा चंद की कविता में बहुत है, और ये परम मनोहर हैं । षट्पद-छंद का भी चंद ने विशेष आदर किया है । यह छंद अपनी मनोहरता के कारण आदरणीय है भी । इन छंदों के अतिरिक्त चंद ने प्रायः सभी छंद लिखे हैं, और कोई छंद इतनी दूर नहीं चलाया कि वह अरुचिकर हो जाय । चंद ने कथा और छंद ऐसे क्रम-बद्ध प्रकार से कहे हैं कि जान पड़ता है, चंद ही इस प्रथा के चलाने-वाले नहीं हैं, वरन् यह रीति उस समय के कवियों में स्थिर थी । चंद ने एकआध छंद ऐसा भी कह दिया है, जिसका अब पता लगना कठिन है । यथा, बथूवा-छंद, रासो, पृष्ठ ८ । पंड्याजी ने इसे रिड्डक-छंद माना है । उदाहरणार्थ यह छंद यहाँ लिखा जाता है—

"प्रथम सु मंगल मूल श्रुतबिय, स्मृति सत्य जल सिंचिय,
सुतरु एक धर ब्रम्म उभ्यो ;
त्रिषट साष रम्मिय त्रिपुर, बरन पत्त मुख पत्त सुभ्यो ।
कुसुम रंग भारह सुफल, उकति अलंब अभीर ;
रस दरसन पारस रमिय, आस असन कबि कीर ।"

चंद ने श्लोक भी अच्छे-अच्छे, संस्कृत में, कहे हैं ।

इन महाकवि ने युद्ध और शृंगार-रस का वर्णन तो उत्कृष्ट किया ही है, पर अन्य प्रकार के भी अनेकानेक बढ़िया वर्णन रासो में वर्तमान हैं !

आपने कई स्थानों पर, गोस्वामी तुलसीदास की भाँति, देवतों की विनतियाँ बहुत विशद कही हैं। यथा, शिवस्तुति (४३ तथा ७७ पृ०), ईश्वर-स्तुति (१६० पृ०), भूमि-देवी-वर्णन (५८६ पृ०), सूर्य आदि का वर्णन (१३९६ तथा १३९७ पृ०), देवी-स्तुति (४९२ पृ०)। चंद ने नीति, वसंत (१२८७, १५०४, १५०७ पृ०), उपवन (५५३ पृ०), बाग़ (५५२ पृ०), पक्षी (२४२ पृ०), तलवार (१२२५ पृ०) मृगया (१५१२, ४७६ पृ०), सवारी (५९९ पृ०), ख़ेमे (४८५ पृ०), सिंह (५७८ पृ०), वन, वर्षा और शरद् (७६४ पृ०), पकवान, भोजन और राज्याभिषेक (५९६ पृ०), विवाह-तैयारी (६४९ पृ०), नखशिख (५६२ पृ०) आदि सभी परमोत्कृष्ट कहे हैं। पृष्ठ १०८४, १०८७ में पृथ्वीराज की रानियों के वर्णन, ८०१, ८०२ में नखशिख, ७७९, १२८१, १३४३ में शृंगार-रस आदि का अच्छा कथन है। पृथ्वीराज की भगिनी पृथाकुँअरि (६४५ पृ०) के वर्णन में भी नखशिख (६५२ पृ०) अच्छा कहा गया है। हंसावती के वर्णन में संयोग-शृंगार मनोहर है। वियोग का भी यत्र-तत्र कथन विशद हुआ है। षट्ऋतु (१५७८, १५८८ पृ०) और नखशिख (१२४२, ५६३, ५६६ पृ०) चंद ने कई बार और कई प्रकार से कहे हैं। १५६ पृष्ठ पर पृथ्वीराज की शोभा वर्णन करने में कवि ने उपमाएँ अच्छी-अच्छी कही हैं। कैमास जिस स्त्री पर लुब्ध होकर, कुछ दिनों के लिये पृथ्वीराज का साथ छोड़, भोरा भीमंग का साथी हो गया था, उसके वर्णन का एक छंद यहाँ लिखते हैं—

"चंद बदन, चख कमल, भौंह जनु भ्रमर गंधरत ;
कीर नास, बिंबोष्ठ, दसन दामिनी दमकत।
भुज मृनाल, कुच कोक, सिंह लंकी, गति बारुन;
कनक कंति दुति देह, जंघ कदली-दल आरुन।

अलसंग नयन मयनं मुदित, उदित अनंगह अंग तिहि;
आनी सुमंत्र आरंभ बर, देखत भूलत देव जिहि।"

पृथक्-पृथक् वर्णनों में इन कविरत्न ने उपमा और रूपक आदि का भी परमोत्कृष्ट कथन किया है (पृष्ठ ७७३, ७७४, ८२१, ११३४, ११३५, १३०४, १३०५, १४१८ आदि)।

चंद ने प्रभात एवं सूर्य का कई बार बढ़िया वर्णन किया है (१३९६, १३९७, १२२५, १२२६ पृ०)। दो-चार स्थानों पर योगियों की क्रियाओं का भी वर्णन है (१४५०, १२४५, १२४६ पृ०)। पृथ्वीराज के गुण तथा कीर्ति आदि के बहुत अच्छे वर्णन कई बार किए हैं (१२८४, १२८५, १४५५ पृष्ठ में तेज और आकार का निर्णय आदि)।

इन कविरत्न ने शोभा को हरएक स्थान पर देखा है। क्या देवता, क्या स्त्री, क्या सिंह, क्या मृगया, क्या युद्ध, क्या कन्नौज आदि, सभी स्थानों और बातों में उसका ध्यान नहीं छोड़ा, और कविता में उसका भली भाँति सन्निवेश किया (पृष्ठ १४८२, १६२३, १६६७, १५७३, १५७४, ५५०, ५५२, ५७३, ५७८, ५७६, ५९६ आदि)।

यह युद्ध-प्रधान ग्रंथ है। अतः इसमें युद्ध का वर्णन बहुत बार और कितने ही प्रकार का हुआ है (पृष्ठ ७०६, ७०८, ८१५, १२२५, १२२६, ११३४, ११३५, १३७५, १३७६, १३८१, १३८२ आदि)। चंद ने युद्ध तो प्रायः उचित कहे हैं, पर कवियों की विस्तारकारिणी प्रकृति के वशवर्ती होकर सेना-संख्या में अत्युक्ति कर दी है। जयचंद एवं सुलतान के दल की गणना में इन्होंने क्रमशः ३० और १८ लाख मनुष्य कहे हैं, जो सर्वथा असंभव है।

इन महाकवि ने स्त्रियों के रूप, शृंगार, शोभा आदि का भी

कई बार श्लाघ्य वर्णन किया है (पृष्ठ ५५०, ५६२, ५६६, ५७३, ६४५, ६४६, ६५२, ६५३, ७७६, ७८१, ८०१, ८०४, १२४२, १२४३, १०८४, १०८७, १२८१, १३०४, १३०५, १३४३, १४८२ आदि)।

चंद ने शिव का भी शृंगार अच्छा कहा है (पृष्ठ १५७३, १५७४)। चंद कवि ने ये वर्णन और ऐसे-ही-ऐसे अन्य सैकड़ों वर्णन रासो में बड़ी उत्तमता से किए हैं। पृष्ठ आदि का जहाँ हवाला है, वहाँ नागरीप्रचारिणी-सभावाली रासो की प्रति का है।

चंद बरदाई जैसे भाषा के वास्तविक आदि-कवि थे, वैसे ही संस्कृत के आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि की भाँति वर्णन भी प्रायः पूर्ण और मनोहर करते थे। काव्य-प्रौढ़ता में चंद का पद बहुत बढ़ा हुआ है; और जितने विषयों के इन महाकवि ने उत्कृष्ट तथा पूर्ण वर्णन किए हैं, उतने के प्रायः अन्य भाषा-कवियों ने नहीं किए। चंद को नवरत्नों में रियायत से, अथवा पुराने कवि होने के कारण, नहीं स्थान दिया गया ; वरन् इनकी काव्य-प्रौढ़ता ही के कारण इन्हें यह सम्मान मिला है। रासो भी हिंदी का एक अमूल्य रत्न है, और प्रत्येक हिंदी-रसिक को इसे पढ़ना चाहिए। इस लेख के भाषा-संबंधी भाग में मित्र-वर बाबू श्यामसुंदरदास के एक उस लेख से भी सहायता ली गई है, जो उन्होंने कृपया हमारे पास भेज दिया था।

अब चंद की कविता के और भी उदाहरण आगे लिखे जाते हैं—

पृथ्वीराज

भयो जनम पृथिराज दुग्ग खरहरिय सिखर गुर ;
भयो भूमि भुवचाल धमकि-धसमसिय अरिनि पुर।
गढ़न कोट से लोट नीर सरितन बहु बड्ढिय ;

भौचक भय भूमिया चमक चक्रित चित चड्ढिय।
खुरसान थान खल-भल परिय झंभपात भय प्रंभ निय;
बैताल बीर बिकसे मनह हुंकारत खह देव निय।
करिय नवनि कवि चंद छंद अनेक पद्धि कर;
तूँ सुरपति सम कुँअर देव सामंत समो बर।
अग्नि कन्ह जल चंद पवन गोइंद प्रबल बल;
धरा दंद बल धीर तेज चामंड जलन खल।
रबि तेज कहर कारंभ सब चंद अमृत आबू धनी।
दिगपाल सबल सामंत सब रहै दबि धरती धनी।

पृथ्वी देवी

पीत बसन आरुहिय रत्त तिलकावलि मंडिय;
छूटिय चंचल चाल अलक गुंथिय सिर छंडिय।
सीसफूल मनिबंध पास नग सेत रत्त बिच;
मनो कनक-साखा प्रचंड काली उप्पम रुच।
मनु सोम सहायक राहु होइ कोटि भान सोभा गही;
अदभुत द्रव्य ससि अहि गल्यो साप सुरंग भनावही।

अप्सरा

हरितकनककांति कापि चंपेव गोरी;
रसितपदुमगंधा फुल्ल-राजीव-नेत्रा॥
उरजजलज-सोभा नाभि-कोसं सरोजं;
चरन-कमलहस्तीलीलया राजहंसी।

सरस्वती

मुक्ताहारबिहार सारसुत्रुधा अब्धा त्रुधा गोपनी;
सेतं चीर सरीर नीर गहिरा गौरी गिरा जोगनी।
बीनापानि सुबानि जानि दधिजा हंसा रसा आसिनी;
लंबोजा चिहुरार भार जघना बिघ्ना घना नासनी।

नाहरराय-सुता

तम्मै स्याम सुरंग बालनयनं मन्मथ बल्ली कला ;
सुष्षं धामय तेज दीपक कला तारुन्य लच्छी ग्रहा।
रूपं रंजित मंजु माल कलया बासंत पत्रावली ;
अव्वं लच्छन काम धीरज गुणौ धन्यौ दुती दंपती।

चित्ररेखा वेश्या

वेस्या बंछित भूप रूप मनसा शृंगारहारावली ;
सोयं सूरति लच्छि अच्छि तगुनं बेली सुकामावली।
का बनैं कबि उक्ति जुक्ति मनयं त्रैलोक्यमं साधनं ;
सोयं बाल तिरत्त उष्ट विद्रुमं कामोद जोगेश्वरं ;
क्रम उवरीय किपाट चौर भग्गंत रोर तनु ;
चक चक्की जंमिलहि उघरि सतपत्र मत्त जनु।
भृंगभृंगि सम भ्रमहि बाज्जि मारुत सौरभ चलि ;
गय उड्गन ससि घटिय बढ़िय आकास किरनिकर।
सैंविधि सुरंग व्यापार घन रवि रत्तौ मुष दिष्ययौ ;
भासकर सहसकर क्रंमकर नव कर कमद बिसष्ययौ।
कंठय भूषन छंद प्रकासय ; बारह अच्छरि पिंगल भासय।
अट्टय संजुत मत्त प्रमानय ; कंठय भूषन छंद बषानय।
उग्गिरतं रत भ्रंमर भासय ; भानु सुदेव दिवालय थानय।
पाप हरै तन क्रम्म प्रगासय ; कौ जम तात जमुन्नय भासय।
तात करन्नय पूरन पूरय ; बंध कमोदनि को मत सूरय।
बंध जवासुर ग्रीषम थानय ; अर्क पलासन काम बिरामय।
कौ सुनि तात सनी सर सूरय ; भासकरै करुना मति पूरय।
है कर संस्तति भाष प्रकारय ; तारय नाथ दिनं मति तारय।
है वर ओष करं गिर पारय ; मानहुँ देव दिवालय साजय।
भंजन कुंज असन्नत पंडय ; सो धरि ध्यान धरंत बिरंचय।

एकवरी धरि ध्यान न दिष्षिय; मुक्ति सलच्छिय संपन अदिषय।

सरद चंद प्रतिव्यंब तिमर तारन गयंद वर;
ब्रह्म बिष्णु अंजुल उदंत आनंद नंद हर।
इक चक्र चिहुँ दिसै चलत दिगपाल तुंग तन;
कमल पानि लारी अरुन्न संसार जियन जन।

उत्तुंग बीर छच्छुव पवन निरारंभ ससह सुमुष;
कवि चंद छंद इसि उच्चरे हरो मित्त दोइ दीन दुष।

सिसिर समय दिन सरस गत मधु माधव बल मंडि;
भार अष्टदस बेळ तरु पत्र पुरातन छंडि।
नूतन रत मंजरि धरिय परिमल प्रगटि सुवास;
छत्र रुचिर छबि काम जनु अलि तुट्टत सुर रास।

आगम बसंत तरु पत्र डार; उठि किसल नह्य रँग रत्तधार।
अंकुरित पत्र गद्दरति डार; लहलहत जंग अट्ठार भार।
मधु पुंज गुंज कमलनि अधीन; जनु काम कोक संगीत कीन।
तरु तरनि कूकि कोकिल सभार; बिरहिनी दीन दंपति अधार।
कलरव करंत षग-कुसति सोर; निसि बीति सिसिर रतिराज भोर।
त्रिय पुरुष चषनि रुचि अनँग बड्ढि; दंपति अनंग बिरहिनी जड्ढि।
इम अवनिराज रित गवन कीन; नव मुग्ध मध्य कंतन अधीन।
ग्रह-ग्रहनि गान गायंत नारि; मन हरित मुग्ध मध्या धमारि।
तन भरति रत्त रँग पीत पानि; हिय मोद प्रगट तन धरन जानि।
इम हुअ बसंत आगम अवन्नि; मदमत्त करिय जनु गवनवन्नि।
मसि भींज दिननि पिय तन बनंग; अवतार अवनि जनु धरि अनंग।
मुष हर्ष गंडमंडल प्रकास; फरकंत अधर मधु रस बिलास।
बिगसंत कमल छबि नयन मंडि; बंधूक अरुन रुचि षंडि छंडि।
मधुमास सुक्र निसि रुचिर चंद; बहि गंध पवन छबि सीत मंद।
हुअ रोम पंचसर अंच देह; कलमलिय उढलिय बनिता सनेह।

निसि प्रथम प्रहर तट गवन कीन ; सुभ सोभ बाग मन हुअ अधीन।
सगपन्न धार इक लिय चढ़ाइ ; जल्लैव इक अँग पवन पाइ।
पिष्षे सुबाग बानिक रसाल ; निरषंत नयन सोभा बिसाल।

एक सुपुत्रिय पंग दीय दक्षिन सुदेव ग्रह ;
मानहीन माननिअ रूप उप्पम रंभा कह।
कमल अनूपम काज कछू ओपम मन मानिय ;
सुबर काम रति बाम मनो फेरिय सो आनिय।

लच्छन बतीस बयसंधि इह सो ओपम अगकथ्थयौ।
चढ़नही सुमनमथ चित्त रथ चढ़नेसत्ति चित रथ्थयौ ;

संजोग संधि जोबन प्रवेस ; चित मंडि सुनौ संभरि नरेस।
श्रीपंड-पंक कुंकम सुरंग ; मानो सुकरी कर मरदि गल्ल ;
उप्पमा नष्ष आवै न कब्बि ; तिन पड़ी होड़ मयुषन सरब्बि।
इक अंग उपम कहियै सुदुत्ति ; तारकन तेज द्रप्पन सुमुत्ति ;
पिंडुरी अंग झलकत सुरूर ; मनु रत्त रंग कंचन कि चूर।
ओपम्म नष्ष फिर कहि उपाइ ; कंबर कली फूलंत राइ।
पिंडुरी पीढ़ सोभंत बाम ; अँभओन षंभ सोवन्न वाम।
उर जंघ दंड ओपम्म निरंग ; गज सुंड डिंभ कै ओन रंग।
नित्तंब तुंग इन भाइ कब्बि ; धरि चक्र सँवारि दुज बाम रब्बि।
नित्तंब भाग उत्तंग छंड ; मनु तुलत काम धरि लंक दंड।
लंकह प्रमान मुट्ठीत षट्ठि ; बैनी ढलक दीसंत पुट्ठि।
चिंतै सुकब्बि ओपम्म ओर ; नागिनि सो हेम-षंभह सुजोर।
राजीव रोम अंकुरिय बार ; मानों पपील बंधी बिलार।
गति हंस चलत मुकल बिचार ; सिषवंत रूप गहि बाँधि भार।
कुच सरल दरस नारिंग रंग ; मरदे के कुंक कंचन उपंग।
जोबन प्रसंग इह रूप हद्द ; छुर करी हरी मुक्कै मसद्द।
तब लगि होत हसथान मत्ति ; जब लगि आन सैसव कि रत्ति।

अघबीच बात इम सुनी तास ; कहि लेषि लोग आवै न हास ।
कलग्रीव रहे त्रिबलीय चाहु ; बैठोति चंद आसनति राहु ।
धर अधर अरुन दसै सुरंग ; जानै कि बिंब फल-चंद जंग ।
ओपम सु चंद बरदाइ लीन ; मनु अगर चंद मिलि संग कीन ।
मधु-मधुर बानि सदसहति रंग ; कलयंठ कंठ केकीन खंघ ।
बर दसनपंति दुति यौं सुभाइ ; मोइक्क चंद जुब्बन बनाइ ।
नासिक अनूप बरनी न जाइ ; मनु दीप भवन निघ्घालपाइ ।
सुंदरि बदन्न दूनौ बनाइ ; मनु रथ्थ रब्बि दीपहि मनाइ ।
कहँ लग्गि कहौं चहुआन-बाम ; सैसव सुबाल कंपैति काम ।
अंबुज नयन्न मधुकर सहित्त ; षंजन चकोर चमकंत चित्त ।
बैनीतिसालसोभै बिसाल;मनो अरधउरगचढ़ि कनक साल ।
श्रवननि सहचरि बचन चित्त गुरुजन संभारिय ;
रसन बचन चाहंत पन सु अप्पनौ बिचारिय ।
सनभिलाष गंध्रब्ब भयौ किलकिंचित नारिय ;
नयन उमड़ि जलबिंद बदन अंसू परि भारिय ।
उपमान इहै कबि चंद कहि बाल जदिन मुर संभयो ;
उफ्फेन अमौ मज्झह रह्यौ ससि कलंक उफ्फनि गयौ ।
दिगु रत्ते करि बाल भौंह बंकी करि षिज्झिय ;
सो ओपम बरदाइ चंद राजस मन भज्जिय ।
सैसव, जुबन नरिंद परसपर लरत बिआनं ;
मनु सम रप्पत बाल दुहुन सों षीझत आनं ।
मोहन्नि तीर जानै छुरी दुहुन बीच अड्डी करी ;
सो रूप देषि संजोगि कौ उठि सहचरि मंतह हरी ।
स्यामंगं कलधूतनूतसिखरं मधुरे मधू वेष्टिता ;
बीते सीत सुगंध मंद सरसा आलोल संचेष्टिता ।
कंठी कंठ कुलाहले मुकलया कामस्य उद्दीपने ;

रत्ते रत्त बसंत मत्त सरसा संजोग भोगायते।
मवरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिप दीसं ;
भवर भाव भुल्लै भमंत मकरंदव सीसं।
बहत बात उज्जलति मौर अति बिरह अगनि किय ;
कुहकुहंत कलकंठ पत्र राषस रति अग्गिय।
पय लग्गि प्रानपति बीनवों नाह नेह मुझ चित्त धरहु ;
दिन-दिन अवद्धि जुब्बन घटय कंत बसंत न गम करहु।
सुभ्र चलिय बन पवन भ्रमत मकरंद कँवल कलि ;
भय सुगंध तहँ जाइ करत गुंजार अलिय मिलि।
बलहीना डगमगहि भाग आवै भोगी जन ;
उरधर लगै समूह कंपि भौ सीत भयतनन।
जत परी ललित सब पहुप रति तन सनेह जल पबित किय ;
निकरै अंग अंबुज हरुअ सीत सुगंध सुमंद लिय।
लै बंधं सुरथट्ट डंक्रित मधू, उन्मत्त अंगी धुनी ;
कंद्रप्पे सुमनो बसंत रमनं, प्राप्तो धनं पावनं।
कामं तेग मनं धनुष्य सजनं, भीतं बियोगी मुनी ;
बिरहिन्या तन ताप पत्त सरसा संजोगिनी सोभनं।
षट रिति बारह मास गय, फिरि आयौ रु बसंत ;
सो रिति चंद बताउ मुहि, तिया न भावै कंत।
जौ नलिनी नीरहि तजै, सेस तजै सुरतंत ;
जौ सुबास मधुकर तजै, तौ तिय तजै सु कंत।
रोस भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग ;
उह रिति त्रिया न भावई, सुनि चुहान चतुरंग।
चरने रत्तय पत्तराइ रितए, कंजाग्र चंद्रानने ;
मातंगंगयहंसमत्तगमने जंघाय रंभायने।
मध्यं क्षीन [illegible] नाभि न [illegible] ;

खिंभे खिंभ उरज्ज त्यों नयनयौ एने ससी आलये।

तल चरन अरुन तिरत्तए ; जल नलिन सोक सपत्तए।
नष-पंति-कंतिय मुत्तए ; जनु चंद अम्रत जुत्तए।
नग जरति नूपुर बज्जए ; कलहंस सब दबि लज्जए।
गति मत्त गरब गयंदये ; छबि कहत कबिबर चंदये।
गहि पिंड कनक बिमानयं ; रँग रंग बंदन लानयं।
कर करिय जंघति ओपमं ; रँग फटिक केसरि सोपमं।
घन जघन सघन नितंबयं ; छिन काम केलि बिलंबयं।
कटि सोभ बर मृग राजयं ; कहि चंद यौं कविराजयं।
बनि नाभिकोस सुकंजयं ; मनु काम भ्रमरय रंजयं।
रव मधुर मृदु कटि किंकिनी ; झलमलत नगफननी कनी।
ललि उदर त्रिवलि त्रिरेषयौ ; कुच जवन मंडि सुभेषयौ।
बनि रोमराजि सपंतयं ; प्रतिबिंब बनि सुभंतियं।
उर उरज जलज बिराजहीं ; कलधूत श्रीफल लाजहीं।
उर पुहुपहार उहासियं ; इक होत जोजनबासियं।
गर लजति कंठ तु कामिनी ; कलयंठ कोक सु धामिनी।
रुचि चिबुक बिंद सु स्याम ए ; जनु कमल बासि अलिधाम ए।
बलि पुहपतिलक सु नासिका ; जनु कीर चुंचप्रहासिका।
तिन भुत्ति बेसर सोभए ; ससि सुक्र मिलि रसि लोभए।
तस नयन षंजन कंजए ; सुरराज सुर मन रंजए।
त्राटंक नग जर जगमगै ; बिय चक्र करि ससि पर जगै।
बिय भौंह बंकित अंकुरी ; जनु धनुक कामति संकुरी।
तसु मध्य तिलक जराइ कौ ; रबि चंद मिलि रस आइ कौ।
गुथि केस चिक्कन बेनियं ; जनु ग्रसित अहि ससि एनियं।
सित दिव्य अंमर अंमरं ; नह मलिन होत अडंबरं।
अँगबास आस सुगंधयं ; सँग चलत मधुव्रत संगयं।

सम उदधि मथि कीनौ हरी ; फटि फेन प्रगटित सुंदरी।
गजपंति चल्लिय जलद हल्लिय गरज नग घन भुल्लियं ;
इलहलन घंटन घोर घुंघर नाग दुम्भर डुल्लियं।
गत लगि गिरिवर पुरहि तरवर हलहि घरवर धावही ;
झलकंत दंत कि पंत बग घन धाम कल साति गावही।
गज बहत मद हद मनहुँ घन मद छुट्टि छिंछन उभ्भरै ;
पग जोरि-जोरि मरोरि सुर जनु दिष्षि सुरपति लुभ्भरै।
ग्रनि पीलवाननि ढाल हालनि ग्रनिय बैरष साजही ;
मनु सिषर गिरिवर काम अंगन छत्र चमर कि राजही।
बहु अंधधुंध न चलत मग्गन सुनत बज्जन चल्लही ;
वै कोट ओटन अगड़ मचत सिषर गिररद झल्लही।
दल मुष्य मंडिय मेघ छंडिय मनहु सुरपति वज्रयं ;
सुर सोम सोमह मज्झ मोमह गेह तजि प्रज भज्जयं।
परि देस-देसन रौरि दौरिय सुनिय संभरि रज्जयं ;
बर भंगि बाजिय सिलह संजिय बहै भोरा अज्जयं।
सुनि एक राइ संभरि नरेस ; षुरसान षान बंधे असेस।
धनु धनुक धार अज्जुन समान ; मनि रतन निद्धि जस आसमान।
बर तेज ओज जस जोर-जोर ; अरि छिपै तेज मनु चंद चोर।
जिन बान तेज गज सुक्कि मद ; चतुरंग सज्जि चव कलन हद।
इह जोग बीर मुवौ न बीर ; बेधत्त सत्त बर एक तीर।
कनवज्ज रीति बजि जेय कंध ; इह थक्कि राज सह होइ निंध।
जोगिनी भूप औधूत रूप ; कह कहों रूप पंषी अनूप।
अध्धर तपंत पल्लव सु बास ; मंजरिय तिलक षंजरिय पास।
अलि अलक कंठ कलयंठ मंत ; संयोगि भोग बर भुम्र बसंत।
मधुरे हिमंत रितुराज मंत ; परसपर प्रेम सो पियन कंत।
लुट्टहित भोर सुगंध बास ; मिलि चंद कुंद फूले प्रकास।

बन बग्ग मग्ग हलि अंब मोर ; सिर ढरत जानि मनमथ्थ चोर।
चलि सीत, मंद, सुगंध बात ; पावक्क मनों बिरहनी पात।
कुह-कुह करंत कलयंठ जोट ; दलभिलहि जानि अनंग कोट।
तरु पल्लव पीत अरु रत्त नील ; हरि घलहिं जानि मनमथ्थ पील।
कुसमेष कुसम नव धनुक साज ; संगी सुपंति गुन गरुअ गाज।
संजर सुवान सो मनहु नेह ; बिद्दारि जालि जुअ जननि देह।
ऊपलिय चलिय चंपक सरूप ; प्रज्जरहि प्रगट कंद्रप्प कूप।
कर बत्तपत्त केतुकि सुकंत्ति ; बिहरंत रत्त, बिछुरंत छुत्ति।
परिरंभ अनिल कंदलि कृपान ; सिर धुनहि सरस धुनि जान तान।
अंकुरि अमूर अभिराम रम्म ; नन करहि पाय परदेस गम्म
फूलिय पलास तजि पत्त रत्त ; रनरंग लसिर जीतौ बसंत।
दिष्षहि तपंत जिहि कंत दूर ; थकि बोलि-बोलि जल रहिय पूरि।
संजोग भोग जुवती प्रबीन ; पै कंठ माहि दुह भगिअ लीन।
रवि जोग भोग सासि नौय थान ; दिन धरयौ देव पंचमि प्रमान।

तन पंच प्रकारं, कहि समरारं, तत उच्चारं, तिद्धारं ;
सुति ग्यान प्रसंसं, नसयति संसं, बसयति हंसं, जिद्धारं।
मन पंच दुआरं, मभय निनायं, रुक्कि सबारं, अनहद्दं ;
सुरकन्नसदं, चिंतय जद्दं, नासिक तद्दं, तन भद्दं।
गुरुगम्य सु थानं चिंतिय ध्यानं, ब्रह्म गियानं, रमि सोयं ;
मन सून्य रमंतं, झिलिमिलि मंतं, नन भुलि जंतु, सो जोयं।
तजि कामय क्रोधं, गुर बच लोधं, संश्रित बोधं सबधानं ;
अंगुष्ठ प्रमानं, ओंह बिचानं, निगम न जानं, तिज्ञानं।
गुर मुष्यय वत्तं, चिंतिय गत्तं, सिद्ध रमंतं, मुनि जोती ;
पह मद्दयं थानं, पिंड समानं, मंडि सुष्वानं दिठ जोती।
जब लाष्यय रूपं, भाजि भ्रम कूपं, दीपक नूपं, सो सूपं ;
तब नंसिय संसं, मुक्कि रमंसं, जोगथ जंसं, सो रूपं।
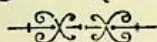
भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म भादों-सुदी ७, संवत् १६०७ वि० को, काशीपुरी में हुआ था। हर्ष का विषय है कि इन महाकवि की जीवनी इनके वात्सल्य-भाजन गोलोकवासी बाबू राधाकृष्णदास और आरा-निवासी बाबू शिवनंदनसहायजी ने लिखी। प्रथम पुस्तक में ११४ और द्वितीय में ४४६ पृष्ठ हैं। ये दोनों ग्रंथ बहुत ही संतोषदायक हैं। इन दोनों महाशयों का श्रम अत्यंत प्रशंसनीय है। हम लोग इस विषय में बाबू शिवनंदनसहाय के बहुत ही कृतज्ञ हैं कि उन्होंने अत्यंत परिश्रम करके भारतेंदु की भारी जीवनी देखने का हम लोगों को अवसर दिया। इस जीवनी में बाबू साहब ने गद्य-काव्य भी अच्छा किया है, और कई स्थानों पर इसकी भाषा पढ़ने में बड़ा आनंद आता है। इस कथन के उदाहरण-स्वरूप हम पाठकों से इनके पृष्ठ २३७ को पढ़ने का अनुरोध करेंगे। इन दोनों जीवनियों के अतिरिक्त "सरस्वती" के प्रथम भाग में भी इनकी छोटी-सी जीवनी दी हुई है। इनकी जीवनी के विषय में बहुत कुछ इन तीनों जीवनियों से विदित हो जाता है, अतः हम उसे यहाँ संक्षेप में लिखते हैं।

इनके मूल-पुरुष राय बालकृष्ण थे, जिनके प्रपौत्र प्रसिद्ध सेठ अमीचंद और पौत्र बाबू हर्षचंद हुए। इन्हीं के पौत्र बाबू हरिश्चंद्र और दौहित्र बाबू राधाकृष्णदास थे। भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचंद्र, उपनाम गिरिधरदास, एक सत्कवि हो गए हैं। इनका

भारतेंदु हरिश्चंद्र

जिन बिरची कविता करन जातीयता बलंद,

भारत-कुमुदिनि-बंधु यह भारतेंदु हरिचंद।

वर्णन इनकी कविता की समालोचना में अलग लिखा गया है। मुकुंदी बीबी भारतेंदु की बड़ी और गोविंदी बीबी छोटी बहन थीं, और बाबू गोकुलचंद छोटे भाई। गोकुलचंदजी के दो पुत्र और दो पौत्र अद्यावधि वर्तमान हैं। भारतेंदु के दो पुत्र और विद्यावती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। इनके पुत्र शैशवावस्था ही में परलोकगामी हुए। इनकी कन्या और उसके पाँच पुत्र ईश्वर की कृपा से विद्यमान हैं।

इनकी बुद्धि ऐसी प्रखर थी कि केवल पाँच वर्ष की अवस्था में, जब कि और बालक शुद्ध बोलना तक नहीं जानते, इन्होंने निम्न-लिखित दोहा बनाया—

"लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए श्रीअनिरुद्ध सुजान;
बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान।"

इनकी माता का देहांत सं० १९१२ में और पिता का सं० १९१७ में हुआ था। इनको पैतृक संपत्ति लाखों रुपए की मिली थी, अतः केवल १० वर्ष की अवस्था में यह संपन्न घर के स्वच्छंद बालक हो गए। एक बार इनके पिता तर्पण कर रहे थे। इन्होंने उनसे पूछा—"बाबूजी, पानी में पानी मिलाने से क्या लाभ?" इस पर क्रुद्ध होकर इनके पिता ने कहा कि तू हमारे घर को डुबावेगा। इसी प्रकार इन्होंने "करत चहत जस चारु कछु कछुवा भगवान को" इस पद का, केवल ६ वर्ष की अवस्था में, एक चमत्कार-पूर्ण अर्थ सभा में लगाया था, जिस पर प्रसन्न होकर इनके पिता ने कहा—"तू मेरा नाम चलावेगा।" इनके पिता के ये दोनों वाक्य यथार्थ हुए, जैसा कि इनकी जीवनी से प्रकट होगा। बाल्यावस्था में यह बड़े उपद्रवी थे। यहाँ तक कि एक बार तीन कोस तक बराबर दौड़ते ही चले गए।

भारतेंदु के हिंदी, फ़ारसी और अँगरेज़ी के प्रथम शिक्षक

क्रमशः पं० ईश्वरीदत्त तिवारी, मौलवी ताजअली और बाबू नंद-किशोर थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के मकान पर एक स्कूल था। उसमें भी कुछ दिन तक यह पढ़े थे। इसी कारण यह राजा साहब को भी गुरुवत् मानते थे। इन्होंने कुछ दिन बनारस के क्वीन्स कॉलेज में भी शिक्षा पाई थी। पढ़ने में इन्होंने कभी मन नहीं लगाया; परंतु फिर भी अपनी बुद्धि की तीव्रता से यह अपने सब सहपाठियों से श्रेष्ठतर परीक्षा देकर अध्यापकों को आश्चर्य में डाल देते थे। ११ वर्ष की अवस्था में इन्होंने पढ़ना छोड़कर सकुटुंब जगन्नाथजी की यात्रा की। इन्होंने मराठी, बँगला, गुजराती, माड़वारी आदि अनेक भाषाएँ समय-समय पर स्वयं सीख लीं। इनके काव्यगुरु पंडित लोकनाथ थे।

१४ वर्ष की अवस्था में, बाबू गुलाबराय की कन्या मन्नो देवी से, इनका विवाह हुआ। इन्होंने सं० १९२३ में कुचेसर की, सं० १९२८ में हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर आदि की, और सं० १९३४ में पुष्कर-क्षेत्र की यात्रा की। इस साल इन्होंने प्रयाग में एक व्याख्यान भी दिया। सं० १९३६ में इन्होंने सरयूपार की यात्रा की। उसी वर्ष काशीनरेश के साथ आपने वैद्यनाथजी के दर्शन किए। सं० १९३८ में यह, महाराणा सज्जनसिंह से मिलने को, मेवाड़ पधारे। वहीं श्रीनाथद्वारे के दर्शन भी किए। सं० १९४० में यह बलिया गए। यह डुमरावँ, पटना, कलकत्ता, हरिहर-क्षेत्र और इलाहाबाद भी अक्सर जाया करते थे।

इनमें स्वदेश-प्रेम की मात्रा विशेष थी। इनके काव्यों और कार्यों से स्वदेश-प्रेम के सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं। उनमें से कुछ का वर्णन यहाँ किया जाता है—

(१) इन्होंने सं० १९२३ में चौखंभा-स्कूल स्थापित किया, जिसमें बिना फ़ीस दिए बालक पढ़ते थे। असमर्थों को भोजन,

वस्त्र, पुस्तक इत्यादि की सहायता भी दी जाती थी। इस स्कूल को भारतेंदु ने १२ वर्ष तक अपने ही व्यय से चलाया। फिर म्युनिसिपलिटी और सरकार ने भी कुछ-कुछ सहायता दी। धीरे-धीरे यह हाईस्कूल हो गया, और अब तक हरिश्चंद्र-हाईस्कूल के नाम से इनकी कीर्ति बढ़ा रहा है।

(२) सं० १६२५ में आपने 'कविवचनसुधा' नाम की मासिक पत्रिका निकाली। यह दूसरे साल पाक्षिक हो गई, और इसमें गद्य-काव्य भी दिया जाने लगा। कुछ काल के उपरांत यह साप्ताहिक हो गई, और इसमें काव्य, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों के लेख दिए जाने लगे। इसे भारतेंदुजी ने ७½ साल तक बड़ी योग्यता और उत्तमता से चलाया। तदनंतर यह अन्य हाथों में जाकर सब लोगों की सहानुभूति खो बैठी। फिर, भारतेंदु अस्त होने पर, जब इसने एक दिन भी अपना कालम काला नहीं किया, एक अक्षर भी नहीं लिखा, तब सबकी आँखों में घृणास्पद होकर, उसी साल, अपना मुँह काला कर, इस संसार से कूच कर गई।

(३) सं० १६३० में इन्होंने 'हरिश्चंद्र-मैगज़ीन' निकाली। यह आठ मास चलकर 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। सं० १६३६ में भारतेंदुजी ने इसे मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या को दे दिया। उनके प्रबंध में थोड़े ही समय के बाद चंद्रिका अस्त हो गई। सं० १६४० में भारतेंदुजी ने 'नवोदिता' के नाम से इसे फिर निकाला; परंतु तीन ही मास प्रकाशित होकर यह सदैव के लिये अदृश्य हो गई।

(४) सं० १६३० में इन्होंने स्त्रियों के उपकारार्थ, गवर्नमेंट की इच्छानुसार, 'बालाबोधिनी' नाम की पत्रिका निकाली; परंतु वह भी चार ही वर्ष चली।

(५) सं० १९२७ में इनके द्वारा कवितावर्द्धिनी-सभा स्थापित हुई। इसमें प्रसिद्ध कवि सरदार, सेवक, बाबा दीनदयाल गिरि, नारायण कवि, द्विज कवि (मन्नालाल) इत्यादि उपस्थित होते थे। भारतेंदु स्वयं पुस्तक-रचना करते थे, तथा पुरस्कार एवं प्रशंसा-पत्र देकर और-और लेखकों को भी इस काम के वास्ते उत्साहित करते थे। इसी सभा से पंडित अंबिकादत्त व्यास, द्विज बलदेव इत्यादि को प्रशंसा-पत्र मिले थे।

(६) सं० १९३० में इन्हीं महाशय ने 'तदीय समाज' स्थापित किया। इसमें सभ्यों से कई नियम पालन करने को प्रतिज्ञा-पत्र लिखाया जाता था। इन नियमों में हिंसा-निषेध और स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार भी था। इस समाज से 'भगवद्भक्ति' नाम की मासिक पत्रिका भी निकलती थी, जो कुछ दिन चलकर बंद हो गई। यह समाज इनको बहुत प्रिय था।

(७) इसी संवत् में इन्होंने 'पेनीरीडिंग-क्लब' क़ायम किया। उसमें सुलेखकों के लिखे हुए अच्छे-अच्छे लेख भी पढ़े जाते थे। एक बार बाबू साहब उसमें श्रांत पथिक का वेष बनाकर गए, और गठरी पटक, पैर फैलाकर, इस ढंग से बैठे कि दर्शकगण अत्यंत ही प्रसन्न हुए। इसी में एक बार थिएटर का स्टेज बनाकर यह चूसा पैग़ंबर बने थे। सैकड़ों गज़ काग़ज़ जोड़कर जन्मपत्री की भाँति लपेटे हुए आप हाथ में लिए थे, जिसे खोलते और अपने उपदेश पढ़ते जाते थे। इस पाँचवें पैग़ंबर के उपदेशोंवाला लेख हास्य-रस में व्यंग्य से सच्चे उपदेश का अच्छा नमूना है।

(८) सं० १९३१ में इनके द्वारा वैश्यहितैषिणी-सभा स्थापित हुई। अपनी स्थापित सभाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सभाओं और देशहितैषी कार्यों में भी यह सहायक रहते थे।

(९) सं० १९२९ में इन्होंने श्रीनिबार्क, श्रीरामानुज, श्रीमध्व

और श्रीविष्णुस्वामी-नामक वैष्णवों के चार संप्रदायों में प्रविष्ट, प्रवीण और पारंगत नाम की तीन परीक्षाएँ नियत कीं। इनमें परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों को यह पारितोषिक भी देते थे।

(१०) इन्होंने सामाजिक सुधार पर भी पूरा ध्यान दिया, और अपनी पुत्री के विवाह में अश्लील गीतों का गाना बंद कर दिया। इस विषय में इनकी कविता में स्थान-स्थान पर बहुत कुछ पाया जाता है।

इनकी जीवनयात्रा की प्रायः सभी बातों का निचोड़ ज़िंदादिली है, और वह इनके सभी कार्यों से प्रकट होती है। यह शतरंज अच्छी खेलते थे, गाने-बजाने का शौक़ रखते थे, और ख़ुद भी कई बाजे बजाते थे। कबूतर उड़ाने का व्यसन था। ताश भी खेलते थे। हुकुम, चिड़िया, ईंट और पान के स्थान पर इन्होंने शंख, चक्र, गदा और पद्म रक्खे थे। इसी प्रकार बीबी, बादशाह की जगह देवी, देवतों के रूप रक्खे थे। बुढ़वामंगल के मेले में आप बड़ा उत्सव करते थे। उदारता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कवियों, पंडितों को हज़ारों रुपए दान कर देते थे। जिसने इनकी कोई चीज़ पसंद की, वह तुरंत उसकी नज़र हुई। दीपमालिका को इतर के चिराग़ जलाते थे, और देह में लगाने के वास्ते तो सदैव तेल के स्थान पर इतर ही बर्ता जाता था। सारांश यह कि रुपए को पानी की तरह बहाते थे इनकी यह दशा सुनकर महाराज काशी-नरेश ने एक दिन इनसे कहा कि "बबुआ, घर को देखकर काम करो।" इसपर इन्होंने तुरंत उत्तर दिया "हुज़ूर! यह धन मेरे बहुत-से बुज़ुर्गों को खा गया है; अब मैं इसको खा डालूँगा।" सं० १९२७ में यह अपने छोटे भाई से अलग हुए थे, और थोड़े ही वर्षों में इन्होंने अपने हिस्से की समस्त पैतृक संपत्ति उड़ा डाली। अपने ननिहाल की कई लाख

रुपए की संपत्ति के यह और इनके छोटे भाई उत्तराधिकारी थे। इनकी उड़ाऊ दशा देखकर इनकी नानी ने कुल संपत्ति का हिबानामा इनके अनुज के नाम लिख दिया। परंतु बिना इनकी रज़ामंदी के वह क़ानून के अनुसार ठीक न था। अपनी नानी के कहने पर इन्होंने तुरंत उस पर हस्ताक्षर कर दिए, और इस प्रकार अपने भाग के दो-ढाई लाख रुपए छोड़ देने में कुछ भी आगा-पीछा नहीं किया। यह काम इन्हीं का-सा दरियादिल आदमी कर सकता था।

इनमें हास्य की मात्रा इतनी थी कि होली में लकड़ी का बड़ा मोटा कुंदा कमर में बाँध कर कबीर गाते गलियों में निकलते थे। पहली एप्रिल को अँगरेज़ी सभ्यता के अनुसार मनुष्य दिल्लगी के लिये कोई भी झूठ बोल सकता है। भारतेंदु उस दिन कुछ-न-कुछ अवश्य करते थे। एक बार आपने नोटिस दिया कि महाराज बिजयानगरम् की कोठी में एक योरप के विद्वान् सूर्य और चंद्रमा को पृथ्वी पर उतारेंगे। हज़ारों मनुष्य वहाँ एकत्र हुए; परंतु कुछ न देख कर लज्जित हो लौट गए। एक बार प्रकाशित कर दिया कि एक बड़े प्रसिद्ध गायक हरिश्चंद्र-स्कूल में मुफ़्त गाना सुनावेंगे। जब हज़ारों आदमी एकत्र हुए, तब परदा खुला और एक मनुष्य विदूषक के वस्त्र पहने, उलटा तानपूरा लिए, घोर खर-स्वर करने लगा। यह देख लोग हँसते हुए शरमा कर घर लौट गए। एक बार इन्होंने एक मित्र से नोटिस दिला दिया कि एक मेम रामनगर के पास खड़ाऊँ पर सवार हो कर गंगाजी को पार करेगी, और खड़ाऊँ न डूबेगी। हज़ारों लोग एकत्र हुए; परंतु न कहीं मेम, न खड़ाऊँ। पीछे सब समझे कि यह भी मज़ाक़ था। भारतेंदु ने सुंदर कपड़े, खिलौने, फ़ोटो एवं अपूर्व पदार्थों का संग्रह सदैव किया। इनको तसवीरों का संग्रह अद्भुत है

प्रिय था, और इन्होंने बड़ा परिश्रम करके बहुत-से बादशाहों एवं अन्य महाशयों की तसवीरें एकत्र की थीं ; परंतु एक हज़रत ने आकर उनकी बड़ी प्रशंसा की, और इन्हें अपनी आदत से विवश होकर वह संग्रह उन्हें दे डालना पड़ा। इसी दान के पीछे लोगों ने इन्हें पछताते देखा। फिर इन्होंने ५००) तक व्यय करके वह संग्रह उन हज़रत से मँगाना चाहा; परंतु उन्होंने न दिया। इनके साथ के बैठनेवाले हमारे बनारसी मित्र स्वर्गीय बाबू ठाकुरप्रसाद खत्री हमसे कहते थे कि इनके साथ बैठने में लोगों का जी इतना प्रसन्न रहता था कि कभी चित्त ऊबता ही न था। चाहे जितना शोक क्यों न हो, परंतु इनके पास पहुँचे कि चित्त प्रफुल्लित हो गया।

सुनते हैं, सब अच्छे पदार्थों के शौक़ के साथ इन्हें मद्य की भी लत पड़ गई थी ; परंतु, फिर भी, अपने काव्य में इन्होंने मदिरा की बड़ी निंदा की है। मल्लिका नाम की एक बंगालिन से भी इनका लगाव हो गया था, और इन्होंने उसे घर बिठा लिया था। इनके सब गुणों में माधवी और मल्लिका-विषयक कलंक बिलकुल छिप जाते हैं। महाकवि कालिदास के मतानुसार "एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः"। यह भारतेंदु थे भी, सो इनमें कुछ कलंक का भी होना स्वाभाविक ही था। अतः लोगों को उस पर दृष्टि भी न डालनी चाहिए। अपने स्वभाव का इन्होंने स्वयं बड़ा ही बढ़िया एवं यथार्थ वर्णन किया है। यथा—

"सेवक गुनी जन के, चाकर चतुर के हैं,
कबिन के मीत, चित हित गुन गानी के ;
सधिन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
'हरीचंद' नगदद्मद अभिमानी के।

चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह नेही,
　　नेह के दिवाने सदा सूरत निमानी के ;
सरबस रसिक के, दास-दास प्रेमिन के,
　　सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के।

मेवाड़-यात्रा में इन्हें भय हुआ कि इनका अंतकाल निकट आ गया। उस समय इन्होंने अपने अनुज से पत्र द्वारा अपनी स्त्री को प्रसन्न रखने तथा मल्लिका की भी लाज रखने का आग्रह किया। इनका सम्मान साधारण जनसमाज एवं राजों-महाराजों में बहुत अधिक था। और, होता क्यों न? ऐसे पुरुषरत्न इस स्वार्थी संसार में कहाँ देख पड़ते हैं? और सब बातें छोड़कर हम इनके सम्मान के विषय में केवल एक बात यहाँ लिखते हैं। संवत् १६३७ में पंडित रामशंकरव्यास ने 'सारसुधानिधि'-नामक पत्र में इन्हें 'भारतेंदु' की पदवी से विभूषित करने का प्रस्ताव छपवाया। उसी समय समस्त पत्रों एवं सब मनुष्यों ने मुक्तकंठ से इन्हें भारतेंदु कहना शुरू कर दिया, और तभी से इन्हें यह उपाधि मिली। हिंदी, हिंदू और हिंद के प्रचंड दुर्भाग्य से संवत् १६४० में यह महाशय क्षय-रोग से पीड़ित हुए, और सब कुछ दवा होने पर भी ६ जनवरी, संवत् १६४१ को पौने दस बजे, रात के समय, यह भारत का चंद्र संसार को रोता छोड़ अस्त हो गया।

इन महाकवि ने केवल ३५ वर्ष इस संसार को सुशोभित किया, और प्रायः १८ वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ की। पहले यह केवल गद्य लिखते थे, पीछे से पद्य भी लिखने लगे। इस १७ वर्ष के अल्प काल में इन्होंने १७५ ग्रंथ बनाए। ७५ ग्रंथ इनके द्वारा संपादित, संगृहीत या उत्साह देकर बनवाए हुए और भी वर्तमान हैं। यों तो इन्होंने पाँच वर्ष की आयु में ही एक दोहा

बनाया था, परंतु १६ या १७ वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ कर दी थी। इन्होंने अपनी समस्त रचनाओं के प्रकाशित करने का स्वत्व बाबू रामदीनसिंह, अध्यक्ष खड्गविलासप्रेस, को दे दिया था, जिन्होंने इनके मुख्य-मुख्य ग्रंथों को "हरिश्चंद्रकला" के नाम से, छः भागों में, प्रकाशित किया। इसमें इन्होंने काग़ज़ या छापा साधारणतः अच्छा लगाया। परंतु इनको भारतेंदुजी की कविता को सर्व-साधारण में प्रचार करने का उतना ध्यान नहीं था, जितना कि उससे स्वयं लाभ उठाने का। इस कारण इन्होंने 'कला' का मूल्य इतना अधिक रक्खा था कि उसको साधारण कविता-प्रेमी नहीं ख़रीद सकते थे। पर अब कला ठीक दामों पर मिलने लगी है।

प्रथम भाग (नाटकावली)

(१) "नाटक"-नामक ४६ पृष्ठों के लेख में इन्होंने नाटक के लक्षण, नाटक बनाने की रीति तथा नाटक का इतिहास लिखा है। इनके अतिरिक्त और बहुत-सी जानने योग्य बातें नाटक के विषय में वर्णित हैं, जो पढ़ने योग्य हैं। इसकी रचना संवत् १९४० में हुई।

(२) "सत्यहरिश्चंद्र" नाटक संवत् १९३२ में बना। यह आर्यक्षेमेश्वर-कृत "चंडकौशिक" के आशय पर बनाया गया है; परंतु उसका अनुवाद नहीं है। यह एक स्वतंत्र ग्रंथ है, और भारतेंदु की उत्कृष्ट रचनाओं में इसकी गणना है। इसमें महाराज हरिश्चंद्र की सत्य-परीक्षा का वर्णन है। राजों के यहाँ पूर्वकाल में जिस प्रकार ऋषियों का आदर होता था, वह इसमें पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। महारानी शैव्या के स्वप्न में आनेवाली विपत्ति का दिग्दर्शन करा दिया गया है। राजा हरिश्चंद्र की सत्यप्रियता इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वप्न में भी पृथ्वी का दान देने पर दानपात्र

के न मिलने से वह विकल थे, और सोचते थे कि इसका क्या प्रबंध करूँ? विश्वामित्र और हरिश्चंद्र की बातचीत से यह साफ़ प्रकट होता है कि विश्वामित्र को पृथ्वी का लेना अभीष्ट नहीं था; वह किसी उपाय से राजा को सत्य-भ्रष्ट करना चाहते थे। ऐसे समय हरिश्चंद्र के मुख से यह वाक्य कहलाना बहुत ही योग्य और स्वाभाविक था—

"चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत-ब्यौहार;
पै दृढ़ श्रीहरिचंद को टरै न सत्य-बिचार।
बेंचि देह-दारा-सुवन होय दास हू मंद;
रखिहैं निज वच सत्य करि अभिमानी हरिचंद।"

इस ग्रंथ में कवि ने विश्वामित्र का तक़ाज़ा, गंगा-वर्णन, हरिश्चंद्र का स्त्री और अपने को बेचना, श्मशान-वर्णन और रोहिताश्व के मरने पर शैव्या और हरिश्चंद्र का विलाप आदि स्थल बहुत ही उत्कृष्ट कहे हैं। इस ग्रंथ से भारतेंदु की कवित्व-शक्ति का पूरा परिचय मिलता है। इस नाटक का अभिनय भारतेंदु के सामने, बलिया में, संवत् १६४० में, हुआ। इसमें ८२ पृष्ठ हैं।

(३) "मुद्राराक्षस" विशाखदत्त-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद इतना बढ़िया हुआ है कि किसी स्वतंत्र ग्रंथ से कम आनंददायक नहीं है। ग्रंथ १०६ पृष्ठों का है। इसमें चंद्रगुप्त को राज्य देने और राक्षस को उनका मंत्री कर देने के कारण चाणक्य और राक्षस मंत्री में ख़ूब ही नीति की चोटें चली हैं। अंत में चाणक्य से हारकर राक्षस को चंद्रगुप्त का मंत्री बनना ही पड़ा। नीति का जटिल विषय होने पर भी इसकी भाषा ऐसी मीठी है कि इसके पाठ करने में बड़ा ही आनंद आता है।

(४) "धनंजय-विजय" कांचन-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। इसमें गद्य का गद्य और पद्य का पद्य अनुवाद हुआ है।

यह भी स्वतंत्र ग्रंथ की भाँति मनोहर है। यह १६ पृष्ठों का है। संवत् १९३० में बना।

(५) "कर्पूरमंजरी" को राजशेखर कवि ने प्राकृत में बनाया था। उसी का यह ३२ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १९३२ में बना। इसमें एक प्रेम-कहानी कही गई है। हास्य का भाग विशेष है।

(६) "चंद्रावली-नाटिका" ख़ास इन्हीं की बनाई है। इसमें किसी ग्रंथ का अनुवाद या छाया नहीं है। यह ४५ पृष्ठों की है, और इसकी रचना संवत् १९३३ में हुई। इसका समर्पण बहुत ही अच्छा है—

"भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।"

यह दोहा इनको बहुत ही पसंद था, और इनकी बहुत-सी रचनाओं में वंदना के स्थान पर लिखा गया है। इस पुस्तक में भी यह वंदना में दिया गया है। इस नाटिका में चंद्रावली का प्रेम वर्णित है, और ग्रंथ आद्योपांत प्रेमालाप से परिपूर्ण है। ऐसा प्रेम से छलकता हुआ कोई दूसरा ग्रंथ हमने नहीं देखा। इस ग्रंथ में सिवा प्रेम के दूसरा वर्णन नहीं है। इसको सर्वसाधारण ने इतना पसंद किया कि एक महाशय ने ब्रजभाषा में और द्वितीय ने संस्कृत में इसका अनुवाद किया। इस ग्रंथ में शुकदेवजी, नारद, चंद्रावली के प्रेम छिपाने, प्रेमोन्मत्तता, यमुना और योगिनी के वर्णन बड़े ही हृदयग्राही हैं। महात्मा सूरदास और देव के अतिरिक्त हमारा कोई भी कवि प्रेम का ऐसा उत्तम वर्णन करने में समर्थ नहीं हुआ। नाटकों में यह और सत्यहरिश्चंद्र भारतेंदु को बहुत पसंद थे। वास्तव में ये दोनों ग्रंथ इनकी रचना और भाषा-साहित्य के शृंगार हैं। इन ग्रंथों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस ग्रंथ से विदित होता है कि यह महाशय

गद्य में भी शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग कर सकते थे। स्टेज पर खेलने में यह नाटक तादृश मनोरंजक नहीं होगा; क्योंकि इसमें विषय-परिवर्तन बहुत कम है, और स्टेज के योग्य कई अन्य बातों का भी अभाव है।

(७) "विद्यासुंदर" की कथा का वर्णन चौर कवि ने संस्कृत की चौर-पंचाशिका में किया था। उसके आधार पर श्रीयुत यतींद्र-मोहन ठाकुर ने बँगला में विद्यासुंदर-नामक नाटक बनाया। उसी ग्रंथ का अनुवाद भारतेंदु ने किया। यह ग्रंथ संवत् १९२५ में, केवल १८ वर्ष की अवस्था में, इन्होंने बनाया; परंतु फिर भी इसकी भाषा ऐसी मधुर है, और इसमें ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छंद हैं कि उनकी प्रशंसा किए विना रहा नहीं जाता। उदाहरणार्थ इस ग्रंथ का एक छंद नीचे दिया जाता है—

"हमहूँ सब जानतीं लोक की चालन, क्यों इतनो बतरावती हौ;
हित जामैं हमारो बनै सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हौ।
'हरिचंदजू' यामें न लाभ कछू, हमैं बातन क्यों बहरावती हौ?
सजनी, मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौन को का समुझावती हौ?"

(८) "भारत-जननी"-नाटक किसी अन्य कवि ने भारत-माता-नामक बँगला-नाटक से अनुवादित किया था। इसको भारतेंदु ने शोधकर प्रकाशित किया। इसमें भारत-संतानों की वर्तमान दुर्दशा का और गौण रूप से भूत गौरव का वर्णन है। इसमें स्वदेश-भक्ति-पूर्ण एक होली भी बड़ी मनोहर कही गई है। ग्रंथ १२ पृष्ठों में समाप्त हुआ है, और प्रशंसनीय है।

(९) "भारत-दुर्दशा" इनका स्वतंत्र नाटक है, जो सं० १९३७ में लिखा गया। इसमें बड़ा ही उग्र एवं हृदयग्राही वर्णन है। भारत की वर्तमान दुरवस्था एवं उसके कारणों का बहुत ही सजीव चित्र खींचा गया है। इसमें इन्होंने फूट, बैर, कलह, सुस्ती, संतोष,

ख़ुशामद, कायरता, बहु धर्म, छुआछूत, शराब, पुराणों के वाक्य, जाति, ऊँच-नीच, विवाहों में जन्मपत्री का मिलाना, बहु विवाह, बाल-विवाह, अपव्यय, अदालत, फ़ैशन, सिफ़ारिश, उपाधि, विधवा-विवाह न करना, विलायत-गमन की रोक, बहुत देवी, देवता, भूतों और प्रेतों का पूजन इत्यादि बातों की निंदा की है, और यह व्यक्त किया है कि भारतवर्ष में टिकस, क्षुधा-पीड़ा, अकाल, महँगी, रोग आदि जो विपत्तियाँ हैं, और हिंदुस्तानी जो काफ़िर, काले, नीच पुकारे जाते हैं, ये सब बातें उपर्युक्त अवगुणों ही के कारण हैं। भारत-दुर्दैव और सत्यानाश फ़ौजदार की बात-चीत में पहले भारत की वर्तमान दशा का वर्णन है, तदनंतर क्रमशः रोग, आलस्य, मदिरा, और अंधकार का प्रवेश हुआ है। इसके पीछे छः हिंदुस्तानी सभ्यों की एक सभा का वर्णन है, जिसमें एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक संपादक, एक कवि और दो देशी भद्र-पुरुष विद्यमान थे। सभा में सब सभ्यों के व्याख्यान हुए हैं, और कवि ने जिस देश के लोग जैसी हिंदी बोलते हैं, तथा जिस देश के जैसे विचार हैं, उनका ठीक उसी प्रकार से वर्णन किया है। इसमें युक्त-प्रदेशीय सभ्यों का बोदापन और कवि की अकर्मण्यता अच्छी दिखलाई गई है। इस ग्रंथ में तुलसीदास की चौपाइयाँ बहुत ही मज़ाक़ के साथ लिखी गई हैं। प्रायः सभी स्थानों पर हास्य-मिश्रित वर्णन किया गया है; परंतु, फिर भी, उस हास्य में गूढ़ आशय छिपे हुए हैं। इस ग्रंथ से भारतेंदु का अपार देश-प्रेम तथा उत्कृष्ट और ज़ोरदार कविता करने की शक्ति पूर्णरूप से प्रकट होती है। यह २२ पृष्ठों का एक बड़ा ही अनोखा ग्रंथ है।

(१०) ''नीलदेवी'' एक काल्पनिक नाटक है। इसमें अमीर अब्दुलशरीफ़ख़ाँ का महाराजा सूर्यदेव पर धावा करने का वर्णन है। अमीर की ओर सब बात-चीत शुद्ध उर्दू में वर्णित है। यह

२० पृष्ठों का अपूर्व ग्रंथ संवत् १९३७ में बना। इसमें प्रत्येक वर्णन आद्योपांत बहुत ही अच्छा है। देववाक्य सुनकर रोएँ खड़े हो जाते हैं। पागल का पार्ट बड़ा ही अनोखा है। कवि ने मानो सच्चा पागल लाकर दिखला दिया है। इसमें क्षत्रियों के युद्धोत्साह में कवि ने वीर-रस का चित्र सामने खड़ा कर दिया, और उद्दंडता की हद कर दी है। यह नाटक बलिया में भारतेंदु के सम्मुख खेला भी गया था। इस ग्रंथ से इनका उत्कट स्वदेश-स्नेह देख पड़ता है, और यह भी प्रकट होता है कि यह वीर-कविता भी परम मनोहर कर सकते थे।

(११) "माधुरी" सं० १९४० में बनी। बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है कि यह किसी अन्य कवि का बनाया हुआ ग्रंथ है। इसमें वृंदावन का वर्णन है, और केवल ८ पृष्ठों में प्रेम कहा गया है।

(१२) "पाखंडविडंबन" संवत् १९२९ में बनाया गया था। यह प्रबोधचंद्रोदय के तृतीय अंक का अच्छा अनुवाद है। इसमें ११ पृष्ठ हैं।

(१३) "अंधेर-नगरी" संवत् १९३८ में बनी। यह १४ पृष्ठों का प्रहसन एक ही दिन में बना था। इसमें सौदा बेचनेवालों की आवाज़ों का एवं मुक़द्दमे का वर्णन अच्छा है।

(१४) "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" २० पृष्ठों का छोटा-सा प्रहसन संवत् १९३० में बना। इसमें मांस खानेवालों और मद्यपों की बहुत निंदा है। कवि ने इसमें ब्राह्मणों की भी निंदा की है। इसमें शास्त्रार्थ एवं उन्मत्तता के वर्णन बहुत उत्कृष्ट हैं। इस ग्रंथ में हास्य-रस का अच्छा कौतूहल है।

(१५) "विषस्य विषमौषधम्" में एक महाराजा के सिंहासन-च्युत होने का इतिहास हास्यमय वर्णन में कहा गया है, और

परस्त्रीगमन की निंदा है। यह प्रायः गद्य ही में लिखा गया है। यह ९ पृष्ठों का ग्रंथ संवत् १९३३ में बनाया गया। इनके कई अन्य ग्रंथों की भाँति यह भी मनोहर है।

(१६) "दुर्लभ बंधु" शेक्सपियर-कृत "मर्चेंट ऑफ़ वेनिस" का अनुवाद है। इसमें ८४ पृष्ठ हैं। यह संवत् १९३१ में बना। यह भी एक परमोत्कृष्ट अनुवाद है, और अँगरेज़ी से अनुवादित होने पर भी इसमें भाव बिगड़ने नहीं पाए हैं।

(१७) "सतीप्रताप" एक अपूर्ण नाटक था, जिसे बाबू राधा-कृष्णदास ने पूर्ण किया। इसमें २८ पृष्ठ हैं, और इसका भारतेंदु-कृत भाग संवत् १९४० में बना। इसमें पतिव्रता-शिरोमणि सावित्री का वर्णन है। पातिव्रत्य का अच्छा चित्र तथा उसका अच्छा फल दिखाया गया है। बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूर्ण भी अच्छा किया है। इसका रूप बिगड़ने नहीं पाया।

(१८) "रत्नावली" में केवल ४ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १९२५ में हुआ था और फिर यह अपूर्ण रह गया।

(१९) "प्रेमयोगिनी" एक बड़ा ही विशद ग्रंथ बन रहा था; परंतु दुर्भाग्यवश वह अपूर्ण ही रह गया। इसका केवल प्रथम अंक बना है, जिसमें २६ पृष्ठ हैं। इस नाटक में भारतेंदु अपने विषय में बहुत कुछ लिख रहे थे। इसके नायक रामचंद्र स्वयं वही हैं। समस्त ग्रंथ बहुत बड़ा होता, और इसमें उनके चित्त की वृत्तियाँ बहुत कुछ जान पड़तीं; परंतु शोक है कि यह अमूल्य ग्रंथ अपूर्ण रह गया। इसमें बनारसी, महुला की, मारवारी और गुजराती भाषाओं में कविता की गई है। इसमें रोज़ की बोलचाल तथा साधारण घटनाओं का कथन है, और इस कारण बड़ा ही स्वाभाविक एवं प्राकृतिक वर्णन है। यद्यपि यह महाशय वल्लभीय संप्रदाय के थे, तथापि इन्होंने गोस्वामियों के निकृष्ट आचरणों

की यह कहकर निंदा कराई है कि "भाई ! मारौ लूटैं, मेहररुवौ लूटैं।" इसमें काशी की निंदा और स्तुति बड़ी बढ़िया कही गई है। इसी भाँति मिसिर, झपटिया और कहार की बातचीत एवं झूरीसिंह और दूकानदारों का मज़ाक़ बहुत अच्छा है। यह ग्रंथ बहुत ही अनोखा और प्राकृतिक है। इसकी कविता बहुत ही मनोहर एवं औवल दर्जे की है। यह ग्रंथ संवत् १९३२ में बना; परंतु न-जाने क्यों अपूर्ण रह गया।

द्वितीय भाग (इतिहास-समुच्चय)

नाटकों के अतिरिक्त भारतेंदु में इतिहास-प्रेम भी बहुत था। हमारे अन्य सत्कवियों में से किसी ने इतिहास-विषयक इतने ग्रंथ भी नहीं लिखे।

(१) "काश्मीर-कुसुम" की भूमिका में भारतेंदु ने इतिहास का अभाव, राजतरंगिणी का चार भागों में बनना, उसकी समालोचना, हर्षदेव का कथन और काश्मीर के वर्तमान राजघराने का वर्णन किया है। कुसुम में इन्होंने एक चक्र दिया है, जिसमें राजसंख्या, नाम, गत कलि-समय, डायर के मत से समय, कनिंघम के मत से समय, विल्सन के मत से समय, राज्यकाल और विशेष वर्णन सूक्ष्मतया कहे गए हैं। इसमें बड़ा परिश्रम किया गया है, और इनके ऐतिहासिक ग्रंथों में यह इन्हें सबसे अधिक पसंद था। इसमें ३५ पृष्ठ हैं।

(२) "महाराष्ट्र देश का इतिहास" केवल ६ पृष्ठों में है। उसमें कोई नई बात नहीं है।

(३) रामायण के समय में बहुत-सी ऐसी बातों का कथन है, जो उस समय थीं; परंतु भ्रमवश कुछ लोग उन्हें आधुनिक समझने लगे हैं। वे बातें निम्न-लिखित हैं—भुशुंडी, जैन भिक्षुक, कौशल्या का घोड़ा काटना, कृष्ण का ईश्वरत्व, मुनियों का मांस

न खाना, गोलोक का वर्णन, सड़क का होना, मूर्तियों का वर्णन, क़ाग़ज़ पर लिखा जाना, जल-सेना, चार्वाक और बुद्ध के वर्णन, पुराणों का वर्णन, मनुस्मृति के श्लोकों का होना, इस बात का ज्ञान कि चंद्र सूर्य के प्रकाश से चमकता है, गुलाबपाश, संस्कृत का बोला जाना, राम से ब्रह्मा का यह कहना कि वह कृष्ण हैं। इस ग्रंथ में १० पृष्ठ हैं।

(४) "अगरवालों की उत्पत्ति" ७ पृष्ठों में।

(५) "खत्रियों की उत्पत्ति" १४ पृष्ठों में।

(६) "बादशाहदर्पण" में दिल्ली के बादशाहों का हाल है। इसमें भी चक्र द्वारा ही वृत्तांत सूक्ष्म रूप से वर्णित है। तदनंतर उनका अल्प वृत्तांत कहा गया है। कुल २२ पृष्ठ हैं।

(७) "उदयपुरोदय" में २७ पृष्ठों द्वारा बाप्पा रावल के समय तक का इतिहास लिखा गया है।

(८) "पुरावृत्तसंग्रह" में ४६ पृष्ठों द्वारा स्फुट ऐतिहासिक विषय एवं दान-पत्रादि का वर्णन है।

(९) "चरितावली" में ६० पृष्ठ हैं। इसमें इन महाशयों के चरित्र लिखे हैं—विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकर, पुष्पदंताचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुक़रात, नेपोलियन, महाराजा जंगबहादुर, द्वारकानाथ मित्र, श्रीराजाराम शास्त्री, लार्ड मेओ, लार्ड लारेंस और तृतीय सिकंदर ज़ार। कई महापुरुषों की कुंडलियाँ भी इस ग्रंथ में दी हुई हैं। इन कुंडलियों में रावण की भी कुंडली है।

(१०) "पंच पवित्रात्मा" में मुहम्मद, अली, बीबी फ़ातिमा, इमामहसन, और इमामहुसैन के जीवन-चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रंथ २२ पृष्ठों में है।

(११) "दिल्ली-दरबार-दर्पण" में संवत् १९३३ के दिल्ली-दरबार का मनोहर वर्णन, २५ पृष्ठों में, किया गया है।

(१२) "कालचक्र" में २० पृष्ठों द्वारा संसार की बड़ी-बड़ी घटनाओं का समय-निरूपण किया गया है।

भारतेंदु के ऐतिहासिक विषयों से विदित होगा कि इन्होंने अच्छे-अच्छे विषयों को वर्णनार्थ चुना। और, चुनते क्यों न? इतने बड़े लेखक और कवि होकर यह महाशय अपना समय कैसे अनुचित विषयों पर खोते? इन्होंने इतिहासों का लंबा-चौड़ा वर्णन कभी नहीं दिया, और थोड़े ही स्थान में बहुत कुछ कह देने का सदैव प्रयत्न किया।

तृतीय भाग (राजभक्ति-सूचक काव्य)

इस भाग में अन्य महाशयों की बनाई हुई कविता भी बहुतायत से सम्मिलित है; परंतु वह सब इन्हीं के प्रोत्साहन से बनी थी।

(१) "विजयिनीविजयवैजयंती" में ८ पृष्ठों द्वारा ईजिप्ट-विजय पर हर्ष प्रकट किया गया है। इस युद्ध में हिंदुस्तानी सैनिकों ने युद्ध किया था, इसी कारण इन स्वदेश-भक्त जातीय कवि को बड़ा हर्ष हुआ।

(२) "भारतवीरत्व" में ४ पृष्ठों द्वारा अफ़ग़ान-समर का वर्णन है।

(३) "भारतभिक्षा" में ७ पृष्ठ हैं, और उसमें तत्कालीन युवराज (मृत) सप्तम एडवर्ड महाराज के आगमन पर हर्ष मनाया गया है।

(४) "विजयवल्लरी" में ३ पृष्ठों द्वारा क़ंधार-विजय का अच्छा वर्णन है।

(५) "मुँह-देखावनी" में ड्यूक ऑफ़् एडिनबरा का विवाह, २ पृष्ठों में, वर्णित है।

(६) "रिपनाष्टक" में लार्ड रिपन की, ८ छंदों में, स्तुति है।

(७) "राजकुमारस्वागत-पत्र" में राजकुमार के काशी पहुँचने का वर्णन है। इसमें छंद बड़े बढ़िया हैं। यह ३ पृष्ठों का है।

(८) "मनोमुकुलमाला" में, ९ पृष्ठों में, चित्र-काव्य द्वारा महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा की गई है। इसमें अँगरेज़ी, उर्दू और नागरी के अक्षरों में चित्र हैं।

(९) "मानसोपायन" ५१ पृष्ठों का एक बड़ा ग्रंथ है। परंतु इसमें अन्य लोगों की कविता विशेष है, भारतेंदु की रचना एक ही पृष्ठ है। इसमें गुजराती और हिंदी की कविता है।

(१०) "युवराज एडवर्ड" में उक्त युवराज के विषय में, १६ पृष्ठों में, उर्दू-कविता है।

(११) "युवराज एडवर्ड" की प्रशंसा में यह ५२ पृष्ठों का ग्रंथ है। परंतु इसमें बँगला, तामिल, तेलगू आदि की कविता है, जिसमें बँगला का एक पृष्ठ इनका है।

(१२) "सुमनोंजलि" में ड्यूक ऑफ़ एडिनबरा की प्रशंसा है। इसमें २ पृष्ठ भारतेंदु के हैं।

(१३) "जातीयसंगीत" युवराज के पीड़ित होने पर बना था। इसमें एक पृष्ठ इनका है।

इस भाग का काव्य या तो शिथिल या साधारण है। इसमें उत्तम कविता बहुत थोड़ी है।

चतुर्थ भाग (भक्तसर्वस्व)

इसमें भक्ति-रस की कविता है। यह वैष्णवों के आनंदार्थ बना। इस भाग की भी कविता साधारण है।

(१) "चरणचिह्न" २६ पृष्ठों का ग्रंथ है। यह दोहे और छप्पय-छंदों में लिखा गया है। इसमें देवतों और भक्तों के चरण-चिह्नों का वर्णन है।

(२) "वैष्णवसर्वस्व" १५ पृष्ठों का एक गद्य-ग्रंथ है। इसमें

वैष्णवों के विष्णुस्वामी, माध्व, चैतन्य, रामानुज और निंबादित्य नाम के पाँच संप्रदायों का वर्णन है।

(३) "वल्लभीयसर्वस्व" भी गद्य का ग्रंथ है। इसमें, १२ पृष्ठों द्वारा, इसी संप्रदाय का वर्णन किया गया है।

(४) "युगलसर्वस्व" में, गद्य-पद्य द्वारा, २४ पृष्ठों में, श्रीकृष्णचंद्र, नंद, यशोदा, उनके कुटुंब और सखी-सहचरी आदि का वर्णन है।

(५) "तदीय सर्वस्व" में नारद के ८४ भक्ति-सूत्रों पर, गद्य में, भाष्य किया गया है। यह २६ पृष्ठों का है। भाष्य अच्छा हुआ है।

(६) "भक्तिसूत्रवैजयंती" में शांडिल्य के १०० सूत्रों पर, २४ पृष्ठों में, गद्य-भाष्य किया गया है।

(७) "सर्वोत्तम स्तोत्र" (भाषा) में, ५ पृष्ठों में, २७ पद्य कहे गए हैं। इनमें स्तुति का विषय है।

(८) "भक्तमाल उत्तरार्द्ध" में नाभादास के पीछे के भक्तों का वर्णन है। इसमें कविता बिलकुल नाभादास की-सी और उसी रीति पर की गई है। यदि इसको नाभादास के ग्रंथ में मिला दें, तो अंतर जानना कठिन हो जायगा। इसमें ३६ पृष्ठ हैं, और छप्पय-छंद विशेष हैं।

(९) उत्सवावली में साल-भर के उत्सव, पूजाएँ और उनके सामान का वर्णन है। इसमें ८ पृष्ठ हैं।

(१०) "वैष्णवता और भारतवर्ष" गद्य का एक बहुत ही उपयोगी, ११ पृष्ठों का, ग्रंथ है। इसमें भारतवर्ष पर वैष्णवता का प्रभाव कहा गया है।

(११) "पुराणोपक्रमणिका" भी, गद्य में, ३० पृष्ठों का ग्रंथ है। इसमें अठारहों पुराणों का विषय वर्णित है।

(१२) "वैशाख-माहात्म्य" में, गद्य में, ८ पृष्ठ हैं।

(१३) "कार्त्तिककर्मविधि" में, पद्य में, ३० पृष्ठ हैं। इसमें संस्कृत के भी उदाहरण दिए गए हैं।

(१४) "कार्त्तिकनैमित्तिक-कृत्य" में, गद्य में, २८ पृष्ठ हैं।

(१५) "मार्गशीर्षमहिमा" में, गद्य-पद्य में, १४ पृष्ठ हैं।

(१६) द्वितीय "मार्गशीर्षमहिमा" में, गद्य-पद्य में, ६ पृष्ठ हैं।

(१७) "पुरुषोत्तममासविधान" में, गद्य-पद्य में, मलमास की महिमा, बृहन्नारदीय पुराण के मतानुसार, १२ पृष्ठों में, वर्णित है।

(१८) "कार्त्तिकस्नान" में, पद्य में, ६ पृष्ठ हैं। इनको कार्त्तिक-स्नान की बड़ी भक्ति थी, जैसा कि "प्रेमयोगिनी" से भी विदित होता है।

(१९) "गीतगोविंदानंद" में गीतगोविंद का भाषानुवाद अच्छा है। इसमें ४३ पृष्ठ हैं।

इस भाग में नंबर २, ३, ५, ६, ८, १०, ११, और १८ नंबर के पद्य उत्कृष्ट हैं।

पंचम भाग (काव्यामृतप्रवाह)

इस भाग में, इनके नाटकों के अतिरिक्त और भक्तिमार्ग को छोड़-कर, प्रेम-प्रधान पद्य-काव्य के ग्रंथ हैं। वे प्रशंसनीय भी हैं।

(१) "होली" ३४ पृष्ठों का ग्रंथ है। इसमें, ७९ पदों और छंदों द्वारा, होली का वर्णन किया है। कविता साधारण है।

(२) "मधुमुकुल" में होली, बसंत इत्यादि का वर्णन है। संस्कृत के भी कुछ श्लोक हैं। २८ पृष्ठों का ग्रंथ है। संवत् १९३० में बना। इसमें ८८ छंद हैं। इसकी भी कविता साधारण है।

(३) "प्रेमफुलवारी" में भक्ति और प्रेम-विषयक काव्य है। इसमें १४ पृष्ठ एवं ६३ छंद हैं। इसकी रचना अच्छी है।

(४) "फूलों का गुच्छा" संवत् १९३९ में बना। इसमें, १० पृष्ठों में, लावनी कही गई हैं। साधारण कविता है।

(५) "विनयप्रेमपचासा" में ५० ग़ज़लें, लावनियाँ और भजन हैं। इसी ग्रंथ में नए प्रकार की १३ 'मुकरी' भी कही गई हैं। कविता साधारण से कुछ अच्छी है।

(६) "प्रेमप्रलाप" में विनय, प्रेम आदि का वर्णन, ७० पदों में, किया गया है। इसमें २४ पृष्ठ हैं। काव्य प्रकृष्ट है।

(७) "देवीछद्मलीला" में ३७ पृष्ठ हैं। इसमें, १८ पदों में, राधा-कृष्ण का वर्णन है। प्रातःस्मरण-मंगल-पाठ में २६ पद्य हैं। भीष्मस्तवराज में १०, श्रीनाथस्तुति में ६, और अपवर्ग-पंचक में ५ पद हैं। श्रीसीतावल्लभस्तोत्र में संस्कृत के ३० श्लोक हैं। इसमें श्रीविट्ठलनाथ की भी स्तुति है। काव्य साधारण है।

(८) "प्रेमाश्रुवर्षण" में वर्षा और हिंडोले का वर्णन है। इसमें १६ पृष्ठ एवं ४६ छंद हैं। इसका भी काव्य साधारण है।

(९) "वर्षाविनोद" में हिंडोला, बारामासा, वर्षा आदि के वर्णन हैं। इसमें ४२ पृष्ठ एवं १३४ छंद हैं। रचना साधारण है।

(१०) "प्रेममाधुरी" में प्रेम-संबंधी कवित्त और सवैए हैं। इसमें १९ पृष्ठ एवं १२२ छंद हैं। कविता अच्छी है।

(११) "सतसईसिंगार" में विहारीलाल के दोहों पर ८५ कुंडलियाएँ कही गई हैं। इनकी कविता पं० अंबिकादत्त व्यास की कुंडलियाओं से अच्छी है। परंतु, हमारे मत में, विहारी के दोहों में उसी प्रकार की कुंडलियाएँ लगाना व्यर्थ श्रम है। विहारी एक बड़े ही बढ़िया कवि थे, और उन्होंने जीवन-भर में केवल ७०० दोहे लिखे। फिर प्रत्येक दोहे में उन्होंने मज़मून ख़तम कर दिया है। अतः हर जगह उसी विषय पर चार पद बढ़ा देने से वैसा ही चमत्कार आना सर्वथा असंभव है। यदि स्वयं विहारी अपने दोहों पर कुंडलियाएँ बनाते, तो उनकी भी वह रचना दोहों के समान विशद न होती; क्योंकि प्रत्येक दोहे में विषय बढ़ाने की गुंजाइश नहीं है।

फिर यदि कोई वैसा ही कवि अपने जीवन-भर कुंडलियाएँ रचने का प्रयत्न करे, तो शायद उसका श्रम कवि-समाज में आदरणीय गिना जाय। इसी कारण भारतेंदु ने इस श्रम को वृथा समझकर छोड़ दिया होगा। फिर भी उनके छंद अच्छे हैं।

(१२) "जैनकुतूहल" में ३६ पदों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि मत-मतांतरों का झगड़ा वृथा है; परमेश्वर केवल प्रेम से मिलता है। इसमें ५ पृष्ठ हैं। एक बार यह महाशय जैन-मंदिर में चले गए थे, जिस पर लोगों ने इनकी निंदा की थी। इसी कारण यह ग्रंथ बना।

(१३) "प्रेममालिका" में ६४ पद, ३७ पृष्ठों में, हैं। इसमें प्रेमवर्णन है। यह ग्रंथ बहुत बढ़िया है।

(१४) "वेणुगीत" ७ पृष्ठों का ग्रंथ है। इसमें केवल 'पद' हैं। इसकी कविता अच्छी है।

(१५) "प्रेमतरंग" में बँगला, पूर्वी बोली, ब्रज-भाषा और पंजाबी आदि भाषाओं में पद कहे गए हैं। उर्दू की कुछ ग़ज़लें भी हैं। इस ग्रंथ में ६४ पृष्ठ हैं। कविता अच्छी है। इसमें भी प्रेम-विषय का वर्णन है।

(१६) "रागसंग्रह" में ६० पृष्ठ एवं १५१ पद हैं। इसमें स्फुट राग कहे गए हैं। कविता साधारण है।

(१७) "प्रातःस्मरणस्तोत्र" में १८ पृष्ठ हैं, जिनमें स्तोत्र, स्वरूपचिंतन, अक्षय-तृतीया, प्रेमसरोवर, प्रबोधिनी और प्रातः समीरण पर कविता की गई है। कविता साधारण है।

(१८) "कृष्ण-चरित्र" में ३० पृष्ठ एवं ५१ पद हैं। इसमें कृष्णस्तव, ब्रजवर्णन आदि विषयों पर मनोहर काव्य है।

इस भाग का काव्य कुल मिलाकर प्रशंसनीय है। इसमें पदों का आधिक्य है; परंतु सवैयों और घनाक्षरियों का अभाव नहीं है।

इसमें कई भाषाओं में कविता की गई है। विषयों में प्रायः प्रेम का प्राधान्य रक्खा गया है। ऐसे वर्णन और विषयों से अच्छे भी हैं। कविता की दृष्टि से इनके प्रथम और पंचम भाग ही विशेष प्रशंसा-पात्र हैं।

षष्ठ भाग

यह भाग अन्य भागों से कुछ बड़ा है। परंतु इसमें भारतेंदु के पसंद किए हुए अन्य कवियों के ग्रंथ अधिकता से हैं, और स्वयं उनके बहुत कम। हास्य-पूर्ण चूसा पैग़ंबर का लेख इसी भाग में है। इसी के एक ग्रंथ में बहुत-से छोटे-छोटे हँसी आदि के मनोरंजक चुटकिले भी हैं।

हम हरिश्चंद्र के ग्रंथों का सूक्ष्म परिचय ऊपर दे चुके। हमें शोक है कि स्थानाभाव के कारण विस्तार-पूर्वक इनके किसी भी ग्रंथ की आलोचना हम नहीं कर सके। इस विषय पर बाबू शिवनंदन-सहाय ने, इनकी जीवनी में, कुछ विस्तार से लिखा है। अब हम भारतेंदु की कविता के कुछ गुण नीचे लिखते हैं—

(१) इनके काव्य में सबसे अधिक और उत्तम वर्णन प्रेम का है। इन्होंने ऐसा अनोखा हृदय पाया था कि उसमें प्रेम की मात्रा अथाह थी। अतः इनके सब लेखों में उसी की विशेषता रहती थी। इसके उदाहरण "चंद्रावली-नाटिका", और पंचम भाग के प्रायः सभी ग्रंथ कहे जा सकते हैं। इनमें ईश्वरीय तथा सांसारिक, दोनों प्रकार का प्रेम विशेष रूप से था, और इन दोनों प्रकार के प्रेमों के वर्णन इनके काव्य में हर जगह मौजूद हैं।

(२) यह महाशय अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। जो-जो बड़ी घटनाएँ इनके समय में हुईं, प्रायः उन सभी पर इन्होंने कविता की। महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ का पदच्युत होना, दिल्ली-दरबार, युवराज का आगमन, मिसर और अफ़ग़ानिस्तान

में युद्ध आदि सभी विषयों पर इन्होंने काव्य-रचना की। इसी प्रकार उस समय भारतवर्ष को जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी, उसमें जो-जो दोष थे, उन सबका इन्होंने सविस्तर वर्णन किया है। हिंदी-साहित्य को जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी, प्रायः उन सभी विषयों पर इन्होंने साहित्य-रचना की है। ऐसा उन्नति-शील और प्रतिनिधि कवि भाषा-साहित्य में एक भी नहीं हुआ।

(३) इनको हिंदूपन और जातीयता का सदैव बड़ा ध्यान रहता था। इतना अधिक स्वदेशाभिमान शायद ही किसी में उस समय हो। स्वदेश-प्रेम से इन कविवर का हृदय परिपूर्ण था। भारतेंदु के बराबर हिंदुस्तान के दोषों पर आँसू बहानेवाला, उसके महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य कवि हिंदी के साहित्य में न होगा। हिंदुस्तान के विषय में इन्होंने बहुत ही प्रेम-गद्गद होकर काव्य किया है। यह पुरुषरत्न हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के वास्ते कल्पवृक्ष हो गए हैं। हास्य के ग्रंथों तक में इन्होंने देश-हित का चिंतन नहीं छोड़ा। "नीलदेवी" और "भारत-दुर्दशा"-ग्रंथ इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं।

(४) इनकी कविता में हास्य की मात्रा भी अधिक रहती थी। इन्होंने उसका प्रयोग ऐसी रीति से किया है कि वह कविता बहुत ही उत्कृष्ट मालूम होती है। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" और "अंधेर-नगरी" तो मानो इसके रूप हैं। और-और जगहों पर भी इसकी मात्रा बहुत पाई जाती है।

(५) इनके काव्य में ज़ोरदारी (Force) भी बहुत अधिक है। भाषा-कवियों में से बहुत कम की रचना में इतना ज़ोर पाया जाता है। "नीलदेवी" और "भारत-दुर्दशा" में इसके उदाहरण अधिकता से मिलेंगे।

(६) इनमें विविध विषयों की यथावत् प्रकार से वर्णन करने की शक्ति बहुत प्रबल थी । इन्होंने प्राकृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के वर्णन बहुत ही प्रकृष्ट किए हैं । सौंदर्य के तो यह उपासक ही थे, अतः प्रत्येक विषय में सुंदरता पर इनकी निगाह पहुँच जाती थी । इसके उदाहरण सभी स्थानों पर मिलते हैं । फिर भी गंगा, यमुना, काशी, शुकदेव, नारद, श्मशान, हरिश्चंद्र का विकना आदि के वर्णन और सभा के व्याख्यान, कपटिया, दलाल इत्यादि की बातचीत विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं । जैसे जी लगाकर इन्होंने रचना की, वैसे ही इन्हीं के सामने प्रायः इनके सभी नाटकों के अभिनय भी हो गए ।

(७) इन्होंने अपनी कविता में रूपकों का समावेश भी विशेष रूप से किया है । उदाहरण-स्वरूप चंद्रावली-नाटिका में योगिनी और वियोगिनी का रूपक देखिए ।

(८) इन महाशय ने पुरानी प्रथा के नायिका, अलंकार, छंद और रीति आदि विषयों पर एक भी ग्रंथ नहीं बनाया । रसों में इन्होंने ९ पुराने रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनंद नाम के चार नए रस माने, जिनको कुछ पंडितों ने भी प्रामाणिक समझा । इसी प्रकार शृंगार-रस में भी इन्होंने कई नए भेद माने हैं, जिनका विशेष वर्णन इनकी जीवनी (खड्गविलास प्रेसवाली) के ११८ पृष्ठ में हुआ है । इसी जीवनी में इनके ग्रंथों का समय भी दिया हुआ है ।

(९) इनके समय तक हिंदी-भाषा में उपन्यास प्रायः नहीं लिखे गए थे । अतः इन्होंने लोगों को उपन्यास लिखने के लिये प्रोत्साहित किया । स्वयं भी दो उपन्यास लिखना आरंभ किया था ; परंतु वे अपूर्ण ही रह गए । उनके नाम हैं "एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग-बीती" और "हम्मीर-हठ" ।

(१०) इन्होंने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों पर भी बहुत कुछ बातें लिखी हैं, जो इनके ग्रंथों में यत्र-तत्र मिलती और भारतदुर्दशा-नाटक में विशेष रूप से पाई जाती हैं। धार्मिक सुधारों का भी इन्होंने वर्णन किया है।

(११) इन्होंने पद्य में व्रजभाषा का और गद्य में खड़ी बोली का विशेष आदर किया है। तो भी उर्दू, खड़ी बोली, व्रज-भाषा, माड़-वारी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, मराठी, राजपूतानी, बनारसी, अवधी आदि सभी भाषाओं में इन्होंने काव्य किया है, जो प्रायः सरस है। इन्होंने गद्य और पद्य प्रायः बराबर लिखे हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

सत्यहरिश्चंद्र

"अहा! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनीवल्लभ और लौकिक तथा वैदिक, दोनों कर्मों का प्रवर्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगण का दीपक और काल-सर्प की शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गवाँकर, देखो, समुद्र में गिरा चाहता है।"

प्रेमयोगिनी

"झपटिया—कहो मिसिरजी, तोरी नींद नहीं खुलती, देखो संखनाद होय गवा, मुखियाजी खोजत रहे।

मिश्र—चले तौ आइत्थै, आधियै राति के संखनाद होय, तौ हम का करैं? तोरे तरह से हम हूँ के घर में से निकसि के मंदिर में घुस आवना होता, तौ हम हूँ जल्दी अउते। हियाँ तौ दारानगर से आवना पड़त है। अबहीं सुरजौ नाहीं उगे।

झपटिया—का हो जगेसर! ई नाहीं कि जब संखनाद होय, तब झटपट अपने काम से पहुँचि जावा करौ।

जलधरिया—अरे चल्ले तौ आवत्थई। का भहराय पड़ी! का

सुत्तल थोरै रहली ? हमहूँ के झापट कंधे पर रख के एहर-ओहर घूमै के होतै तब न ! हियाँ तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाला।"

चंद्रावली

"अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है ? कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मत-मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है। हरएक दूसरे को दोष देता है, अपने-को अच्छा समझता है। कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है, और उसी के खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप-से-आप खुल जाता है, किसी को नहीं मिली। मिले कहाँ से ? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। और भी जो लोग धार्मिक कहाते हैं उनका चित्त स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरण-रूप वाद-विवाद से, और जो विषयी हैं उनका अनेक प्रकार की इच्छा-रूपी तृष्णा से, अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुके। अहा ! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है, और कोई क्या पिएगा ? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं। धन्य है, धन्य ! और दूसरा ऐसा कौन है ?"

भारतदुर्दशा

"मदवा पी ले पागल, जोबन बीत्यो जात ;
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं, मानु हमारी बात।
पी प्याला छक-छक आनँद सों नितहि साँझ अरु प्रात ;

झूमत चलु डगमगी चाल से मारि लाज को लात।
हाथी मच्छड़, सूरज जुगनू, जाके पिए लखात,
ऐसी सिद्धि छोड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात।"

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

"पी ले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम-हरी-रस का रे;
धिधिकट धिधिकट धिधिकट धाधा बजै मृदंग थाप कसका रे।
बहार आई है भर दे बादए-गुलगूँ से पैमाना;
रहे लाखों बरस साक़ी, तेरा आबाद मैख़ाना।
सँभल बैठो अरे मस्तो, ज़रा हुशियार हो जाओ,
कि साक़ी हाथ में मय का लिए पैमाना आता है।"

नीलदेवी

"सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन।
भई आधी रात, बन सनसनात,
पसु-पंछी कोउ आवत न जात;
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन।
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत 'हाय';
सतरात बैन आलस जनाय,
सनसन लागि सीरी पवन चलन।
सोए निसि के सब नींद घोर,
जागत कामी, चिंतित, चकोर;
बिरहिनि, बिरही, पाहरू, चोर,
इन कहँ छिन रैनिहु हाय कल न।"

अंधेर-नगरी

"चूरन अमलबेद का भारी, जिसको खात कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पँचलोना, जिसको खाता स्याम सलोना।
हिंदू-चूरन इसका नाम, विलायत-पूरन इसका काम।
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा, कीना दाँत सभी का खट्टा।
चूरन चला दाल की मंडी, इसको खाएँगी सब रंडी।
चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिश्वत तुरत पचावैं
चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नक़ल पचाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल-अजीरन-रोग।
चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात।
चूरन पूलिसवाले खाते, सब क़ानून हज़म कर जाते

प्रेमयोगिनी

"तोहेर आँखि मैं चरबी छाई माल न चाप्यो गोजर;
कैसी दून कि सूझि रही है असमानी के ऊपर।
कहाँ कि ई तू बात निकासी खासी सत्यानासी;
भूखे पेट कोऊ ना सुतता ऐसी है ई कासी।"
"देखी तुमरी कासी लोगो, देखी तुमरी कासी।
आधी कासी भाँड़-भँड़रिया, बाँभन औ संन्यासी;
आधी कासी रंडी-मुंडी, राँड़, खानगी खासी।
लोग निकम्मे, भंगी, गंजड़, लुच्चे, बेबिसवासी;
महा आलसी, झूठे, सोहदे, बेफिकर, बदमासी।
मैली गली भरी कतवारन, सँड़ी चमारिनि पासी;
नीचे नल ते बदबू उबलैं मनो नरक चौरासी।
फिरैं उचक्का, दै-दै धक्का, लूटैं माल मवासी;
कैद भए की लाज तनिक नहिं बेसरमी नंगासी।

साहब के घर दौरि जावैं, चंदा देइँ निकासी;
चढ़ै बोखार नाम मंदिर का सुनतै होयँ उदासी।
घर की जोरू, लड़के भूखे, बने दास औ दासी;
दाल कि मंडी रंडी पूजें, मानो इनकी मासी।
आप माल कचरैं, छानैं उठि भोरै कागाबासी;
बाप की तिथि दिन बाँभन आगे धरैं सरा औ बासी।
करि ब्यौहार साख बाँधैं मनु पूरी दौलति दासी;
घालि रुपैया, काढ़ि देवाला, माल डकारैं ठासी।
काम-कथा अमरित-सी पीवैं, समुझैं ताहि बिलासी;
राम-नाम मुँह तें नहिं निकसै, सुनतै आवै खाँसी।"

विद्यासुंदर

"धिक है वह देह औ गेह सखी, जेहिके बस नेह को टूटनो है;
उन प्रानपियारे बिना यहि जीवहि राखि कहा सुख लूटनो है।
'हरिचंदजू' बात ठनी सो ठनी, नित की कुलकानि सों छूटनो है;
तजि आन उपाय अनेक भटू, अब तौ हमको बिख घूटनो है।"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अनेकानेक विषयों पर कविता की, और सबमें उनको सफलता प्राप्त हुई। इन्होंने भक्ति, तीर्थ, व्रत, धर्म, वीर, शृंगार, हास्य, करुणा, बीभत्स, राजनीति, समाज, प्राकृतिक दृश्य आदि सभी विषयों पर काव्य किया और अपनी क़लम का ज़ोर दिखलाया है। सबमें इनको कृतकार्यता प्राप्त हुई। शुद्ध हिंदी में गद्य लिखने के तो मानो यह एक-मात्र सुधारक थे। इनके प्रथम राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद भी गद्य के लेखक थे; परंतु प्रथम ने बहुत करके केवल अनुवाद और द्वितीय ने उर्दू-मिश्रित भाषा में प्रबंध लिखे हैं। सबसे प्रथम साहित्य-पूर्ण सर्वांग-सुंदर गद्य के लेखक भारतेंदु ही हुए। उस समय से अब तक सैकड़ों गद्य के लेखक हो गए, और विद्यमान हैं। यह भी ठीक है कि

अब गद्य-लेखन-प्रणाली ने, तुलना की दृष्टि से, अधिक उन्नति कर ली है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि कोई लेखक कुल मिलाकर इनसे श्रेष्ठ हुआ, या है। दो-चार वर्तमान लेखकों की भाषा इनसे कुछ गंभीर और परिमार्जित अवश्य है ; परंतु कुल मिलाकर भारतेंदु के लेखों में रोचकता वर्तमान सुलेखकों से अधिक है। भारतेंदु उत्तम गद्य-लेखन के जन्मदाता और अद्यापि सर्व-श्रेष्ठ गद्य-लेखक हैं। जितनी भाषाओं में इन महाकवि को काव्य-रचना करने की सामर्थ्य थी, उतनी भाषाओं में काव्य रचने की शक्ति या योग्यता हमारे अन्य किसी भी एक कवि में नहीं है, और न कभी थी ही।

भारतेंदु के पहले हिंदी में नाटकों का अभाव-सा था, और स्वतंत्र नाटक का परमोत्कृष्ट ग्रंथ एक भी न था। इन महाकवि ने इस त्रुटि के दूर करने का पूरा प्रयत्न किया, और एक-एक करके १८ नाटक-ग्रंथ बनाए, जिनमें से, कहा जाता है, दो इनके नहीं हैं। इनमें से ९ ग्रंथ ख़ास इन्हीं के मस्तिष्क की उपज हैं, और शेष संस्कृत से अनुवादित। एक अँगरेज़ी का भी अनुवाद है। इनके अनुवादों में ऐसा आनंद आता है, जैसा स्वतंत्र ग्रंथों में आना चाहिए। हम मुक्तकंठ होकर कहेंगे कि ऐसा उत्तम अनुवादकर्ता भाषा-कवियों में कोई भी नहीं हुआ। वर्तमान कवियों में गद्यानुवाद कई लोग ऐसा ही कर लेते हैं ; परंतु पद्य-विभाग में भी रोचक अनुवाद करना इन्हीं का हिस्सा था।

इनके स्वतंत्र नाटकों में सभी अत्युत्कृष्ट हैं। परंतु, उनमें भी, सत्य-हरिश्चंद्र, चंद्रावली और नीलदेवी बहुत ही श्लाघ्य बने हैं। यह कहना कि भाषा में ऐसे नाटक किसी ने नहीं बनाए, इनकी कोई प्रशंसा नहीं करना है ; क्योंकि भाषा में कोई दूसरा बढ़िया नाटक-कार अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुआ। इन नाटकों की गणना संस्कृत

के श्रेष्ठ नाटकों के साथ हो सकती है। शेक्सपियर के सब नाटक इनकी बराबरी नहीं कर सकते। भारत-दुर्दशा और प्रेमयोगिनी भी अपने ढंग के अपूर्व नाटक हैं। सती-प्रताप से भारतीय स्त्री-धर्म का उच्चातिउच्च विचार प्रकट होता है। अंधेरनगरी और वैदिकी हिंसा* भी अच्छे मनोरंजक प्रहसन हैं।

इनके इतिहास-प्रेम और धर्म-प्रेम भी इनकी कविता से भली भाँति प्रकट होते हैं। यह सच है कि इनकी कोरी कविता भाषा के प्रशंसनीय कवियों की रचनाओं की समता नहीं कर सकती; परंतु नाटकों को भी मिला लेने से इनका पद बहुत ऊँचा हो जाता है। वर्तमान काल में हिंदी-भाषा की इतनी उन्नति किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं हुई, जितनी कि भारतेंदु के द्वारा। इस एक ही व्यक्ति ने हिंदी-भाषा में कितने ही नए विषयों को उपस्थित कर दिया। कितने ही प्रकार के लेख और लेखक इनकी रचनाएँ पढ़कर तैयार हो गए। सचमुच यह वर्तमान हिंदी के एक-मात्र जनक हो गए हैं। इनकी आशु कविता करने की शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि वह धाराप्रवाह नए छंद कहते चले जाते थे, और जिह्वा नहीं रुकती थी। कविता से इन्हें इतना प्रेम था कि यह सोते में भी उसी के आनंद में निमग्न रहते थे। यहाँ तक सुना जाता है कि इन्होंने सोते में भी कुछ छंद बनाए हैं।

हम भाषा के ९ प्रसिद्ध और सर्वोत्कृष्ट कवियों में इनकी भी गणना करते हैं। हमारा कथन है—

"परम प्रेम-निधि, रसिकवर, अति उदार, गुनखान;
जग जन-रंजन, आशु-कवि, को हरिचंद समान?
जे गुन नृप हरिचंद में जग हित सुनियत कान,

* पर ये दोनों ग्रंथ बँगला का अनुवाद हैं, मौलिक नहीं।—संपादक

ते सब कबि हरिचंद में लखहु प्रतच्छ सुजान।"

अब विस्तार के साथ इनकी रचना के कुछ उदाहरण देकर हम यह ग्रंथ समाप्त करते हैं। उदाहरण—

सत्य हरिश्चंद्र

प्रगटहु रबिकुल-रबि, निसि बीती, प्रजा-कमलगन फूले ;
मंद परे रिपुगन तारासम जन-भय तम उनमूले।
नसे चोर, लंपट, खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो ;
मागध, बंदी, सूत चिरैयन मिलि कल रोर मचायो।

* * *

नव उज्जल जलधार हार-हीरक-सी सोहति ;
बिच-बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता, मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत,
जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत, मिटावत।
सुभग स्वर्ग-सोपान सरिस सबके मन भावत ;
दरसन, मज्जन, पान त्रिबिध भय दूर मिटावत।
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिबरसम सोहत ;
कहुँ छतुरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा-पताका ;
घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा, करि साका।
धोवत सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत ;
बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत।
सुंदरि ससि-मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत ;
कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत।
दीठि जहाँ-जहँ जाति, रहति तित ही ठहराई ;
गंगा-छबि 'हरिचंद' कछू बरनी नहिं जाई।

* * *

हम प्रतच्छ हरिरूप, जगत हमरे बल चालत;
जल-थल नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत।
हम हीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी;
इक हम ही सँग जात तजत जब पितु, सुत, नारी।
सो हम नित थित इक सत्य में, जाके बल सब जग जियो;
सोइ सत्य परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो।

* * *

सोई मुख, सोई उदर, सोई कर पद दोय;
भयो आजु कछु और ही परसत जेहि नहिं कोय।
हाड़, माँस, लाला, रकत, बसा, तुचा सब सोय;
छिन्न-भिन्न दुरगंधमय मरे मनुस के होय।
फूल-बोझ हू जिन न सहारे, तिन पै बोझ काठ बहु डारे।
सिर-पीड़ा जिनकी नहिं हेरी, करत कपाल-क्रिया तिन केरी।
छिन हू जे न भए कहुँ न्यारे, तेऊ बंधुगन छोड़ि सिधारे।
जो दृग-कोर महीप निहारत, आजु काक तेहि भोज बिचारत।
भुजबल जे नहिं भुवन समाए, ते लखियत मुख कफन छिपाए।
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे, गने काल सब एकहि लेखे।
सुभग, कुरूप, अमृत-बिख-साने, आजु सबै इक भाव बिकाने।
कुरु, दधीचि, कोऊ अब नाहीं, रहे नाम ही ग्रंथन माहीं।

* * *

साँझ सोई पट लाल कसे कटि, सूरज खप्पर हाथ लह्यो है;
पच्छिन के बहु सब्दन के मिस जीअ-उचाटन मंत्र कह्यो है।
मद्य-भरी नर-खोपरी सो ससि को नव बिंबहु धाइ गह्यो है;
दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल कपालिक नाचि रह्यो है।
सूरज धूम बिना की चिता, सोई अंत में लै जल माहिं बहाई;
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम, रोवत सो मनु लोग-लुगाई।

धूम अँधियार, कपाल निसाकर, हाड़ नछत्र, लहू-सी ललाई ;
आनँद हेतु निसाचर के यह काल मसान-सी साँझ बनाई ।

* * *

रुरुआ चहुँ दिसि ररत, डरत सुनिकै नर-नारी ;
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी ।
अंधकार-बस गिरत काक अरु चील्ह करत रव ;
गिद्ध, गरुड़, हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद दव ।
रोवत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावई ;
सँग दादुर-झींगुर-रुदन-धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई ।

मुद्राराक्षस

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ।
कौन है सीस पै, चंदकला, कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी ;
हाँ यही नाम है, भूलि गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी ।
नारिहि पूछत चंदहि नाहिं कहै बिजया जदि चंद लबारी;
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरैं सब पीर तुम्हारी ।
पादप्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु बोझ के मारे ;
हाथ नचाइबे सों नभ मैं इत के उत टूटि परैं नहिं तारे ।
देखन सों जरि जाहिं न लोक, न खोलत नैन कृपा उर धारे;
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत सर्ब हरैं दुख सर्ब तुम्हारे ।

* * *

सदा दंति के कुंभ को जो बिदारै ; ललाई नए चंद-सी जौन धारै ।
जँभाई समै काल-सो जौन बाढ़ै; भलो सिंह को दाँत सो कौन काढ़ै ।

* * *

कालसर्पिनी नंदकुल क्रोध-धूम-सी जौन;
अजहूँ बाँधन देत नहिं अहो सिखा यह कौन ?

दहन नंद-कुल-बन सहज अति प्रज्वलित प्रताप ;
को मम क्रोधानल पतँग भयो चहत अब पाप ?

* * *

प्रिया दूरि, घन गरजहीं, अहो दुःख अति घोर ;
औषध दूरि हिमाद्रि पै, सिर पै सर्प कठोर ?

* * *

जे बात कछु जिय धारि भागे, भले सुख सो भागहीं ;
जे रहे तेहू जाहिं, तिनको सोच मोहिं जिय कछु नहीं।
सत सैन हू सों अधिक साधिनि काज की जेहि जग कहै;
सो नंद-कुल की खननहारी बुद्धि नित मोमैं रहै।
नृप सों, सचिव सों, सब मुसाहिब गनन सों डरते रहौ;
पुनि बिटहु जे अति पास के, तिनको कह्यो करते रहौ।
मुख लखत बीतत दिवस-निसि, भय रहत संकित प्रान है;
निज उदर पूरन हेतु सेवा-वृत्ति स्वान समान है।
जहँ लौं हिमालय के सिखर सुरधुनी-कन सीतल रहैं ;
जहँ लौं बिबिध मनि-खंड-मंडित समुद दच्छिन दिसि बहैं;
तहँ लौं सबै नृप आइ भय सों तोहिं सीस झुकावहीं,
तिनके मुकट-मनि-रँगे तुव पद निरखि हम सुख पावहीं।

* * *

मूरख स्वामी लहि गिरै चतुर सचिव हू हारि;
नदी-तीर-तरु जिमि नसत जीरन ह्वै लहि बारि।

धनंजयविजय

लीकहु नहिं लखि परत चक्र की ऐसे धावत;
दूरि रहत तरु-बृंद छनक मैं आगे आवत।
जदपि वायु-बल पाइ धूरि आगे गति पावत;
पै हय निज खुर-बेग पीछे ही मारि गिरावत।

फेरत धनु टंकारि, दरप लिवसम दरसावत;
साहस को अनु रूप काजसम दुसह लखावत।
जयलछमी-सम बीर धनुष धरि रोष बढ़ावत;
को यह, जो कुरुपतिहि गिनत नहिं इत ही आवत ?
कंचन-बेदी बैठि बड़प्पन प्रगट दिखावत;
सूरज को प्रतिबिंब जाहि सिखि जाल तनावत।
ब्रह्म-उपनिषद-भेद जानि भय दूरि भजावत;
कौरव-कुल-गुरु पूज्य द्रोन आचारज आवत।

कर्पूरमंजरी

मंद-मंद ह्वै सिरिल-सुगंधहि सरस पवन यह आवै;
करि संचार मलय-पर्वत पै बिरहिनि-ताप बढ़ावै।
कामिनिजन के बसन उड़ावत काम-धुजा फहरावै;
जीवन प्रानदान सो बितरत बायु सबन मन भावै।
देखहु लहि ऋतुराजहि उपबन फूली चारु चमेली;
लपटि रहीं सहकारन सों बहु मधुर माधवी-बेली।
फूले बर बसंत बन-बन मैं कहुँ मालती नबेली;
तापै मदमाते-से मधुकर गूँजत मधुरसरेली।

* * *

फूलैंगे पलास बन आगि-सी लगाय कूर,
कोकिल कुहूकि कल सबद सुनावैगो;
त्यौंहीं सखी लोक सबै गावैगो धमरि, धीर-
हरन अबीर बीर सब ही उड़ावैगो।
सावधान होहु री बियोगिनी सँभारि तन
अतन तनक ही मैं तापन ते तावैगो,
धीरज नसावत बढ़ावत बिरह काम
कहर मचावत बसंत अब आवैगो।

* * *

राजा (आश्चर्य से)—अहाहा ! जैसे रूप का ख़ज़ाना खुल गया, नेत्र कृतार्थ हो गए। यह रूप, यह जोबन, यह चितवन, यह भोलापन ! कुछ कहा नहीं जाता। मालूम होता है कि यह नहाकर बाल सुखा रही थी, उसी समय पकड़ आई है। अहा ! धन्य है इसका रूप !!! इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोराजोरी निकाले लेती है। इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती है ! अहा ! इसके कपड़े से जो पानी की बूँदें टपकती हैं, वे ऐसी मालूम होती हैं, मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं। काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहाने हो रहे हैं, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गए हैं। बाल हाथों में लिए है, उनसे पानी की बूँदें ऐसी टपकती हैं, मानो चंद्रमा का अमृत पी जाने से दो कमलों ने नागिनी को ऐसा दबाया है कि उसकी पूँछ से अमृत बहा जाता है। भीगे वस्त्र से छोटे-छोटे इसके कठोर कुच अपनी ऊँचाई और श्यामताई से यद्यपि प्रत्यक्ष हो रहे हैं, तो भी यह उन्हें बाँह से छिपाना चाहती है, और वैसे ही गोरी-गोरी जाँघें इसकी चिपके हुए भीगे वस्त्र से यद्यपि चमकती हैं, तो भी यह उनको दबाए देती है, वरंच इसी अंग उघरने से यह लजाकर सकपकानी-सी भी हो रही है, और योगबल से, खिंच आने से, जो कुछ डर गई है, इससे और भी चौकन्नी हो-होकर भूले हुए मृगछौने की भाँति अपने चंचल नेत्र नचाती है।

* * *

विच०। गोरे तन कुंकुम सुरँग प्रथम न्हवाई बाल ;
राजा। सो तो जनु कंचन तप्यो होत पीत सों लाल।
विच०। इंद्रनील-मनि-पैंजनी ताहि दई पहिराय ;
राजा। कमल-कली जुग घेरिकै अलि मनु बैठे आय।

विच० । सजी हरित सारी सरिस जुगल जंघ कहँ घेरि ;
राजा । सो मनु कदली-पात निज खंभन लपट्यो फेरि ।
विच० । पहिराई मनि-किंकिनी छीन सु कटि-तट लाय ;
राजा । सो सिंगार-मंडप बँधी बंदनवार सुहाय ।
विच० । गोरे कर कारी चुरी चुनि पहिराई हाथ ;
राजा । सो साँपिन लपटी मनहुँ चंदन-साखा साथ ।
विच० । निज कर सों बाँधन लगी चोली तब वह बाल ;
राजा । सो मनु खींचत तीर भट तरकस ते तेहि काल ।
विच० । लाल कंचुकी मैं उगे जोबन जुगल लखात ;
राजा । सो मानिक-संपुट बने मन-चोरी हित गात ।
विच० । बड़े-बड़े मुक्कान सों गल अति सोभा देत ;
राजा । तारागन आए मनौ निज पति ससि के हेत ।
विच० । करनफूल जुग करन मैं अति ही करत प्रकास ;
राजा । मनु ससि लै द्वै कुमुदिनी बैठ्यो उतरि अकास ।
विच० । बाला के जुग कान मैं बाला सोभा देत ;
राजा । स्रवत अमृत ससि दुहुँ तरफ पियत मकर करि हेत ।
विच० । जियरंजन खंजन-दगनि अंजन दियो बनाय ;
राजा । मनहुँ सान फेर्यो मदन जुगल बान निज लाय ।
विच० । चोटी गुँथि पाटी भरस करिकै बाँधे केस ;
राजा । मनहुँ सिंगार इकत्र ह्वै बँध्यो बार के बेस ।
विच० । बहुरि उढ़ाई ओढ़नी अतर-सुबास बसाय ;
राजा । फूल-लता लपटी किरन रबि-ससि की मनु आय ।
विच० । यहि बिधि सों भूषित करी भूषन बसन बनाय ;
राजा । काम बाग झालरि लई मनु बसंत ऋतु पाय ।
मनभावनि भइ साँझ सुहाई ;

ससिप्रकास पसरित, तारागन उगन लगे नभ मैं अकुलाई ;
साजत सेज सबै जुवतीजन पीतम हित हिय हेत बढ़ाई।
फूले रैनि फूल बागन मैं, सीतल पवन चली सुखदाई ;
गौरी-राग सरस सुर सब मिलि गावत कामिनि काम-बधाई।

* * *

तजौ गरब अब चंद तुम, भूलौ मति मन माहिं ;
क्रोध, हलनि, भ्रूभंग छबि, तुम मैं सपनेहुँ नाहिं।

चंद्रावली

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत ;
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत।
कटि मृगपति को चरम, चरन मैं घुँघरू धारत ;
नारायन, गोबिंद, कृष्ण ये नाम उचारत।
लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत ;
जग-अघ छिन मैं हरि कहि हरत जिहि सुनि नर भवजल तरत।
जुग तूँबन की बीन परम सोभित मन भाई ;
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई।
आरोहन, अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं ;
कै कोमल अरु तीब्र सुर भरे जग मन मोहैं।
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुनगन के प्रगट ;
ये अगम खजाने द्वै भरे, नित खरचत तौ हूँ अघट।

* * *

प्यारे !

क्या लिखूं ! तुम बड़े दुष्ट हौ, चलौ भला सब अपनी बीरता हमी पर दिखानी थी। हाँ ! भला मैंने तो लोक, वेद, अपना, बिराना, सब छोड़कर तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़के क्या पाया ? और जो धर्म-उपदेश करो तो धर्म से फल होता है,

फल से धर्म नहीं होता। निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती। मुँह ढकौ, फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हौ! चलो वाह! अच्छी प्रीति निबाही। जो हो, तुम जानते ही हौ, हाय कभी न करूँगी। यों ही सही, अंत मरना है। मैंने अपनी ओर से खबर दे दी। अब मेरा दोष नहीं, बस।

केवल तुम्हारी

* * *

देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय मैं, बिरह घटा घहरि-घहरि उठै;
त्यौं हीं इंद्रधनु, बगमाल देखि बनमाल
मोती-लर पी की जिय लहरि-लहरि उठै।
'हरिचंद' मोर-पिक-धुनि सुनि बंसीनाद
बाँकी छबि बार-बार छहरि-छहरि उठै;
देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत
पट-छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै।

* * *

जोगिनि मुख पर लट लटकाई;
कारी, घूँघरवारी प्यारी देखत सब मन भाई।
छूटे केस, गेरुआ बागे सोभा दुगुन बढ़ाई;
साँचे ढरी प्रेम की मूरति अँखियाँ निरखि सिराई।

* * *

तरनितनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए;
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाए।
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा;
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत;

कै हरि-सेवा हित नै रहे, निरखि नैन, मन सुख लहत।
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन ;
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन।
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा ;
कै उमँगे प्रिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा।
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई ;
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई।
कै पिय-पद-उपमान जानि यहि निज उर धारत ;
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज हरि-पद-परस हेत कमला बहु आई ;
कै ब्रज-तियगन-बदन-कमल की झलकत झाईं।
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल बगरे फिरत ;
कै जानि लच्छमी-भौन यहि करि सतधा निज जल धरत।
परत चंद प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो ;
लोल लहरि लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो।
मनु हरि-दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो ;
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो।
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है ;
कै जल-उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है।
कबहुँ होत सत चंद, कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ;
पवन-गवन-बस बिंब रूप जल मैं बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै ;
कै तरंग की डोर हिंडोरन करति कलोलै।
कै बाल गुड़ी नभ मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती ;
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती।
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल ;

के तारागन गगन लुकत, प्रगटत ससि अबिकल।
के कालिंदी नीर-तरंग जिते उपजावत ;
तितने ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत।
कै बहुत रजत-चकई चलत, कै फुहार-जल उच्छरत ;
कै निसिपति मल्ल अनेक बिधि उठि बैठत कसरत करत।
कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत ;
कहुँ कारंडव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत।
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान लगावत ;
सुक,पिक जल कहुँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर बिबिध पच्छी करत ;
जलपान, न्हान करि सुख-भरे तट-सोभा सब जिय धरत।

* * *

पचि मरत बृथा सब लोग जोग सिर धारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी।
बिरहागिनि धूनी चारों ओर लगाई ;
बंसी-धुनि की मुद्रा कानों पहिराई।
अँसुअन की सेली गल मैं लगत सुहाई ;
तन धूरि जमी, सोइ अंग भभूति रमाई।
लट उरझि रही सोइ लटकाई लट कारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी।
यह है सुहाग का अचल हमारे बाना ;
असगुन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना।
सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना ;
कर चूरी, मुख मैं रंग तमोल जमाना।
पीना प्याला भर रखना वही खुमारी ;
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी।

है पंथ हमारा नैनों के मत जाना ;
कुल, लोक, बेद सब औ परलोक मिटाना।
सिवजी-से जोगी को भी जोग सिखाना ;
'हरिचंद' एक प्यारे से नेह बढ़ाना ।
ऐसे बियोग पर लाख जोग बलिहारी ।
साँची जोगिनि पिय बिना बियोगिनि नारी।

* * *

कहे को चंद-बदन की सोभा ;
जाको देखत नगर-नारि को सहजहिं ते मन लोभा ।
मनु चंदा आकास छोड़ि के भूमि लखन को आयो ;
कैधौं काम बाम के कारन अपनो रूप छिपायो ।
भौहँ कमान कटाच्छ बान-से अलक भ्रमर घुँघरारे ;
देखत ही बेधत हैं मन मृग, नहिं बचि सकत बिचारे।

भारत-दुर्दशा

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई ॥ ध्रुव० ।
सबके पहिले जेहि ईस्वर धन, बल दीनो ;
सबके पहिले जेहि सभ्य बिधाता कीनो ।
सबके पहिले जो रूप-रंग-रस-भीनो ;
सबके पहिले बिद्याफल जिन गहि लीनो ।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई ,
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई ।
जहँ भए साक्य, हरिचंद‌ऽरु नहुष, जजाती ;
जहँ राम, जुधिष्ठिर, बासुदेव, सर्याती ।
जहँ भीम, करन, अर्जुन की छटा दिखाती ;
तहँ रही मूढ़ता, कलह, अबिद्या राती ।

अब जहँ देखहु, तहँ दुःखहि-दुःख दिखाई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई ।
लरि बैदिक, जैन डुबाई पुस्तक सारी ;
करि कलह बुलाई जवन-सैन पुनि भारी ।
तिन नासी बुधि, बल, बिद्या, धन बहु बारी ;
छाई अब आलस-कुमति-कलह-अँधियारी ।
भए अंध, पंगु सब दीन-हीन बिलखाई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई ।
अँगरेज राजसुख साज सजे सब भारी ;
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी ।
ताहू पै महँगी काल-रोग बिस्तारी ;
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा-हारी ।
सबके ऊपर टिकस की आफत आई ;
हा-हा ! भारत-दुर्दसा न देखी जाई ।

* * *

उपजा ईश्वर-कोप से आया भारत बीच ;
छार-खार सब हिंद करूँ मैं तो उत्तम, नहिं नीच ।
मुझे तुम सहज न जानो जी ;
मुझे इक राच्छस मानो जी ।
कौड़ी-कौड़ी को करूँ मैं सबको मुहताज ;
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज ॥ मुझे० ॥
काल भी लाऊँ, महँगी लाऊँ, और बुलाऊँ रोग ;
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग ॥ मुझे० ॥
फूट, बैर औ कलह बुलाऊँ, लाऊँ सुस्ती, जोर ;
घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर ॥ मुझे० ॥
काफ़िर, काला, नीच पुकारूँ तोडूँ पैर औ हाथ ;

दूँ इनको संतोष, खुशामद, कायरता भी साथ ॥ मुझे० ॥
मरी बुलाऊँ, देस उजाडूँ महँगा करके अन्न ;
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ धन्न है मुझको धन्न ॥ मुझे० ॥

* * *

रचि बहु बिधि के बाक्य पुरानन माहिं घुसाए ;
सैव, साक्त, बैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।
जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो ;
खान-पान-संबंध सबनसों बरजि छुड़ायो।
जन्म-पत्र बिन मिले ब्याह नहिं होन देत अब ;
बालकपन में ब्याहि प्रीति, बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल, बीरजु मार्‍यो ;
बिधवा-ब्याह-निषेध कियो, बिभिचार प्रचार्‍यो।
रोकि बिलायत-गमन, कूप-मंडूक बनायो ;
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी, देवता, भूत-प्रेतादि पुजाईं ;
ईस्वर सों सब बिमुख किए हिंदू घबराईं।

* * *

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा ;
मर जाना पॅ उठ के कहीं जाना नहीं अच्छा।
बिस्तर पॅ मिस्ल लोथ पड़े रहना हमेशा ;
बंदर कि तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।
सिर भारी चीज़ है, इसे तकलीफ़ हो तो हो ;
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।
फ़ाक़ों से मरिए, पर न कोई काम कीजिए ;
दुनिया नहीं अच्छी है, ज़माना नहीं अच्छा।
सिजदे से गर बिहिश्त मिले, दूर कीजिए ;

दोज़ख़ ही सही, सर का झुकाना नहीं अच्छा।
मिल जाय हिंद ख़ाक में, हम काहिलों को क्या ;
ऐ मीरे-फ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा।

*　　*　　*

दूध सुरा, दधि हू सुरा, सुरा अन्न, धन, धाम ;
बेद सुरा, ईस्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम।
जाति सुरा, बिद्या सुरा, बिनु मद रहै न कोइ ;
सुधरी आजादी सुरा, जगत सुरामय होइ।
ब्राह्मन, छत्री, बैस्य अरु सैयद, सेख, पठान ;
दै बताइ मोहिं, कौन, जो करत न मदिरा-पान।
पियत भट्ट के ठट्ट अरु गुजरातिन के वृंद ;
गौतम पियत अनंद सों, पियत अग्र के नंद।
होटल मैं मदिरा पियैं, चोट लगै नहिं लाज ;
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल दीबे काज।
मद्यहि के परभाव सों रचत अनेकन ग्रंथ ;
मद्यहि के परकास सों लखत धरम को पंथ।
मद पी बिधि जग को करत, पालत हरि करि पान;
मद्यहि पी कै नास सब करत संभु भगवान।
सोक-हरनि, आनँद-करनि, उमँगावनि सब गात ;
हरि मैं तप बिनु लय-करनि केवल मद्य लखात।

*　　*　　*

छठा दृश्य

स्थान— गंभीर वन का मध्य भाग

(भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है)

[भारत-भाग्य का प्रवेश]

भारत-भाग्य—(गाता है—राग चैतो-गौरी)

जागो, जागो रे भाई :

सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै, दिन बीत्यो, कालराति चलि आई ;
देखि परत नहिं हित-अनहित कछु परे बैरि-बस जाई।
निज उद्धार-पंथ नहिं सूझत, सीस धुनत पछिताई ;
अबहूँ चेति पकरि राखो किन, जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहिं ह्वैहै, रहि जैहौ मुँह बाई ;
सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई।

(भारत को जगाता है, और भारत जब नहीं जगता, तब अनेक यत्न से फिर जगाता है । अंत में हारकर उदास होकर)

हाय ! भारत को आज क्या हो गया है ? क्या निस्संदेह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा है ? हाय ! क्या भारत के फिर वे दिन न आवेंगे ? हाय ! यह वही भारत है, जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था ?—

भारत के भुज-बल जग रच्छित; भारत बिद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत बिस्तारा; भारत-भय कंपत संसारा।
जाके तनिकहिं भौंह हिलाए, थर-थर कंपत नृप डर पाए।
जाके जय की उज्जल गाथा, गावत सब महि मंगल साथा।
भारत-किरन जगत उजियारा; भारत-जीव जियत संसारा।
भारत बेद, कथा, इतिहासा ; भारत बेद-प्रथा परकासा।
फिनिक, मिसिर, सीरीय, युनाना; भे पंडित लहि भारत-ज्ञाना।
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा, ज्वलित अनल-समान अवनीसा।
साहस, बल इन सम कोउ नाहीं, तबै रह्यौ महिमंडल माहीं।
कहा करी तकसीर तिहारी; रे बिधि, रुष्ट याहि की बारी !
सबै सुखी जग के नर-नारी; रे बिधना, भारतहि दुखारी !
हाय राम ! तू अति बड़भागी ; बर्बर तोहिं नास्यो जय लागी।

तोरे कीरति-थंभ अनेकन ; ढाहे गढ़ बहु करि प्रन टेकन।
मंदिर, महलनि तोरि गिराए ; सबै चिह्न तुव धूरि मिलाए।
कछु न बची तुव भूमि निसानी; सो बरु मेरे मन अति मानी।
भारत-भाग न जात निहारे; थाप्यो पग ता सीस उघारे।
तोर्यो दुर्गन, महल ढहायो; तिनही मैं निज गेह बनायो।
ते कलंक सब फेरत फेरे ; ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे।
कासी, प्राग, अजोध्या-नगरी; दीन-रूप सम ठाढ़ीं सगरी।
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई, रहीं सबै भव मुँह मसि लाई।
हाय पंचनद, हा पानीपत; अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत।
हाय चितौर, निलज तू भारी; अजहुँ खरो भारतहि मँझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायो, तेहि दिन क्यों नहिं धरनि समायो।
रह्यो कलंक न भारत-नामा; क्यों रे तू बारानसि-धामा।
सब तजि कै, भजि कै दुख भारो, अजहुँ बसत करि भुव मुख कारो।
अरे अग्रबन तीरथराजा ; तुमहुँ बचे अब लौं तजि लाजा।
पापिनि सरजू, नाम धराई ; अजहूँ बहति अवध-तट जाई।
तुममैं जल नहिं जमुना, गंगा ; बढ़हु बेगि करि तरल तरंगा।
धोवहु यह कलंक की रासी ; बोरहु किन झट मथुरा, कासी।
कुस कन्नौज, अंग अरु बंगहि ; बोरहु किन निज कठिन तरंगहि।
बोरहु भारत-भूमि सबेरे ; मिटै करक जिय के तब मेरे।
अहो भयानक भ्राता सागर ; तुम तरंग-निधि अति बलआगर।
बोरे बहु गिरि, बन, अस्थाना ; पै बिसरे भारत हित जाना।
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई ; देहु भरत-भुव तुरत डुबाई।
घेरि छिपावहु बिंध्य, हिमालय ; करहु सकल जल भीतर तुम लय।
धोवहु भारत-अपजस-पंका ; मेटहु भारत-भूमि-कलंका।

हाय ! यहीं के लोग किसी काल में जगन्मान्य थे !—

जेहि छिन बलभारे, हे सब तेग धारे ;

तब सब जग धाई; फेरते हे दुहाई।
जग-सिर पग धारे; धावते रोस भारे।
बिपुल अवनि जीती, पालते राजनीती।
जग इन बल काँपै, देखि कै चंड दापै।
सोइ यह प्रिय मेरे, ह्वै रहे आज चेरे।

ये कृष्ण-बरन जब मधुर तान, करते अमृतोपम बेद-गान,
तब मोहत सब नर-नारि-बृंद, सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद।
जग के सब ही जन धारि स्वाद, सुनते इन ही को बीन-नाद।
इनके गुन होतो सबहि चैन; इन ही कुल नारद, तानसैन।
इन ही के क्रोध कीन्हे प्रकास, सब काँपत भूमंडल, अकास।
इन ही के हुंकृति-शब्द घोर, गिरि काँपत हैं सुनि चारि ओर।
जब लेत रहे कर मैं कृपान, इन ही कहँ हो जग तृन-समान।
सुनि क रन-बाजन खेत माहिं, इन ही कहँ हो जिय संक नाहिं।

याही भुव महँ होत हैं हीरक, आम, कपास;
इत ही हिम-गिरि, गंग-जल, काव्य-गीत-परकास।
जाबाली, जैमिनि, गरग, पातंजलि, सुकदेव;
रहे भारतहि अंक मैं कबहिं सबै भुवदेव।
याही भारत मध्य मैं रहे कृष्ण मुनि ब्यास;
जिनके भारत-गान सों भारत-बदन प्रकास।
याही भारत मैं रहे कपिल, सूत, दुरबास;
याही भारत मैं भए साक्यसिंह संन्यास।
याही भारत मैं गए मनु, भृगु आदिक होइ;
तब तिनसों जग मैं रह्यो घृना करत नहिं कोइ।
जासु काव्य सों जगत मधि अब लौं ऊँचो सीस;
जासु राज बल, धर्म की तृषा करहिं अवनीस।
सोई ब्यास अरु राम के बंस सबै संतान;

ये मेरे भारत भरे, सोइ गुन, रूप समान।
सोई बंस, रुधिरहु वही, सोई मन बिस्वास;
वही बासना, चित वही, आसय वही, बिलास।
कोटि-कोटि ऋषि पुन्य-तनु, कोटि-कोटि अति सूर,
कोटि-कोटि बुध, मधुर कबि मिले इहाँ की धूर।
सोइ भारत की आज यह भई दुर्दसा हाय;
कहा करें, कित जायँ, नहिं सूझत कछु उपाय।

(भारत को फिर उठाने की अनेक चेष्टा करके उपाय निष्फल होने पर रोकर)

हा ! भारतवर्ष को ऐसी मोह-निद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं। सच है, जो जान-बूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकेगा ?

हा दैव ! तेरे विचित्र चरित्र हैं। जो कल राज रजता था, वह आज जूते में टाका उधार लगवाता है। कल जो हाथी पर सवार फिरते थे, वे आज नंगे-पाँव वन की धूल उड़ाते फिरते हैं। कल जिनके घर लड़के-लड़कियों के कोलाहल से कान नहीं दिया जाता था, आज उनका नाम-लेवा और पानी-देवा कोई नहीं बचा, और कल जो घर अन्न-धन-पूत-लक्ष्मी से हर तरह से भरे-पुरे थे, आज उन घरों में तूने दिया बालनेवाला भी नहीं छोड़ा !

हा ! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, पाणिनि, शाक्यसिंह, बाण भट्ट प्रभृति कवियों के नाम-मात्र से, अब भी, सारे संसार से, ऊँचा है, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारतवर्ष के राजा चंद्रगुप्त और अशोक का शासन रूम, रूस तक माना जाता था, उस भारत की यह दुर्दशा ! जिस भारत में राम, युधिष्ठिर, नल, हरिश्चंद्र, रंतिदेव, शिवि इत्यादि पवित्र चरित्र के लोग हो गए हैं, उसकी यह दशा ! हाय,

भारत भैया, उठो। देखो, विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अँगरेज़ों का राज्य पाकर भी न जगे, तो कब जगोगे? मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए। अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहिचाना। विद्या की चर्चा फल चली। सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्राम्य गीत, वही बाल्य-विवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि, वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीति, और सत्यानाशी चालें!

हाय! अब भी भारत की यह दुर्दशा। अरे, अब क्या चिता पर सम्हलेगा? भारत भाई, उठो, देखो, अब यह दुःख नहीं सहा जाता। अरे कब तक बेसुध पड़े रहोगे? उठो, देखो, तुम्हारी संतानों का नाश हो गया। छिन्न-भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं, उस पर भी नहीं चेतते। हाय! मुझसे तो अब यह दशा नहीं देखी जाती। प्यारे, जागो (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय! इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है। किसी तरह होश में नहीं आता। हा भारत! तेरी क्या दशा हो गई। हे करुणासागर भगवान्! इधर भी दृष्टि कर। हे भगवती राजराजेश्वरी! इसका हाथ पकड़ो। (रोकर) अरे कोई नहीं, जो इस समय अवलंब दे। हा, अब मैं जीकर क्या करूँगा। जब भारत-ऐसा मेरा मित्र इस दुर्दशा में पड़ा है, और मैं उसका उद्धार नहीं कर सकता, तो मेरे जीवन को धिक्कार है! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबंध था, उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ, तो बड़ा कृतघ्न हूँ। (रोता है) हा विधाता! तुझे यही करनी थी। (आतंक से) छिः-छिः, इतना क्लैब्य क्यों? इस समय यह अधीरजपना! बस, अब धैर्य। (कमर से कटार निकालकर) भाई भारत! मैं तुम्हारे ऋण से

छूटता हूँ। मुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता, इसी से कायर की भाँति प्राण देकर उऋण होता हूँ। (ऊपर हाथ उठाकर) हे सर्वांतर्यामी ! हे परमेश्वर ! जन्म-जन्म मुझे भारत-सा भाई मिले ; जन्म-जन्म गंगा-यमुना के किनारे मेरा निवास हो। (भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर) भैया, मिल लो। अब मैं बिदा होता हूँ। भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते ? मैं ऐसा बुरा हो गया क्या कि जन्म-भर के वास्ते बिदा होता हूँ, तब भी ललक-कर मुझसे नहीं मिलते ? मैं ऐसा ही अभागा हूँ, तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या ? बस, यह लो ! (कटार का छाती में आघात और साथ ही यवनिका-पतन)

नीलदेवी

धनि-धनि भारत की छत्रानी;
बीर-कन्यका, बीरप्रसविनी, बीरबधू जग जानी।
सती-सिरोमनि, धरम-धुरंधर, बुधि-बल-धीरज-खानी ;
इनके जस की तिहूँ लोक में अमल धुजा फहरानी।

*   *   *

सब मिलि गाओ प्रेम-बधाई;
यहि संसार रतन इक प्रेमहि, और बादि चतुराई।
प्रेम बिना फीकी सब बातें कहहु न लाख बनाई;
जोग, ध्यान, जप, तप, ब्रत, पूजा प्रेम बिना बिनसाई।
हाव-भाव, रस-रंग-रीति बहु काव्य-केलि-कुसलाई ;
बिना लोन बिंजन सो सब ही प्रेम-रहित दरसाई।
प्रेमहि सों हरि हू प्रगटत हैं, जदपि ब्रह्म जगराई ;
तासों यहि जग प्रेम सार है, और न आन उपाई।

*   *   *

इस राजपूतन से रहो हुसियार, खबरदार ;

ग़फ़लत न ज़रा भी हो ख़बरदार, ख़बरदार ।
ईमाँ की क़सम दुश्मने-जानी है हमारा ;
काफ़िर है यँ पंजाब का सरदार, ख़बरदार ।
अज़दर है, भभूका है, जहन्नुम है, बला है ;
बिजली है, ग़ज़ब इसकी है तलवार, ख़बरदार ।
दरबार में वह तेग़ेशररबार न चमके ;
घर-बार से बाहर से भी हरबार ख़बरदार ।
इस दुश्मने-ईमाँ को है धोके से फँसाना ;
लड़ना न मुक़ाबिल कभी ज़िनहार, ख़बरदार ।

* * *

सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदाहीं ;
जागत ही सब रहैं रैनि हूँ सोअहिं नाहीं ।
कसे रहैं कटि राति-दिवस सब बीर हमारे ;
अस्व-पीठि सों होहिं चारजामे जिन न्यारे ।
तोड़ा सुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बंदूकन ;
रहैं खुली ही म्यान प्रतंचे नहिं उतरैं छन ।
देखि लेहिंगे कैसे पामर जवन बहादुर ;
आवहिं तो चढ़ि सनमुख कायर, कूर सबै जुर ।
देहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिं चखाई ;
जो पै यक छन हू सनमुख ह्वै करहिं लराई ।

* * *

पिकदानो-चपरगट्टू है, बस, नाम हमारा ;
यक मुफ़्त का खाना है सदा काम हमारा ।
उमरा जो कहैं रात, तो हम चाँद दिखा दें ;
रहता है सिफ़ारिश से भरा जाम हमारा ।
कपड़ा किसी का, खाना कहीं, सोना किसी जा

ग़ैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा।
हो रंज जहाँ, पास न जाएँ कभी उसके;
आराम जहाँ हो, है वहाँ काम हमारा।
ज़र दीन है, कुरआन है, ईमाँ है, नबी है;
ज़र ही मेरा अल्लाह है, ज़र राम हमारा।

* * *

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।
अब सुख सूरज को उदै नहीं इत ह्वैहै;
सो दिन फिरि इत अब सपने हू नहिं ऐहै।
स्वाधीनपनो, बल, धीरज सबहि नसैहै;
मंगलमय भारत-भुव मसान ह्वै जैहै।
दुख-ही-दुख करि है चारिहु ओर प्रकासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।
इत कलह, बिरोध सबनके हिय घर करिहै;
मूरखता को तम चारिहु ओर पसरिहै।
बीरता, एकता, ममता दूरि सिधरिहैं;
तजि उद्यम, सब ही दास-वृत्ति अनुसरिहैं।
ह्वै जैहैं चारिहु बरन सूद्र, बनि दासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।
ह्वैहैं इत के सब भूत-पिसाच-उपासी;
कोऊ बनि जैहैं आपुहि स्वयंप्रकासी।
नसि जैहैं सिगरे सत्य धर्म अविनासी;
निज हरि सों ह्वैहैं बिमुख भरतभुवबासी।
तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ बिलासा;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा।

अपनी बस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई ;
निज चाल छाँड़ि गहिहैं औरन की धाई ।
तुरकन हित करिहैं हिंदू संग लराई ;
जवनन के चरनहिं रहिहैं सीस चढ़ाई ।
तजि निज कुल करिहैं नीचन संग निवासा ;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा ।
रहे हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बल-भारी ;
यह देहैं जिय सों सब ही बात बिसारी ।
हरि-बिमुख, धरम बिनु धन, बल-हीन, दुखारी ;
आलसी, मंद, तन छीन, छुधित, संसारी ।
सुख सों सहिहैं सिर जवन-पादुका त्रासा ;
अब तजहु बीरबर, भारत की सब आसा ।

* * *

कहँ करुनानिधि केसव, सोए !
जागत नेकु न जदपि बहुत बिधि भारतबासी रोए ।
यक दिन वह हो, जब तुम छिन नहिं भारत-हित बिसराए ;
इत के पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए ।
यक-यक दीन, हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई ;
अपनी संपति जानि इनहि तुम रह्यो तुरंतहि धाई ।
प्रलय-काल-सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी ,
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी !

* * *

चलहु बीर, उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ ;
लेहु म्यान सों खरग खींचि, रन-रंग जमाओ ।
परिकर कसि कटि, उठौ धनुष पै धरि सर साधौ ;
केसरिया बानो सजि-सजि रन-कंकन बाँधौ

जौ आरजगन एक होय निज रूप सँभारैं ;
तजि गृह-कलहहि अपनी कुल-मरजाद बिचारैं।
तौ ये कितने नीच, कहा इनको बल भारी ;
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी ?
पदतल इन कहँ दलहु कीट-तृन-सरिस जवन-चय ;
तनिकहु संक न करहु, धर्म जित, जय तित निश्चय।
आर्य-बंस को बधन पुन्य जा अधम धर्म मैं ;
गो-भच्छन, द्विज-स्रुति-हिंसन नित जासु कर्म मैं।
तिनको तुरतहिं हतौ, मिलैं रन कै घर माहीं ;
इन दुष्टन सों पाप किए हू पुन्य सदाहीं।
चिउँटिहु पद-तल दबे डसत ह्वै तुच्छ जंतु इक ;
ये प्रतच्छ अरि, इनहिं उपेछै जौन, ताहि धिक!
धिक तिन कहँ, जे आर्य होइ जवनन को चाहैं!
धिक तिन कहँ, जे इनसों कछु संबंध निबाहैं!
उठहु बीर, तरवारि खैंचि माड़हु घन संगर ;
लोह-लेखनी लिखहु आर्य-बल जवन-हृदय पर।
मारू बाजे बजैं, कहूँ धौंसा घहराहीं ;
उड़हिं पताका, सत्रु-हृदय लखि-लखि थहराहीं।
चारन बोलहिं आर्य-सुजस, बंदी गुन गावैं ;
छुटहिं तोप घनघोर, सबै बंदूक चलावैं।
चमकहिं असि, भाले दमकहिं, ठनकहिं तन बखतर ;
हींसहिं हय, झनकहिं रथ, गज चिक्करहिं समर-थर।
छन महँ नासहिं आर्य नीच जवनन कहँ करि छय ;
कहहु सबै भारत जय, भारत जय, भारत जय।

अंधेर-नगरी

अंधेर-नगरी, अनबूझ राजा ; टका सेर भाजी, टका सेर खाजा।

नीच ऊँच सब एकहि ऐसे ; जैसे भडुए, पंडित तैसे ।
कुल-मरजाद न मान-बड़ाई ; सबै एक-से लोग-लुगाई ।
जाति-पाँति पूछै नहिं कोई ; हरि को भजै, सो हरि का होई ।
बेस्या, जोरू एकसमाना ; बकरी, गऊ एक करि जाना ।
साँचे मारे-मारे डोलैं ; छली, दुष्ट सिर चढ़ि-चढ़ि बोलैं ।
प्रगट सभ्य, अंतर छलधारी ; सोई राजसभा बल-भारी ।
साँच कहैं, ते पनहीं खावैं ; झूठे बहु विधि पदवी पावैं ।
छलियन के एका के आगे ; लाख कहौ एकहु नहिं लागे ।
भीतर होइ मलिन, की कारो ; चहिए बाहर रँग चटकारो ।
धर्म, अधर्म एक दरसाई ; राजा करै, सो न्याव सदाई ।
भीतर स्याही, बाहर सादे ; राज करहिं अमले अरु प्यादे ।
अंधाधुंध मच्यो सब देसा ; मानहुँ राजा रहत बिदेसा ।
गो,द्विज,स्रुति आदर नहिं होई ; मानहुँ नृपति बिधर्मी कोई ।
ऊँच, नीच सब एकहि सारा ; मानहु ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा ।
अंधेर-नगरी अनबूझ राजा । टका सेर भाजी, टका सेर खाजा ।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

यह माया हरि की कलवारिनि, मद पियाय राखा बौराई;
एक पड़ा भुइयाँ में लोटै, दुसर कहै चोखी दे भाई ।
ऐसा है कोइ हरिजन मोदी, तन की तपन बुझावेगा ;
पूरन प्याला पियै हरी का, फेर जनम नहिं पावेगा ।

तिल-भरि मछरी खाइबो कोटि गऊ को दान ;
ते नर सीधे जात हैं, सुरपुर बैठि बिमान ।

कलवारिन मदमाती काम कलोल ;
भरि-भरि देति पियलवा महा ठठोल ।

इति

परिशिष्ट

(क) विशिष्ट नामों की तालिका

* भूमिकावाले पृष्ठों के प्रथम भू० लिख दिया गया है।

चुने हुए उत्तमोत्तम नाटक, कहानियाँ और प्रहसन

पूर्व भारत—सुप्रसिद्ध सुलेखक मिश्रबंधु-लिखित। यह एक मौलिक नाटक है। इसमें पांडवों और कौरवों के झगड़े के आरंभ से लेकर पांडवों के अज्ञात-वास के अंत तक की कथा है। यह नाटक पढ़ने से महाभारत के उस युग का दृश्य आँखों के आगे उपस्थित हो जाता है। मूल्य ॥≈), सजिल्द १|)

मूर्ख-मंडली—बँगला के सर्वश्रेष्ठ नाटककार श्रीयुत द्विजेंद्रलाल राय एम्० ए० के सुप्रसिद्ध प्रहसन "त्र्यहस्पर्श" के आधार पर, हिंदी-रंग-मंच पर खेले जाने के योग्य बनाने के अभिप्राय से बहुत कुछ फेर-फार करके, माधुरी-संपादक पं० रूपनारायणजी पांडेय कविरत्न ने इसे लिखा है। इसे पढ़कर हँसते-हँसते आप लोट-पोट हो जाइएगा। मूल्य ॥≈), सजिल्द १)

मंजरी—अनुवादकर्ता हैं, हिंदी के कवि-श्रेष्ठ पं० रूपनारायणजी पांडेय। रवींद्रनाथ ठाकुर आदि की श्रेष्ठ और चमत्कार-पूर्ण गल्पों का गुच्छा। गल्पें उच्च कोटि की हैं। मूल्य १≈)

नंदन-निकुंज—हिंदी के होनहार लेखक श्रीयुत चंडीप्रसादजी बी० ए० "हृदयेश"-लिखित। यह ६ मौलिक, उत्कृष्ट, हृदय-ग्राही, सरस कहानियों का संग्रह है। पुस्तक एक बार उठाकर आदि से अंत तक पढ़े विना छोड़ने को जी नहीं चाहता। मूल्य १|), जिल्ददार १॥=)

बहता हुआ फूल—अनुवादक, पं० रूपनारायणजी पांडेय। श्रीयुत चारुचंद्र वंद्योपाध्याय के "स्रोतेर फूल" नाम के श्रेष्ठ बँगला-उपन्यास का यह हिंदी-अनुवाद है। चरित्र-चित्रण जिस सुंदरता के साथ किया गया है, उसे देखकर आप मुग्ध हुए विना नहीं रह सकेंगे। उप-

न्यास रोचक और शिक्षाप्रद है। मूल्य २), सुन० रेशमी जिल्द २॥)

प्रेम-प्रसून—लेखक, श्रीयुत प्रेमचंदजी। इनकी रचना जैसी स्वाभाविक, रोचक और भाव-पूर्ण होती है, वैसी ही शिक्षाप्रद, उत्साह-वर्धक तथा गंभीर भी। प्रेम-प्रसून इन्हीं की एक-से-एक बढ़कर अनूठी कहानियों का संग्रह है। अब तक इनके जितने गल्प-संग्रह छपे हैं, उनमें यह संग्रह सबसे बढ़कर है। मूल्य १।)

चित्रशाला—कहानियों के श्रेष्ठ लेखक पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक को कौन नहीं जानता? आपकी कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते पाठक कभी करुणा से रोने लगते हैं, और कभी विनोद की गुदगुदी से हँसने लगते हैं। हाथ कंगन को आरसी क्या? मूल्य १॥); सुनहरी रेशमी जिल्ददार २।)

रावबहादुर—फ़्रांस के सुप्रसिद्ध हास्यरस-लेखक मौलियर के सुविख्यात प्रहसन का यह भावमय अनुवाद है। अनुवादक हैं हिंदी-संसार के प्रतिभाशाली लेखक पंडित लल्लीप्रसाद पांडेय। इस प्रहसन को पढ़कर आप हँसते-हँसते लोटपोट हो जाइएगा। भाव, भाषा, शैली, सबमें भारतीयता का समुचित समावेश हो जाने से पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। इसकी फड़कती हुई लोचदार भाषा में बड़ा मज़ा है। ऐसी शुद्ध विनोद-पूर्ण एवं सुरुचिवर्द्धक पुस्तक हिंदी में केवल एक-आध ही हैं। मू० ॥।), सुंदर रेशमी जिल्द १।)
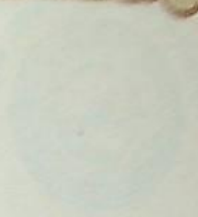
pared by portal and femoral vein and jejunal cannulation. 14 days
the aorta and thoracic duct were cannulated through the right ches
the previous catheters recovered. 8-hour experiments were conducte
fasting and fed animals in each of 3 groups. All feedings consiste
120 gms. of protein injected intrajejunally at time "0". Group A,
out thoracic duct cannulation, compared hourly portal venous, art
and peripheral venous histamine concentrations in fasting and fed
Group B was identical to group A plus thoracic duct cannulation w